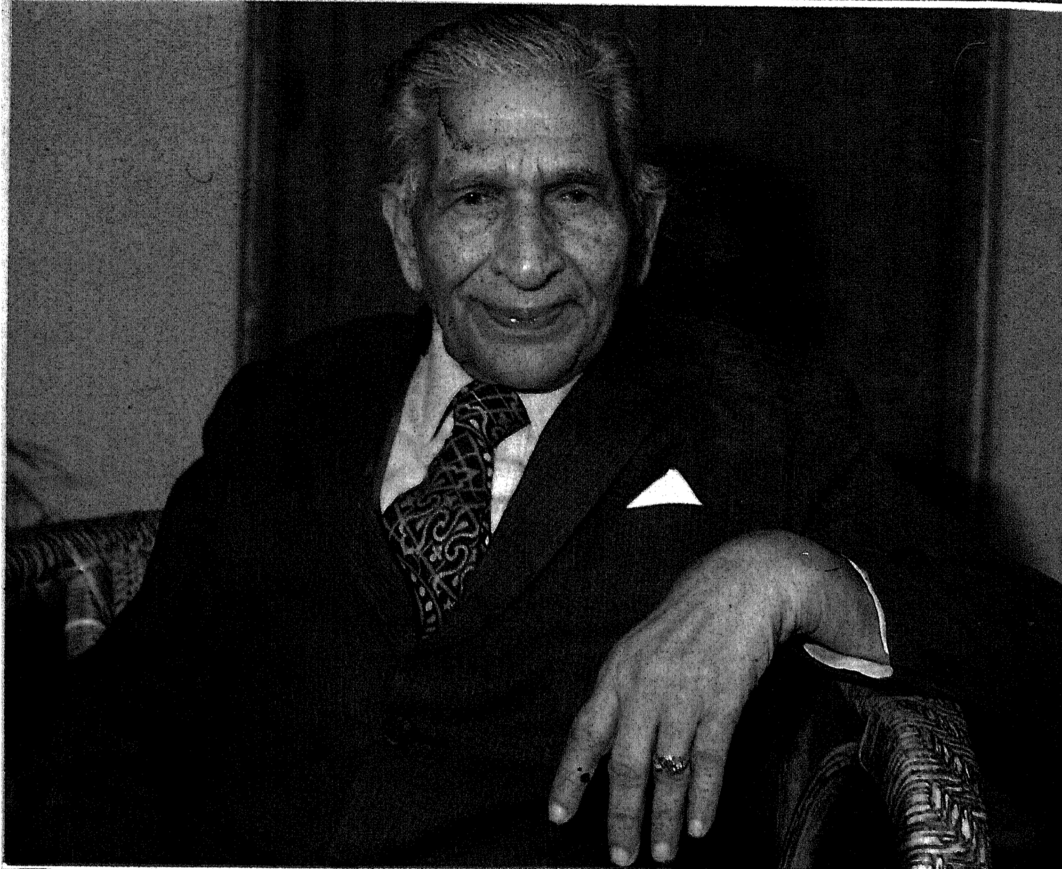
रामकुमार वर्मा नाटक रचनावली



संपादक :

डॉ. कमल किशोर गोयनका

डॉ. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा

हिन्दी में लेखकों की रचनावलियों के प्रकाशन की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं बन पायी है। इसका प्रमुख कारण है कि हम अभी तक रचनावली के प्रकाशन को वह महत्व नहीं दे पाये जो पश्चिमी देशों में है। इन देशों में लेखक के लिए रचनावली का प्रकाशन गौरव का प्रसंग है तथा साहित्य-जगत भी उत्कंठा से उनका स्वागत करता है। हिन्दी में भी ऐसी स्थिति बने, इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस रचनावली को प्रकाशित किया गया है।

डा. रामकुमार वर्मा हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभावान लेखक हैं। उन्होंने कविता, नाटक, एकांकी, निबन्ध, आलोचना आदि अनेक विधाओं में लिखा है और सभी क्षेत्रों में यश प्राप्त किया है। नाटक उनकी प्रिय विधाओं में से एक है। एकांकी के तो वे जनक माने जाते हैं, पर पूर्णकालिक नाटकों की रचना में भी उन्होंने अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। डा. वर्मा ने अभी तक 26 नाटकों की रचना की है, जिन्हें कालक्रमानुसार तीन खण्डों में यहां प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक रचनावली से पाठक, अध्येता, एवं रंगकर्मी पहली बार डॉ. वर्मा के सम्पूर्ण नाटकों को एक साथ प्राप्त कर सकेंगे। इससे नाटककार सम्पूर्ण रूप से उन तक पहुँचेगा तथा वे विभिन्न रसों के नाटकों का रसास्वादन कर सकेंगे।

इस रचनावली का सम्पादन किया है हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक डॉ. कमल किशोर गोयनका तथा डॉ. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा ने जिनके कार्यों की श्रेष्ठता सर्वत्र स्वीकार हो चुकी है।



किताब घर

दरियागंज, नई दिल्ली

रामकुमार वर्मा नाटक रचनावली

खण्ड एक

सम्पादक

डॉ० कमलकिशोर गोयनका
वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
जाकिर हुसैन पोस्ट-ग्रेजुएट ईवनिंग कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय) दिल्ली-110006

डॉ० चन्द्रिका प्रसाद शर्मा
वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
साकेत पोस्ट-ग्रेजुएट कॉलेज
(अवध विश्वविद्यालय) फैज़ाबाद

ISBN—81-7016-035-9

प्रकाशक
किताबघर
24/4866, शीलतारा हाउस, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण
1990

मूल्य
छः सौ रुपये (तीनों खंड)

मुद्रक
चोपड़ा प्रिंटर्स, मोहन पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

RAMKUMAR VERMA NATAK RACHNAVALI (Hindi)
Edited by Dr. Kamal Kishore Goyanka & Dr. Chandrika Prasad Sharma
Price : Rs. 600.00 (Three Volumes)

भूमिका

'रामकुमार वर्मा नाटक रचनावली' को पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें जो हर्ष हो रहा है, उसे शब्दों में व्यक्त करना कठिन है। इस हर्ष के कई कारण हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी-साहित्य के ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं, जो आने वाली शताब्दियों तक इसी सहृदयता एवं जीवन्तता के साथ सहृदयों के आकर्षण के केन्द्र बने रहेंगे। साहित्य में विशेष रूप से नाटक में, जो उनका योगदान है वह तो सदैव उल्लेखनीय एवं सम्माननीय बना रहेगा। ऐसे विशिष्ट नाटककार की नाटक-रचनावली का सम्पादन तथा उनके सम्पूर्ण नाटकों को पाठकों तक पहुँचाने का सुख अवर्णनीय है। इसके साथ ही हम यह मानते हैं कि किसी भी लेखक के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसका सम्पूर्ण साहित्य हमारे सामने हो। अपूर्ण साहित्य से अपूर्ण निष्कर्ष ही निकलते हैं। हिन्दी-समीक्षा में अभी तक इस अकाट्य तर्क पर सोचने-समझने की कोई कोशिश हमें दिखायी नहीं देती। यहाँ तक कि जो रचनावलियाँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें भी सम्पूर्ण रचनाओं को देने का संकल्प दिखायी नहीं देता। यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि लेखक को उसकी समग्र रचनाओं के सन्दर्भ में देखने की प्रतिबद्धता अभी तक उपेक्षणीय बनी हुई है। 'रामकुमार वर्मा नाटक रचनावली' के प्रकाशन से हम इस दिशा में लघु-सा प्रयास कर रहे हैं और हम कह सकते हैं कि इससे हिन्दी नाटक में इस उपेक्षा-भाव को तोड़ना सम्भव हो सकेगा। इस रचनावली के प्रकाशन के एक-दो कारण और भी हैं। एक तो यह कि पाठकों तथा रंगकर्मियों को प्रायः एक नाटककार के सभी नाटक उपलब्ध नहीं होते और रंगमंच के लिए नाटक का चुनाव करते समय विकल्प सीमित हो जाते हैं। इस नाटक रचनावली से रंगकर्मियों के सम्मुख सम्पूर्ण नाट्य-सृष्टि रहेगी और चुनाव भी अनेक विकल्पों में से हो सकेगा। निर्देशक अपनी रुचि एवं क्षमता के अनुरूप नाटक का चुनाव तो कर ही सकेगा, बल्कि अन्य नाटक भी चुनौती के रूप में उसे प्रेरित एवं आकर्षित करते रहेंगे। दूसरे, रंगमंच पर भी

नाटकों का वैविध्य हो सकेगा और दर्शकों को भी डॉ० वर्मा के भिन्न-भिन्न नाटकों का रसास्वादन करने का अधिक अवसर मिल सकेगा। इस प्रकार यह रचनावली निर्देशक, अभिनेता, पाठक, शोधार्थी एवं समीक्षक सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

डॉ० रामकुमार वर्मा हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न लेखक हैं, एकलव्य की भाँति अनेक दशकों से साहित्य-सर्जना में लीन हैं। डॉ० वर्मा के लेखक के अनेक रूप हैं—वे कवि हैं, एकांकीकार हैं, नाटककार हैं, सम्पादक हैं, समीक्षक है, शोधकर्ता हैं, साहित्य के इतिहास-लेखक हैं, सम्पादक हैं, संस्मरण लेखक हैं, और इसी तरह के उनके अन्य रूप भी हैं। छायावादी युग के जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा आदि के साथ वे काव्य-साधना के उपवन में उतरे और उन्होंने 'एकलव्य', 'उत्तरायण', 'ओ अहल्या' आदि श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्यों की सृष्टि की। डॉ० वर्मा ने जब नाटक के क्षेत्र में पदार्पण किया तो वे हिन्दी एकांकी के जनक माने गए और अब तक डेढ़ सौ के लगभग ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, पौराणिक, सामाजिक, मनोवज्ञानिक, साहित्यिक कथावस्तुओं पर रंगमंचीय एकांकियों की रचना कर चुके हैं। इन एकांकियों से वर्मा जी को इतना यश प्राप्त हुआ कि उनके बिना हिन्दी में एकांकियों की चर्चा ही नहीं हो सकती। जब वे एकांकी से पूर्णकालिक नाटकों की ओर उन्मुख होते हैं तो यहाँ भी वे उसी सर्जनात्मक ऊर्जा और कलात्मकता से नाट्य-सृष्टि करते हैं और 'शिवाजी', 'विजय-पर्व', 'जौहर की ज्योति', 'महाराणा प्रताप', 'सारंग-स्वर', 'जय बांगला', 'सन्त तुलसीदास', 'जय भारत', 'देवीश्री अहिल्याबाई' आदि अनेक कालजयी नाटकों की रचना कर हिन्दी नाटक को समृद्ध करते हैं, लेकिन वे समीक्षा जैसे निरस क्षेत्र को कर्म-क्षेत्र बनाते हैं तो 'साहित्य समालोचना', 'हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन', 'साहित्य-चिन्तन', 'कबीर : एक अनुशीलन' तथा 'एकांकी कला' जैसे ग्रन्थ देते हैं तो हिन्दी समीक्षा में उन्हें पर्याप्त मान्यता मिलती है। इसी प्रकार 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' तथा 'रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन' उन्हें शोधपरक इतिहास-लेखक तथा 'स्मृति के अंकुर' एवं 'संस्मरणों के सुमन' उन्हें कुशल संस्मरण-लेखक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। अभिप्राय यह है कि डॉ० रामकुमार वर्मा साहित्य की जिस भी विधा को अपनाते हैं, वे वहाँ अपना वैशिष्ट्य अंकित कर देते हैं। इस विधा-वैविध्य का रहस्य खोलते हुए एक बार डॉ० वर्मा ने डॉ० चन्द्रिका प्रसाद शर्मा को लिखा था, "कभी हिमाच्छादित हिमालय की सुषमा निरखकर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता पर गर्वानुभूति करते हुए नाटक की सृष्टि करता हूँ, कभी चंचल गति वाली मचलती सरिताओं की लोल लहरियों में अपने को खोकर काव्य-रचना करता हूँ, कभी वसन्त में खिले सरसों के फूलों की भीनी-भीनी सुगन्धि में डूबकर किसी एकांकी

की रचना करने बैठ जाता हूँ और कभी वनांचल के असंख्य विटपों के बीच कुछ क्षण बिताकर लेखनी को समालोचना की ओर मोड़ देता हूँ।"

डॉ० रामकुमार वर्मा ने एक नाटककार के रूप में नाटकों की सृष्टि के साथ हमें अपना विशिष्ट नाट्य-चिन्तन भी दिया है। यह नाट्य-चिन्तन उनके नाटकों की सम्वेदना एवं कलात्मकता को समझने में सहायक होता है। उनके नाटकों तथा एकांकी-संग्रहों की भूमिकाओं में उनके नाट्य-सिद्धान्त बिखरे पड़े हैं जो इसके प्रमाण हैं कि वर्मा जी ने नाट्य-शास्त्र पर कितनी गम्भीरता से विचार किया है। वे अपने एक नाटक 'पृथ्वी का स्वग' की भूमिका में नाटक के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं, "नाटक साहित्य का साकार रूप है। वह साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा जनसाधारण के सबसे अधिक निकट है। नाटक में जीवन की वास्तविकता, सौन्दर्य-विधायिनी कल्पना के रंगों से पूर्ण होकर रंगमंच पर अवतरित होती है, जिससे उसमें जीवन की झलक मिलती है।" डॉ० वर्मा ने नाटक की सफलता पर विचार करते हुए भावपक्ष एवं कलापक्ष के मंजुल समन्वय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है, "नाटक दृश्यकाव्य है जिसमें नृत्य, संगीत और अभिनय हृदय की ललित सृष्टि को एक आकर्षक रूप प्रदान करते हैं। इस भाँति नाटक के दो पार्श्व हैं। प्रथम तो हृदय की वे समस्त अनुभूतियाँ हैं जो मनोविज्ञान या रस से ओत-प्रोत होकर जीवन के यथार्थ या आदर्श में प्रतिफलित होती हैं और द्वितीय परिस्थिति की वे समस्त रूप-रेखाएँ हैं जो मंच, वेशभूषा, नृत्य, संगीत और अभिनय का माध्यम ग्रहण करती हैं। ये दोनों पार्श्व नाटक के लिए अनिवार्य हैं।" नाटक की आत्मा के रूप में डॉ० वर्मा रस-सिद्धान्त के साथ मनोविज्ञान के सहभाव पर बल देते हैं। उन्होंने लिखा है, "नाट्यकला की सफलता इसी में है कि सामान्य दर्शक उसमें रस ले सकें और नाट्य कला के पंडित भी उसे उत्कृष्ट समझें। उसमें न तो दर्शक को उबा देने वाले उपदेशात्मक सम्वाद हों और न दुर्बोध भाषा। उसमें विभिन्न रसों का समावेश, कुतूहल की भावना और प्रेषणीयता होनी ही चाहिए। रस का स्थान आज मनोविज्ञान ने ले लिया है। मैं दोनों के समन्वय का पक्षपाती हूँ।" इसी प्रकार उन्होंने नाट्य-प्रयोजन के रूप में सुरुचिपूर्ण मनोरंजन, नैतिक मूल्यों की वृद्धि, दर्शक के मन का उत्कर्ष आदि पर विशेष बल दिया है। डॉ० वर्मा का मत है कि नाटककारों को ऐसे कथानकों की सृष्टि करनी चाहिए जिनसे स्वस्थ मनोरंजन के साथ देश के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को भी स्पष्ट किया जा सके। इस प्रकार वे लोकरंजन, लोकमंगल तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति को नाटक की सिद्धि मानते हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा को भारत के इतिहास, संस्कृति उसकी गौरव-गाथाओं एवं चरित्रों तथा उसकी उपलब्धियों से इतना गहरा रागात्मक सम्बन्ध

रहा है कि जयशंकर प्रसाद के बाद हिन्दी के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-राष्ट्रीय नाटककारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि करके इस धारा को सशक्त आधार प्रदान किया तो उनके उपरान्त हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि के साथ डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे न केवल विस्तार दिया, बल्कि उसे अपने वैशिष्ट्य से भी एक नया रंग प्रदान किया। डॉ० रामकुमार वर्मा मूलत: ऐतिहासिक नाटककार हैं, जिममें भारत की राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक चेतना पूर्णत: साकार होती है। वे इतिहास के पृष्ठों से ऐसे वीर पात्रों को चुनते हैं जो नयी पीढ़ी के मन में अतीत के गौरव तथा वर्तमान के लिए उत्सर्ग का भाव उत्पन्न करते हों। अपने पहले ही नाटक 'शिवाजी' की भूमिका में वे लिखते हैं, "इस नाटक का कथानक भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त आलोकमय पृष्ठ है। छत्रपति शिवाजी ने अपने चरित्र-निर्माण के साथ ही साथ भारतीय आदर्शों के अनुकूल जिस संघशक्ति का निर्माण किया था वह उन्हें महापुरुष की संज्ञा से विभूषित करती है। ऐसे ही महापुरुषों का चरित्र हमारे अध्ययन और मनन की सामग्री होनी चाहिए और इन्हीं से हमारे विद्यार्थियों के हृदय का विकास होना चाहिए। आज हमारे साहित्य का सबसे प्रमुख दृष्टिकोण यह हो कि वह हमारे विद्यार्थियों के हृदय में अपने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक आदर्शों के प्रति गौरव और अभिमान का भाव जाग्रत करे और छत्रपति शिवाजी के चरित्र को सामने रखकर विद्यार्थी-वर्ग अपना चरित्र-निर्माण करे।" उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों में इसी उद्देश्य को सामने रखकर महात्मा बुद्ध, अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, कनिष्क, प्रताप, शिवाजी, नाना फड़नवीस आदि महान चरित्रों पर नाटकों की सृष्टि करके देश की गौरव-गरिमा तथा उसकी अस्मिता की रक्षा एवं उसकी श्रेष्ठता का आख्यान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार वे प्रख्यात कथावस्तु को नाटक के लिए चुनते हैं, परन्तु यत्र-तत्र कल्पना का भी इतिहास-सम्मत प्रयोग करते हैं। डॉ० वर्मा का इतिहास-बोध इतिहास के तथ्यों की गहरायी से जाँच-पड़ताल करता है, पूर्व नाटककारों के इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं मतों की परीक्षा करता है और अपने तर्कसंगत निष्कर्ष निकालकर प्रख्यात कथावस्तु को कहीं-कहीं मौलिक रूप देते हुए उसे इतिहास के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है। उनकी यह भी दृष्टि रही है कि इतिहास अपने सांस्कृतिक वातावरण एवं स्वाभाविक क्रिया-कलापों के साथ व्यंजित हो, क्योंकि वे मानते हैं कि अतीत के वास्तविक चित्रण में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक व्यवहार और मान्यताओं की सुचारुता आवश्यक होती है।

डॉ० रामकुमार वर्मा के नाट्य-शिल्प की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे आरम्भ से ही पश्चिम के नाट्य-सिद्धान्तों से अवगत रहे और भारतीय नाट्य-

सिद्धान्तों तथा पश्चिम के इन नाट्य-सिद्धान्तों में से अपने अनुकूल तत्त्वों को अपनाते हुए नाटकों की रचना करते रहे। उन्होंने हिन्दी नाटक को आधुनिक रूप देने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। अपने प्रथम नाटक 'शिवाजी' में ही वे प्राचीन एवं आधुनिक नाटक के अन्तर को रेखांकित करते हुए आधुनिक नाटक के लिए स्वाभाविकता एवं यथार्थता, मनोविज्ञान की प्रधानता, संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व, वैज्ञानिक एवं कलात्मक रंगमंच की व्यवस्था आदि की अनिवार्यता घोषित करते हैं। डॉ० वर्मा ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में भी इन आधुनिक नाट्य-प्रवृत्तियों का यथास्थान समुचित उपयोग किया है। पात्र एवं देशकाल की ऐतिहासिकता में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का प्रयोग पात्रों को अधिक सहज, स्वाभाविक एवं स्वीकार्य बना देता है। संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व उन्हें गतिशील बनाता है और वे हमें दिव्य पात्रों से अधिक मानवीय प्रतीत होते हैं। डॉ० वर्मा नाटक के लिए कौतूहल को भी आवश्यक मानते हैं। नाटक की कथा के विकास में यह कौतूहल सहायक बनता है। उनके पहले ही नाटक 'शिवाजी' में नौ कौतूहलजनक परिस्थितियाँ हैं तथा अन्य नाटकों में भी इस प्रकार की परिस्थितियाँ बराबर विद्यमान हैं। डॉ० वर्मा का मत है कि यह कौतूहल जितना स्वाभाविकता से अन्त तक बना रह सकता है, उतनी ही सफल कथा की नाटकीयता होगी।

डॉ० वर्मा हिन्दी के उन नाटककारों में से हैं जिन्होंने रंगमंच को विशेष महत्त्व दिया। वे जयशंकर प्रसाद के इस मत के समर्थक प्रतीत नहीं होते कि नाटक के अनुरूप रंगमंच का निर्माण होना चाहिए, बल्कि वे आरम्भ से ही रंग-मंच को ध्यान में रखकर नाटक की सृष्टि करते हैं। 'शिवाजी' नाटक में वे लिखते हैं कि आधुनिक नाटककार कथानक की रचना में ऐसे दृश्यों की अधिक अवतारणा करता है जो रंगमंच पर स्वाभाविकता के साथ प्रदर्शित किए जा सकते हैं। डॉ० वर्मा के नाटकों की इस रंगमंचीयता के मूल में कई कारण हैं। एक तो यह कि वे अपनी किशोरावस्था से ही रंगमंच से जुड़े रहे, इस कारण रंगमंच की व्यावहारिक कठिनाइयाँ एवं उसकी आवश्यकताएँ आरम्भ से ही उनके सामने रहीं। दूसरे, जयशंकर प्रसाद के नाटकों के अभिनय में आने वाली कठिनाइयाँ भी उनके सामने थीं और इसके साथ ही वे यह मानते रहे कि नाटक रंगमंच के लिए होता है, इसलिए उसे रंगमंच के अनुकूल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। वे लिखते हैं, "रंगमंच के बिना नाटक में प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।"

डॉ० वर्मा के नाटकों का एक प्रमुख गुण यह अभिनयशीलता है। इस अभिनयशीलता के कारण उन्होंने अंकों तथा दृश्यों का विस्तार नियन्त्रित किया और अपने नाटकों को तीन अंकों के तीन दृश्यों तक सीमित रखने का प्रयत्न किया। इससे जयशंकर प्रसाद के नाटकों जैसी अंकों एवं दृश्यों की बहुलता एक-

दम समाप्त हो गई। इसके साथ डॉ० वर्मा ने पात्रों, गीतों आदि की प्रसाद वाली प्रचुरता को भी नियन्त्रित किया और अपने नाटकों में दस-बारह पात्रों तथा एक-दो गीतों से ही अपना उद्देश्य पूरा कर लिया। उनके नाटकों में हमें रंग-संकेत भी मिलते हैं, जिससे मंचन के समय निदेशक एवं पात्रों को सुविधा हो सके। इसी प्रकार उन्होंने नाटकों के संवादों को भी रंगमंच एवं पात्रों के अनुकूल बनाने की ओर पूरा ध्यान दिया है। नाटक की भाषा, पात्रों के मनोभावों के अनुरूप एवं उनके व्यक्तित्व के अनुकूल होनी चाहिए तथा उनके संवाद भी स्वभावानुकूल संक्षिप्त अथवा विस्तृत होने चाहिए। डॉ० वर्मा संवादों की भाषा को स्वाभाविक, सहज एवं अधिक से अधिक मनोवैज्ञानिक तथा पात्रानुकूल बनाने में सफल हुए हैं। इसका प्रमाण यह है कि उनके ये नाटक रंगमंच तथा आकाशवाणी पर अनेक बार प्रस्तुत किए गए और उन्हें दर्शकों एवं श्रोताओं की हर बार प्रशंसा मिली है।

इस प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा का नाट्य-संसार एक विशिष्ट नाट्य-संसार है, जिसमें इतिहास, संस्कृति एवं राष्ट्रीयता से ओतप्रोत भारतीयता का स्वर प्रमुख है। वे हिन्दी के एक सशक्त ऐतिहासिक नाटककार हैं। वे इतिहास की खोज करते हैं, गौरवशाली चरित्रों को चुनते हैं और यत्र-तत्र कल्पना का इतिहास-सम्मत उपयोग करते हैं। उनका प्रयत्न होता है कि इतिहास को साकार एवं जीवन्त बना दिया जाए। उनके पात्र अतीत में इतिहास बनाते हैं और वर्तमान में पाठकों का उत्कर्ष करते हैं और साथ ही मनोविज्ञान से स्वाभाविक एवं प्रभविष्णु बनते हैं। जब रंगमंच पर ये पात्र उतरते हैं तो सम्पूर्ण नाट्य-सृष्टि को रंगमंच पर प्रस्तुत करने में कोई कठिनाई नहीं होती, जैसे वर्माजी के नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के पर्याय हैं। हिन्दी नाटक में अपनी इन उपलब्धियों के कारण डॉ० वर्मा का स्थान सदैव सम्माननीय एवं उल्लेखनीय बना रहेगा।

'रामकुमार वर्मा नाटक रचनावली' कुल तीन खंडों में प्रकाशित की जा रही है। इन तीनों खंडों में उनके 26 नाटक संगृहीत हैं। पहले खंड में 8, दूसरे खंड में 9 तथा तीसरे खंड में 9 नाटक दिए जा रहे हैं। ये सभी नाटक कालक्रमानुसार दिए गए हैं। वे जिस क्रम से प्रकाशित हुए हैं, उसी क्रम से यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं।

डॉ० वर्मा के जीवन एवं साहित्य सम्बन्धी सूचनाएँ तीसरे खंड के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत दी जा रही हैं। पाठक इनसे प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

इस रचनावली की सामग्री को एकत्र करने में डॉ० रामकुमार वर्मा का जो सहयोग मिला है, उसके लिए उन्हें धन्यवाद देकर हम उसकी गरिमा कम नहीं करना चाहते।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में श्री महेन्द्रसिंह राणा ने जो सहयोग दिया है उसके लिए वे हम सभी के साधुवाद के पात्र हैं।

योजना है कि हम इस रचनावली के बाद उनके काव्य, एकांकी, संस्मरण तथा अन्य विधाओं के साहित्य को भी रचनावली के रूप में प्रस्तुत करें। यह अब भविष्य के हाथ में है कि हमें कितनी सफलता मिलती है।

चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा
सी-10, के० रोड, महानगर
लखनऊ-226006

कमलकिशोर गोयनका
ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम
दिल्ली-110052

वन्दना

आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र के कुम्भ से अमृत की एक बूँद मेरी साहित्य-सरिता में बरस गयी और मैं नाट्य-कुम्भ का उपासक बन गया। यों तो कुम्भ का पर्व बारह वर्ष बाद आता है, किंतु आचार्य भरत के नाट्य-कुम्भ की इस एक बूँद ने मेरे जीवन को ही एक पर्व बना दिया है। यह प्रतिक्षण मेरे जीवन को पवित्र और धन्य बनाता है।

मेरे साहित्यिक बन्धु डा० कमल किशोर गोयनका और प्रिय शिष्य डा० चन्द्रिका प्रसाद शर्मा ने अश्विनी कुमारों की भाँति प्रातः-संध्या मेरे नाट्य-रथ के संचालन का दायित्व लिया है, इसके लिए उन दोनों को अनेक आशीर्वाद !

मेरी साहित्य-पूजा माँ सरस्वती को स्वीकार हो, यही मेरी अर्चना है, वन्दना है।

—रामकुमार वर्मा

साकेत
इलाहाबाद-211002
मकर संक्रान्ति, 1990

क्रम

शिवाजी

भूमिका

लेखक का दृष्टिकोण

'शिवाजी' नाटक की रचना विद्यार्थियों के भाव-क्षेत्र को अधिक विस्तृत और परिष्कृत करने के दृष्टिकोण से ही की गई है। इस नाटक का कथानक भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त आलोकमय पृष्ठ है। छत्रपति शिवाजी ने अपने चरित्र-निर्माण के साथ ही साथ भारतीय आदर्शों के अनुकूल जिस संघशक्ति का निर्माण किया था वह उन्हें महापुरुष की संज्ञा से विभूषित करती है। ऐसे ही महापुरुषों का चरित्र हमारे अध्ययन और मनन की सामग्री होनी चाहिए और इन्हीं से हमारे विद्यार्थियों के हृदय का विकास होना चाहिए। आज हमारे साहित्य का सबसे प्रमुख दृष्टिकोण यह हो कि वह हमारे विद्यार्थियों के हृदय में अपने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक आदर्शों के प्रति गौरव और अभिमान का भाव जाग्रत करे। इस नाटक में सर्वप्रथम प्रयत्न इसी बात का किया गया है कि छत्रपति शिवाजी के चरित्र को सामने रखकर, विद्यार्थी-वर्ग अपना चरित्र-निर्माण करे। उसका दृष्टिकोण पूर्ण नैतिक और स्वस्थ हो। शिवाजी के मनोभावों को देखकर विद्यार्थी के हृदय में सहानुभूति, स्वावलंबन, उत्साह और क्रियाशीलता का आविर्भाव हो। विषम परिस्थितियों में भी उसके हृदय में आशावाद का ऐसा अंकुर निकले जो आगे चलकर आत्मविश्वास और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की क्षमता में पल्लवित और पुष्पित हो। समाज की समृद्धि के चरित्र-गठन की आवश्यकता सर्वप्रथम है। इस नाटक के कथानक में शिवाजी ने अपने चरित्र की दृढ़ता में समस्त प्रलोभनों पर विजय प्राप्त की है। कल्याण की लूट में प्राप्त हुई अप्रतिम सुन्दरी गौहरबानू के आकर्षण की हिलोर को दृढ़व्रती शिवाजी ने केवल 'माँ' शब्द की दृढ़ कगार को लौटा दिया। जहाँ अनेक राजाओं ने अपने अन्त:पुर को सुन्दरियों की संग्रहशाला बनाने में अपने बल और पराक्रम को आँका है। वहाँ महाराज शिवाजी ने शत्रु की अत्यन्त सुन्दरी स्त्री में भी अपनी माता जीजाबाई के दर्शन किए। यह चरित्र-दृढ़ता केवल मात्र भारतीय है और इन्हीं नैतिक आदर्शों पर चलकर हमारे विद्यार्थियों को उस राष्ट्र का निर्माण

करना है जिसमें जीवन प्रतिफल चरित्र-दृढ़ता से संचालित होकर कौशल से कर्म करने में प्रतिफलित होता है। इसके साथ ही हृदय में ऐसी सुरुचि उत्पन्न होती है जिससे 'गुण-दोष मय' विश्व से हमारा हृदय हंस के समान वारि-विकार का परित्याग कर गुण रूपी 'पय' को ही ग्रहण करता है। 'शिवाजी' नाटक के कथानक में उपर्युक्त आदर्श का स्पष्टीकरण है, इसलिए यह कथानक विद्यार्थियों के जीवन की निजी सम्पत्ति होनी चाहिए।

दृश्य काव्य

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के दो भेद माने हैं—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। श्रव्य काव्य जहाँ पाठकों के हृदय में रस-संचार करता है और कल्पना में काव्यजनित आनन्द उत्पन्न करता है, वहाँ दृश्य काव्य रंगमंच की सहायता से उस आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव पात्रों अथवा अवस्था की अनुकृति से होता है। इसी अनुकृति में 'दृष्टि-रोचक' के लिए पात्रों का रूप रक्खा जाता है और इसीलिए दृष्टि-काव्य की रूपक संज्ञा है। दृश्य काव्य दो भागों में विभाजित हुआ है, रूपक और उप-रूपक। जिनमें रस प्रधान और अनुकृति गौण है, वे रूपक हैं और जिनमें अनुकृति प्रधान है और रस गौण है, वे उपरूपक हैं। इनकी संख्या क्रमश: 11 और 18 मानी गई है। रूपकों में नाटक ही मुख्य समझा गया है इसलिए आगे चलकर सभी रूपक-भेद नाटक के नाम से कहे गए। भरतमुनि इस नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य हैं, इसीलिए रूपकों के अंत में जो आशीर्वचन रक्खे गए, उनका नाम आचार्य भरत की स्मृति के हेतु 'भरत वाक्य' रक्खा गया किन्तु आधुनिक नाटकों में न तो प्रारम्भ में और न अंत में किसी भी स्तुति या वंदना की आवश्यकता समझी गई है। संभवत: आजकल देवताओं और उनकी शक्तियों में हमारा विश्वास कम हो चला है।

आधुनिक नाटक

प्राचीन नाटक आदर्शवादी थे। इसीलिए वे सुखांत भी थे। उन नाटकों में नायक धर्म और नीति का प्रतीक होता था, अत: आचार्यों और समाज को उसका पराभव किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं था। वह धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशांत और धीरललित प्रकार का होता था। यदि नायक पराजित होता तो धर्म और नीति के अनुसरण करने की व्यर्थता समाज के सामने स्पष्ट होती और उसका परिणाम समाज में अधर्म और अनाचार फैलाना ही होता। अत: स्वाभाविकता की अधिक चिन्ता न करते हुए हमारे प्राचीन आचार्यों ने समाज में धर्म और न्याय के प्रचारार्थ नायक की विजय सर्वत्र दिखलाई

और नायक की विजय में नाटक सदैव सुखान्त होता है किंतु आधुनिक काल में आदर्शवाद के नाम पर यथार्थवाद और स्वाभाविकता की हत्या नाटक-लेखकों और समालोचकों को किसी प्रकार भी मान्य नहीं हुई। जीवन की स्वाभाविकता और 'रस' की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक संघर्ष ही आधुनिक नाटक-कारों को स्वीकार हुआ। जीवन की स्वाभाविकता लाने के लिए मृत्यु और पराभव के दृश्य दिखलाने की आवश्यकता भी पड़ी जो दृश्य संस्कृत नाटक में वर्जित समझे गए थे। इस प्रकार आधुनिक नाटक प्राचीन नाटककारों से बिलकुल ही भिन्न शैली पर लिखे जाने लगे। आधुनिक नाटककारों ने जीवन की स्वाभाविकता के चित्रण के साथ ही साथ रंगमंच की कला में भी विकास किया। उन्होंने अपने कथानक की रचना में ऐसे दृश्यों की अधिक अवतारणा की जो रंगमंच पर स्वाभाविकता के साथ प्रदर्शित किए जा सकते हैं। संकेत में प्राचीन और आधुनिक नाटक में निम्नलिखित अंतर है—

प्राचीन नाटक	**आधुनिक नाटक**
1. नायक विशिष्ट गुणों से संपन्न हो (वह उदात्त, उद्धत, प्रशांत या ललित प्रकार का हो)।	1. नायक में किन्हीं विशिष्ट गुणों की आवश्यकता नहीं है। वह किसी भी परिस्थिति का मनुष्य मात्र हो।
2. रस की प्रधानता होनी चाहिए।	2. रस की अपेक्षा मनोविज्ञान की प्रधानता आवश्यक है।
3. कथा में संघर्ष केवल मध्य तक ही हो, उसके बाद नायक की विजय स्पष्ट दीखनी चाहिए (इसमें 'क्लाइमैक्स' के लिए स्थान नहीं है)	3. कथा में संघर्ष अंत तक होना चाहिए। अंत में चरम सीमा (जिसे अँगरेजी में क्लाइमैक्स Climax कहते हैं) व्यवस्थित रूप से रहे।
4. चरित्र की अपेक्षा सत्य और न्याय-सिद्धान्त की प्रधानता अपेक्षित है।	4. चरित्र (Character) का विश्लेषण ही प्रमुख है।
5. आदर्शवाद ही अंत का निष्कर्ष है।	5. यथार्थवाद ही अन्त का निष्कर्ष है।
6. नाटक में मृत्यु आदि दुःखद घटनाएँ वर्जित हैं।	6. इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

7. नाटक केवल मात्र सुखान्त होना चाहिए।	7. नाटक जीवन की परिस्थितियों के अनुसार सुखान्त और दुःखान्त दोनों ही हो सकते हैं।
8. रंगमंच की व्यवस्था संकेतात्मक है।	८. रंगमंच की व्यवस्था वैज्ञानिक और कलात्मक है।

इस प्रकार आधुनिक नाटक जीवन की स्वाभाविकता और यथार्थता के अधिक निकट आ पहुँचा है। उसमें पात्र-संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व अधिक हो गया है और जीवन की समस्याएँ रंगमंच पर आकर अपना-अपना हल खोजने लगी हैं। कल्पना और भावुकतामय आदर्श के लिए आधुनिक रंगमंच पर कोई स्थान नहीं रह गया है। जीवन के संघर्ष की सारी कहानी आधुनिक रंगमंच पर आ गई है। इसके कथा-विस्तार में कोई अस्वाभाविक और अयुक्तिपूर्ण प्रसंग नहीं रह गया है। पात्रों के मनोविज्ञान के आरोहावरोह में संघर्ष की अत्यन्त शक्तिशाली प्रेरणा समा गई है। समस्त नाटक के सुखान्त का भार आकर एक वाक्य में संतुलित हो गया है। वहीं चरम बिन्दु की कुतूहलता है। ऐसे नाटक में संगीत की अपेक्षा संवाद की उपयोगिता अधिक मानी गई है। संगीत की आवश्यकता अब केवल वातावरण के निर्माण में है अथवा किसी संगीत-प्रेमी के चरित्र-चित्रण में, अन्यथा संगीत नाटक से निर्वासित-सा हो चला है। अब 'कला' जीवन को स्पष्ट करने की एक आलंबन शक्ति है जिसमें स्वाभाविकता का ही एकछत्र राज्य है। नाटक में सिद्धान्त प्रतिपादन वहीं आता है जहाँ हमें उसकी आवश्यकता होती है अन्यथा चरित्र-चित्रण में सिद्धान्त आपसे आप निकल आता है जैसे सूर्योदय के साथ प्रकाश।

एकांकी नाटक

जब समस्त जीवन अथवा जीवन के विस्तृत भाग की अपेक्षा उसके केवल एक भाग या एक भावना के चित्रण की आवश्यकता पड़ती है तो एकांकी नाटक की रचना की जाती है। एकांकी नाटक में केवल एक ही अंक होता है। नाटककार अपनी सुविधानुसार या कथा के अन्य अंगों को स्पष्ट करने के विचार से उस अंक के अन्तर्गत अन्य दृश्यों की अवतारणा भी कर लेता है किन्तु अनेक नाटककार केवल एक अंक में एक दृश्य ही रखने के पक्ष में हैं। प्राचीन रूपकों में भी केवल एक अंक के रूपक होते थे। रूपकों में भाण, अंक और वीथी तथा उपरूपकों में गोष्ठी और नाट्य रासक एक ही अंक में लिखे जाते थे किन्तु ये सब रूपक और उपरूपक जो एक ही अंक में समाप्त होते थे, प्राचीन संस्कृत नाट्यशास्त्र से ही शासित थे। आज का एकांकी नाटक पश्चिम की देन है। इसमें

कार्य-व्यापार की जटिलता में से किसी जीवनगत सत्य का निकाल लेना या किसी समस्या को सुलझा लेना ही मुख्य दृष्टिकोण रहता है। "एकांकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता रहती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा (Climax) तक पहुँचती है उसमें अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं, जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना से सम्पूर्णतया संबद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्र की गुंजायश नहीं। प्रत्येक पात्र की रूपरेखा पत्थर पर खींची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं। घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य-शरीर के पैरों के समान है जिसमें अनुपात विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की सृष्टि होती है। कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है और उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है। जिस प्रकार कहानी उपन्यास से भिन्न है, उसी प्रकार एकांकी नाटक का साधारण नाटक से (मेरे 'पृथ्वीराज की आँखें' नाटक संग्रह की भूमिका से) संक्षेप में यह अन्तर निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है।

साधारण नाटक	एकांकी नाटक
1. जीवन की विविध रूपता	1. जीवन की एकरूपता
2. अनेक पात्र	2. परिमित पात्र
3. कथा का सांगोपांग विस्तार	3. कथा में अनावश्यक अंग की उपेक्षा। केवल वस्तुस्थिति के अनुसार कथा की आवश्यक सृष्टि
4. अनेक अंक	4. केवल एक अंक
5. चरित्र-चित्रण में विविधता	5. चरित्र-चित्रण की तीव्र और संक्षिप्त रूप-रेखा
6. कौतूहल की अनिश्चित स्थिति	6. प्रारम्भ में ही कौतूहल की स्थिति
7. वर्णनात्मकता की अधिकता	7. व्यंजनात्मकता की अधिकता और प्रभावशीलता
8. चरम सीमा का विस्तार	8. चरम सीमा का बिन्दु में केन्द्रीकरण
9. कथानक की घटना-विस्तार से मन्द गति	9. कथानक की घटना-न्यूनता से क्षिप्र गति

अब हम प्रस्तुत नाटक 'शिवाजी' पर विस्तार से विचार करेंगे।

कथानक

'शिवाजी' नाटक का कथानक 24 अक्टूबर 1657 ई० की वह घटना है जो शिवाजी के चरित्र-बल के दृष्टिकोण से दक्षिण भारत के इतिहास में अद्वितीय है। सर जदुनाथ सरकार उस घटना का विवरण इस प्रकार देते हैं—"सन् 1658 और 1659 ई० के दो वर्ष में मुगल शहजादे दिल्ली के सिंहासन के लिए आप ही युद्ध में फँसे रहे, इसलिए शिवाजी को इस ओर से कुछ भी डर न रहा। इधर पिछले युद्ध में किसके दोष से बीजापुर वाले मुगलों से हारे, इस बात को लेकर बीजापुर के मन्त्री और फौजी अफसरों में भारी हुज्जत होने लगी। प्रधान मन्त्री खान मुहम्मद का राजधानी में खून हो गया। इस गड़बड़ी से लाभ उठाकर शिवाजी अपना राज्य मनमाना बढ़ाने लगे। पश्चिमी घाटी (सह्याद्रि पर्वत श्रेणी) पार कर वे उत्तर कोंकण, वर्तमान थाना जिले में जा घुसे और बीजापुर के हाथ से कल्याण और भिवंडी नामक दो शहर छीन लिए। वहाँ उन्हें बहुत माल हाथ लगा। (24 अक्टूबर 1657)। बीजापुर के अधीन मुल्ला अहमद नामक एक अरब जाति का रईस इस कल्याण प्रदेश पर शासन करता था। शिवाजी के सेनापति आबाजी सोनदेव ने इस प्रदेश पर अधिकार करते समय मुल्ला अहमद की खूबसूरत नौजवान पुत्रवधू को कैद कर लिया, और भेंट-स्वरूप शिवाजी के पास भेज दिया, परन्तु शिवाजी ने बन्दिनी की ओर केवल एक ही बार देखकर कहा—'आह ! यदि मेरी माँ भी इसी के समान होती, तो कैसे आनन्द की बात होती ! मेरा भी चेहरा कैसा सुन्दर होता !' इस प्रकार शिवाजी ने उस युवती को 'माँ' कहकर सम्बोधित किया। उसे कपड़ों तथा गहनों सहित उसके ससुर के पास इज्जत के साथ बीजापुर भेज दिया। उस युग में यह एक नई बात हुई जिसे सुनकर सब लोग अचंभित हो गए।" ('शिवाजी', सर जदुनाथ सरकार, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, पृष्ठ 39-40)।

इसी कथानक को नाटकीय स्थितियों से समन्वित कर शिवाजी नाटक की रचना हुई है। बीजापुर के आक्रमण का सजीव चित्रण है। मुल्ला अहमद की पुत्रवधू के विवरण के लिए सेनापति आबाजी सोनदेव की बहिन के संवादों की व्यवस्था की गई है। शिवाजी और उसके सेनापतियों से वार्तालाप में तत्कालीन इतिहास की रूपरेखा स्पष्ट की गई है। इस प्रकार पात्रों के कथोपकथन में समस्त राजनीतिक, सामाजिक और जातिगत समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है और ऐतिहासिक सत्य के रूप को निखारने की चेष्टा की गई है। प्रारंभ में माला

गूँथने का प्रसंग, कटार छीन लेने का प्रसंग और अंत में आरती का प्रसंग केवल कथानक में स्वाभाविकता और सजीवता लाने के लिए ही नियोजित है। किन्तु समस्त नाटक में एक भी बात ऐसी नहीं आने पाई है जो ऐतिहासिक सत्य से परे हो अथवा जो तत्कालीन राजनीति और संस्कृति में घटित न हो सकती हो।

चरित्र-चित्रण

इस नाटक में शिवाजी के चरित्र-चित्रण का प्रमुख दृष्टिकोण है। जिस प्रकार सूर्योदय के पूर्व ही दिशाओं में हलका प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार शिवाजी के चरित्र के आलोक के पूर्व उनके चारों ओर के पात्रों में चरित्र की दृढ़ता और उज्ज्वलता दिखलाई पड़ने लगती है। शिवाजी का प्रवेश नाटक के मध्य में होता है। उनके आने के पूर्व उनके उदार और क्रियाशील चरित्र की भूमिका निर्मित होती रहती है और दर्शकों का मन शिवाजी के दर्शन करने के लिए उतावला होने लगता है। जिस प्रकार मेघ-पटल में से सूर्य निकलता है और एक क्षण में चारों ओर उज्ज्वल विभूति-सी छा जाती है, उसी प्रकार परि-स्थितियों के मण्डल से शिवाजी निकलते हैं और अपनी भव्य मूर्ति से रंगमंच पर अपूर्व उत्साह की सृष्टि करते हैं। उनके चरित्र में आदर्श के प्रति गौरव और अभिमान है। वे अपनी संस्कृति के प्रतीक हैं और उनमें सहानुभूति, स्वावलंबन, उत्साह और क्रियाशीलता की तेजस्विनी शक्ति है। जैसी चरित्र-दृढ़ता की ज्योति शिवाजी में है, वैसी ही गौहरबानू और सोना में भी है। इन तीनों का एक स्थल पर समन्वय हमारे देश की भावनाओं का एक उज्ज्वल ज्योति-स्तंभ है जो हमारे युवक और युवतियों की जीवन-नौका के कठिन मार्ग को आलोकित करने की क्षमता रखता है।

इस नाटक के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं। काशीबाई, सोना, गंगा और अंजुमन काल्पनिक हैं किन्तु इन काल्पनिक पात्रों की सृष्टि ऐतिहासिक विचार-धारा के क्रोड़ में है। इनका मनोवैज्ञानिक निर्माण तत्कालीन जातीयता और राजनीति में पोषित हुआ है। ऐतिहासिक पात्रों में—

शिवाजी : संगठनकर्त्ता, प्रत्युत्पन्न मति, उदार, क्रियाशील, कर्मयोगी, राजनीतिज्ञ, उत्साही, मातृभक्त, देशप्रेमी, भवानी-भक्त, साम्यवादी, नारी जाति की मर्यादा सुरक्षित रखनेवाले और प्रसन्नचित्त हैं।

आबाजी सोनदेव : उत्साही, पराक्रमी और कूटनीतिज्ञ हैं किन्तु इसके साथ ही उनकी स्वामिभक्ति दृढ़ है।

मोरोपन्त : उदार, गंभीर और स्वामिभक्त हैं।

शम्भूजी कावजी
रघुनाथ बल्लाल : स्वामिभक्त और पराक्रमी हैं।
मीनाजी
गौहरबानू : सुन्दरता के अभिशाप को समझने वाली, ममता से परिपूर्ण, वीर-पूजा से ओत-प्रोत और साथ ही चरित्रनिष्ठ है।

काशीबाई में सौन्दर्य और यौवन की मादकता है किन्तु वह देशप्रेम में अपनी आस्था रखते हुए भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व से ओत-प्रोत है। वह महाराष्ट्र में नारी जाति का प्रतिनिधित्व करती है। अविवाहित होने के कारण उसमें वाचालता और चंचलता यथेष्ट मात्रा में है। वह महाराष्ट्र नारी की प्रधान प्रवृत्ति—सहानुभूति से परिपूर्ण है। सोना में भाई की ममता प्रधान है किन्तु इतने पर भी वह देशप्रेम को नहीं भूलती। गंगा और अंजुमन परिचारिकाओं के उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह करने वाली हैं।

इस प्रकार इस एकांकी में प्रत्येक चरित्र की रूपरेखा को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। ये चरित्र पत्थर पर खींची गई रेखा के समान स्थायी और अमिट होंगे, यह मेरा विश्वास है।

अन्तर्द्वन्द्व

नाटक में चरित्रों का सौन्दर्य अन्तर्द्वन्द्व से ही निखरता है। वही प्रधान साधन है जिसके द्वारा पात्रों के चरित्र की सूक्ष्मता स्पष्ट होती है। शिवाजी के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व एक क्षण में स्पष्ट हो जाता है जबकि गौहरबानू के सौन्दर्य को देखकर एक क्षण के लिए "यह दैवी वरदान!" कहकर स्तंभित हो जाते हैं किन्तु दूसरे ही क्षण से अपनी चरित्रदृढ़ता से गौहरबानू का परितोष करने के लिए एकांत चाहते हैं। और यहीं कौतूहल की सृष्टि होती है। दर्शक या पाठक समझते हैं कि शायद शिवाजी गौहरबानू को पत्नी रूप में स्वीकार कर लें किन्तु इस भावान्दोलन के बाद जब शिवाजी "मेरे सामने जीजाबाई और गौहरबानू में कोई फर्क नहीं है" कहकर अपने दृढ़ चरित्र का परिचय देते हैं तो हमारे सामने एक नाटकीय स्थिति आती है जिसमें हृदय शान्त और पवित्र हो जाता है और नायक के प्रति हृदय में श्रद्धा का उदय होता है।

सोना का अन्तर्द्वन्द्व यवनिका उठते ही सामने आता है। जब वह अपने भाई यादव के न लौटने से दुखी है। यह ममता और प्रेम का अन्तर्द्वन्द्व बराबर चलता जाता है। जब शिवाजी उसकी ममता का प्रतिपादन करते हैं तो दर्शक के हृदय में शान्ति का आविर्भाव होता है।

गौहरबानू के हृदय में भी अन्तर्द्वन्द्व है। वह नहीं जानती कि शिवाजी उसके

साथ क्या व्यवहार करेंगे। वह काशी के सामने कहती है कि 'अगर श्रीमंत शिवाजी ने मेरे साथ अच्छा बरताव नहीं किया तो उनके साथ लड़ूँगी' आदि। इस अन्तर्द्वन्द्व की समाप्ति शिवाजी के द्वारा 'माँ' कहने के भाव में है। इस प्रकार इन तीन पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व में ही नाटक के मनोविज्ञान का विकास हुआ है।

कौतूहल

नाटक में कौतूहल की आश्चर्यजनक स्थिति रहनी आवश्यक है। कथा-साहित्य में कौतूहल प्राण की तरह आवश्यक है। साधारण निबन्ध या काव्य में तथा कथा में यही अन्तर है कि प्रथम में कारण और कार्य की शृंखला से मनोभावों का क्रमिक विकास होता है और दूसरे में कारण के पूर्व ही कार्य की स्थिति रखकर आश्चर्यपूर्ण घटनाओं से दोनों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, इसी में कौतूहल का जन्म होता है। नाटक की कथा के विकास में यह कौतूहल विशेष मात्रा में अपेक्षित है, एकांकी नाटक में तो इसकी उपयोगिता और भी अधिक है क्योंकि कथा के विकास की सीमाएँ परिमित हैं और संकुचित क्षेत्र में ही घटनाओं का आरोहावरोह करना पड़ता है। इस नाटक के प्रारम्भ में ही सोना का मनोविज्ञान कौतूहल की सृष्टि करता है। आगे चलकर यह कौतूहल शक्ति संचय करता है। संक्षेप में इस नाटक में निम्नलिखित कौतूहलजनक परिस्थितियाँ हैं—

1. सोना का मनोविज्ञान
2. काशी की गौहरबानू के सम्बन्ध में जिज्ञासा
3. आबाजी सोनदेव की कूटनीति
4. गौहरबानू का हरण
5. काशी और गौहरबानू में संघर्ष और बाह्य कौतूहल
   (कटारों का छीना जाना)
6. यादव रामचन्द्र की मृत्यु का उद्घाटन
7. शिवाजी की एकांत-व्यवस्था
8. शिवाजी द्वारा गौहरबानू को 'माँ' का संबोधन
9. प्रारम्भ में गूँथी जाने वाली माला की शिवाजी के कंठ-हार से पूर्ति।

इस प्रकार कथावस्तु में 9 कौतूहलजनक परिस्थितियाँ हैं जिनसे घटनाओं के विकास में आकर्षण और उत्साह उत्पन्न किया गया है। कथा में जितनी ही अधिक कौतूहलता होगी, वह उतनी ही अधिक नाटक की सफलता का संकेत करेगी।

संवाद और भाषा

संवादों की उपयोगिता पात्रों के मनोविज्ञान और व्यक्तित्व के चित्रित करने में है। इसीलिए पात्रों के अनुकूल संवाद होना आवश्यक है। यह संवाद कथावस्तु का विशिष्ट भाग हो, केवल मात्र मनोरंजन के लिए संवाद का विस्तार नहीं होना चाहिए। वह पूर्ण, स्वाभाविक और परिस्थिति के अनुकूल हो। इस नाटक में जहाँ मुसलमान पात्र आए हैं अथवा उनसे बातचीत हुई है, वहाँ पात्रों और परिस्थितियों की स्वाभाविकता के लिए संवादों में विदेशी शब्दों का मिश्रण है अन्यथा सारे नाटक में भारतीय परम्परा की व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया गया है। पात्रों के मनोभावों के अनुसार भी संवाद संक्षिप्त और विस्तृत हैं और उनकी भाषा में भी परिवर्तन किया गया है। यह बात कहानी और उपन्यास के लिए उतनी सत्य नहीं है जितनी नाटकों के लिए है क्योंकि नाटक दृश्य काव्य के रूप में है। रंगमंच पर अधिक से अधिक स्वाभाविकता उपस्थित करने की आवश्यकता में पात्रों के मनोविज्ञान और उनके मुख की भाषा को यथावत् ही रहना चाहिए। शिवाजी के संवादों में ओजस्विता, दृढ़ता और शक्ति है। वे विशुद्ध भाषा में अपना मनोविज्ञान स्पष्ट करते हैं किन्तु जब गौहरबानू से बात-चीत करते हैं तो अपने मनोभावों को समझाने के लिए वे गौहरबानू की भाषा के समीप पहुँचते हैं। गौहरबानू की भाषा मिश्रित है और उसमें विदेशी शब्दों की उचित मात्रा है जिससे उसके चरित्र की स्वाभाविकता अधिक स्पष्ट हो सके। काशीबाई सुन्दरी और युवती है, उसमें प्रेम की मादकता है, इसलिए उसके संवादों में काव्य की छटा इधर-उधर दिखलाई देती है। शेष पात्र विशुद्ध भाषा का आश्रय लेकर अपने जातीय मनोभावों को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार नाटक में परिस्थिति और पात्रों के मनोविज्ञान के अनुकूल भाषा रखने का प्रयत्न किया गया है।

उद्देश्य

इस नाटक के द्वारा हम अपने प्राचीन गौरव को एक बार फिर आँखों के सामने लाना चाहते हैं। महाराज शिवाजी के चरित्र में हमें अपने आदर्शों को समझने की क्षमता प्राप्त होती है। उनका चरित्र हमारे अनुकरण की वस्तु है। जिन विषम परिस्थितियों से उठकर वीर शिवाजी ने अपने बाहुबल से एक स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण किया था, वैसी ही विषम परिस्थितियाँ जीवन में किसी न किसी रूप में हमारे नवयुवकों के सामने हैं। उन्हें शिवाजी के चरित्र से शक्ति और दृढ़ता प्राप्त होगी। सर जदुनाथ सरकार के शब्दों में यह भाव अत्यन्त स्पष्ट रूप से अंकित है। "शिवाजी के चरित्र पर विचार करने से हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रयाग के अक्षयवट की तरह हिन्दू जाति का प्राण अमर है।

सैकड़ों वर्ष तक बाधाओं और विपत्तियों को झेलकर भी पुनः सिर ऊँचा करने की ओर नए शाखा-पल्लव फैलाने की ताकत उसमें छिपी है। धर्मराज्य स्थापना करने से, चरित्र को दृढ़ रखने से नीति और नियम के ऊपर चलने की विधि को अन्तरात्मा से मान लेने से, जन्मभूमि को अपने स्वार्थ से बढ़कर समझने से, बातूनी होने के बजाय चुपचाप कार्य करने का लक्ष्य रखने से ही जाति अमर और अजेय होती है।"

हमें विश्वास है, हमारे देश के नवयुवक इस पर आचरण करेंगे।

—लेखक

पात्र-सूची

शिवाजी	:	महाराष्ट्र देश के अधिपति
आबाजी सोनदेव **मोरोपन्त** **शंभूजी कावजी** **रघुनाथ बल्लाल** **मीनाजी**	:	शिवाजी के सेनापति और सहायक
गौहरबानू	:	बीजापुर के सूबेदार मुल्ला अहमद की सुन्दर पुत्रवधू
काशीबाई	:	आबाजी सोनदेव की बहिन
सोना **गंगा**	:	काशीबाई की प्रधान परिचारिकाएँ
अंजुमन	:	गौहरबानू की सेवा में नियुक्त परिचारिका अन्य दो परिचारिकाएँ
स्थान	:	उत्तर कोंकण का प्रदेश
काल	:	24 अक्तूबर, सन् 1657 ई०

इस नाटक में आए हुए विशिष्ट शब्दों के अर्थ

1. कुनबी=खेती करने वाली जाति जो शिवाजी की सेना में सम्मिलित थी।
2. गोन्धाली=प्राचीन वीर पुरुषों के गीत गाने वाले चारण।
3. पंढरपुर=महाराष्ट्र का प्रधान धर्म-तीर्थ।
4. पागादल=राजा के निजी घुड़सवारों का दल।
5. पोवाड़ा=जन-साधारण का लोक-गीत।
6. वर्गी=साधारण सिपाही।
7. मावला=पूना के पश्चिम में मावल प्रांत का निवासी सैनिक।
8. होंण=एक मराठी सिक्का।

[सात बजे संध्या का समय, कल्याण के समीप मराठों का एक शिविर, पश्चिम में सह्याद्रि पर्वत श्रेणी की नीलिमा में डूबी हुई चोटियां हैं, जो उसी ओर खुलने वाली खिड़की से दीख रही हैं। नीली चोटियों के समीप उठती हुई चन्द्र की बंकिम कला, ज्ञात होती है जैसे किसी अवगुंठन-मयी नववधू के केशपाश में पीछे की ओर उठती हुई चूड़ामणि है। वायु में शीतलता है। वातावरण शान्त है, किन्तु यह शान्ति जैसे अट्टहास के बाद की शान्ति है।

शिविर के खंभों में रूखापन है, किन्तु सुनहले रंग से रँगकर उन्हें सुन्दर बनाने का आयोजन किया गया है। पत्थर की दीवारों के ऊपर जरी का चँदोवा है; जिसमें स्थान-स्थान पर मोतियों की लड़ियाँ झूल रही हैं। सामने तीन मेहराबें हैं और उनके समाप्त होने पर दीवाल पर रेशमी परदे हैं। उनके दोनों ओर दो बड़ी मछलियों के आकार बने हुए हैं। जमीन पर मखमल का फर्श बिछा हुआ है। बगल की दीवार पर ढाल, तलवार, तीर और धनुष टँगे हुए हैं।

बीच में एक ऊँचा मसनद है जिस पर एक आसन रक्खा हुआ है। बाघ के चमड़े पर मखमल की झालरदार गद्दी है, जिसकी बगल में नीले मखमल की म्यान में तलवार सजाई हुई है। उस आसन के दोनों ओर दो भालों पर भी दो मछलियों के चित्र झूल रहे हैं। सामने एक छोटे से मृत्तिका-स्तंभ पर पंच-प्रदीप जल रहे हैं। बीच के मेहराब के नीचे दरवाजे के दोनों ओर घोड़ों की पूँछ के चंवर हैं। दाहिने और बाएँ ओर जाने वाले दोनों मार्गों के द्वार पर दोनों बाजुओं में आम्र-पल्लवों के सजाए गए जल से भरे हुए मंगल घट हैं, जिन पर स्वस्तिका के चिह्न बने हुए हैं। उनके समीप ही राजपताकाएँ हैं, एक जरी की और दूसरी भगवी वस्त्र की, जो स्वामी रामदास के गेरुवे वस्त्र की स्मृति में है।

कक्ष में जगमगाहट है। स्थान-स्थान पर दीप-कमल जल रहे हैं जिनमें अनेक रंगों के प्रकाश की व्यवस्था है। एक ओर शीत-निवारणार्थ अग्नि-पात्र है, जिसमें कभी-कभी लपट उठ जाती है, जो मराठों की तेजस्विता की परिचायिका ज्ञात होती है। थालियों में लावा के चक्र में धूप के धूम की लहरें उठ रही हैं। समस्त वातावरण में एक पवित्रता है। मसनद के समीप

ही नीचे दो आसन और भी हैं। वे मखमल के न होकर कीमख़ाब के हैं। एक आसन पर गंगा (आयु 22 वर्ष) बैठी हुई एक फूलों की माला गूँथ रही है। दूसरा आसन खाली है। सह्याद्रि की ओर खुलने वाली खिड़की के समीप ही सोना (आयु 20 वर्ष) खड़ी हुई चन्द्रकला को देख रही है।]

गंगा : (**फूलमाला उठाते हुए**) दो···तीन···चार··· बस केवल चार फूल चाहिए। सोना, सुख के चार दिन की तरह चार फूल। फिर यह माला···।

सोना : (**खिड़की से चाँद की ओर देखते हुए**) यह माला पूरी न हो सकेगी, गंगा।

गंगा : (**माला गूँथते हुए**) पूरी न हो सकेगी ? इतने फूल गूँथ लूँ तो माला पूरी हो जाए। बस, अन्त में सिर्फ चार फूल चाहिए, उनका झुमका लगाना है।

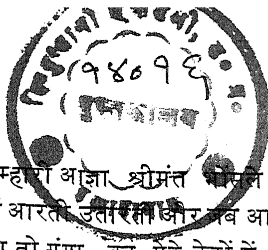
सोना : (**पूर्ववत् चाँद की ओर देखते हुए**) यह माला पूरी न हो सकेगी। (**गंगा की ओर मुड़कर**) हमारे देश के कितने लाल राज्य की माला बनाने में बलि चढ़ गए, किन्तु आज तक राज्य की माला पूरी नहीं बन सकी। अभी और कितने फूल चढ़ेंगे।

गंगा : तू तो हमेशा इन्हीं बातों को सोचा करती है। खिड़की के पास खड़ी हुई रात-दिन प्रतीक्षा करती रहती है। सोना, तेरा भाई अवश्य लौट आएगा, वह कितना वीर है, कितना साहसी है, कितना पराक्रमी है !

सोना : वीर, साहसी, पराक्रमी ! गंगा, वीर और पराक्रमी की आयु बहुत थोड़ी होती है। (**स्वप्न देखने की भाँति**) ···आधी रात थी; मेरा भाई सो रहा था। भोंसले श्रीमंत शिवाजी की आज्ञा मिली कि रात ही में कल्याण पर आक्रमण हो। वह उठ खड़ा हुआ। तलवार ली और घोड़े पर सवार हो गया। उसने बाग मोड़ी और काली दिशाओं में तारे की भाँति डूब गया। गंगा, मैं अपने भाई को अपने हाथों से तलवार भी नहीं दे सकी, मंगल-तिलक भी नहीं कर सकी।

गंगा : (**माला गूँथते हुए**) सच्चे वीरों को तिलक की आवश्यकता नहीं होती।

सोना : मैंने इसी में सन्तोष किया, गंगा। किन्तु मैं डरती हूँ कि उसका मंगल-तिलक न होने से कहीं कुछ अनिष्ट न हो। मेरे मंगल-तिलक में बड़ा बल है। मैं पिछली लड़ाइयों में उसे अपने हाथ से तलवार और भाला देती थी। कहती थी कि महाराष्ट्र जननी की लाज तुम्हारे हाथ में है भैया ! कभी पीछे मत हटना। गंगा, वह मेरी दी हुई तलवार को माथे से लगाकर कहता



था, बहिन ! तुम्हारी आज्ञा श्रीमंत भोंसले की आज्ञा है, महाराष्ट्र-जननी की आज्ञा है। मैं आरती उतारती और जब आरती-पात्र में मेरा एक स्नेहाश्रु ढुलक कर पड़ता तो गंगा, वह मेरे नेत्रों में उलझे हुए आँसू को पोंछकर कहता था—बहिन ! इन आँसुओं से मेरा पथ गीला मत करो। मेरा घोड़ा आगे नहीं बढ़ सकेगा। उन आँसुओं में हँसने की चेष्टा करती हुई मैं उसकी आरती उतारती थी। घूमती हुई आरती में दीप का आलोक उसकी परिक्रमा करता-सा जान पड़ता था। मैं समझती थी कि यह आलोक-मंडल भवानी का कवच है। लेकिन इस बार मैं अपने भाई की आरती नहीं कर सकी ! इस बार यह नहीं हो सका, कुछ नहीं हो सका !

गंगा : सोना, तू इतना दुःख क्यों करती है ? महाराष्ट्र की बहिनें उतना दुःख कभी नहीं करतीं।

सोना : नहीं करती गंगा, किन्तु जब (**खिड़की से बाहर की ओर देखती हुई**) इस सह्याद्रि की चोटी पर रात आती है तो जैसे अन्धेरे में सारी भयानकता जाग उठती है, संग्राम में मरे हुए वीरों की मौत जाग उठती है, आकाश जगमगाता है तब तक काली-काली छाया यहाँ से वहाँ···वहाँ से यहाँ घूमने लगती है···पेड़ कंकाल की तरह अकड़ जाते हैं···हवा का एक शीत झोंका तलवार की तरह घूमकर इस खिड़की के पास तक चला आता है। उसके साथ वह काली छाया भी बहकर चली आती और खिड़की के समीप ठिठक कर कहती है—"बहिन ! मेरा मंगल-तिलक करो, मेरा मंगल-तिलक करो बहिन ! तुमने मुझे तिलक नहीं किया···मैं शत्रु के हाथों मारा गया···" ओह, मेरा भाई !···मेरा भाई !

[खिड़की पर सिर झुका लेती है। गंगा उठकर शीघ्रता से सोना के समीप जाती है और उसके कंधे पर हाथ रखती हुई सन्तोष देने की चेष्टा करती है।]

गंगा : सोना, तू पागल तो नहीं हो गई ? कैसी-कैसी बातें करती है ! चल इधर आ, रात-दिन खिड़की के पास खड़ी होकर न जाने क्या-क्या सोचा करती है। ऐसे भी कोई प्रतीक्षा करती है ? कितनों के भाई युद्ध में लड़ने के लिए नहीं जाते ! कितनों के भाई लौटकर नहीं आते। वीर कन्याएँ कहीं इस प्रकार दुखी हुआ करती हैं ? क्या वे इस तरह प्रतीक्षा करती हैं ? तेरा भाई आएगा तो क्या वह खिड़की के उस पार ही रह जाएगा ? (**दूसरे आसन पर बिठलाती है**) यहाँ बैठ; तू महाराष्ट्र की बहनों को लज्जित करती है।

सोना : (**बैठते हुए**) मैं लज्जित नहीं करती, बहिन ! यदि मैं उसे अपने हाथों

से विदा कर पाती; उसकी आरती उतार लेती तो मुझे फिर किसी बात की चिन्ता न रह जाती।

गंगा : (**दृढ़ता से**) तो समझ ले महाराष्ट्र-जननी ने उसकी आरती उतारी है! महाराष्ट्र-जननी, जो सह्याद्रि के सिंह पर बैठी है, कोंकण मुकुट धारण किए है। वह सोना नदी की मेखला से सारी दिशाओं को प्रतिध्वनित कर रही है। उसके चरणों में कृष्णा तरंगित हो रही है। ऐसी जननी ने तेरे भाई का मंगल-तिलक किया है! सोना, महाराष्ट्र-जननी ने तेरे भाई की आरती उतारी है।

सोना : (**शून्य दृष्टि से**) महाराष्ट्र-जननी ने···मेरे भाई की···आरती उतारी ···है! मेरा भाई धन्य···है गंगा!

गंगा : (**पूर्ववत् दृढ़ता से**) फिर तू इतना दुःख क्यों करती है? यदि तेरा भाई न लौटे तो वीरा बहिन की तरह अपने को धन्य समझ। उसकी कीर्ति में पोवाड़ा गाया जाएगा। गोन्धाली उसके चरित्र का गान करेंगे। दक्षिण की समतल भूमि में, सह्याद्रि की गहरी तराई में पहाड़ियों की ऊँची चोटियों पर तेरे भाई के गान होंगे।

सोना : (**सम्हलकर**) मेरा भाई अमर होगा!

गंगा : (**दृढ़ता से**) निश्चय।

सोना : मेरा हृदय बहुत दुर्बल है। इसीलिए एक क्षण में भाई की ममता जाग उठती है, नहीं तो बहिन के लिए भाई का युद्ध अभिमान की बात है।

गंगा : यह बात तेरे ही योग्य है सोना। तेरे इस दुःख करने में महाराष्ट्र की नारियों का अपमान होता है। अब तो तू इस तरह दुःख नहीं करेगी?

सोना : (**सम्हलकर**) नहीं।

गंगा : (**प्यार से**) तू बहुत अच्छी है, सोना! (**अपने आसन पर बैठती हुई**) देख, मेरी माला अभी तक नहीं बन पाई। तेरे दुःख ने मेरी माला पूरी नहीं होने दी।

सोना : मैं सहायता करूँ, बहिन?

गंगा : रहने दे, मैं पूरी कर लूँगी। सिर्फ थोड़े से फूल और रह गए हैं और काशीबाई ने मुझे ही तो आज्ञा दी है कि मैं माला गूँथूँ। (**माला फिर गूँथती है**) उन्हें मेरी माला बहुत पसन्द आती है। तू जा, देख आबाजी सोनदेव के आने में कितना विलम्ब है।

सोना : (**अपने ही विचारों में**) तो क्या मैं माला भी नहीं गूँथ सकती?

गंगा : तू गूँथ क्यों नहीं सकती; किन्तु काशीबाई की रुचि इतनी सुकुमार है कि थोड़ी-सी भूल उनकी आँखों में चुभ जाती है। शृंगार की विशेषता तो महाराष्ट्र में केवल वही जानती हैं। वे कली की आयु के दिन बतला

सकती हैं, वे फूल की अवस्था बतला सकती हैं, फूलों के हलके गहरे रंगों के अनगिनत भेद बतला सकती हैं। स्नान कर वे आती होंगी।

सोना : तब तो मैं उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकती।

गंगा : तभी तो मैं कहती हूँ कि तू जा। तेरी सहायता मेरे काम न आ सकेगी। जा देख, आबाजी सोनदेव के आने में कितनी देर है।

सोना : अच्छा बहिन, जाती हूँ। (**प्रस्थान**)

गंगा : बस, मेरी माला भी समाप्त हो गई। यह गाँठ लगा दूँ (**माला में गाँठ लगाती है**) अब केवल झुमका रह गया है। (**नेत्र उठाकर सोना को न पाकर**) गई? बेचारी सोना! (**उठ खड़ी होती है**) युद्ध के सब सिपाही लौट आए, यदि नहीं लौटा तो उसका भाई, यादव रामचन्द्र! (**स्वयं खिड़की के पास जाकर खड़ी होती है**) यादव···रामचन्द्र···! (**ठंडी साँस लेकर**) शायद लौट आए! (**फिर खिड़की के बाहर देखती है।**)

[काशीबाई (आयु 18 वर्ष) का प्रवेश। यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति से परिपूर्ण। आँखों में सरसता और आकर्षण। माथे पर लाल बिन्दी, केशों में लाल फूलों का शृंगार, गौर वर्ण और शरीर में कमनीयता। शरीर में आभूषणों के स्थान पर रंग-बिरंगे पुष्पों का शृंगार किए हुए है। ओंठों पर मुस्कराहट। वह शिविर में प्रवेश करते ही एक नवीन वातावरण की सृष्टि करती है। हाथ में फूलों की एक माला है जो उँगलियों में उलझी हुई है। सितार पर नाचती हुई रागिनी की भाँति वह रंगमंच पर प्रवेश करती है।]

काशी : (**भाव मुद्रा में**) सह्याद्रि की चोटी पर चन्द्रकला की शोभा कि न आँखों का सपना है? (**खिड़की के समीप जाकर और आकाश की ओर संकेत करते हुए**) गंगा, यह चन्द्रकला मेरे जीवन की ऐसी सहचरी है, मुझसे आँख-मिचौनी खेलना जानती है।

गंगा : (**सिर झुकाकर**) सत्य है, देवी।

काशी : (**उसी स्वर में**) और जब मैं वीणा पर गीत गाती हूँ तो इस चन्द्रकला की किरणों में मेरी वीणा के तार संगीत-धारा के गूँजते हुए निर्झर जैसे मालूम पड़ते हैं। ओह, मैं कितनी प्रसन्न हूँ, चन्द्रकला को देखकर। तारों के बंदनवारों के बीच से चलकर यह जैसे आकाश-गंगा में स्नान करने जा रही है।

गंगा : सत्य है देवी, अन्तर केवल यही है कि यह स्नान करने जा रही है और आप स्नान करके आ रही हैं। उसके लिए तारों के बंदनवार हैं, आपके लिए स्वागत की मालाएँ।

काशी : (**हँस कर**) तू बहुत प्रियवादिनी है। तेरी माला बनी या नहीं ?

गंगा : माला तो तैयार है, केवल उसका झुमका नहीं बन सका, देवी !

काशी : तो बिना झुमके के माला कहीं अच्छी लगेगी ! बिना झुमके के माला तो वैसी ही है जैसे बिना कुंकुम की बेदी के मैं। (**उत्तर की प्रतीक्षा में**) ऊँ ! (**मुस्कान**)

गंगा : ठीक कहती हैं, देवी। झुमके के लिए लाल फूल चाहिए, वे रात में तोड़े नहीं जा सकते।

काशी : क्यों रात में तोड़े नहीं जा सकते !

गंगा : कहते हैं, रात में फूल तोड़ना ठीक नहीं होता।

काशी : (**शब्दों पर रुक-रुक कर**) रात में···फूल···तोड़ना···ठीक···नहीं··· होता। (**सोचकर**) शायद अपनी सुगन्धि की चादर ओढ़कर फूल रात में सपने देखते हैं तो उन्हें जगाना ठीक नहीं है।

गंगा : सत्य है, देवी।

काशी : या चन्द्र की किरणों के रास्ते जब उनका मन कली के समीप आकर लौट आता है तो उन्हें रास्ते से दूर करना ठीक नहीं है। क्यों गंगा ?

गंगा : देवी, आप ठीक कहती हैं।

काशी : गंगा मेरी मालाएँ देख ? ऐसी हैं जैसे फूल की चलती-फिरती क्यारियाँ, सुगन्धि की रंगरेलियाँ, सुन्दरता की आकाश-गंगाएँ। ओह, उन्हें कोई पहने तो चाँदनी खिल जाए। हाथ में ले तो चन्द्रमा उतर आए और इन्हें यों झुलाए (**मालाओं को झुलाती है**) तो महाराष्ट्र में पराक्रम बरसने वाली बूँदें बरस जाएँ।

गंगा : सच है, देवी।

काशी : अच्छा देख गंगा, आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मेरे भाई आबाजी सोनदेव जीतकर लौटे हैं। पराक्रमी, वीर, साहसी ! कहते हैं वीर और पराक्रमी की आयु थोड़ी होती है। किन्तु मेरे भाई आबाजी चिरंजीवी हैं। श्रीमंत शिवाजी भोंसले ने बीजापुर के हाथ से कल्याण और भिवंडी नाम के शहर छीन लिए हैं न ! महाराष्ट्र में अपार संपदा आई है, और उस संपदा के लाने वाले मेरे भाई आबाजी हैं। उन्होंने कल्याण का सारा खजाना लूट लिया है। उसी विजय के समारोह में तो मैंने यह कक्ष इतना सुन्दर सजाने का आयोजन किया है।

गंगा : आबाजी सोनदेव बहुत बड़े वीर हैं, देवी।

काशी : निस्सन्देह, मैंने उनके जाते समय आरती उतारी थी, उनके हाथ में तलवार दी थी, उनके सिर पर शिरस्त्राण बाँधा था, और उनके लिए बहुत मंगल कामनाएँ की थीं।

गंगा : आपकी मंगल कामनाओं ने ही उन्हें विजयी बनाया देवी···देवी··· किन्तु···।

काशी : कहो, कहो···रुक कैसे गई ?

गंगा : एक ऐसी भी बहिन है देवी, जो अपने भाई की आरती नहीं उतार सकी, उसके हाथों में तलवार नहीं दे सकी। वह भाई भी वीर, साहसी, पराक्रमी है, किन्तु वह नहीं लौटा।

काशी : वह कौन है···और ऐसी कौन बहिन है ?

गंगा : सोना, बेचारी सोना बहुत दुखी है।

काशी : (**सोचकर**) हाँ, उसका भाई यादव रामन्द्र लौटकर नहीं आया। मैंने भी सुना है। वह मेरे भाई आबाजी का बड़ा विश्वासी सिपाही है, बहुत पराक्रमी।

गंगा : सोना बहुत दुखी थी। मैंने उसे अभी-अभी समझाया है। बड़ी कठिनता से उसके आँसू रुके और विजय के समारोह में तो उसे अपने भाई की याद और अधिक हो जाती है।

काशी : स्वाभाविक है। मैं उसे समझाऊँगी। महाराष्ट्र वीरों का युद्धक्षेत्र से न लौटना कोई विशेष बात नहीं है। कोई तारा उदय होता है। कोई तारा डूब जाता है। फिर भी बहिन की ममता का मूल्य कम नहीं है। मैं अपने भाई से कहूँगी कि वे यादव रामचन्द्र की खोज में अश्वारोहियों को भेजें।

गंगा : आपकी बड़ी कृपा होगी, देवी।

काशी : शीघ्र ही पता लग जाएगा। भाई आबाजी की आज्ञा में सारी महाराष्ट्र सेना है। तभी वे बीजापुर का खजाना लूट सके।

गंगा : सुनते हैं, उस खजाने में अनेक बहुमूल्य रत्न हैं।

काशी : (**प्रसन्नता से**) अनेक बहुमूल्य रत्न ! और गंगा, जानती है तू, एक रत्न तो बहुत ही बहुमूल्य है।

गंगा : वह कौन-सा देवी !

काशी : तू नहीं जानती। भाई आबाजी ने अरब जाति के रईस और कल्याण के सूबेदार मुल्ला अहमद की पुत्रवधू को भी बन्दी कर लिया है। बड़ी सुन्दर है वह।

गंगा : आपसे भी अधिक देवी ?

काशी : (**हँसकर**) क्या कहूँ, तू ही देखकर निर्णय कर ले। किन्तु सारे दक्षिण में उसके रूप की चर्चा है। मैंने भूषण कवि से कहा, 'कवि ! गौहरबानू के सौन्दर्य में कुछ छन्द लिखो,' कहने लगे, 'पंढरपुर में स्नान कर लूँ तब लिखूँगा'। जैसे गौहरबानू की प्रशंसा करने के लिए धर्म-तीर्थ में स्नान करना आवश्यक है। (**हँसती है**) गंगा, ऐसी है वह गौहरबानू !

गंगा : देवी, तब तो वह बहुत सुन्दर है।

काशी : (**मुस्कान रोककर**) मुझसे भी अधिक !

गंगा : आपसे अधिक नहीं हो सकती, देवी।

काशी : मैं तेरी बातों से प्रसन्न हूँ गंगा, किन्तु वह तब कह जब तू गौहरबानू को देख ले। (**उत्तर की प्रतीक्षा में**) एं ! अच्छा तो तेरी माला कब पूरी होगी ? यह माला मैं गौहरबानू के लिए तैयार करा रही हूँ।

गंगा : देवी, मैं तो समझती थी कि यह माला आपके कण्ठ की शोभा प्राप्त करेगी।

काशी : नहीं, भाई आबाजी की इच्छा है कि आज गौहरबानू का पूरा श्रृंगार हो। वह आज रात की रानी बन जाए। तू यह माला जल्दी ही पूरी कर।

गंगा : (**अस्थिर होकर**) किन्तु झुमके के लिए लाल फूल नहीं हैं, देवी !

काशी : लाल फूल चाहिए झुमके के लिए।

गंगा : जी हाँ।

काशी : सफेद फूल काम नहीं दे सकते ?

गंगा : आपकी आज्ञा से सफेद फूल भी काम दे सकते हैं।

काशी : किन्तु सफेद फूल भी तो नहीं हैं।

गंगा : जी, आपके श्रृंगार में सभी फूलों का सौभाग्य सजा दिया गया।

काशी : थोड़े से फूल भी नहीं हैं।

गंगा : जी नहीं, संध्या होते ही श्रृंगार की मालाएँ बन गईं। कुछ तो श्रीमंत भोंसले की सेवा में भेज दी गईं और कुछ आपकी सेवा में। फूल भी आबाजी ने मँगवा लिए हैं। संभव है, श्रीमंत के स्वागत में उछालने के लिए।

काशी : (**टहलते हुए**) और लताओं के फूल सो रहे हैं।

गंगा : जी

काशी : (**कक्ष में टहलते हुए खिड़की के समीप आकर आकाश की ओर देखते हुए**) इस चन्द्र का ही झुमका बना ले। यह जाग रहा है। माला के स्थान पर चन्द्रहार हो जाएगा। (**उत्तर की प्रतीक्षा में**) एँ !

गंगा : (**किंचित हँसकर**) देवी, आप बहुत सुन्दर बातें करती हैं।

काशी : गंगा, तू मुझे बहुत प्रिय है। जहाँ जाऊँगी। अपने साथ तुझे भी ले जाऊँगी।

गंगा : कहाँ जाएँगी आप, देवी ?

काशी : (**कुछ संकुचित होकर**) अभी से सारी बातें बतला दूँ ? कुछ बातें तो मेरे मन में रहने दे। किन्तु गंगा, तुझे भी एकाकी न रहना पड़ेगा। तू वहीं जाएगी जहाँ महाराष्ट्र का गौरव होगा।

गंगा : यानी आप श्रीमती काशीबाई···।

काशी : अभी चाहे जो कह ले। 'और सुन ! हम लोगों के साथ जाएगी यह चन्द्रकला (**चन्द्रकला की ओर संकेत करती है**) किन्तु गंगा, यह चन्द्रकला बहुत भोली-भाली है। चाहो तो इसे निर्मल जल में उतार लो, चाहो तो इसे द्राक्षासव में उतार लो। इसे तो केवल नृत्य करना आता है, लहराना आता है। न वह जल पीती है, न द्राक्षासव।

गंगा : देवी, वह कुछ नहीं पीती।

काशी : ओह, यदि यह चन्द्रकला एक-सी रहती तो शायद यौवन भी बुढ़ापे में कभी न बदलता, क्यों गंगा ?

गंगा : सत्य है, देवी।

काशी : (**गहरी साँस लेकर**) अच्छा, जाने दे इन बातों को। वह तो मैं चन्द्रकला को देखकर उमंग से भर जाती हूँ, नहीं तो युद्ध के अवसरों पर ऐसी बातें कहाँ सूझती हैं। गंगा, भाई आबाजी आने ही वाले हैं। गौहरबानू के सम्बन्ध में शायद वे मुझसे कुछ कहें। गौहर का शृंगार तो होना ही है। तू यह माला जल्दी से तैयार कर ले। ले मेरे केशपाश से लाल फूल निकाल ले। दूसरे फूलों को क्यों जगाती है ?

गंगा : आपके केशों की शोभा बिगड़ जाएगी, देवी। (**प्रशंसा का अभिनय**)

काशी : क्या चिन्ता है !

गंगा : इन फूलों को आपके केश सजाने का आज जो सौभाग्य मिला है, वह इन्हें फिर कभी नहीं मिलेगा, देवी !

काशी : अधिकार के क्षणिक होने में ही उनका सौन्दर्य है। ले, निकाल। (**गंगा की ओर पीठ देकर खड़ी हो जाती है।**)

गंगा : जो आज्ञा ! (**गंगा काशी की केशराशि से फूल चुनती** है।)

काशी : (**फूल चुने जाते समय**) ये फूल भी कहते होंगे, 'हम काशी और गौहर की तुलना करेंगे, कौन अच्छी है !' इन फूलों की माला आज गौहर के गले में पड़ेगी, गंगा !

गंगा : (**फूल चुनते हुए**) गौहर के हृदय में पड़ने पर ये फूल मुरझा जाएँगे, देवी !

काशी : क्यों ?

गंगा : स्वदेश का व्यक्ति विदेश में जाकर उदास हो जाता है।

[सोना का प्रवेश। उसकी मुखमुद्रा पूर्ववत् मलीन है।]

सोना : (**प्रणाम करते हुए**) देवी, श्रीमान् आबाजी सोनदेव आ रहे हैं।

काशी : मैं भी उनकी प्रतीक्षा में हूँ, शायद वे श्रीमंत शिवाजी भोंसले के दर्शन

करके आ रहे हैं। किन्तु सोना, मैंने सुना है तू बहुत उदास है ?

सोना : (**अवरुद्ध कण्ठ से**) देवी···! (**रुक जाती है।**)

काशी : मैं जानती हूँ कि यादव रामचन्द्र के न आने से तू उदास हो गई है। किन्तु महाराष्ट्र की अन्य बहिनों के सुख में तेरी उदासी काँटा बनकर न कसक जाए, इस बात का ध्यान रख। तू क्या महाराष्ट्र के लिए इतना भी उत्सर्ग नहीं कर सकती, सोना ?

सोना : मैं जीवन तक उत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत हूँ, देवी !

काशी : साधुवाद ! मैं यह सुनकर प्रसन्न हूँ। किन्तु यह मत समझ कि मुझे यादव रामचन्द्र के न लौटने का दुःख नहीं है। मैं तो महाराष्ट्र के प्रत्येक वीर के लिए दीर्घायु होने की कामना करती हूँ, जिससे वह महाराष्ट्र और श्रीमंत शिवाजी भोंसले की सेवा अधिक से अधिक दिनों तक कर सकें। मैं अभी भाई आबाजी से कहकर अश्वारोहियों को भिजवाऊँगी। वे देखें कि यादव कहाँ रह गया है।

सोना : आपकी बड़ी कृपा होगी।

काशी : कृपा की कोई बात नहीं है। गंगा, तू सोना को सान्त्वना दे।

गंगा : जो आज्ञा देवी।

काशी : सोना, तू जा। मैं अब अपने भाई से बात करूँगी।

सोना : जो आज्ञा, देवी। (**प्रणाम कर प्रस्थान**)

काशी : गंगा, भाई आबाजी आने वाले हैं। यह लाल फूल मुझे दे दे, मैं स्वयं झुमका बनाऊँगी। यह माला भी यहाँ सिंहासन पर छोड़ दे, जब तेरे पास झुमका बनाने का समय नहीं है। तू सोना को सान्त्वना दे।

गंगा : जो आज्ञा देवी। (**लाल फूल की अंजलि सामने फैला देती है। काशी फूल ले लेती है। इसके बाद वह माला सिंहासन के कोने में टाँग देती है तथा प्रणाम कर चली जाती है।**)

काशी : (**अंजलि के लाल फूल देखती हुई**) स्वदेश का व्यक्ति विदेश में जाकर उदास हो जाता है ! मेरे स्वदेश के व्यक्ति,···

[नेपथ्य में "आबाजी सोनदेव की जय।" काशी सजग हो जाती है और नेपथ्य की ओर देखती है। (आबाजी का स्वर) "सभी खेमों में रहने की व्यवस्था ठीक है ?" (एक स्वर) "सब ठीक है श्रीमान्।" (आबाजी का स्वर) "सैनिक अपना भोजन समाप्त कर चुके हैं ?" (दूसरा स्वर) "कर चुके, श्रीमान्।" (आबाजी का स्वर) "श्रीमंत शिवाजी भोंसले के दर्शन के लिए तैयार रहो।" (तीसरा स्वर) "जो आज्ञा।" (आबाजी का स्वर) "अच्छा, मैं शिविर में चलता हूँ।"

काशी ध्यान से सुनकर सिंहासन के समीप खड़ी हो जाती है। कुछ क्षणों में आबाजी सोनदेव (आयु 25 वर्ष) का प्रवेश। बलिष्ठ शरीर। चाल में गम्भीरता। महाराष्ट्र के गौरव स्तंभ, बड़े-बड़े नेत्र, शक्ति और साहस के प्रतीक, रेशमी वेश-भूषा। लाल रंग का अंगरखा और नीले रंग का चूड़ीदार पैजामा। मराठी ढंग की पगड़ी जिसमें एक कलंगी लगी हुई है। गेहुआँ रंग। माथे में त्रिपुण्ड और हाथ में तलवार। कमर में जरी की पेटी और वक्ष पर मोतियों की कुछ मालाएँ। साहस की गति की भाँति प्रवेश।]

आबाजी : काशी, तुम यहाँ हो ?

काशी : (**आगे बढ़कर**) भाई को प्रणाम।

आबाजी : (**हाथ बढ़ाकर**) सुखी रहो, काशी ! तुम यहाँ हो ? मैं तुम्हें अन्तःपुर के शिविर में खोज रहा था। श्रीमंत शिवाजी हमारी विजय-संपत्ति देखने की कृपा करेंगे। उनके लिए सब तैयारियाँ हो चुकीं ? तुम्हारा यह कक्ष तो पूर्ण है ?

काशी : मेरी सब तैयारियाँ पूरी हो गईं। यह देखिए, यह कक्ष पूर्ण हुआ है या नहीं ?

आबाजी : (**कक्ष के चारों ओर दृष्टि डालते हुए**) बहुत सुन्दर है। (**एक-एक वस्तु का नाम लेकर प्रशंसात्मक शब्दों में रुकते हुए**) सिंहासन···दो बड़ी मछलियों के राजचिह्न···जरी और भगवा वस्त्र की पताकाएँ···मंगल घट ···लावा में धूप का धूम···मृत्तिकास्तूप पर पंच-प्रदीप···भिन्न-भिन्न भाँति के शस्त्र···चँवर···सब ठीक हैं। (**सिंहासन पर टँगी हुई माला को देखकर**) अच्छा, यह सुन्दर माला भी है ? श्रीमंत के लिए मालाओं का प्रबन्ध तो प्रथम शिविर ही में है।

काशी : यह माला श्रीमंत के लिए नहीं है। यह माला है···

आबाजी : (**बीच ही में**) गौहरबानू के लिए। हाँ, स्मरण आया ! कार्य की व्यस्तता में मैं इन बातों को भूल गया हूँ।

काशी : (**किंचित मुस्कराहट के साथ**) किन्तु गौहरबानू तो नहीं भूली जा सकती।

आबाजी : नहीं भूली जा सकती काशी, उसी गौहरबानू के लिए तो मुझे यह सब प्रबन्ध करना पड़ा। यदि कल्याण-विजय में गौहरबानू मेरे हाथ न लगती तो सैनिकों के शिविरों में तुम लोगों की क्या आवश्यकता थी। श्रीमन्त की आज्ञा है कि सेना के साथ न स्त्रियाँ रह सकती हैं और न दासियाँ। किन्तु गौहरबानू की मर्यादा रक्षण के लिए मुझे इस शिविर में अन्तःपुर का

प्रबन्ध भी करना पड़ा। मैंने श्रीमन्त से गौहरबानू के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा, किन्तु मैंने उनसे निवेदन किया कि कल्याण-विजय के समारोह में महाराष्ट्र की स्त्रियों का भी भाग हो। इस बहाने मैंने गौहरबानू के लिए पूरा वातावरण उपस्थित कर लिया।

काशी : (**प्रशंसा के स्वरों में**) भाई, यह सब आपकी कार्य-कुशलता है। इसीलिए तो आप अपने आक्रमणों में सदैव सफल होते हैं।

आबाजी : वह भवानी की कृपा और तुम्हारी मंगलकामना है, काशी !

काशी : (**उल्लास से**) महाराष्ट्र की ललनाओं के मंगल-तिलक में बड़ा बल है। मेरी आरती निष्फल नहीं जा सकती।

आबाजी : (**मुस्करा देते हैं।**)

काशी : इसीलिए इतने बड़े आक्रमण के करने के अनन्तर आप लौट सके।

आबाजी : निस्सन्देह।

काशी : किन्तु भाई, इस शिविर में एक बहिन ऐसी भी है जिसका भाई नहीं लौटा !

आबाजी : कौन ? सोना ?

काशी : हाँ भाई ! उसके भाई यादव की खोज होनी चाहिए।

आबाजी : काशी, मैंने पहिले ही दो अश्वारोहियों को यादव की खोज में भेज दिया है। जिस दल में यादव था वह दल का दल नहीं लौट सका। इसलिए यादव का विवरण ज्ञात नहीं हो सका। सोना के साथ अन्य बहिनें भी तो दुखी होंगी। सोना तुम्हारे पास है, अतः तुम उसी का दुःख जानती हो।

काशी : भाई, यादव के साथ अन्य सैनिकों की तुलना नहीं हो सकती।

आबाजी : इसीलिए कि वह तुम्हारी सोना का भाई है ?

काशी : इसलिए भी कि वह एक पराक्रमी और साहसी योद्धा है।

आबाजी : यदि कोई सैनिक वीर और पराक्रमी नहीं है तो वह महाराष्ट्र का सैनिक नहीं है। मेरे लिए सब सैनिक समान हैं।

काशी : फिर तो उन सबका विवरण मिलना चाहिए।

आबाजी : यह विवरण मुझे श्रीमन्त की सेवा में भी उपस्थित करना है।

काशी : ठीक है, मैं सोना से कह दूँगी। इससे उसे अवश्य सन्तोष होगा।

आबाजी : (**मुस्कराकर**) और तुम्हें तो सन्तोष है, काशी ?

काशी : मुझे ? आप कुबेर की सम्पत्ति लूटकर लाए। सकुशल और सानन्द, और सन्तोष न हो ? मैं तो फूली नहीं समाती। मेरे भाई ने महाराष्ट्र गौरव को इतिहास में अमर कर दिया है।

आबाजी : केवल इस विजय-यात्रा की सम्पत्ति से !

काशी : नहीं, महाराष्ट्र में जागरण उत्पन्न करने के कारण।

आबाजी : उसका एकमात्र श्रेय श्रीमन्त शिवाजी महाराज को है। शक्ति के अवतार, भवानी के भक्त ! काशी ! देश के पुण्य से ही श्रीमन्त उत्पन्न हुए हैं। महारानी जीजाबाई के वरदान से ही श्रीमन्त महाराष्ट्र के संचालक हैं। जावली जीतने के बाद जब श्रीमन्त ने रायगढ़ का किला मोरे के हाथ से छीना तभी ज्ञात हुआ कि देश के पच्छिम में भी एक सूर्य उदय हो गया है। काश ! मैं तो उस सूर्य की एक किरण मात्र हूँ।

काशी : सत्य है भाई, उन्हीं से महाराष्ट्र में स्वाधीनता का प्रकाश फैला हुआ है। श्रीमन्त का यश हम लोगों के मंगल-तिलक से भी अधिक शक्तिशाली है।

आबाजी : हाँ काशी, श्रीमंत भोंसले अवसर से लाभ उठाने वाले हैं। दो वर्षों से मुगल शहजादे दिल्ली के सिंहासन के लिए युद्ध कर रहे हैं—दारा, शुजा, मुराद और औरंगजेब। औरंजेब मीर जुम्ला को दक्षिण का कार्य-भार सौंपकर उत्तर भारत चले गए हैं। उनकी ओर से श्रीमंत भी पूर्ण रूप से निश्शंक हैं। इधर बीजापुर, मुगलों की सेना से पराजित हो ही गया था। वहाँ राजनीतिक पराजय के साथ शासन की भी पराजय हो गई। बीजापुर के मंत्री कहते थे कि सेनापतियों के दोष से बीजापुर का पतन हुआ और सेनापति कहते थे कि मंत्री की अदूरदर्शिता से बीजापुर की सेना हार गई। बात यहाँ तक बढ़ी कि सेनापतियों ने बीजापुर के प्रधान मंत्री खान मुहम्मद का खून कर दिया। काशी···खून कर दिया। राजनीति रक्त में डूब गई। ऐसा अवसर श्रीमंत हाथ से कब जाने दे सकते थे। उन्होंने सह्याद्रि पार कर उत्तर कोंकण लूट लिया और कल्याण और भिवंडी के दो शहर बीजापुर राज्य से छीन लिए। श्रीमंत के इस आक्रमण में मेरा बहुत हाथ है, काशी···ओह ! मैं तुमसे राजनीति की बातें करने लगा।

काशी : नहीं भाई ! महाराष्ट्र की स्त्रियाँ राजनीति को भी अपने जीवन का अंग समझती हैं।

आबाजी : (**सिर हिलाकर**) हाँ, यह बात तो है। तो मैंने इस आक्रमण में जो सम्पत्ति लूटी है वह आज तक श्रीमंत के किसी आक्रमण में नहीं मिली ! क्यों काशी, तुम्हें अपने भाई की इस वीरता पर अभिमान है ?

काशी : अपार धनराशि, अनगिनत वस्त्राभूषण, इतनी सम्पत्ति कौन एकत्रित कर सका ? मेरे भाई की वीरता शब्दों में नहीं कही जा सकती। महाराष्ट्र की प्रत्येक स्त्री यह चाहती है कि उसे आबाजी सोनदेव जैसा भाई मिले। इस दृष्टि से मेरे भाग्य से अन्य बहिनों को ईर्ष्या हो सकती है।

आबाजी : काशी, यदि अन्य स्त्रियाँ चाहें तो वे भी मुझे अपना भाई समझ सकती हैं।

काशी : कितनी स्त्रियाँ आपको अपना भाई नही समझतीं ?

आबाजी : यह उनकी उदारता है ।

काशी : एक बात पूछूँ, भाई ?

आबाजी : प्रसन्नता से ।

काशी : आप अप्रसन्न तो नहीं होंगे ?

आबाजी : बहिन से कोई भाई अप्रसन्न हो सकता है ?

काशी : यह गौह···गौहरबानू कौन है ?

आबाजी : एक बार और यह प्रश्न पूछ चुकी हो, काशी ?

काशी : किन्तु आपने सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया ।

आबाजी : (**तीक्ष्णता से**) और मैं क्या उत्तर दूँ ? वह कल्याण के सूबेदार मुल्ला अहमद की पुत्रवधू है ।

काशी : देखिए, आप अप्रसन्न हो रहे हैं । (**बुरा मानकर**) अब मैं आपसे कोई बात नहीं पूछूँगी ।

आबाजी : (**हँसकर**) बुरा मान गई ? अच्छा, पूछो क्या पूछना चाहती हो ?

काशी : अब मैं कुछ नहीं पूछूँगी ।

आबाजी : अच्छा काशी, मुझे क्षमा करो । अब सचमुच अप्रसन्न नहीं होऊँगा ।

काशी : (**स्वस्थ होकर**) वह बहुत सुन्दर है ?

आबाजी : (**मुस्करा कर**) हाँ, वह बहुत सुन्दर है ?

काशी : (**सीधा प्रश्न न पूछ सकने के संकोच में हकलाकर**) तो···तो वह बहुत सुन्दर क्यों है ?

आबाजी : (**हँसकर**) यह कौन-सा प्रश्न है ? मैं जानता हूँ, तुम क्या पूछना चाहती हो ।

काशी : (**लज्जित होकर**) अच्छा, तो बतलाइए कि आप उसे क्यों लाए हैं ? श्रीमन्त भोंसले का तो कहना है कि केवल पुरुषों को कैद करो, स्त्रियों को कैद मत करो । क्या इस बात की आज्ञा भी आपने श्रीमन्त से ले ली है ?

आबाजी : इस बात की आज्ञा तो नहीं ली, काशी ! किन्तु गौहर स्त्री नहीं, देवी है । उसकी सुन्दरता की कहानी समस्त दक्षिण भारत में प्रसिद्ध है । यदि चाँदनी पृथ्वी पर अवतार लेकर आए तो उससे सुन्दर नहीं हो सकती । इसके साथ ही वह महान् विदुषी है । वह तुम्हारी भाषा भी अच्छी तरह जानती है ।

काशी : तो, मैं भी तो उसकी भाषा जानती हूँ ।

आबाजी : तुमने उससे बातें कीं ?

काशी : बातें करने का अवसर तो नहीं मिला । हाँ, उसे देखा अच्छी तरह से है । वह बहुत कम बोलती है, ऐसा मैंने सुना है; अंजुमन कहती थी ।

आबाजी : वह सर्वगुणसम्पन्ना है । मैंने अंजुमन को उसकी सेवा में नियुक्त कर

दिया है। उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो।

काशी : वह तो ठीक किया। किन्तु उसे आपने बन्दी कैसे किया ?

आबाजी : (**हँसकर**) बीजापुर के खजाने पर अधिकार कर चुकने के बाद मैंने अश्वारोहियों को आज्ञा दी कि वे सूबेदार का महल घेर लें। एक सिपाही ने मुझे सूचना दी कि सूबेदार मुल्ला अहमद भाग निकला है और उसके पीछे उसके विश्वस्त सेवकों के साथ उसका हरम है। मैंने खजाने पर कड़ा पहरा डालकर कुछ सैनिकों के साथ मुल्ला अहमद का पीछा किया। आगे बढ़ने पर हरम की डोलियाँ दीख पड़ीं। जब मुल्ला अहमद के सिपाहियों को हम लोगों ने देखा तो कुछ तो भाग निकले और कुछ डोलियों की रक्षा में खड़े हो गए। हम लोगों ने उन्हें एक ही धावे में समाप्त कर दिया। मैंने अन्य स्त्रियों की ओर देखा भी नहीं, गौहरबानू को बन्दी करने की आज्ञा देकर लौट आया।

काशी : गौहरबानू को उसके घरवालों से छीन लेने में बड़ी निष्ठुरता है, भाई।

आबाजी : तुम स्त्री हो इसलिए ऐसा कहती हो। ये तो राजनीतिक मामले हैं।

काशी : गौहरबानू को आप मुक्त नहीं कर सकते ?

आबाजी : नहीं, मुक्त करने के लिए उसे बन्दी नहीं बनाया गया।

काशी : तो अब मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए कि आपने उसे बन्दी क्यों बनाया है ?

आबाजी : इस प्रश्न का उत्तर मैं तुम्हें नहीं दे सकता।

काशी : मैं स्वयं इस प्रश्न का उत्तर दूँ ?

आबाजी : क्या ?

काशी : उस उत्तर का प्रश्न बनाकर कहूँ ?

आबाजी : कह सकती हो।

काशी : मैं उसे अपनी भाभी पुकार सकती हूँ ?

आबाजी : (**तीक्ष्णता से**) काशी, कैसी बातें करती है ! क्या तू अपने भाई को नहीं जानती ?

काशी : (**डरकर**) जानती हूँ, जानती हूँ, फिर···फिर गौहरबानू का क्या होगा ?

आबाजी : तू राजनीति नहीं जानती, काशी ! अभी दो-चार बसंतों को और बीत जाने दे, तब तू राजनीति की बातों को समझ सकेगी ?

काशी : मैं राजनीति की बातें नहीं समझना चाहती; किन्तु नारी के अपमान को समझती हूँ। मुझे बानू का बन्दी होना अच्छा नहीं लगा। (**मुख फेर लेती है**)

आबाजी : इसमें नारी का क्या अपमान हुआ ? अपने अन्तःपुर के शिविर में उसे

सुख की कितनी सुविधाएँ प्रदान की गई हैं । पथ में सुगंधित फूल, स्नान में गुलाबजल, भोजन में स्वादिष्ट व्यंजन, सेवा में अंजुमन जैसी कुशल परिचारिका ।

काशी : भाई, स्त्री का सुख इन सब सुविधाओं में नहीं है ।

आबाजी : वह मैं जानता हूँ, काशी ! लेकिन मैं राजनीति की एक कुशल चाल खेलना चाहता हूँ । मैं गौहरबानू का ऐसा उपयोग करूँगा कि राजनीति भी मुझसे पराजित हो जाए ।

काशी : क्या आप बीजापुर को सदैव के लिए झुकाना चाहते हैं ?

आबाजी : मैं यदि तुम्हें सब बातें बतला दूँ तो राजनीति और साधारण वार्तालाप में अन्तर ही क्या रहा ?

काशी : मैं स्वयं आपकी ऐसी राजनीति नहीं सुनना चाहती । (**उदासीन मुख-मुद्रा**)

आबाजी : (**मनाते हुए**) रुष्ट हो गई, काशी ! इस समारोह के अवसर पर तुम्हारा रुष्ट हो जाना मेरी सारी प्रसन्नता को नष्ट कर देगा । एक छोटी-सी बात पर तुम अपने भाई के सारे परिश्रम को धूल में मिलाना चाहती हो काशी, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम मुस्कराओ ।

काशी : मैं नहीं मुस्कराऊँगी ।

आबाजी : न सही ।

[किन्तु इसी समय दोनों की दृष्टि परस्पर मिलने पर दोनों ही हँस पड़ते हैं]

आबाजी : अच्छा काशी, गौहरबानू कहाँ है ?

काशी : स्नान कर रही है ।

आबाजी : तो तुमने उसके लिए सुगन्धित फूलों की मालाएँ तो तैयार कराई ही हैं । आज उसका अच्छे से अच्छा शृंगार होना चाहिए । ज्ञात हो कि वह वन की अनुपम देवी है ! और काशी, मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मेरी ओर से गौहर के प्रति कोई अन्याय न होगा ।

काशी : अंततः आप मेरे ही भाई हैं । ऐसा क्यों न कहेंगे ? अब मैं बहुत प्रसन्न हूँ ।

आबाजी : तो फिर गौहरबानू से कुछ बातें कर लो और उसके सफर की व्यवस्था भी कर लो ।

काशी : मैंने अंजुमन से कह दिया है कि जैसे ही वह स्नान कर ले उसका फूलों से शृंगार हो । उसे अन्तिम माला पहिनाने के लिए मैंने स्वयं गंगा से एक अच्छी माला गुँथवाई है । देखिए, वह सिंहासन पर है ।

आबाजी : (**माला देखकर**) बहुत सुन्दर है। और तुम भी बहुत बुद्धिमती हो। अच्छा तो अब चलूँगा। श्रीमंत के आने में अब अधिक देर नहीं। मैं इस बीच में थोड़ा निरीक्षण और कर लूँ। गौहरबानू का उत्तरदायित्व अब तुम्हारे ऊपर है। अपने भाई के सम्मान की रक्षा करना।

काशी : अच्छी बात है, आप जाइए।

आबाजी : गौहर के शृंगार में भी शीघ्रता करना। (**प्रस्थान**)

काशी : (**आबाजी के चले जाने पर**) गौहर के शृंगार में भी शीघ्रता करना··· भाई की राजनीति समझ में नहीं आती, (**पुकारकर**) गंगा !

गंगा : (**प्रवेश कर**) आज्ञा।

काशी : गौहरबानू का स्नान हुआ ?

गंगा : जी, स्नान कर चुकी।

काशी : अंजुमन ने उसका शृंगार किया ?

गंगा : अंजुमन ने उसका शृंगार करने की चेष्टा की, किन्तु गौहरबानू ने अपना शृंगार नहीं कराया।

काशी : क्यों ! क्या बहुत दुखी है ?

गंगा : जी, अंजुमन ने बहुत समझाया, किन्तु गौहरबानू ने अपना शृंगार नहीं कराया।

काशी : मैंने अंजुमन से कहा था कि शृंगार के बाद वह गौहरबानू को मेरे सामने लाए। मैं उससे बातें करना चाहूँगी।

गंगा : मैं अभी जाकर देखती हूँ।

काशी : देखो। (**गंगा का प्रस्थान**)

काशी : (**सोचती हुई**) गौहर शृंगार करना नहीं चाहती···क्यों करे ? फूल माला में कैद रहकर मुरझाने लगता है। (**टहलती हुई सिंहासन के समीप आती है और धीरे से माला उठाती है**) इसका प्रत्येक फूल गौहरबानू की तरह है, बन्द···कैदी···(**माला तोड़ डालती है**) मैं उन्हें मुक्ति देती हूँ···ओह ! यदि मैं गौहर को भी मुक्त कर सकती ! ··· (**गंगा का प्रवेश**)

गंगा : देवी, गौहरबानू को लेकर अंजुमन इस ओर आने की आज्ञा चाहती है।

काशी : आने दो।

गंगा : (**टूटी हुई माला को देखकर**) देवी, यह माला···

काशी : (**लापरवाही से**) हाँ, इसमें झुमका नहीं लग सका, तो मैंने इसे तोड़ दिया। बिना झुमके के माला ठीक नहीं है। जाओ तुम···

(**गंगा का प्रस्थान, काशी टहलते हुए**) क्या इसीलिए इस शृंगार की माला में झुमका नहीं लग रहा था ? माला में झुमका नहीं, गौहरबानू में सुख और सौभाग्य नहीं।

[अंजुमन का प्रवेश]

अंजुमन : (**प्रणाम कर**) देवी, गौहरबानू इधर आ गई हैं।

काशी : अंजुमन, गौहरबानू इधर आ गई हैं ! तो उन्हें यहाँ ले आओ ।

अंजुमन : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

काशी : भाई आबाजी की राजनीति, स्त्रियों की स्वतन्त्रता से खिलवाड़ करने वाली राजनीति, इसका अन्त कहाँ जाकर होगा ! मुल्ला अहमद की परतन्त्रता में या श्रीमन्त भोंसले शिवाजी की स्वतन्त्रता में···?

[गौहरबानू (आयु 18 वर्ष) का धीरे-धीरे प्रवेश, जैसे चन्द्र बादलों में से निकल रहा है। नीले रेशम की सलवार और प्याजी रंग की ओढ़नी, गले में गुलाबी रंग का दुपट्टा, पैर में जरी की जूतियाँ, मुख पर घूँघट, दुबला-पतला शरीर जैसे पुष्परहित लता हो। गौर वर्ण और शरीर का समस्त आकर्षण। पीछे अंजुमन है।]

काशी : (**आगे बढ़कर**) आओ गौहरबानू।

[गौहरबानू दो कदम आगे बढ़ती है।]

काशी : बानू, महाराष्ट्र में स्त्रियाँ घूँघट नहीं डालतीं। लाओ, मैं तुम्हारा मुख खोल दूँ।

[काशी गौहर का घूँघट उलट देती है ! गौहरबानू का सुन्दर मुख दीख पड़ता है। अत्यन्त सुन्दर विशाल नेत्र, नासिका उठी हुई, पतले ओंठ, कपोलों में सौन्दर्य कूप, केशों में केवल एक मुक्ता माला, नाक में मोती की छोटी-सी बेसर, जो ओंठों पर झूल रही है जैसे संध्याकाल में एक तारा जगमगा रहा है। सारे शरीर में लज्जा और संकोच, मुख पर उदासी आ रही है। घूँघट उलटते ही उसके नेत्र से दो आँसू ढुलक जाते हैं, जैसे स्मृतियाँ तरल होकर नेत्रों से बह गई हों।]

काशी : (**सहृदयता से**) आह आँसू ?···बानू, तुम्हारी आँखों में आँसू ! इन आँसुओं से तुम्हारी सुन्दरता धुलेगी नहीं और भी मैली हो जाएगी···रुककर (**अंजुमन से**) गौहरबानू को कुछ कष्ट तो नहीं हुआ ?

अंजुमन : (**नत होकर**) नहीं देवी, मैंने इनकी इच्छानुसार ही काम किया है। आपकी आज्ञा से मैं इनका शृंगार करना चाहती थी। इन्होंने मुझे रोक दिया, मैंने इनका शृंगार नहीं किया। मेरा तो कोई अपराध···।

काशी : अच्छा, तो तुम जाओ।

अंजुमन : जो आज्ञा। (**सिर झुकाकर प्रस्थान**)

काशी : (**गौहर को ओर देखकर, उद्विग्नता से**) तुम्हें उदास नहीं रहना चाहिए, बानू ! (**बानू कुछ उत्तर नहीं देती**)

काशी : (**अस्थिरता से**) मुझे यह अच्छा नहीं लगता। मैं भी स्त्री हूँ, बानू ! तुम्हारे आँसुओं से मुझे दुःख होता है। चाहे तुम शत्रु पक्ष ही की क्यों न हो, किन्तु जातीय सहानुभूति तो मेरे हृदय से नहीं जा सकती। तुम्हारे आँसू मुझे दुःख पहुँचाते हैं।

[बानू की आँखों से अधिक वेग से आँसू निकलने लगते हैं। वह गुलाबी दुपट्टे में अपना मुख छिपा लेती है। काशी उसके निकट चली जाती है।]

काशी : (**सांत्वना के स्वरों में**) बानू ! तुम्हें धैर्य रखना चाहिए। नारी की मर्यादा रोने से नहीं है, दृढ़ता में दुःख को सुख बनाने में है। हमारे इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं, हम लोगों ने अपना बलिदान कर दिया है, किन्तु आँखों में आँसू नहीं आने दिए। तुम्हारे आँसू देखकर मुझे लज्जा और क्लेश दोनों ही होते हैं। बोलो बानू, मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकती हूँ? (**बानू फिर भी मौन रहती है।**)

काशी : (**सोचते हुए**) आँसू···बीजापुर के सूबेदार मुल्ला अहमद बड़ी कठिनता से कुछ मोती इकट्ठे करें और उनकी पुत्रवधू गौहरबानू उन्हें आँखों से बेमोल लुटा दे (**बानू की ओर आग्रह से देखकर**) बानू, ये आँसू बहुत कीमती हैं, इन आँसुओं से किसी भी सल्तनत की नींव बह सकती है, और तुम इन्हें यों ही गिरा रही हो जैसे इस सह्याद्रि की चोटी पर ओस गिरा करती है। (**रुककर**) इधर देखो। (**खिड़की की ओर संकेत करते हुए**) कितना सुन्दर दृश्य है। ये लताएँ चाँदनी में डूब गई हैं जैसे सारा वनप्रांत निर्मल जल से भरा हुआ एक हम्माम है और ये लताएँ हमारी-तुम्हारी तरह स्नान कर रही हैं। (**बानू फिर भी मौन है।**)

काशी : (**उँगली से संकेत करते हुए**) और उधर देखो, वह तारिका तुम्हारी तरह अकेली खड़ी है लेकिन वह उदास नहीं है, हँस रही है। (**बानू अब भी मौन है।**)

काशी : तुम्हें ठंड तो नहीं लग रही है? आओ, अग्निपात्र के समीप आ जाओ।

[बानू को अग्निपात्र के समीप लाती है। उसके वस्त्र ठीक करती है।]

काशी : बानू, तुम बोलती क्यों नहीं? मैं तुमसे इतनी बातें कर रही हूँ और तुम चुप हो? मैं तुमसे सहानुभूति रखती हूँ, मेरा नाम काशी है, मैं बहिन, महाराष्ट्र सेनापति आबाजी सोनदेव की···।

बानू : (**चौंककर अस्फुट शब्दों में**) आबा···जी···।

काशी : (**प्रसन्न होकर**) हाँ, हाँ, महाराष्ट्र सेनापति आबाजी सोनदेव, वीर, साहसी, पराक्रमी। उन्होंने ही आज तुम्हें फूलों से सजाने··· (**रुककर**) तुमने फूल मालाएँ नहीं पहनीं ?

बानू : फूल-मालाओं से हथकड़ियाँ मुझे ज्यादा अच्छी मालूम देतीं, देवी।

काशी : (**मुस्कराकर**) ये हाथ और हथकड़ियाँ···बानू ! इन हाथों में पड़कर लोहा भी सोना हो जाता। चाँदनी को भी कोई अँधेरे की कड़ियों से बाँध सकता है ? चाँद भी कभी अँधेरे बादल में बाँधा गया है ।

बानू : (**गहरी साँस लेकर**) मेरे दर्द को अफसाना न बनाओ देवी ! एक गिरे हुए महल की ईंट को ठोकर मारना ठीक नहीं है। मुझे मेरे घर के लोगों से जुदा कर तुम लोगों ने क्या पाया ? खुदा की खिलकत में क्या औरत इतनी गई-बीती चीज हो गई कि वह पत्थरों और कंकड़ों की भाँति लूट ली जाए ? बेजान चीजों के साथ इन्सान को बाँध लेना जिन्दगी की सबसे बड़ी तौहीन नहीं है ?

काशी : (**उसी स्वर में**) सबसे बड़ी, लेकिन बेजान चीजों की कीमत कम नहीं है। कभी-कभी तो जानदार चीजों से भी अधिक । जब बेजान बिजली गिरती है तो इन्सान भी जलकर खाक हो जाता है। जब बेजान पानी बढ़ आता है तो वह सैकड़ों इन्सानों को बहाकर ले जाता है। बेजान और इन्सान में अन्तर यही है कि बेजान को कोई दोष नहीं लगा सकता और इन्सान को लोग दोष लगा सकते हैं। काम दोनों का एक ही सा है लेकिन इसके माने यह नहीं है कि मैं बेजान चीजों के साथ तुम्हें रख रही हूँ। हजारों गौहर एक गौहरबानू के मुकाबिले में कुछ भी नहीं हैं।

बानू : इसका तुम्हें क्या जवाब दूँ, देवी, लेकिन सोचो मैं कितने बड़े घर में पैदा हुई और कितने बड़े घर में गई। अपने बाप के घर में इशरत से सोई और शौहर के घर में जागी। लेकिन जानकर भी मैंने सुनहले सपने देखे, आबेहयात से सिंचे हुए और मोतियों से सँवारे हुए। चार दिन भी न हुए थे कि सुना कल्याण पर मराठों की घटा छा गई। श्रीमंत शिवाजी का नाम सैकड़ों बार सुना। उनकी बुलन्दखयाली की तारीफ सुनी लेकिन क्या वह कहर मेरे ही सिर पर गिरना था ?

काशी : भाग्य की बात।

बानू : आबाजी सोनदेव ने हम लोगों का पीछा किया। मराठों का एक दस्ता उनके साथ था (**काँपकर**) ओह, मराठे ! रात के डरावने सपने हैं। तलवार लेकर टूट पड़ते हैं, जैसे आँधी के हाथ में बिजली हो। हमारे सिपाहियों में और मराठों में जंग छिड़ गई। आबाजी ने हमारे सिपाहियों को परास्त कर मुझे कैद करने का हुक्म दिया और दूसरी सिम्त चले गए। ओह, मैं दो

रोज में अपनी माँ के पास जाने वाली थी।

काशी : (**सोचते हुए**) हुआ तो बहुत बुरा।

बानू : (**करुण स्वर में**) मेरी माँ बीमार हैं। सुना है, हर रोज सूरज निकलने पर वे मेरे आने के रास्ते पर आँखें बिछाए लेटी रहती हैं। खाना आता है तो यह कहकर लौटा देती हैं कि बानू आकर खिलाएगी तो बीमारी में दुबारा कैसे खा सकूँगी। ओफ···मेरी माँ (**कपड़ों से मुँह छिपा लेती है।**)

काशी : (**सान्त्वना देते हुए**) बानू, इन बातों से अपनी तबीयत मत खराब करो। श्रीमंत अवश्य तुम्हारी हालत पर ध्यान देंगे।

बानू : मुझे इसका भरोसा है, देवी। तभी तो मैं अपने दर्द को इस तरह दबाए हूँ। लेकिन मैं समझती थी कि मराठों के पास भी औरत की कीमत है। वे उसकी अस्मत को ईश्वर की सुन्दरता समझते हैं। लेकिन आबाजी सोन···देव।

काशी : बानू, आबाजी सोनदेव को बुरा क्यों कहती हो? आपस की इस लड़ाई को बुरा क्यों नहीं कहती, जिसने हिन्दू और मुसलमानों को आपस में लड़ा दिया है। दक्खिन में औरंगजेब की नीति को बुरा क्यों नहीं कहा, जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद का बीज बो दिया है, दोनों को तलवार और ढाल की तरह लड़ा दिया है।

बानू : वाकई यह बहुत बुरा है, लेकिन न तलवार टूट सकती है और न ढाल कट सकती है।

काशी : दोनों ही न कटें, दोनों ही न टूटें, लेकिन वे दोनों चाँद और सूरज की तरह तो चमक सकते हैं। अगर मैं इस समय शाहंशाह की जगह दिल्ली की सुलताना होती तो कहती (**आगे बढ़कर गौरवपूर्ण स्वर में**) "हिंदुओ और मुसलमानो, तुम हिंदुस्तान में न्याय की तराजू के दो पलड़े हो, एक-दूसरे को सँभाले रहो। इस तरह सधे रहो कि किसी के साथ किसी तरह का पक्षपात न हो। दोनों एक ही गति के स्थायी और अन्तरा हो। इस तरह स्वर खींचो कि बेताल न हो सको। साँस के खींचने और छोड़ने की तरह तुम दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हो, जिन्दगी में कभी न रुकने वाले हमेशा साथ ही साथ चलने और रहने वाले ऐसे ही तुम दोनों हो।" (**बानू से**) क्यों बानू?

बानू : आप ठीक कहती हैं, देवी! लेकिन दिल्ली की यह किस्मत नहीं हो सकी कि आप सुलताना हों।

काशी : तभी यह सब कुछ हो रहा है। मैंने अपनी परिस्थितियों पर विचार किया है और मुसलमानों की हालत पर गौर किया है।

बानू : (**सोचकर**) एक बात कहूँ, देवी?

काशी : अवश्य ।

बानू : आप मुझे आजाद नहीं करा सकतीं, देवी ?

काशी : मुझे बहुत प्रसन्नता होती यदि मैं ऐसा कर सकती । लेकिन बानू, मैं ऐसा नहीं कर सकती ।

बानू : आप आबाजी की बहिन हैं, देवी ! बहिन होकर इतना भी नहीं कर सकतीं ?

काशी : यदि कर सकती तो तुम्हें इतना कहने की आवश्यकता भी नहीं होती । बानू, तुम नहीं जानती कि मैं तुम्हारे कैद हो जाने से अपने भाई से सन्तुष्ट नहीं हूँ । किन्तु भाई की आज्ञा के बाहर भी तो नहीं जा सकती । फिर भाई ने तुम्हें किसलिए कैद किया है यह भी नहीं जानती ।

बानू : मैं जानती हूँ । खूबसूरत होना दुनिया में सबसे बड़ा गुनाह है ।

काशी : और इसकी सजा क्या है ?

बानू : बदसूरत कर दिया जाना ।

काशी : तुम ठीक कहती हो, बानू । फिर भी आबाजी की आज्ञा टालने में मैं असमर्थ हूँ ।

बानू : अपने को इतना कमजोर समझती हैं आप ?

काशी : कमजोर नहीं समझती, लेकिन परिवार और समाज की मर्यादा तोड़ी नहीं जा सकती और फिर यह तो राजनीति की बात है । राजनीति पुरुषों के हाथ में सौंप देना बुरा नहीं ।

बानू : और अगर मेरी तरह कोई आपको भी कैद कर ले ?

काशी : (**लापरवाही से**) तो मैं भी कैद हो जाऊँगी । मैं भी चली जाऊँगी । लेकिन मेरी ओर कोई देख नहीं सकता । देखती हो, (**कटार निकालती है**) यह अमर जीवन देने वाली (**गौहरबानू की ओर देखती है**) अच्छा ! तुम्हारे पास भी है ! (**बानू की कमर में लटकती हुई कटार की ओर संकेत करती है ।**)

बानू : है तो, लेकिन चाहते हुए भी मैंने खुदकुशी नहीं की । मुझे कौन रोक सकता था ? लेकिन मैंने सुना है कि श्रीमंत शिवाजी बहुत बहादुर हैं । उनके दर्शन करना चाहती हूँ और चाहती हूँ कि कि उनके सामने खुद-कुशी करूँ ।

काशी : तो क्या तुम श्रीमंत शिवाजी के सामने खुदकुशी करोगी ?

बानू : जरूर । अगर श्रीमंत शिवाजी ने मेरे साथ अच्छा बरताव नहीं किया तो उनके साथ लड़ूँगी । वे तो बहुत ताकतवर हैं । मैं उन पर क्या वार करूँगी, खुद ही मरूँगी । देखूँगी कि मेरे कलेजे में छुरी चुभने पर एक बहादुर के दिल पर क्या असर होता है !

काशी : अच्छा बानू, तो तुम बहादुर भी हो !

बानू : क्यों ? क्या मैं कटार नहीं चला सकती ? कैद होने से पहले मैंने दो सिपाहियों को मौत के घाट उतारा था।

काशी : तो दो सिपाहियों को आप मार भी चुकी हैं ?

बानू : (**कटार निकालती हुई**) अभी शायद इस पर खून के दाग होंगे भी, (**देखकर**) अभी तक दाग हैं, जैसे मराठों के तेज का सूरज मेरे खंजर में डूब रहा है।

काशी : या मराठों के तेज का सूरज उदय हो रहा है ! लाली दोनों में बराबर है। (**सोचते हुए**) ओह, तुम बड़ी बहादुर हो। जो लोग कहते हैं, कि स्त्रियाँ कमजोर होती हैं वे भूल करते हैं। बानू जैसी देवियों के दर्शन करें। बानू, तुमसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब मुझे मालूम हुआ कि आँसुओं के पीछे एक खंजर भी छिपा हुआ था। मेरा ध्यान उस पर अभी तक नहीं गया था।

बानू : इस कुसूर की माफी चाहती हूँ।

काशी : कुसूर मेरा है या आपका ? खैर, इन बातों पर मैं अधिक ध्यान नहीं देती। आप भूल जाइए कि आप कैद में हैं। मेरे साथ रहिए, मेरी बहिन की तरह। कोई आपकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता।

बानू : आपसे मुझे ऐसी ही उम्मीद है देवी !

काशी : देखिए, यह चन्द्रकला काले पहाड़ से इस तरह निकलती है जैसे काले म्यान से खंजर। देखूँ तुम्हारा खंजर ! (**काशी पास जाकर कटार ले लेती है**) जिस तरह चाँदनी में चन्द्रकला दीख पड़ती है उसी तरह गौहरबानू के हाथ में यह खंजर। बहुत अच्छा खंजर है, बानू। इतनी चमक इसमें कहाँ से आई ! (**बानू कुछ उत्तर नहीं देती**)

काशी : बानू, मुझे माफ करना। यह खंजर मुझे आपसे छीन लेना पड़ा। (**खंजर को देखती है**) आप जैसी सुख-दुःख को मानने वाली स्त्रियों के हाथ में खंजर रहना खतरे से खाली नहीं है। आबाजी ने कहा है कि आपकी जिम्मेदारी मुझ पर है।

बानू : स्त्री होकर आपने मुझे धोखा दिया है, देवी।

काशी : बानू, तुम ऐसा क्यों सोचती हो ? मैं तुम्हें धोखा नहीं दे सकती, लेकिन बानू, मैं यह नहीं चाहती कि भूल से भी तुमसे खुदकुशी हो जाए। मैं तुम्हें प्यार करने लगी हूँ। क्या यह ठीक है कि एक बहिन अपनी दूसरी बहिन के हाथ में खंजर इसलिए रहने दे कि वह दुःख से पागल होकर आत्महत्या कर ले ? मैं समझती हूँ कि बहुत बड़ी भूल करूँगी यदि तुम्हारी इस हालत में तुम्हें मृत्यु की इस दूती के साथ छोड़ दूँ। यह जहर का काँटा असावधानी

से शरीर में चुभ सकता है।

बानू : लेकिन देवी, मेरे पास जहर का काँटा और भी है। (**कंचुकी से दूसरी कटार निकालती है**)

काशी : मैं जानती थी बानू, इसीलिए मैंने यह बात कही। हम लोग भी इसी तरह जहर के काँटों को अपने जिस्म में छिपाए रहते हैं। (**अपनी कंचुकी से एक कटार निकालती है**) देखिए लेकिन, यह काँटा दूसरों के बदन पर चुभाने के लिए है और सीने पर, पीठ पर नहीं। (**रुककर**) हाँ, तुमने तो दो सिपाहियों को कत्ल भी कर दिया है।

बानू : हाँ, हसरत रह गई कि औरों को कत्ल नहीं कर सकी। लेकिन एक मराठा सिपाही बेकसूर मारा गया। वह मुझे बचाने आया, लेकिन धोखे से मैंने उस पर वार कर ही दिया, बेचारा यादव रामचन्द्र।

काशी : (**चौंककर**) यादव ··रामचन्द्र !

बानू : हाँ यादव रामचन्द्र ! क्यों ! चौंक क्यों पड़ीं ?

काशी : ओह, सोना का भाई, यादव···रामचन्द्र···।

बानू : यह सोना कौन ?

काशी : तुम नहीं जानती, वह मेरी सहचरी है। बेचारी बहुत दुखी है, अपने भाई के न लौट सकने के कारण।

बानू : मुझे अजहद रंज है देवी ! मुझसे बहुत बड़ी गलती हुई है।

काशी : लेकिन तुम उसका नाम कैसे जानती हो, बानू ?

बानू : उसके साथियों ने उसे यादव रामचन्द्र के नाम से पुकार कर ललकारा था। क्या वह कोई खास सिपाही था।

काशी : बहुत खास ! वह तुम्हें बचाने आया और तुमने उसे मार डाला !

बानू : धोखा हुआ देवी।

काशी : आश्चर्य है, एक स्त्री ने असहाय होकर भी एक वीर सिपाही को मार डाला।

बानू : वह सिपाही असावधान था। वह क्या जानता था कि उस पर वार किया जाएगा ?

काशी : कैसा हाथ था वह आपका, मुझे दिखला सकती हो ?

बानू : मुझे अधिक लज्जित न करो।

काशी : लज्जित करने की बात नहीं है। मैं तुम्हारा वह हाथ देखना चाहती थी।

बानू : उसे तुम अपनी कटार पर रोक सकोगी ?

काशी : हाँ, हाँ, तैयार हूँ। (**अपनी कटार सम्हालती है। बानू शून्य में कटार तानती है और प्रहार करती है। काशी उसे अपनी कटार पर रोकती है।**

इतने में ही आबाजी सोनदेव की जयध्वनि। दोनों अपने को सम्हालने की चेष्टा करती हैं, दूसरे ही क्षण आबाजी सोनदेव का प्रवेश।)

आबाजी : (**आश्चर्य से ठिठककर**) यह क्या···काशी ? (**बानू को देखकर**) गौहरबानू···!

[बानू अपने सिर पर वस्त्र सरका लेती है]

आबाजी : काशी, तुम इस शिविर को ही क्या रणभूमि बना रही हो ? शिष्टता सीखो। मेहमान का स्वागत करो। श्रीमंत शिवाजी आने वाले हैं।

काशी : (**हँसकर**) भाई, यह सचमुच का युद्ध नहीं। मैं बानू का वह हाथ देख रही थी जो इन्होंने यादव रामचन्द्र को मारने में दिखलाया था।

आबाजी : हाँ, मुझे अभी सूचना मिली कि यादव रामचन्द्र स्वयं गौहरबानू की कटार से मारा गया।

काशी : और वह कटार इनके पास अभी तक है।

आबाजी : मैं उस कटार को चाहता हूँ। श्रीमंत अब आने ही वाले हैं। मुझे उनके सामने शस्त्रों का प्रदर्शन करना है। वे शस्त्र पूजन करेंगे। (**काशी से**) काशी, तुम मुझे अपनी कटार दे सकती हो।

काशी : (**प्रसन्नता से**) वह मेरी और यह गौहरबानू की। (**दोनों कटारें देती है।**)

आबाजी : (**कटारें लेते हुए**) क्या इनके अतिरिक्त गौहरबानू के पास और भी कटार है ?

काशी : हाँ भाई, एक छोटी कटार और भी है।

आबाजी : वह मुझे मिल सकेगी ? बानू, वह कटार भी मैं चाहता हूँ। अब तो आपको उसकी कोई आवश्यकता नहीं। आपकी रक्षा करने वाला यादव रामचन्द्र मर ही गया। श्रीमंत शिवाजी उसका क्या निर्णय करते हैं यह तो स्वयं श्रीमंत जानें किंतु आपने तो उसका निर्णय कर ही दिया। सम्भव है, शत्रु पक्ष की रक्षा करने के कारण श्रीमंत भी उसे दण्डित करते। अब शायद सोना को दण्ड भुगतना पड़े। अच्छा जो हो, तो फिर वह कटार मुझे मिल सकेगी ? (**बानू मौन है।**)

काशी : कटार आपको मिल सकती है, किंतु बानू के सम्मान पर किसी प्रकार की आँच नहीं आनी चाहिए।

आबाजी : नहीं आएगी।

काशी : और भाई, मैं यह बतला देना चाहती हूँ कि गौहरबानू का अपमान मेरा अपमान होगा।

आबाजी : वाह, कुछ क्षणों के मेल-मिलाप में ही यह नाता जुड़ गया !

काशी : सच्चे हृदयों के मिलने में देर नहीं लगती ।

आबाजी : ठीक है, तब उनके और तुम्हारे सम्मान पर कोई आँच नहीं आएगी, मैं वचन देता हूँ ।

काशी : (**बानू से**) बानू, अब अपनी कटार देने में क्या आपत्ति है ? (**बानू फिर भी मौन है ।**)

आबाजी : (**आगे बढ़कर**) गौहरबानू, मैं आपके सम्मान की रक्षा करूँगा । मैं वचन देता हूँ कि मैं आपके सम्मान को बढ़ाऊँगा और अपनी ओर से मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं आपका स्पर्श भी नहीं करूँगा ।

[बानू फिर भी चुप रहती है ।]

आबाजी : गौहरबानू, अगर मैं चाहूँ तो आपसे कटार छीन सकता हूँ । आप इस वक्त मेरी कैद में हैं, लेकिन महाराष्ट्र के लोग स्त्रियों की इज्जत करते हैं । वे आपके शरीर को हाथ भी लगाना नहीं चाहते । फिर आप किस बात से डरती हैं । (**टहलते हुए**) आखिर आप अपने साथ कटार क्यों रखना चाहती हैं ? क्या, मुझ पर या शिवाजी पर वार करेंगी ? अगर पीछे से वार करेंगी तो आपकी इज्जत नहीं बढ़ सकती और अगर सामने से वार करना चाहेंगी तो आपके हाथ में कटार दे दी जाएगी । लेकिन ऐसा कोई मौका आपके सामने नहीं आएगा । हम लोग स्त्रियों की इज्जत करते हैं । आपको कैद करने में आपके अपमान की भावना मेरे सामने नहीं है । जो कुछ भी होगा आपकी स्वीकृति से होगा । आपको अब भी अपनी कटार देने में कोई आपत्ति है ?

काशी : बानू, अब तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

[बानू फिर भी अचल और मौन है ।]

आबाजी : देखिए गौहरबानू, मैं श्रीमंत के शस्त्र-पूजन की व्यवस्था करने जा रहा हूँ । इस शिविर का प्रत्येक शस्त्र उनके हाथों से आज पूजित होना चाहिए । मैं आपसे थोड़ी देर के लिए आपकी कटार माँगता हूँ । मैं आपके सामने भवानी की शपथ लेकर कहता हूँ कि आपके सम्मान की रक्षा होगी । मैं श्रीमंत शिवाजी के पूजन-विधान के नाते आपसे आपकी कटार चाहता हूँ ।

[बानू अपनी कटार जमीन पर गिरा देती है ।]

काशी : (**प्रसन्नता से**) गौहर वास्तव में गौहर है । (**कटार उठाकर आबाजी को देती है ।**)

आबाजी : (**बढ़कर कटार लेते हुए**) धन्यवाद, गौहरबानू। आप सचमुच ही एक आदर्श रमणी हैं, देवी हैं। मुख की सुन्दरता के साथ ही साथ आपके हृदय की सुन्दरता भी है। (**कटार को देखते हुए**) यह कटार··· (**कटार को हाथ से ऊपर उठाते हुए**) तू बानू जैसी वीर रमणी के हाथों में रही, तू धन्य है। अब तू श्रीमंत शिवाजी के हाथों में जा। मृत्यु के दाँत की तरह टेढ़ी होकर भी तू हृदय से लगाने योग्य है। (**गौहरबानू से**) गौहरबानू, आपको एक बार फिर धन्यवाद। अब आप जा सकती हैं। (**पुकारकर**) अंजुमन !

[अंजुमन का प्रवेश। वह आकर प्रणाम करती है।]

आबाजी : अंजुमन ! गौहरबानू अपने ख़ेमे में जाना चाहती हैं। इन्हें कोई कष्ट न हो।

अंजुमन : जो आज्ञा। (**गौहरबानू से**) चलिए।

[अंजुमन के साथ गौहरबानू का प्रस्थान]

आबाजी : (**गौहरबानू को देखते हुए**) श्रीमंत शिवाजी के नाम पर इन्होंने कटार दी।

काशी : श्रीमंत शिवाजी के प्रति गौहर के हृदय में बड़ी श्रद्धा है। कह रही थीं कि वह श्रीमंत के दर्शन करना चाहती है।

आबाजी : फिर मैं उनकी इच्छा पूरी करूँगा।

काशी : किंतु भाई, आपने एक भारी भूल की थी।

आबाजी : मैंने ! कौन-सी ?

काशी : आपने गौहरबानू के पास एक नहीं दो-दो कटारें रहने दीं। यदि वे अपने दुःख में आत्महत्या कर बैठतीं तो आपकी राजनीति अधूरी रह जाती। मैं आपके आने तक उन्हें बातों ही में उलझाए रखना चाहती थी। मैं नहीं चाहती थी कि इतनी अच्छी स्त्री आत्महत्या करे।

आबाजी : मैं तुम्हारी बुद्धिमत्ता से प्रसन्न हूँ, लेकिन तुम शायद यह नहीं जानती कि अंजुमन को मैंने गौहरबानू की सेवा में क्यों रखा था। उसे मेरा पूरा आदेश है कि वह गौहरबानू की सेवा करते हुए भी उन्हें कभी अपनी कटार का उपयोग न करने दे। अंजुमन छाया की भाँति गौहर के पीछे है। अंजुमन के बाद मैंने तुम पर सारा उत्तरदायित्व छोड़ दिया था। मुझे विश्वास था कि महाराष्ट्र की स्त्रियाँ अपना उत्तरदायित्व समझती हैं।

काशी : प्रशंसा के लिए धन्यवाद। किंतु गौहरबानू ने मुझे वचन दिया है कि वे तब तक आत्महत्या नहीं करेंगी जब तक कि उनके साथ अच्छे व्यवहार में कमी नहीं आएगी। उनके सम्मान पर किसी तरह की आँच नहीं आनी

चाहिए, भाई।

आबाजी : मैं इस सम्बन्ध में तुम्हें पूर्ण आश्वासन देना चाहता हूँ। (**कुछ ठहर कर**) अच्छा काशी, श्रीमंत शिवाजी अब आने ही वाले हैं। मोरोपंत पेशवा उनके साथ होंगे। वे कल्याण की विजय-लक्ष्मी का निरीक्षण करेंगे। मैंने जितने भी रत्न इस विजय में एकत्रित किए हैं उन्हें एक स्वर्ण-थाल में सजाओ और श्रीमंत के आने पर प्रस्तुत करो।

काशी : बहुत अच्छा। (**जाने को प्रस्तुत होती है**)

आबाजी : सुनो काशी, जब श्रीमंत इस शिविर में पदार्पण करें तो तुम्हें उनकी आरती उतारने के लिए तैयार रहना चाहिए।

काशी : और गौहरबानू की आरती कौन उतारेगा ?

आबाजी : तू मुझ पर व्यंग्य करती है, काशी !

काशी : फिर यह व्यवहार क्या है कि एक ओर तो भवानी की शपथ लेकर आपने उसे न छूने की प्रतिज्ञा की और दूसरी ओर उसकी कटार को माथे चढ़ा लिया ?

आबाजी : तेरे लिए राजनीति नहीं है, काशी। तू आरती की व्यवस्था कर।

काशी : बार-बार राजनीति का नाम लेकर आप मुझे मूर्ख बना देते हैं। अच्छी बात है, अब मैं महाराष्ट्र के योग्य ही नहीं हूँ। गौहर क्या आत्महत्या करेगी, मैं आत्महत्या करूँगी ? करा लीजिएगा आप गौहर से ही आरती श्रीमंत शिवाजी की या अपनी··· (**बुरा मान जाती है।**)

आबाजी : बुरा मान गई ? नहीं, काशी तू बहुत बुद्धिमती है। तुझे अपनी बहन के रूप में पाकर मैं गौरवान्वित हुआ हूँ। अच्छा, सुन ले तू भी राजनीति। कोई यहाँ है तो नहीं ? (**नेपथ्य की ओर देखकर**) शरीर रक्षक, तुम जाओ, इस समय तुम्हारी आवश्यकता नहीं है।

बाहर से स्वर : जो आज्ञा। (**जाने की आवाज**)

आबाजी : सुनो काशी, मैं तुम्हें अपनी राजनीति संक्षेप में समझा दूँ। तुम किसी से कहोगी तो नहीं ?

काशी : (**नकारात्मक सिर हिला देती है।**)

आबाजी : वचन देती हो ?

काशी : हाँ।

आबाजी : मैं गौहरबानू को कल्याण-विजय की सबसे बड़ी विजयश्री के रूप में श्रीमंत शिवाजी की सेवा में भेंट करना चाहता हूँ।

काशी : क्या आप श्रीमंत शिवाजी के चरित्र को जानते नहीं हैं ? क्या वे स्वीकार करेंगे ?

आबाजी : मुझे विश्वास है।

काशी : वे पर-स्त्री को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

आबाजी : मैं यह जानता हूँ कि गौहरबानू का सौन्दर्य किसी भी आदर्श के विरोध में खड़ा किया जा सकता है। मैं यह भी जानता हूँ कि श्रीमंत की आज्ञा स्त्रियों को कैद करने की नहीं है। किन्तु मैं एक ऐसा पाँसा फेंकना चाहता हूँ कि श्रीमंत गौहरबानू के सौन्दर्य पर मोहित हो जाएँ और महाराष्ट्र में एक सुंदरता की देवी आ जाए।

काशी : किन्तु भाई, इसका उद्देश्य क्या है ?

आबाजी : वह भी सुनना चाहती हो ? इस दैवी उपहार को पाकर श्रीमंत मुझसे बहुत प्रसन्न होंगे और इसके फलस्वरूप जानती हो क्या होगा ?

काशी : (**उत्सुकता से**) क्या होगा ?

आबाजी : आबाजी सोनदेव श्रीमंत शिवाजी भोंसले के पेशवा होंगे। मोरोपंत के स्थान पर समस्त महाराष्ट्र के पेशवा आबाजी सोनदेव।

काशी : मैं बहुत प्रसन्न होऊँगी भाई, पेशवा की बहिन कहलाऊँगी, किन्तु मुझे इस कार्य में सन्देह है।

आबाजी : तुम अभी बालिका हो, क्या समझो इन बातों को। किन्तु यह रहस्य किसी पर प्रकट न होने पावे काशी !

काशी : फिर गौहरबानू के सम्मान की रक्षा ?

आबाजी : श्रीमंत सभी परिस्थितियों को सम्हाल लेंगे, मुझे आगे की चिंता नहीं है। गौहरबानू श्रीमंत पर श्रद्धा रखती है ही, आगे चलकर वही श्रद्धा प्रेम का रूप ले सकती है। मुगल इतिहास में नूरजहाँ का उदाहरण तुम्हारे सामने है लेकिन यह सब होगा गौहरबानू की सम्मति से ही। हाँ, जब तक गौहरबानू श्रीमंत की सेवा में उपस्थित नहीं की जातीं तब तक उनके सम्मान की रक्षा का दायित्व मेरा है और मैं वचन देता हूँ कि मेरे संरक्षण में उनके सम्मान की रक्षा अवश्य होगी। हाँ, एक बात और···काशी, उसे तुम्हीं को पूरा करना है।

काशी : वह क्या ?

आबाजी : श्रीमंत के सामने जिस समय मैं 'भवानी की जय' कहूँ उस समय तुम्हें गौहरबानू को द्वार तक पहुँचाना होगा।

काशी : जैसी महाराज पेशवा की आज्ञा।

आबाजी : (**किंचित् बनावटी क्रोध के साथ**) चुप काशी, अभी ऐसा कहने का समय नहीं है। यह रहस्य गुप्त रखना चाहिए, जब तक कि अभीष्ट सिद्धि न हो जावे।

[**काशी मौन स्वीकृति देती है।**]

आबाजी : अच्छा, तो अब तुम जाओ। आरती-पात्र सुसज्जित रहे, साथ ही स्वर्ण-थाल में चुने हुए रत्न भी। और देखो, गौहरबानू को भी तैयार रखना। अच्छा ! अब तुम मीनाजी को मेरे पास भेजो। वे यहीं पास के शिविर में होंगे।

काशी : बहुत अच्छा। (**चलने के लिए उद्यत होती है।**)

आबाजी : देखो, शरीर-रक्षक से कहला दो कि वह द्वार पर अपना स्थान ले।

[काशी सिर झुकाकर स्वीकार करती है और जाती है।]

आबाजी : (**एक क्षण काशी के जाने की दिशा में देखते हैं फिर लौटकर टहलते हुए**) काशी को मैंने अपने महान् उद्देश्य की सूचना दे दी। गुप्त तो रक्खेगी ही··· (**दृढ़ता से सिर उठाकर**) ठीक···समस्त महाराष्ट्र के पेशवा हो जाने का गौरव···मेरा होगा···मोरोपंत के स्थान पर आबाजी सोनदेव··· (**फिर टहलते हुए**) गौहरबानू···तू देवी है, तू मेरे गौरव शिखर की सोपान थी यह स्वयं मुल्ला अहमद नहीं जानता होगा···महाराष्ट्र का भाग्य··· (**टहलते हैं।**)

[मीनाजी का प्रवेश। साधारण सरदार जैसा वेश-विन्यास]

मीनाजी : (**प्रणाम कर**) आज्ञा श्रीमान् की ?

आबाजी : मीनाजी, श्रीमंत भोंसले के इस शिविर-कक्ष में आने में अब देर नहीं है। वे इस कक्ष में आने के बाद विजय-सामग्री का निरीक्षण करेंगे। तुमने विजय की समस्त सामग्रियों को सुसज्जित कर लिया ?

मीनाजी : आज्ञानुसार सब प्रस्तुत है, श्रीमान्।

आबाजी : 551 घोड़े अश्वारोहियों के निरीक्षण में हैं ?

मीनाजी : जी, श्रीमान्।

आबाजी : मखमली, रेशमी और जरदोजी कपड़ों का संग्रह रघुनाथ बल्लाल के निरीक्षण में है ?

मीनाजी : जी हाँ, उनकी सूची भी तैयार करा ली गई है।

आबाजी : और शस्त्रों का संग्रह ?

मीनाजी : वह भी रघुनाथ बल्लाल के निरीक्षण में है।

आबाजी : और रत्नों का संग्रह ?

मीनाजी : वह शम्भूजी कावजी के पास है, किन्तु उन रत्नों में से कुछ चुने हुए रत्न श्री कुमारी काशीबाई के समीप भेज दिए हैं।

आबाजी : हाँ, जैसी मैं आज्ञा दे चुका हूँ, वे रत्न एक स्वर्ण-थाल में सजाकर काशीबाई श्रीमन्त की सेवा में प्रस्तुत करेंगी··· (**ठहरकर**) और देखो,

श्रीमन्त के आने के मार्ग में बन्दनवार और पताकाएँ लगवा दो।

मीनाजी : उसके लिए औरंगजेब से कह दिया गया है।

आबाजी : और प्रतापगढ़ के किले में भवानी की पूजा की व्यवस्था सब ठीक है ?

मीनाजी : जी, सोनाजी पंडित वहाँ उपस्थित हैं और पंडितराव से दान के लिए दो हजार होंण भी निकलवा लिए हैं। ऐसी श्रीमन्त भोंसले ने इच्छा प्रकट की थी।

आबाजी : ठीक है, शिविर-द्वार पर मंगल-दीप के साथ दो परिचारिकाओं को खड़े होने की आज्ञा दो।

मीनाजी : ये सब प्रस्तुत हैं, श्रीमान् !

आबाजी : अब तुम जा सकते हो, सब बातों में सतर्कता हो।

मीनाजी : जो आज्ञा। (**जाने को उद्यत होते हैं।**)

आबाजी : नहीं, तुम मेरे ही साथ रहोगे। परिचारिकाओं को ले आओ।

मीनाजी : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

[आबाजी सिंहासन के समीप जाकर सब चीजों का निरीक्षण करते हैं और गौहर की कटार ध्यान से हाथ में लेकर देखने लगते हैं। मीनाजी आते हैं और अपने साथ दो परिचारिकाओं को मंगल-दीप के साथ लाते हैं। परिचारिकाएँ दोनों द्वार पर खड़ी हो जाती हैं, आबाजी कटार को सिंहासन के समीप रखकर मुड़ते हैं, इसी समय नेपथ्य में 'श्रीमंत भोंसले श्रीमंत शिवाजी महाराज की जय ! श्रीमंत भोंसले शिवाजी महाराज की जय !' की ध्वनि और तोप की सलामी। बाहर बातचीत और हल्की कंठध्वनि।]

आबाजी : (**सजग होकर और म्यान से तलवार निकालकर**) मीनाजी, तुम सिंहासन के समीप अपने स्थान पर खड़े होओ।

[मीनाजी तलवार निकालकर सिंहासन के बायीं ओर खड़े होते हैं। नेपथ्य में फिर 'श्रीमंत भोंसले शिवाजी महाराज की जय !' आबाजी सोनदेव और मीनाजी जय के स्वर में अपना कण्ठ मिला कर दक्षिण द्वार की ओर देखते हुए—स्वागत श्रीमंत !

नेपथ्य में दक्षिण द्वार से फूल उछाले जाते हैं। श्रीमंत शिवाजी (आयु 30 वर्ष) का प्रवेश। सब का नत-मस्तक होना। श्रीमंत शिवाजी गौर वर्ण के हैं, उनका शरीर बलिष्ठ और गठीला है, यौवन और शक्ति का सम्पूर्ण सौंदर्य उनके अंग-अंग से फूट रहा है। वे मझोले कद के आदमी हैं। चलने-फिरने में तेजी और स्फूर्ति है, मुख पर एक हल्की सी मुस्कुराहट।

विशाल नेत्र, जिनमें तीक्ष्णता और चंचलता है। उनके बाल कानों के समीप लम्बे होकर उनकी दाढ़ी से मिले हुए हैं जो नीचे जाकर नुकीली हो गई है, उनकी मूँछें भी पतली और गलगुच्छे के समीप तक आने वाली हैं। कानों में दो बड़े-बड़े मोती झूल रहे हैं। माथे पर हल्की रेखाओं का एक त्रिपुण्ड है। गले में अनेक मोतियों की मालाएँ। शिवाजी मुगल ढंग की पगड़ी पहने हुए हैं, जिसके ऊपर मोतियों और रत्नों का सिरपेच लगा हुआ है। ऊपर बड़ी सुन्दर कलंगी है, जिसमें रत्नों की राशि सजी हुई है। अँगरखे की दोनों बाँहें फूली हुई हैं किंतु कलाइयों के पास आकर चुस्त हो गई हैं, जहाँ मखमल की पट्टियाँ हैं। बगल में से होकर जाने वाले एक नीले रेशम का दुपट्टा है जो कमर की तलवार तक लटक रहा है। कमर में जरी की पेटी है जिनका रत्नों से जड़ा हुआ छोर घुटने तक झूल रहा है। जरी की पेटी में एक कटार सजी हुई है और दूसरी ओर नीली म्यान लटक रही है जिसकी तलवार इस समय श्रीमंत शिवाजी के हाथ में है। शिवाजी सफेद रंग का चूड़ीदार पैजामा पहने हुए हैं और पैर में एड़ियों से बहुत ऊपर तक खिंचे हुए नुकीले जूते हैं।

शिवाजी के पीछे रघुनाथ बल्लाल और शम्भूजी कावजी हैं। शिवाजी के साथ पेशवा मोरोपंत हैं जिनका वेश-विन्यास महाराष्ट्र के सेनापतियों के समान है। वे सब रेशमी अँगरखे और चूड़ीदार पैजामे पहिने हुए हैं। सभी के हाथों में तलवारें हैं और कमर से म्यानें झूल रही हैं, जो कमर-पेटियों से कसी हुई हैं। सिरों पर साधारण पगड़ियाँ और माथे पर त्रिपुण्ड है। एक-एक मोती-माला उनके गले में है। मोरोपन्त की पगड़ी जरी की है और ये मोती की चार मालाएँ पहने हुए हैं। श्रीमंत शिवाजी के प्रवेश करते ही उन पर जय-घोष के साथ फूलों और अक्षत की वर्षा होती है। शिवाजी रंगमंच के मध्य खड़े हो जाते हैं और तीनों सरदार उनके समीप ही फैली हुई किरण के रूप में खड़े हो जाते हैं। मोरोपन्त शिवाजी की दाहिनी ओर हैं। उसी समय काशी आरती-पात्र लेकर प्रवेश करती है और आरती उतार कर प्रस्थान करती है।]

शिवाजी : (**चारों ओर दृष्टि डालकर गौरवपूर्ण शब्दों में**) वीरो ! महाराष्ट्र-जननी जीजाबाई के आशीर्वाद की विजय-लक्ष्मी तुम्हें मंगलमय हो। स्वाधीन राज्य की स्थापना करने वालो ! तुम्हारी जाति का प्रण अमर हो। सैकड़ों बाधाओं और विपत्तियों को झेलकर फिर अपना सिर ऊँचा करने वाले वीरो ! तुम्हारी शक्ति से महाराष्ट्र-जननी सन्तुष्ट हैं।

सब : श्रीमन्त शिवाजी भोंसले की जय ! !

शिवाजी : (**मुस्कराकर**) नहीं, यों कहो महाराष्ट्र सैनिकों की जय !

सब : (**उच्च स्वर से**) जय !

शिवाजी : शिवा-भवानी की तलवार की चिनगारियों से ही दक्षिण में स्वतन्त्रता का प्रकाश हो रहा है। बन्धुओ ! तुम्हारी वीरता का केन्द्रमंडल तुम्हारी महाराष्ट्र-जननी है, जिसने सह्याद्रि के पर्वत से प्रदान किया है। मोरोपन्त, कल्याण और भिवंडी नगरों को जीतने में किसकी प्रशंसा करनी चाहिए; जानते हो ?

मोरोपन्त : श्रीमंत की।

शिवाजी : नहीं ! (**रघुनाथ की ओर देखकर**) रघुनाथ ?

रघुनाथ : बीजापुर की राजनीति की।

शिवाजी : नहीं, (**शम्भू की ओर देखकर**) शम्भूजी ?

शम्भूजी : आपके आक्रमण की नीति की ?

शिवाजी : नहीं (**आबाजी की ओर देखकर**) आबाजी ?

आबाजी : मुल्ला अहमद की व्यापार-लोलुपता की।

शिवाजी : (**दृढ़ता से**) नहीं, नहीं, नहीं ! मैं इस जीत की सारी प्रशंसा देना चाहता हूँ, औरंगजेब को या मुगल सिंहासन पर अधिकार करने की उसकी महत्त्वाकांक्षा को। शाहंशाह शाहजहाँ बीमार हैं, शाही बुलन्द इकबाल दारा से लोहा लेने के लिए औरंगजेब दक्षिण छोड़कर उत्तर की ओर बढ़ गया। वह नहीं जानता था कि मीर जुमला सिर्फ खेत का धोखा है। औरंगजेब का यहाँ से चला जाना मुगल सल्तनत का दक्षिण से चला जाना है और यह विजय उसका एक नमूना है। (**सब स्वीकारात्मक सिर हिलाते हैं।**)

मोरोपन्त : यह आपकी दूरदर्शिता है।

आबाजी : यह आपकी नीति-निपुणता है।

शिवाजी : और इस अवसर से लाभ उठाने की दूरदृष्टि हमारे वीरों की है। स्वयं प्रकृति देवी ने दक्षिण में हमारे लिए अनेक पहाड़ी किले तैयार कर दिए हैं जिनमें अपनी शक्ति के व्यूह तैयार कर मराठे काल की तरह झपट कर शत्रुओं को तलवार के घाट उतार देते हैं। मैं इससे प्रसन्न हूँ। पहाड़ियों के ऊपर से गिराए जाने वाले पत्थर लुढ़कते हुए काल की तरह शत्रुओं को अपने साथ घसीट ले जाते हैं।

मोरोपन्त : और वे इस तरह घसीटते हैं कि उनका आकार ही बदल जाता है।

शिवाजी : उसी तरह जिस तरह प्रत्येक दिन सूरज उदय होकर देखता है कि कल जिस प्रान्त पर प्रकाश डालता था उसका भी आकार बदल गया है। हमारे आक्रमण की शीघ्रता सूर्य की शीघ्रता से भी बढ़कर है। अँधेरी रातों में

जिस तरह चाँद बढ़ता है उसी तरह तुम्हारे राज्य की सीमा बढ़ती है।

आबाजी : और औरंगजेब उस अँधेरे में एक तारे की तरह काँप कर यह सब देखता है।

शिवाजी : लेकिन आबाजी, यह तुम स्मरण रक्खो कि यह तारा किसी दिन मुगल सल्तनत पर पहुँचकर सूरज बन सकता है। इसलिए मैंने औरंगजेब से मित्रता करना बुरा नहीं समझा जब तक कि वह मेरे साथ विश्वासघात न करे। रघुनाथ बल्लाल को कोरडे भेजकर सम्मानपूर्ण सन्धि की तलवार से मैंने औरंगजेब के नाखून काट दिए हैं। रघुनाथ तो औरंगजेब का रुख भी देख आए हैं।

रघुनाथ : श्रीमंत, मुगल सेनाओं से जब बीजापुर पराजित हुआ तो उसने औरंगजेब से संधि कर ली। उसी समय उनके पास पहुँचा। औरंगजेब बहुत चिढ़ा हुआ था लेकिन आपके संदेश से उसे संतोष मिला। उसने कहा कि शिवाजी के साथ दोस्ती करना एक ऐसे शेर के साथ दोस्ती करना है जो किसी वक्त भी पैंतरा बदल सकता है, खून का प्यासा हो सकता है।

आबाजी : लेकिन सारे मराठा प्रदेश पर उसने श्रीमंत का अधिकार तो स्वीकार कर लिया।

मोरोपन्त : हाँ, अधिकार तो स्वीकार लिया लेकिन उसने यह शर्त भी रखी कि श्रीमंत मुगल-सीमा की रक्षा करेंगे।

शिवाजी : मुगल-सीमा की ? दक्षिण में मुगल-सीमा पिघलती हुई पृथ्वी की सीमा है जो आज यहाँ बनती है, कल वहाँ बनती है। जब तक औरंगजेब खुद न्यायी है, शिवाजी भवानी की तलवार लेकर पंढरपुर में शपथ ले चुका है कि वह भी न्यायी रहेगा। लेकिन जब औरंगजेब विश्वासघात करेगा तो शिवाजी विश्वासघात का बदला देना भी जानता है। दादाजी कोंडदेव की शिक्षा कभी अधूरी नहीं रही।

मोरोपन्त : उसने आदिलशाह को दिल्ली जाते समय लिखा भी था कि शिवाजी ने कितने ही किलों पर अधिकार कर लिया है। उनको इन सबसे हटा दो और अगर श्रीमंत शिवाजी से मित्रता करनी है तो उन्हें कर्नाटक में जागीर दे दो जिससे वे बादशाही राज्य से अलग रहें और उपद्रव न मचावें।

शिवाजी : क्या इस आज्ञा में मेरे साथ सन्धि होते हुए भी विश्वासघात की दुर्गन्ध नहीं है ? फिर भी मोरोपन्त, कल औरंगजेब को सूचना दो कि मैंने मुगल सल्तनत को न छूते हुए बीजापुर पर आक्रमण किया है और कल्याण और भिवंडी के किले जीत लिए हैं। उसे मेरी विजय से किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए और यदि इस विजय को वह अपनी राज्य-तृष्णा में बाधक समझता है तो मुझसे वह लोहा ले सकता है। मुगल सल्तनत का लालच

छोड़कर वह दक्षिण चला आए; हमें भी मुगल सेना से लड़ने में आनन्द मिलता है। खुलकर लड़ने की इच्छा केवल औरंगजेब से होती है।

मोरोपन्त : इस समय औरंगजेब नहीं आ सकता। दारा की बुलन्दी से वह नाराज है। डरता है कि शाहजहाँ के बाद दिल्ली का तख्त कहीं दारा के हाथ में न पहुँच जाए। उसे दारा के भाग्य से ईर्ष्या है।

शिवाजी : तो जो अपने भाई के ऐश्वर्य से जलता है वह मेरे ऐश्वर्य से क्यों न जले ? क्यों न वह नर्मदा के उत्तर में अपनी सीमा बढ़ाए और दक्षिण का राज्य हमारे हाथ सौंप दे। हम दोनों दोस्त की तरह रहें और जिस तरह लड़ाई में हम लोग तलवारें बढ़ाना जानते हैं। उसी तरह सन्धि में दोस्ती का हाथ बढ़ाना भी जानते हैं। लेकिन इसे भविष्य पर छोड़ो। आबाजी, कल्याण की पूरी लूट का विवरण तुम दे सकते हो ! तुम्हीं इस लूट के सेनापति थे, मैं उसे सुनना चाहता हूँ। (**सिंहासन पर बैठते हैं।**)

आबाजी : (**सिर झुकाकर**) जो आज्ञा, श्रीमंत ! आक्रमण-नीति तो आपने ही बनाई थी, मैंने उसे कार्य-रूप में परिणत करने की चेष्टा मात्र की है। बीजापुर की राजधानी में ही प्रधान मंत्री खान मुहम्मद का खून होने से जो गड़बड़ी फैल गई थी उससे सेनानायकों में कल्याण के लूटने का विचार एक दूसरे से होड़ ले रहा था। प्रजा भागना चाहती थी, लेकिन उसके लिए कोई मार्ग न था।

शिवाजी : यह मैं जानता था, इसीलिए मैंने अपनी सेना के एक बड़े भाग को उत्तर कोंकण में एकत्रित कर रक्खा था, जिससे भागने के लिए कोई मार्ग न मिल सके।

आबाजी : सत्य है, श्रीमंत, आपके भय से प्रजा उस ओर भाग ही नहीं सकती थी। बीजापुर के सेनानायकों को कल्याण के लूट लेने का अवसर न देखकर मैं पर्वत श्रेणी के बीच से ही निकलकर कल्याण के नगर में घुस गया और मैंने नगर पर कब्जा कर लिया।

शिवाजी : तुम बहुत बहादुर हो आबाजी, फिर क्या हुआ ?

आबाजी : प्रजा समझ रही थी कि बीजापुर का कोई सेनापति उन्हें लूट रहा है।

मोरोपन्त : ऐसा क्यों ?

आबाजी : बीजापुर के सेनापति मुस्तफा खाँ की फौज में मुसलमान और मावले ही अधिक संख्या में हैं, इसलिए मैंने अपनी जिस सेना से आक्रमण किया था उसमें मावले और मुसलमान ही अधिक रखे थे। प्रजा को मुस्तफा खाँ की सेना का पूरा भ्रम हुआ। वे डटकर मेरा विरोध भी नहीं कर सके। चुपचाप घरों से भाग निकले।

शिवाजी : तुम्हारी बुद्धिमत्ता सराहनीय है, आबाजी।

आबाजी : श्रीमंत ! फिर मैंने कुनबी घुड़सवारों की एक टुकड़ी लेकर कल्याण की सेना पर आक्रमण कर दिया। शम्भूजी कावजी मेरे साथ ही थे, सेना लापरवाह और बेखबर थी। शम्भूजी ने अस्तव्यस्त सेना को ठिकाने लगा-कर 551 घोड़ों पर घेरा डालकर उन्हें आपकी सेना के भीतर कर लिया। इस समय वे घोड़े आपके अश्व-निरीक्षकों के पास हैं।

शिवाजी : मैं उन घोड़ों का निरीक्षण करूँगा। (**शम्भू की ओर**) शम्भूजी ! तुम वीर हो, मैं तुम्हें प्रतापगढ़ का दबीर (सामन्त) नियुक्त करता हूँ। (**शम्भूजी दोनों हाथों में तलवार रखकर अभिवादन करते हैं**) और सुनो, उन 551 घोड़ों में से दो घोड़े अपने लिए चुनकर अपने वीर सिपाहियों में वितरित कर दो।

शम्भूजी : जो आज्ञा, श्रीमंत !

शिवाजी : (**आबाजी की ओर**) अच्छा आबाजी, आगे ?

आबाजी : श्रीमंत, इसके बाद मैंने रघुनाथ बल्लाल के साथ शाही पोशाकखाने पर आक्रमण किया। रघुनाथ बल्लाल ने अपने दोनों हाथों से छुरे चलाकर एक ही वार में दोनों पहरेदारों को जमीन पर सुला दिया। रघुनाथ की छुरे चलाने की प्रवीणता सारे महाराष्ट्र में किसी के पास नहीं है। उस समय मुझे याद आया कि रघुनाथ ने जावली का मैदान साफ करते समय इसी प्रकार छुरे चलाने की चतुराई से चन्द्रराव मोरे और सूर्यराव मोरे को खत्म किया होगा। शाही पोशाकखाने के सारे बेशकीमती कपड़े और पगड़ियाँ इस समय हमारे कब्जे में हैं।

शिवाजी : (**रघुनाथ बल्लाल से**) रघुनाथ, मैं उन पोशाकों को देखकर प्रसन्न होऊँगा। तुम जावली के शुरूनवीस (सचिव) नियुक्त किए गए। (**रघुनाथ दोनों हाथों में तलवार लेकर अभिवादन करता है**) शाही वस्त्रों में से दो पोशाकें अपने लिए चुनकर तुम अपनी इच्छानुसार सब पोशाकें बारगीरों में वितरित कर दो। (**कुछ स्मरण करते हुए**) हाँ, भिश्तियों और नालबन्दों को भी पोशाकों में से कुछ भाग मिलना चाहिए।

रघुनाथ : (**सिर झुकाकर**) जो आज्ञा।

आबाजी : श्रीमंत, इसके बाद मैंने अपना रुख शस्त्रागार की ओर किया और जितने बीजापुर के शाही हथियार थे वे सब अपने अधिकार में कर लिए, उनमें अनेक भाले, शिरस्त्राण, तलवार, तीर और धनुष हैं। वे इस समय प्रतापगढ़ के किले में रघुनाथ के संरक्षण में हैं।

शिवाजी : (**प्रसन्न होकर**) बहुत अच्छा ! (**मोरोपन्त से**) मोरोपन्त, वे सब शस्त्र विजयदशमी के दिन तक सुरक्षित रखो और उस दिन सेना-संगठन

करते समय नेताओं के अधीन जितने भी 'पागादल' हों उनमें वितरित करने की घोषणा कर दो। जितने भी वर्गी, हवलदार, जुमलादार और एक हजारी हों उन सबका इस शस्त्र-संग्रह में भाग होगा। इसकी सूचना 'सर-ए-नौबत' को दे दो। हाँ, एक बात और, शरीर-रक्षक मावले प्यादों को भी इन शस्त्रों को पाने का अधिकार होगा।

मोरोपन्त : जो आज्ञा।

आबाजी : श्रीमंत, आपकी शक्ति का सहारा पाकर मैंने इस बार लूट के संग्रह में अतुल सम्पदा प्राप्त की है।

शिवाजी : आबाजी, मैंने तुम्हें अपना मजमुआदार (**अमात्य**) नियुक्त किया। मोरोपन्त ! इस बात की घोषणा कल ही हो जानी चाहिए।

मोरोपन्त : जो आज्ञा।

[आबाजी घुटने टेककर तलवार दोनों हाथों में रखकर अभिवादन करते हैं]

आबाजी : (**उठकर**) श्रीमन्त, मैं अपने को इस पद के योग्य सिद्ध करूँगा। आक्रमण में मैंने जो अतुल सम्पदा प्राप्त की है वह मैंने कल्याण के शाही खजाने से प्राप्त की है। सदर और मुहतसिब का सिर धड़ से जुदा कर मैंने ऐसे-ऐसे रत्न और कीमती जवाहरात पाए हैं जो अभी तक की लूट में प्राप्त नहीं हो सके थे। श्रीमंत, बड़ी-बड़ी पेटियों में वे रत्न ऐसे बिखरे हुए थे जैसे आकाश में तारे। मैंने उन्हें एकत्रित कर सूर्य के समान चमकती हुई सोने की पेटी में डाल दिया है। उन रत्नों में से चुने हुए रत्न मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत करना चाहता हूँ (**कुछ जोर से पुकारकर**) काशी !

[स्वर्ण-थाल में रत्न लेकर काशी का प्रवेश। वह श्रीमन्त शिवाजी के सामने घुटना टेककर उनके सामने स्वर्ण-थाल बढ़ाती है।]

शिवाजी : (**स्वर्ण-थाल की ओर देखकर, प्रसन्नता के स्वर में**) बहुत सुन्दर रत्न हैं ! आबाजी, तुमने इन रत्नों का संग्रह कर महाराष्ट्र को बहुत सम्पन्न बना दिया है। अब वह अनेक वर्षों तक बड़ी से बड़ी शक्ति से मोर्चा ले सकता है। तुम्हें अनेक साधुवाद। काशी, उठो, इन रत्नों के पाने वाले अधिकारियों के नाम मैं लेना चाहता हूँ।

[काशी उठ खड़ी होती है।]

शिवाजी : सबसे पहले काशीबाई, आबाजी सोनदेव की बहिन, जिसकी मंगल-कामना से यह विजय पूर्ण हुई। (**एक रत्न चुनकर काशीबाई को देते हैं। काशीबाई बाएँ हाथ में थाल लेकर दाहिने हाथ से लेती है और प्रणाम करती है।**)

काशी : श्रीमन्त भोंसले शिवाजी सदैव विजयी हों।

शिवाजी : (**मुस्कराकर**) जिससे तुम्हें सदैव ऐसे रत्नों की प्राप्ति हो! मुझे विश्वास है, तुम्हें सदैव अच्छे से अच्छे रत्नों की प्राप्ति होगी। सबसे श्रेष्ठ रत्न तो अभी तुम्हें मिलना है। आबाजी उस रत्न का ध्यान तुम रखना।

[काशी लज्जित होकर संकुचित होती है।]

आबाजी : श्रीमन्त, मैं ध्यान रक्खूँगा।

शिवाजी : इन रत्नों के दूसरे अधिकारी का नाम श्री आबाजी सोनदेव है। महाराष्ट्र सेना के नायक आबाजी, इसे पारितोषिक रूप में स्वीकार करो।

आबाजी : (**झुककर**) श्रीमन्त की कृपा। (**रत्न लेकर अभिवादन करते हैं।**)

शिवाजी : (**दो रत्न लेकर**) इन दो रत्नों के अधिकारी पेशवा मोरोपन्त हैं।

मोरोपन्त : (**रत्नों को हाथ में लेकर**) श्रीमंत की कृपा! (**अभिवादन करते हैं।**)

शिवाजी : मोरोपन्त, शेष रत्नों के दो भाग होंगे। एक भाग मेरी पूज्य जननी श्रीमती जीजाबाई की सेवा में प्रस्तुत किया जाए और दूसरा भाग राजकोष में जमा हो।

मोरोपन्त : जो आज्ञा, श्रीमंत! (**काशी से**) काशीबाई, यह रत्न-संग्रह, पंडित राव को देकर राज्य-भंडार में जमा कर दो। शेष रत्न शम्भूजी कावजी जमा कर देंगे।

शम्भूजी : जो आज्ञा।

[काशी पहले श्रीमंत शिवाजी को और बाद में अन्य सेनापतियों को प्रणाम करके जाती है।]

शिवाजी : मैं इस आक्रमण के परिणाम से बहुत प्रसन्न हूँ। यह सब तुम लोगों की शक्ति से हुआ है। वीरो, सदैव शक्ति और साहस में विश्वास रक्खो। आत्म-सम्मान भवानी का दिया हुआ सबसे बड़ा वरदान है। उस वरदान को प्राप्त करने की चेष्टा सदैव करते रहो। तुमसे महाराष्ट्र-जननी बहुत प्रसन्न हैं। तुम सब श्रीमती जीजाबाई के चरणों में प्रणाम करने का यश प्राप्त करो। एक समय आवेगा जब मुगल सल्तनत को तुम लोगों के आतंक से सिर झुकाना पड़ेगा। तुम्हीं पर मेरी भावी आशाएँ निर्भर हैं। मेरे साथ कहो : 'भवानी की जय।' (**भवानी की जय का नारा**) 'श्रीमती जीजाबाई की जय।' (**जीजाबाई की जय का नारा**) मेरे साथ तुम सब लोग श्रीमती जीजाबाई के दर्शन करोगे और साथ ही प्रतापगढ़ के किले में चलकर शिवा-भवानी की पूजा में उपस्थित रहोगे। मोरोपन्त! साथ ही साथ मैं शस्त्र-

पूजा भी करूँगा। शस्त्रागार के समस्त शस्त्र उस समय मेरे सामने रहने चाहिए।

मोरोपन्त : जैसी श्रीमंत की आज्ञा।

शिवाजी : अच्छा, अब हम चलेंगे। आबाजी, तुमसे एक बात विशेष रूप से कहनी है। तुम मेरे साथ होगे। (**उठने के लिए प्रस्तुत**)

आबजी : श्रीमंत, जो आज्ञा, किन्तु एक प्रार्थना और निवेदन करना है। कल्याण के आक्रमण का एक उपहार और है।

शिवाजी : अच्छा, उसे भी उपस्थित करो। आबाजी, मैं तुम्हारी वीरता से बहुत प्रसन्न हूँ। मेरे हृदय में तुमने वह स्थान बना लिया है जो आज तक किसी सैनिक ने नहीं बनाया। तुम्हें कल्याण का आक्रमण सौंपकर मैंने अपनी युद्ध-नीति में सर्वश्रेष्ठ कार्य किया है। मुझे प्रसन्नता है कि तुम मेरे सेनापति और मजमुआदार (अमात्य) हो। वह श्रेष्ठ उपहार कौन-सा है जो मेरे सामने अन्त में प्रस्तुत करना चाहते हो ?

आबाजी : श्रीमंत, इस आक्रमण में जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं वे सब आपने अपने सैनिकों और सेनापतियों में वितरित कर दी हैं। मैं 'भवानी की जय' घोष के साथ कह सकता हूँ कि आपके सदृश सेनापति किसी भी जाति के युद्ध-क्षेत्र में नहीं मिला। आपने अपने से अधिक सैनिकों का मान रक्खा है। स्वयं अच्छी से अच्छी वस्तुएँ अपने पास न रखकर आपने अपने सैनिकों में बाँट दी हैं। मेरी प्रार्थना है कि यह अन्तिम उपहार आप अपनी सेवा ही में रहने दें।

शिवाजी : वह कौन-सा उपहार है, आबाजी ! मुझे किसी उपहार की आवश्यकता नहीं है। मेरे लिए तो एकमात्र शिवा-भवानी की तलवार के अतिरिक्त और कोई उपहार ही नहीं। फिर भी हमें उस उपहार को देखने में प्रसन्नता होगी।

आबाजी : (**द्वार की ओर देखकर**) श्रीमंत, कल्याण प्रदेश के सूबेदार अरब जाति के रईस मुल्ला अहमद की पुत्रवधू, गौहरबानू। (**शिवाजी गम्भीर हो जाते हैं**) अपनी सुन्दरता में अद्वितीय और अपने शील में अनुपम ! आपकी सेवा करने के लिए मैंने उसे बन्दी किया है।

[शिवाजी की मुस्कराहट ओंठों में डूब जाती है। वे अधिक गम्भीर हो जाते हैं।]

शिवाजी : मुझे इस बात की सूचना है। मैं अभी तुमसे यह सब सुनता। (**मोरोपन्त से**) मोरोपन्त, क्या मेरे सेनापति मेरे युद्ध की नीति नहीं जानते ?

मोरोपन्त : आश्चर्य, आबाजी, आबाजी ? (**प्रश्नसूचक मुद्रा**)

आबाजी : 'स्त्रियों और बच्चों को कैद मत करो,' आपकी इस आज्ञा को मानकर मैंने अपने आक्रमण में किसी स्त्री और बच्चे को छुआ भी नहीं। मैं सूबेदार मुल्ला अहमद के सब परिवार को बन्दी कर सकता था, किन्तु आपकी आज्ञा को समर्थ गुरु रामदास की आज्ञा की भाँति सिर-माथे चढ़ाकर मैंने किसी को बन्दी नहीं किया। किन्तु गौहरबानू स्त्री नहीं है, श्रीमंत ! देवी है। वैसा रूप मनुष्य जाति में नहीं होता जैसे आकाश से एक तारिका टूट आई हो और चाँदनी का शरीर बनाकर गौहरबानू हो गई हो !

शिवाजी : मोरोपन्त, यह वही गौहरबानू है जिसके सौन्दर्य की कीर्ति समस्त दक्षिण में है ?

मोरोपन्त : जी हाँ श्रीमंत, मुल्ला अहमद की पुत्रवधू गौहरबानू।

शिवाजी : सौन्दर्य एक दैवी वरदान है, उसके लिए शब्दों की आवश्यकता नहीं है। अच्छा, मैं भी उसे देखूँगा। (**उठकर**) गौहरबानू···!

आबाजी : (**प्रसन्नता से**) श्रीमंत, मैंने गौहरबानू की कटार भी हस्तगत कर सिंहासन के चरणों में रख दी है। (**कटार उठाते हैं**) जिससे वे आप पर किसी अवसर पर आक्रमण न कर सकें। कटार रहने से वे या तो आप पर आक्रमण कर सकती थीं या आत्महत्या।

शिवाजी : अच्छा, यह गौहरबानू की कटार है। मैं समझा कि यह कक्ष की सुन्दरता के लिए सिंहासन के नीचे सजा दी गई है। (**हाथ में लेकर**) यह गौहरबानू की कटार है ! मुझ पर आक्रमण कर सकती हैं या आत्महत्या··· (**सोचकर**) किन्तु श्रीमती जीजाबाई की कृपा से दोनों बातें नहीं हो सकतीं। (**फिर सोचते हुए**) हाँ, गौहरबानू की कटार से यादव रामचन्द्र मारा गया है। लेकिन शिवाजी यादव रामचन्द्र नहीं है···(**सोचते हुए**) पर वह यादव रामचन्द्र भी हो सकता है। (**कटार सावधानी से देखते हैं**) मुल्ला अहमद की पुत्रवधू गौहरबानू। सौन्दर्य और शक्ति एक साथ ही शरीर में एकत्रित हैं जैसे चन्द्र और सूर्य एक साथ मिल गए हों। अच्छा···मैं गौहरबानू को देखूँगा।

आबाजी : (**जोर से**) गौहरबानू श्रीमंत की सेवा में उपस्थित हो।

[सोना के साथ गौहरबानू का प्रवेश। शिवाजी सिंहासन से उतरकर एक ओर खड़े हो जाते हैं।]

शिवाजी : (**गौहरबानू की तरफ देखते हुए विस्मित मुद्रा**) गौहरबानू !! यह दैवी वरदान···(**आबाजी प्रसन्न होते हैं**) आबाजी, तुम यहाँ से जाओ।

आबाजी : (**झुककर**) जो आज्ञा श्रीमंत। (**अभिवादन कर प्रस्थान।**)

शिवाजी : **(सोचते हुए)** शम्भूजी कावजी, तुम भी जाओ।

शम्भूजी : **(झुककर)** जो आज्ञा, श्रीमंत। **(अभिवादन कर प्रस्थान।)**

शिवाजी : रघुनाथ बल्लाल, तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं।

रघुनाथ : **(झुककर)** जो आज्ञा, श्रीमंत। **(अभिवादन कर प्रस्थान।)**

शिवाजी : मीनाजी, तुम भी जा सकते हो।

मीनाजी : **(झुककर)** जो आज्ञा, श्रीमंत। **(अभिवादन कर प्रस्थान।)**

शिवाजी : अच्छा मोरोपन्त पेशवा, तुम भी मुझे एकाकी रहने दो।

मोरोपन्त : **(झुककर)** जो आज्ञा, श्रीमंत। **(अभिवादन कर प्रस्थान।)**

[शिवाजी नीचा मस्तक कर टहलने लगते हैं। टहलते हुए सौम्यभाव से सोना से कहते हैं।]

शिवाजी : सोना, संसार में बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो अच्छी होकर भी बुरी हैं और बुरी होकर भी अच्छी हैं। मैं अपने मराठा वीरों को इस आक्रमण के बहाने ये दोनों बातें समझाना चाहता हूँ। **(ठहरकर)** तुम्हारा भाई यादव रामचन्द्र लौटकर नहीं आया। यह बुरा हुआ। लेकिन अच्छा यह हुआ कि उसके प्राण एक स्त्री की रक्षा करने में गए। उसने मेरे आदर्शों की रक्षा की। यदि वह जीवित रहता तो मैं उसे एक हजारी बनाता। उसका लौटकर न आना यदि तुम्हारे लिए बुरा हुआ तो सारे महाराष्ट्र के लिए अच्छा हुआ। यह आदर्श प्रत्येक महाराष्ट्र वीर के लिए आवश्यक है। तुम तो एक हजारी नहीं बन सकती, फिर भी तुम्हें प्रति वर्ष एक हजार होंण मिलेंगे। एक बात और सोचो। हजार होंण तुम्हारे भाई का स्थान नहीं ले सकते। इसलिए भाई की पूर्ति भी होना है। मैं इसका शीघ्र ही निर्णय कर दूँगा, तुम बाहर थोड़ी देर प्रतीक्षा करो।

सोना : **(घुटने टेककर विह्वल स्वर में)** श्रीमंत! **(आगे कुछ नहीं कह सकी।)**

शिवाजी : **(आश्वासन के स्वर में)** उठो सोना, मुझे तुम्हारे दुःख के इतिहास की एक-एक बात मालूम हो गई। महाराष्ट्र की वीर कन्या हो। मेरे निर्णय की शीघ्र प्रतीक्षा करो। तुम बाहर जाओ।

सोना : **(सिर झुकाकर)** जैसी आज्ञा! **(प्रस्थान)**

[श्रीमंत शिवाजी थोड़ी देर तक टहलते रहते हैं। कभी वे गौहरबानू की ओर देख लेते हैं और कभी सिंहासन की ओर।)

शिवाजी : **(टहलते हुए)** सुबह के वक्त जब कोई सितारा डूबता है तो आसमान बदरंग हो जाता है। सितारा आसमान से नहीं कहता कि तू बदरंग हो

जा। क्यों ? इसलिए कि सितारा शाम को फिर निकल कर कहता है कि मेरी दुनिया फिर वैसे ही भरी-पूरी है। आसमान अगर जरा-सी बात पर बदरंग हो जाए तो तारे का कुछ बिगड़ता नहीं है। गौहरबानू, आपका कुछ नहीं बिगड़ा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि आप आसमान के एक कोने में न होकर सिर्फ दूसरे कोने में हैं। आपकी रोशनी में कोई फर्क नहीं है और शिवाजी उस रोशनी से अपनी जिन्दगी में उजेला करना चाहता है।

[शिवाजी गौहर को देखते हैं। गौहर चुप है।]

शिवाजी : आप चुप हैं तो मालूम होता है जैसे सुबह नहीं होना चाहती। आपके बदन पर फूलों की माला किस कदर हँस रही है और आप चुप हैं। आप अपनी सारी हँसी फूलों को दे देंगी तो ये उसे सँभाल भी न सकेंगे, मुरझा जाएँगे। (**ठहरकर**) आप डरती हैं। जिस दिन हमारे मुल्क की औरतें डरना छोड़ देंगी उसी दिन से हमारे मुल्क की तरफ कोई देख भी नहीं सकेगा। (**गौहरबानू की कटार हाथ में लेते हुए**) आपकी कटार इस वक्त मेरे हाथों में है। मैं उसे आपको वापस देना चाहता हूँ। आप अपनी कटार हाथ में ले लें। मैं स्त्री के हाथ में शस्त्र देखकर प्रसन्न होता हूँ। और जब मैंने सुना कि आप इस कटार से शिवाजी पर वार करना चाहती हैं या खुद-कुशी करना चाहती हैं तो मुझे खुशी और रंज दोनों एक साथ हुए। खुशी इस बात से कि आपमें शिवाजी पर वार करने का हौसला है और रंज इस बात से कि आप खुदकुशी कर सकती हैं। खुदकुशी तो वे करते हैं जो जिन्दगी को पहिचानते नहीं। जो जिन्दगी के फूल को काँटा समझते हैं। आपसे मुझे ऐसी उम्मीद नहीं है। लीजिए अपनी कटार और मुझ पर वार कीजिए। (**गौहरबानू के समीप कटार रखते हैं। सिंहासन के समीप एक कटार और देखकर**) यह एक कटार और है। (**उठाकर गौहरबानू के समीप रखते हुए**) इसे भी लीजिए, जिससे आप यह कह सकें कि मैंने, शिवाजी ने, महाराष्ट्र की देवी जीजाबाई के पुत्र ने, आपके साथ कोई धोखा नहीं किया।

[शिवाजी सिंहासन से कटार उठाने के लिए झुकते हैं। इसी बीच गौहरबानू मुख का घूँघट उलटकर सामने देखती है। गौहरबानू के खुले हुए मुख पर दृष्टि पड़ते ही शिवाजी एक कदम पीछे हट जाते हैं।]

शिवाजी : (**प्रशंसा के स्वरों में**) गौहर···बानू···देवी !

गौहर : (**दबे स्वर में**) श्रीमंत···।

शिवाजी : देवी, मेरे बगैर कहे तुमने अपने मुख से पर्दा उठा दिया।

गौहर : (सम्भलकर) श्रीमंत, बहुत दिनों से वीर शिवाजी को देखने की हसरत थी। जिस शिवाजी ने अपनी हिम्मत से मुगल सल्तनत से लोहा लिया, जिसने बीजापुर को कभी चैन न लेने दिया, जिसने अपनी अकेली ताकत से पुरन्दर के किले को जीता, जिसने चन्द्रराव मोरे से जावली छीन ली, जिसने रायगढ़ के किले पर अपना झण्डा फहराया, जिसने कोंकण के मैदान को सर किया उस वीर शिवाजी को देखने की हसरत किसके दिल में न होगी ?

शिवाजी : (मुस्कराकर) देखा, देख लिया ?

गौहर : जी हाँ, देखा और···समझा कि शिवाजी और रुस्तम में कोई फर्क नहीं है।

शिवाजी : गौहरबानू, आपकी नजर से शिवाजी अपनी फतह इतनी जल्दी नहीं चाहता और अपनी नजर से वह इतनी आसानी से पराजित भी नहीं हो सकता। आपकी सुन्दरता दक्षिण के गोंधालियों की कहानी बन रही है। सरदारों की नजरों में आपकी सुन्दरता उनके हिर्सोहवस की आखिरी सीमा है। लेकिन शिवाजी इस सुन्दरता से हार नहीं मान सकता, यद्यपि वह इसकी पूजा करना चाहता है।

बानू : मेरी सुन्दरता की पूजा ? मैं जानती हूँ सुन्दरता का परिणाम क्या होता है।

शिवाजी : सुन्दरता का परिणाम होता है—आँखों का अपने सच्चे रास्ते पर आना। लेकिन ये आँखें इतनी हल्की होती है कि जरा से इशारे पर बहक जाती हैं। शिवाजी अपनी आँखों का रास्ता पहिचानता है। आपकी इस सुन्दरता में मुझे अपनी माँ जीजाबाई का मुख दीख पड़ता है, अपनी माँ जीजाबाई की मुस्कान दीख पड़ती है। आपके बोलने में मुझे जीजाबाई का आशीर्वाद सुन पड़ता है !

गौहर : (विह्वल होकर, आगे बढ़कर) श्रीमंत···।

शिवाजी : मैं सिर्फ यही सोचता हूँ कि अगर मेरी माँ जीजाबाई आपकी तरह खूबसूरत होतीं तो मैं भी एक खूबसूरत सरदार होता।

गौहर : (आत्मविभोर होकर) श्रीमंत, शिवाजी ?

शिवाजी : मुझे श्रीमन्त न कहें ! शिवा कहें। जिस नाम से श्रीमती जीजाबाई मुझे पुकारती हैं।

गौहर : (मुख का वस्त्र पूरी तरह खोलकर) ओह ! श्रीमंत शिवा।

शिवाजी : आप कुछ देर के लिए मेरे यहाँ मेहमान हैं। फिर आपको इज्जत के साथ सूबेदार मुल्ला अहमद की खिदमत में भेज दिया जाएगा।

गौहर : (अस्फुट स्वर में) मैंने गुनाह किया है ! मैंने गुनाह किया है ! श्रीमंत

शिवाजी के बारे में गलत खयाल सोचकर मैंने गुनाह किया है ! मुझे माफ करो, मैं माफी चाहती हूँ।

शिवाजी : मेहमानों को यह कहना शोभा नहीं देता। आपने कोई कुसूर नहीं किया। कोई गुनाह नहीं किया। गुनाह तो मैंने किया कि पूजा के एक फूल को देवता के मस्तक से उठा लिया। मैं उस फूल को वहीं रखना चाहता हूँ और अपने अपराध के लिए सिर झुकाता हूँ।

[शिवाजी मस्तक झुकाते हैं।]

गौहर : आपने अपराध कहाँ किया ! अपराध तो आपके सरदार ने किया।

शिवाजी : मेरे सरदार का अपराध मेरा ही अपराध है। मैं उससे मुक्त नहीं हो सकता, देवी ! इस जीत में मेरी हार छिपी हुई है।

गौहर : मैंने ऐसा बहादुर सिर्फ शिवाजी ही को देखा जो जीत कर भी नहीं जीतना चाहता, जो बन्दी को अपमान के बदले सम्मान देता है। जो कैदी को अपना मेहमान मानता है···!

शिवाजी : लेकिन बगैर मेहमान की खातिर किए मैं उसे यों ही नहीं जाने दे सकता। (**अपने अँगरखे के नीचे से शिवाजी एक कागज निकालते हैं और उसे गौहरबानू के सामने करते हुए**) आप जानती हैं, यह क्या है ?

[गौहर कुछ नहीं बोलती। अवाक होकर रह जाती है।]

शिवाजी : यह मैं आपको भेंट करता हूँ।

[शिवाजी गौहर के हाथ में वह कागज भेंट करते हैं।]

गौहर : (**देखकर**) यह किसकी तस्वीर है ?

शिवाजी : महारानी जीजाबाई की। मेरी माँ की तस्वीर है। मेरी जिन्दगी में मुझे यह सबसे प्यारी है। इस तस्वीर की ताकत से ही मैंने इतने किले फतेह किए हैं ! मेरी ताकत कुछ भी नहीं है। मैंने आपके सामने यह शीशा पेश किया है जिसमें आप इतनी खूबसूरत होकर अपना अक्स देख सकें। मेरे सामने जीजाबाई और गौहरबानू में कोई फर्क नहीं है।

गौहर : (**तस्वीर अपने सीने से लगाकर**) शिवाजी ! ! ! मैंने जैसा सुना था वैसा ही पाया।

शिवाजी : माँ, आप इस सिंहासन पर बैठें। (**सिंहासन की ओर संकेत करते हैं।**)

गौहर : मैं इस आसन के लायक नहीं हूँ।

शिवाजी : दरअसल आप इस आसन के लायक नहीं हैं। आपके लिए तो इससे भी अच्छा आसन चाहिए। लेकिन कल्याण के खेमे में कोई खास इन्तजाम

न होने के कारण आप शिवाजी को माफ करें। बैठिए, आप इस सिंहासन पर बैठिए। (**शिवाजी गौहरबानू को सिंहासन पर बिठलाते हैं**) आप देवी हैं। हमारे यहाँ देवी के हाथ में शस्त्र होता है। आप भी अपने हाथ में कटार लें। लीजिए अपनी कटार।

[गौहर कटार ले लेती है।]

शिवाजी : (**घुटने टेककर प्रणाम करते हुए**) जीजाबाई के सदृश अपनी माँ को शिवा प्रणाम करता है।

गौहर : श्रीमंत शिवाजी का भाग्य हमेशा ऊँचा रहे। लेकिन शिवाजी उठो, मुझे इतने महापुरुष को झुकते देखकर शरम मालूम हो रही है ! मुझे···।

शिवाजी : माँ, आप अपने गौरव का अनुभव कीजिए। सेनापति की गलती के लिए मैं आपसे माफी चाहता हूँ। (**पुकारकर**) आबाजी !

[आबाजी का प्रवेश। वह गौहरबानू को सिंहासन पर देखकर प्रसन्न हो जाता है।]

शिवाजी : आबाजी, तुमने जीजाबाई को देखा है ?

आबाजी : श्रीमंत, मैंने अनेक बार जननी के दर्शन किए हैं।

शिवाजी : एक बार दर्शन और करो !

[आबाजी इधर-उधर देखते हैं, किन्तु जीजाबाई नहीं दिखतीं। वे शून्य दृष्टि से शिवाजी की ओर देखते हैं।]

शिवाजी : आसन पर शिवाजी की माता को देखकर भी नहीं पहिचान सकते ?

[आबाजी घुटने देखकर अभिवादन करते हैं।]

शिवाजी : (**गौहर से**) माँ ! सेनापति आबाजी को क्षमा कीजिए।

गौहर : मैंने माफ किया। तुम हमेशा फतेह हासिल करो। लेकिन (**रुककर**) कुछ सोच-समझकर।

शिवाजी : (**मुस्कराकर**) हाँ, सोच-समझकर, आबाजी ! आबाजी, अन्य सेनापतियों को स्वयं जाकर सूचना दो कि वे इसी समय आकर शिवाजी की माता गौहरबानू को प्रणाम करें। सोना को भी सूचना दो कि वह मेरे समीप उपस्थित हो।

आबाजी : (**सिर झुकाकर**) जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

शिवाजी : देवी, सोना का भाई यादव रामचन्द्र आपके हाथ से मारा गया।

गौहर : शिवाजी, मुझे इस बात सख्त अफसोस है कि गलती से मेरी छुरी उसकी तरफ उठ गई। वह बेचारा खुद नहीं जानता था कि मैं उसके सीने में

गौहर : वह यह कि तुम काशीबाई के साथ ही साथ सोनाबाई की शादी भी बराबर की हैसियत से करोगे, और दोनों की शादी भी एक साथ होनी चाहिए।

आबाजी : जो आज्ञा। यह तो दण्ड नहीं मेरी प्रसन्नता का कारण है। मैं सोना-बाई का विवाह काशीबाई के विवाह के साथ ही करूँगा और अधिक समारोह से। जीवन-भर बहिन कहलाने वाली सोना के लिए जो कुछ भी मैं कर सकूँगा, करूँगा।

शिवाजी : आबाजी, अब मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम्हें अभी एक कार्य और करना है।

आबाजी : आज्ञा श्रीमंत! भविष्य में मुझसे इस प्रकार कोई अपराध न होगा इस बात का मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। आगे जो आप आज्ञा करें।

शिवाजी : देवी गौहरबानू ने आज रत्नों से तो श्रृंगार नहीं किया किन्तु जितनी फूल मालाओं से श्रृंगार किया है उतने हीरे और मोतियों की मालाओं से इनका श्रृंगार किया जाए और तुम इन्हें सूबेदार मुल्ला अहमद की सेवा में सम्मान सहित पहुँचा दो।

आबाजी : (**सिर झुकाकर**) जो आज्ञा, ऐसा ही होगा।

शिवाजी : किन्तु इसके पूर्व कि देवी गौहरबानू यहाँ से जावें वे मुझे क्या उपहार देंगी। (**गौहरबानू की ओर दृष्टि डालते हैं।**)

गौहर : (**संकुचित होकर**) जो आप कहें।

शिवाजी : (**मुस्कराकर**) माँ की एक हँसी।

गौहर : (**हँसकर**) लीजिए, मैंने हँस दिया। लेकिन मैं अपनी तरफ से एक बात करूँगी।

शिवाजी : प्रसन्नता से।

गौहर : महाराष्ट्र माताओं और बहिनों की तरह मैं आपका तिलक करूँगी।

शिवाजी : यह मेरा सौभाग्य है। (**सोना से**) सोना, तिलक-सामग्री शीघ्र लाओ।

सोना : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

शिवाजी : देवी, शिवा ने आज तक दुश्मन की स्त्री को अपनी माँ और बहिन की तरह सम्मानित किया है। उसकी यह बात उसके आखिरी दम तक पूरी होगी। माँ जीजाबाई ने जो बात मेरे लिए आज्ञा के रूप में कह दी है वह सूरज की किरण की तरह कभी धुँधली नहीं हो सकती। आप जब-जब यहाँ आएँ आपके लिए यह आसन (**आसन पर दृष्टि डालते समय काशीबाई द्वारा तोड़ी हुई माला दीख पड़ती है**) यह माला (**हाथ में उठा लेते हैं**)

अभी तक आपके हृदय की तरह ही टूटी है ? इसे जुड़ जाना चाहिए (**माला में गाँठ देकर उसे झुलाते हैं**) किन्तु इसमें झुमका नहीं है। (**शिवाजी अपने कंठ में पड़ा हुआ लाल रत्नों का हार लेकर झुमके के स्थान पर जोड़ते हैं।**) यह प्रेम और अनुराग की सूचना देने वाले लाल-रत्नों से जुड़ी हुई माला शिवाजी की श्रद्धा भेंट समझें।

[माला गौहरबानू के गले में पहिनाते हैं, उसी समय काशी, सोना और गंगा तिलक-सामग्री लेकर प्रवेश करती हैं।]

काशी : (**गौहर के गले में माला देखकर**) श्रीमन्त, यह माला मैंने गंगा से गुँथवा-कर गौहरबानू के गले के लिए ही तैयार कराई थी। सिर्फ इसमें झुमका नहीं था। आज आपके हाथों से गौहरबानू के गले में पड़कर यह माला धन्य हो गई।

शिवाजी : ठीक है काशी। (**सोना से**) सोना, आज से यादव रामचन्द्र के स्थान पर आबाजी सोनदेव तुम्हारे भाई हुए। तुम्हारे समस्त जीवन का उत्तर-दायित्व अब से इन पर होगा। काशी, तुम अपनी बहिन से मिली ?

काशी : ओह सोना ! मेरी बहिन। (**आबाजी के हाथों में तिलक-सामग्री देकर सोना से मिलती है।**)

आबाजी : बहिन, सोना ! श्रीमन्त की आज्ञा से मैं तुम्हारे बिलकुल निकट आ गया हूँ। यादव के स्थान पर अब तुम मुझे समझो।

सोना : (**शिवाजी के सामने हाथ जोड़कर**) मैं कृतार्थ हुई।

शिवाजी : और मैं प्रसन्न हुआ।

गौहर : अब मेरी प्रसन्नता का अवसर आने दीजिए।

[गौहरबानू सिंहासन से उतरकर अपने हाथ में तिलक-सामग्री लेती है और श्रीमंत शिवाजी के सामने खड़ी होती।]

गौहर : सिर झुकाइए, मैं आपका मंगल-तिलक करूँ !

शिवाजी : आपके सामने मैं हमेशा सर झुकाने में ही अपनी विजय समझूँगा।

[मन्द हास्य। श्रीमंत शिवाजी थोड़ा सिर झुकाते हैं और गौहरबानू उन्हें मंगल-तिलक करती है।]

गौहरबानू : श्रीमन्त भोंसले शिवाजी महाराज की जय !

सब सामन्त : श्रीमन्त भोंसले शिवाजी महाराज की जय ! जीजाबाई की जय ! ! गौहरबानू की जय ! ! !

मोना : (थाली गौहर के हाथों से लेकर थाल में सजे हुए फूल श्रीमन्त शिवाजी पर उछालकर) श्री शिवा-भवानी की जय !

सब : श्री शिवा-भवानी की जय ! !

[इस समय श्रीमंत शिवाजी के मुख पर अलौकिक ज्योति-समूह है, जैसे उनके मुख पर शिवा-भवानी का वरदान आलोकित हो उठा है। धीरे-धीरे पर्दा गिरता है।]

कौमुदी महोत्सव

इस नाटक के सम्बन्ध में

भारतीय इतिहास और साहित्य में चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम अमिट अक्षरों में चमकता रहेगा। वह संसार के महान् सम्राटों में है। बौद्ध और ब्राह्मण ग्रंथों में उसके संबंध में जो उल्लेख मिलते हैं उनसे ज्ञात होता कि चन्द्रगुप्त मौर्य असाधारण व्यक्ति था। अपने वैभवशाली शासन-काल में उसने सिकन्दर महान् के सेनापति सेल्यूकस को ईस्वी पूर्व 305 में पराजित किया और उसकी पुत्री से विवाह किया। इस अभूतपूर्व विजय से इस सम्राट् ने अपने देश की वीरता के इतिहास को ग्रीस के इतिहासकारों तक पहुँचा दिया।

इधर वर्षों से चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में एक निन्दनीय बात कही जाती थी कि वह मुरा नाम की शूद्रा का पुत्र था। प्रवाद यहाँ तक था कि चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्रा मुरा से उत्पन्न नन्द ही का पुत्र था। इसी मुरा के नाम से चन्द्रगुप्त के साथ 'मौर्य' का वंश चला। यह बात बिलकुल ही मिथ्या है। इस संबंध में स्वर्गीय डा० लक्ष्मणस्वरूप ने 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नाटक की भूमिका में जो अवतरण दिया है, वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। चन्द्रगुप्त मौर्य वंश का संस्थापक नहीं था। उसने इस वंश को नहीं चलाया, क्योंकि महात्मा बुद्ध के समय में मौर्य वंश के अस्तित्व का उल्लेख पालि साहित्य में पाया जाता है। मौर्य वंश को पालि साहित्य में क्षत्रिय वंश कहा गया है। इससे सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त की कल्पित दासी माता 'मुरा' के नाम से मौर्य वंश का आरंभ नहीं हुआ। यदि मुरा के नाम से आरंभ होता तो 'मौर्य' के स्थान में 'मौरेय' होता। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य वंश का प्रवर्त्तक होता तो महात्मा बुद्ध के समय में मौर्य वंश का अस्तित्व असंभव होता।

चन्द्रगुप्त मौर्य को नीच कुलोत्पन्न प्रसिद्ध करने में 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त का बहुत बड़ा भाग है अथवा यों कहना चाहिए कि विशाखदत्त के शब्दों का यथार्थ न समझकर व्याख्याकारों ने भारी भूल की है और अर्थ का अनर्थ कर दिया है। मुद्राराक्षस नाटक में कई स्थलों पर चाणक्य चन्द्रगुप्त को 'वृषल' शब्द से संबोधित करता है। संस्कृत में 'वृषल' शब्द का अर्थ है 'शूद्र' या 'नीच'। नाटक के एक स्थल में चाणक्य द्वारा भरे दरबार में चन्द्रगुप्त के प्रति 'वृषल' शब्द का प्रयोग किया गया है। साधारणतया किसी व्यक्ति के प्रति 'वृषल' शब्द

का प्रयोग अपमानसूचक तथा कुत्सित अर्थ में होता है। अब विचारणीय बात यह है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य का प्रिय शिष्य था, विशेष रूप से उसके स्नेह का पात्र था। क्या कोई भी आचार्य अपने सबसे प्रिय शिष्य को 'वृषल' कह कर उसका अपमान कर सकता है? यदि एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि चन्द्रगुप्त वास्तव में वृषल अर्थात् शूद्र था और चाणक्य ने यथार्थ शब्द का ही प्रयोग किया तो भी भरे दरबार में चन्द्रगुप्त के 'वृषलत्व' की घोषणा करना न केवल चन्द्रगुप्त का अपमान था वरन् स्वयं चाणक्य का अपमान करना होता। शूद्र के सचिव बनने से चाणक्य जैसे ब्राह्मण तथा महापंडित की महत्ता घट जाती।

यदि यह कहा जाए कि चाणक्य ने ब्राह्मणत्व के अभिमान या अहंकार के भाव से प्रेरित होकर चन्द्रगुप्त का जान-बूझकर भरे दरबार में अपमान किया, तो सहसा सम्राट् और चन्द्रगुप्त जैसा पराक्रमी प्रभु कभी उस अपमान को सहन न करता। शक्ति-संपन्न प्रभुत्व के कारण न केवल वीरशिरोमणि चन्द्रगुप्त के लिए वरन् साधारण से साधारण राजा के लिए भी भरे दरबार में इस प्रकार का अपमान असह्य होता। इसलिए मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त के प्रति प्रयुक्त 'वृषल' शब्द का अर्थ शूद्र नहीं हो सकता। इस शब्द का वास्तविक अर्थ कुछ और ही है।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने सीरिया की राजकुमारी सेल्यूकस की पुत्री से विवाह किया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की महारानी एक यूनानी रमणी थी। यूनानी राज-कुमारी की सेवा-सुश्रूषा करने के लिए यूनानी दासियों तथा परिचारिकाओं का चन्द्रगुप्त के महल में होना कोई आश्चर्य की बात नहीं हो सकती। यूनानी दासियाँ और परिचारिकाएँ यूनानी भाषा ही जानती होंगी और चन्द्रगुप्त को यूनानी भाषा में महाराज कहती होंगी। महाराज के लिए उस समय यूनानी भाषा में प्रचलित शब्द था बेसिलस (Basileos)।

चन्द्रगुप्त के दरबार में एक यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ नामी रहा करता था। इस दूत के अंगरक्षक तथा दूसरे सहकारी अवश्य ही यूनानी रहे होंगे। ये सब चन्द्रगुप्त को यूनानी भाषा में ही महाराज कहते रहे होंगे। इस प्रकार चन्द्र-गुप्त के राजमहल और राजदरबार में यूनानी शब्द 'बेसिलस' अर्थात् 'महाराज' का प्रचुर प्रचार हो गया होगा। 'बेसिलस' का प्राकृत रूप है 'बसल', इसी का संस्कृत रूपान्तर है 'वृषल'। मेरी सम्मति में मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त के प्रति प्रयुक्त 'वृषल' शब्द का वास्तविक अर्थ है 'महाराज'। विशाखदत्त ने इसी अर्थ में 'वृषल' का प्रयोग किया था। लेकिन पीछे से यूनानी शब्द 'बेसिलस' के लोप हो जाने से 'वृषल' का वास्तविक अर्थ अज्ञात हो गया। व्याख्याकारों और टीकाकारों ने 'वृषल' शब्द का यथार्थ अर्थ न समझकर चन्द्रगुप्त को 'शूद्र' बना

दिया और उसके साथ घोर अन्याय किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय था जिसकी वंश-परंपरा महात्मा बुद्ध के समय से चली आती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य अद्भुत वीर और महान् पराक्रमी था। उसके संबंध में इतिहासकारों ने प्रशस्तियाँ लिखी हैं जो उसे संसार के सम्राटों में महान् घोषित करती हैं। स्वर्गीय डा० बेनीप्रसाद लिखते हैं—

चन्द्रगुप्त मौर्य ने कम से कम सारे उत्तर भारत में एक राज्य स्थापित कर दिया था।[1]

डा० ताराचन्द लिखते हैं—

चन्द्रगुप्त युद्धप्रिय और उत्साही शासक था और उसने पश्चिमी प्रान्तों की विजय प्रारम्भ की।[2]

श्री जयशंकर प्रसाद ने चन्द्रगुप्त मौर्य पर विशेष अध्ययन और अन्वेषण कर चन्द्रगुप्त नाटक लिखा है। उस नाटक की भूमिका में भी उन्होंने चन्द्रगुप्त को अत्यन्त पराक्रमशाली लिखा है। निम्नलिखित अवतरणों से चन्द्रगुप्त के वीरत्व और पराक्रम की अनेक सूचनाएँ मिलती हैं—

"ग्रीक ग्रंथकारों के द्वारा हम यह पता पाते हैं कि ई० पूर्व 326 में उसी समय चन्द्रगुप्त शत्रुओं से बदला लेने के उद्योग में अनेक प्रकार का कष्ट मार्ग में झेलते-झेलते भारत की अर्गला तक्षशिला नगरी में पहुँचा था। तक्षशिला के राजा ने भी महाराज पुरु से अपना बदला लेने के लिए सिकन्दर के लिए भारत का द्वार मुक्त कर दिया था। उन्हीं ग्रीक ग्रंथकारों के द्वारा यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने एक सप्ताह भी अपने को परमुखापेक्षी नहीं बनाए रखा और वह क्रुद्ध होकर वहाँ से चला आया।[3]

यह अनिश्चित है कि सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने को उत्तेजित करने के लिए ही चन्द्रगुप्त उसके पास गया था अथवा ग्रीक युद्ध की शिक्षा-पद्धति सीखने के लिए वहाँ गया था। उसने सिकन्दर से तक्षशिला में अवश्य भेंट की, यद्यपि उसका कोई कार्य वहाँ नहीं हुआ पर उसे ग्रीक वाहिनी रणचर्या अवश्य ज्ञात हुई जिससे कि उसने पर्वतीय सेना से मगध राज्य का ध्वंस किया।[4]

क्रमशः वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती के प्रदेशों को विजय करता हुआ सिकन्दर विपासा तट तक आया और मगध राज्य का प्रचंड प्रताप सुनकर उसने दिग्विजय की इच्छा को त्याग दिया और 325 ई० पूर्व में फिलिप नामक पुरुष को क्षत्रप बनाकर आप काबुल की ओर गया। दो वर्ष के बीच में चन्द्रगुप्त भी

1. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता (1931), डा० बेनीप्रसाद, पृष्ठ 298
2. हिन्दुस्तान का इतिहास (1934), डा० ताराचन्द, पृष्ठ 64
3. चन्द्रगुप्त (श्री जयशंकर प्रसाद) सं० 2002, प्रस्तावना, पृष्ठ 23
4. वही, पृष्ठ 24

उसी प्रांत में घूमता रहा और जब वह सिकन्दर का विरोधी बन गया तो उसी ने पार्वत्य जातियों को सिकन्दर से लड़ने के लिए उत्तेजित किया जिसके कारण सिकन्दर को इरावती से पाटल तक पहुँचने में दस मास का समय लग गया और इस बीच में नये आक्रमणकारियों से सिकन्दर की बहुत क्षति हुई।[1]

सिकन्दर के भारतवर्ष में रहने ही के समय में चन्द्रगुप्त द्वारा प्रचारित सिकन्दर-द्रोह पूर्ण रूप से फैल गया और इसी प्रकार कुछ पार्वत्य राजा चन्द्रगुप्त के विशेष अनुगत हो गए थे। उनको रणचतुर बनाकर चन्द्रगुप्त ने एक अच्छी शिक्षित सेना प्रस्तुत कर ली थी जिसकी परीक्षा प्रथमतः ग्रीक सैनिकों ने ली। इसी गड़बड़ में फिलिप मारा गया और उस प्रदेश के लोग पूर्ण रूप से स्वतंत्र बन गए। चन्द्रगुप्त को पर्वतीय सैनिकों से बड़ी सहायता मिली और वे उसके मित्र बन गए। विदेशी शत्रुओं के साथ भारतवासियों का युद्ध देखकर चन्द्रगुप्त एक रणचतुर नेता बन गया। धीरे-धीरे उसने सीमावासी लोगों को एक में मिला लिया। चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर विजय के हिस्सेदार हुए और सम्मिलित शक्ति से मगध राज करने के लिए चल पड़े।[2]

अपमानित चन्द्रगुप्त बदला लेने के लिए खड़ा था, मगध राज्य की दशा बड़ी शोचनीय थी। नन्द आन्तरिक विग्रह के कारण जर्जरित हो गया था। चाणक्य-चालित म्लेच्छ सेना कुसुमपुर को चारों ओर घेरे खड़ी थी। चन्द्रगुप्त अपनी शिक्षित सेना को बराबर उत्साहित करता हुआ सुचतुर रण-सेनापति का कार्य करने लगा।

पन्द्रह दिन तक कुसुमपुर को बराबर घेरे रहने के कारण और बार-बार खंड युद्ध में विजयी होने के कारण चन्द्रगुप्त एक प्रकार से मगध-विजयी हो गया।[3]

केवल नन्द को ही पराजित करने से चन्द्रगुप्त को एक बड़ा विस्तृत राज्य मिला जो कि असम से लेकर भारत के मध्यप्रदेश तक व्याप्त था।[4]

इस समय चन्द्रगुप्त का शासन भारतवर्ष में प्रधान था और छोटे-छोटे राज्य यद्यपि स्वतंत्र थे, पर वे भी चन्द्रगुप्त के शासन से सदा भयभीत होकर मित्र-भाव का बर्ताव रखते थे। उसका राज्य पांडुचेरी और कानानूर से हिमालय की तराई तक तथा सतलज से असम तक था।[5]

उपर्युक्त अवतरणों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त सद्वंश-क्षत्रिय था और उसने जीवन-भर युद्ध ही में अपने जीवन की चरम सफलता देखने का प्रयत्न

1. चन्द्रगुप्त (श्री जयशंकर प्रसाद) सं० 2002, प्रस्तावना, पृष्ठ 24
2. वही, पृष्ठ 26
3. वही, पृष्ठ 28
4. वही, पृष्ठ 32
5. वही, पृष्ठ 33

किया। उसने ग्रीक सैन्य-संचालन और संगठन की ऐसी अपूर्व शिक्षा प्राप्त की थी कि वह अपने समय का बड़ा तेजस्वी, वीर और रणकुशल नेता बन गया था। उसका आतंक सर्वव्यापी था और प्रतापी शत्रुओं को अशान्त कर देने वाला था।

आचार्य चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के आचार्य और गुरु थे। उनके ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' से उनके पांडित्य और अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। वास्तव में चन्द्रगुप्त की उन्नति के मूल में चाणक्य की ही कूटनीति और अन्तर्दृष्टि थी। नन्द का विनाश करने में चाणक्य का ही हाथ था। अपने अर्थशास्त्र में स्वयं चाणक्य लिखते हैं—

येन शस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराज गता च भूः,
अमर्षेणोद् घृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतं।

इतिहास से स्पष्ट है कि वे प्रखर प्रतिभावान एवं कूट राजनीतिज्ञ थे। हमारे भारतीय साहित्य में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के इतिहास के इतिवृत्त पर कुछ नाटक लिखे गए हैं। इन सभी नाटकों में मैंने यह अनुभव किया है चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं किया गया। यद्यपि यह नाटक विविध दृष्टिकोणों से लिखे गए हैं तथापि किसी दृष्टिकोण में भी चन्द्रगुप्त, जो अत्यन्त पराक्रमी, वीर और शक्ति में अप्रतिम था, अपने व्यक्तित्व में उभर नहीं सका। पहले तो उसे शूद्र मानकर हमारी दृष्टि में उसे राजोचित मर्यादा से हीन चित्रित किया गया, फिर आचार्य चाणक्य के व्यक्तित्व का बोझ उस पर सभी कालों में जिरह-बख्तर की भाँति लदा रहा। जिरह-बख्तर से उसकी रक्षा अवश्य हुई किंतु उस पर इतना बोझ पड़ा रहा कि स्वाभाविकता के साथ वह अंग-संचालन भी नहीं कर सका। चन्द्रगुप्त ने अपने आचार्य की नीति से सदैव ही विजय प्राप्त की, चन्द्रगुप्त ने उन्हें सदैव ही आचार्य के नाते मस्तक झुकाया, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि चन्द्रगुप्त इतना गया-बीता नरेश था कि उसे अपनी राजोचित मर्यादा और आत्मसम्मान का भी ज्ञान नहीं था। जिसने सिकन्दर के सम्पर्क में आकर शासक और विजेता के आदर्शों को समझा और असभ्य पर्वतीय सेनाओं का संगठन किया; भयानक रणों में सम्मुख रहकर असीम साहस और धैर्य से उनका नेतृत्व किया; जीवन और मृत्यु की विभाजक सूक्ष्म रेखाओं पर विद्युत् गति से चला और तलवार की धार जो जीवन-सूत्र के टुकड़े करने के लिए सदैव झूलती रही, उसे सदैव चुनौती देता रहा; वह चन्द्रगुप्त चाणक्य के सामने इतना दब्बू और आतंकित बना रहा कि अपनी राजनीतिक-सामाजिक मर्यादा की हानि देखकर वह उसका प्रतिकार भी नहीं कर सका और अपने आत्म-सम्मान के सम्बन्ध में अपने अखंड वीरत्व की एक चिनगारी प्रकट नहीं कर सका। निस्संदेह यह चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के प्रति भारी अन्याय हुआ है। इस सम्बन्ध में हम तीन नाटक प्रतिनिधि रूप से लेते हैं।

पहला नाटक श्री विशाखदत्त रचित 'मुद्राराक्षस' है जो संस्कृत में लिखा गया और जिसकी रचना पाँचवीं शताब्दी के आसपास की है। दूसरा नाटक स्वर्गीय श्री द्विजेन्द्रलाल राय रचित 'चन्द्रगुप्त' है जिसकी रचना सन् 1909 में बंगला भाषा में हुई और तीसरा नाटक स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद रचित 'चन्द्रगुप्त' है जिसकी रचना हिन्दी में सन् 1931 में हुई। संस्कृत, बंगला और हिन्दी के इन तीनों प्रतिनिधि नाटकों में चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के प्रति अन्याय किया गया है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले इतिवृत्त में (जिस पर उपर्युक्त तीनों नाटकों की रचना हुई है) केवल एक ही प्रसंग ऐसा है जिसमें चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के उभरने का अवसर आता है। वह प्रसंग है 'कौमुदी महोत्सव' का। कुसुमपुर की विजय के उपरान्त सम्राट् चन्द्रगुप्त शरदकाल की पूर्णिमा के अवसर से लाभ उठाकर अपनी विजय को मंगलमयी और आनन्द-दायिनी बनाने के लिए 'कौमुदी महोत्सव' की घोषणा करता है और चाणक्य उसका निषेध कर देता है। चन्द्रगुप्त की यह कुसुमपुर में प्रथम राज-घोषणा है और उसके निषेध से चन्द्रगुप्त का क्षुब्ध होना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त नाटकों में 'कौमुदी महोत्सव' प्रसंग पर कम या अधिक चर्चा की गई है, चन्द्रगुप्त ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी करना चाहा है, किंतु वह न तो संघर्ष ही कर सका है और न अपने मनोविज्ञान में स्वाभाविकता ही ला सका है। जैसे चार-पाँच चींटियाँ किसी मरे हुए चींटे को घसीटकर दीवाल के ऊपर ले जाती हैं, उसी तरह कथोपकथन के कुछ वाक्य चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व को घसीटकर संघर्ष की चोटी पर लाना चाहते हैं। चन्द्रगुप्त जो कुछ भी कहना चाहता है वह 'बन्दर-घुड़की' सा ज्ञात होता है, और चाणक्य के थोड़े से रोष दिखलाने से सीधे रास्ते पर आ जाता है। इन नाटकों में चन्द्रगुप्त जैसे वीर सम्राट् की वही दशा ज्ञात होती है जो कुछ समय पहले हमारे देशी नरेशों की थी जो पॉलिटिकल एजेण्ट के थोड़े से ही कड़े रुख से पानी-पानी हो जाते थे। उनमें न संघर्ष लेने की शक्ति थी और न अपने विचारों को स्पष्ट करने की क्षमता। कठपुतली की तरह वे नाचते थे और रस्सी खींचने से वे ऊपर चढ़ते थे और रस्सी ढीली करने से वे नीचे खिसक आते थे। चाणक्य के हाथों भी चन्द्रगुप्त की ऐसी ही दुर्दशा हुई है। उदाहरण के लिए मैं तीनों नाटकों के कौमुदी महोत्सव सम्बन्धी प्रसंग आपके सामने रखता हूँ। आप देखें कि चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के प्रति कहाँ तक न्याय किया गया है। सबसे पहले विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक लीजिए। यह प्रसंग तीसरे अंक में वर्णित है। यह हिन्दी अनुवाद भारतेन्दु कृत है।

तृतीय अंक

स्थान—राजभवन की अटारी

[**कंचुकी आता है**]

कंचुकी : है रूप आदिक विषय जो राखे हिये बहु लोभ सों।
सो मिटे इंद्रीगन सहित ह्वै सिथिल अति ही छोभ सों।।
मानत कहो कोउ नाहिं, सब अंग अंग ढीले ह्वै गये।
तौहुँ त तृष्णे ! क्यों तजति तू मोहिं बूढ़ोहू भये ? ।।

(**आकाश की ओर देखकर**) अरे ! अरे ! सुगांगप्रासाद के लोगो सुनो ! महाराज चन्द्रगुप्त ने तुम लोगों को यह आज्ञा दी है कि 'कौमुदी महोत्सव' के होने से परम शोभित कुसुमपुर को मैं देखना चाहता हूँ ! इससे उस अटारी को बिछौने इत्यादि से सजा रखो ! देर क्यों करते हो ? (**आकाश की ओर देखकर**) क्या कहा कि क्या महाराज चन्द्रगुप्त नहीं जानते कि कौमुदी महोत्सव अबकी न होगा ?

दुर दईमारो ! क्या मरने को लगे हो ? शीघ्रता करो !

बहु फूल की माल लपेटि कै खंभन धूम-सुगंध सों ताहि धुपाइए !
तापै चहूँ दिसि चंद छपा से सुसोभित चौंर घने लटकाइए।।
भार सों चारु सिंहासन के मुरछा में धरा परी धेनु सी पाइए।
छींटिकै तापैं गुलाब मिल्यौ जल चंदन ता कहँ जाइ जगाइए।।

(**आकाश की ओर देखकर**) क्या कहते हो कि 'हम लोग अपने काम में लग रहे हैं !' अच्छा-अच्छा ? झटपट सब सिद्ध करो, देखो ! वह महाराज चन्द्रगुप्त आ पहुँचे !

बहु दिन श्रम करि नंद नृप बह्यो राज-धुर जौन।
बालेपन ही में लियो चंद सीस नित तौन।।
डिगत न नेकहु विषम पथ, दृढ़ प्रतिज्ञ, दृढ़गात।
गिरन चहत, सँभरत बहुरि, नेकु न जिय घबरात।।

(**नेपथ्य में**) इधर महाराज ! इधर !

[राजा और प्रहरी आते हैं]

राजा : (**आप ही आप**) राजा उसी का नाम है जिसकी अपनी आज्ञा चले ! दूसरे के भरोसे राज करना भी एक बोझा ढोना है, क्योंकि—

जो दूजे को हित करे तो खोवै निज काज।
जो खोयो निज काज तो कौन बात को राज ? ।।
दूजे ही को हित करै तौ वह परबस मूढ़।
कठपुतरी सो स्वाद कछु पावै कबहूँ न कूढ़।।

और राज्य पाकर भी इस दुष्ट राजलक्ष्मी को सँभालना बहुत कठिन है, क्योंकि

कूर दसा भाखति पियहि, चंचल सहज सुभाव।
नर-गुन औगुन नहिं लखति सज्जन खल सम भाव ॥
डरति सूर सों, भीरु कहँ गनति न कछु रतिहीन।
बारि नारि अरु लच्छमी कहौ कौन बस कीन ? ॥

यद्यपि गुरु ने कहा है कि 'तू झूठी कलह करके कुछ समय तक स्वतंत्र होकर अपना प्रबंध आप कर ले' पर यह तो बड़ा पाप-सा है। अथवा गुरु जी के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतंत्र हैं !

जब लौं बिगारै काज नहिं तब लौं न गुरु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस ह्वै रहै ॥
तासों सदा गुरु वाक्य-बस हम नित्य पर-आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से संगत जन ही जगत में स्वाधीन हैं ॥

(**प्रकाश**) अजी वैहीनर ! सुगांगप्रासाद का मार्ग दिखाओ।

कंचुकी : इधर आइए, महाराज, इधर।

राजा : (**आगे बढ़ता है**)

कंचुकी : महाराज ! सुगांगप्रासाद की यही सीढ़ी है।

राजा : (**ऊपर चढ़कर दिशाओं को देखकर**) अहा ! शरद ऋतु की शोभा से सब दिशाएँ कैसी सुन्दर हो रही हैं !

सरद विमल ऋतु सोहई निरमल नील अकास।
रिसानाथ पूरन उदित सोलह कला प्रकास ॥
चारु चमेली बन रहीं महमह महकि सुबास।
नदी-तीर फूले लखौ सेत सेत बहु कास ॥
कमल कुमोदिनी सरन में फूले सोभा देत।
भौंर वृन्द जापै लखौ गूँजि गूँजि रस लेत ॥
बसन चाँदनी, चद मुख उडुगन मोती माल।
कास फूल मधु हास, यह सरद किधौं नव बाल ॥

(**चारों ओर देखकर**) कंचुकी ! यह क्या ? नगर में चंद्रिकोत्सव कहीं नहीं मालूम पड़ता ? क्या तूने सब लोगों से ताकीद करके नहीं कहा था कि उत्सव हो।

कंचुकी : महाराज, सबसे ताकीद कर दी थी।

राजा : तो फिर क्यों नहीं हुआ ? क्या लोगों ने हमारी आज्ञा नहीं मानी ?

कंचुकी : (**कान पर हाथ रखकर**) राम राम ! भला नगर क्या, इस पृथ्वी में ऐसा कौन है जो आपकी आज्ञा न माने ?

राजा : तो फिर चन्द्रिकोत्सव क्यों नहीं हुआ ? देख न।

गज रथ बाजि सजे नहीं, बँधी न बन्दनवार।
तने वितान न कहुँ नगर, रंजित कहूँ न द्वार॥
नर नारी डोलत न कहुँ फूलमाल गर डार।
नृत्य-वाद धुनि गीत नहिं सुनियत श्रवन मँझार॥

कंचुकी : महाराज ! ठीक है, ऐसा है !

राजा : क्यों ऐसा ही है ?

कंचुकी : महाराज, यों ही है !

राजा : स्पष्ट क्यों नहीं कहता ?

कंचुकी : महाराज, चन्द्रिकोत्सव बन्द किया गया है।

राजा : (**क्रोध से**) किसने बन्द किया है ?

कंचुकी : (**हाथ जोड़कर**) महाराज ! यह मैं नहीं कह सकता।

राजा : कहीं आर्य चाणक्य ने तो नहीं बन्द किया ?

कंचुकी : महाराज ! और किसको अपने प्राणों से शत्रुता करनी थी ?

राजा : (**अत्यन्त क्रोध से**) अच्छा, अब हम बैठेंगे।

कंचुकी : महाराज ! यह सिंहासन है, बिराजिए।

राजा : (**बैठकर क्रोध से**) अच्छा कंचुकी ! आर्य चाणक्य से कह कि "महाराज आपको देखना चाहते हैं !"

कंचुकी : जो आज्ञा (**बाहर जाता है।**)

[एक ओर से परदा उठता है—और चाणक्य बैठा हुआ दिखाई पड़ता है।]

चाणक्य : (**आप ही आप**) दुष्ट राक्षस हमारी बराबरी करता है। वह जानता है कि—

जिमि हम नृप अपमान सों महा क्रोध उर धारि।
करी प्रतिज्ञा नंद-नृप-नासन की निरधारि॥
सो नृप नंदहि पुत्र सह नासि करी हम पूर्ण।
चन्द्रगुप्त राजा कियौ करि राक्षस-मद चूर्ण॥
तिमि सोऊ मोहि नीति बल छलन चहत हति चंद।
पै मो आछत यह जतन वृथा तासु अति मंद॥

(**ऊपर देखकर क्रोध से**) अरे राक्षस ! छोड़, छोड़ यह व्यर्थ का श्रम; देख—

जिमि नृप नंदहि मारि कै वृषलहि दीनों राज।
आइ नगर चाणक्य किय दुष्ट सर्प सो काज॥

तिमि सोऊ नृप चंद को चाहत करन बिगार !
निज लघु मति लाँघ्यौ चहत मो बल बुद्धि पहार ।।

(**आकाश की ओर देखकर**) अरे राक्षस ! मेरा पीछा छोड़ क्योंकि—

राजकाज मन्त्री चतुर करत बिना अभिमान ।
जैसो तुव नृप नंद हो चन्द्र न तौन समान ।।
तुम कछु नहिं चाणक्य, जो साजौ कठिनहु काज ।
तासों हम सों बैर करि नहिं सरिहै तुव राज ।।

अथवा इसमें तो मुझे कुछ सोचना ही न चाहिए । क्योंकि—

मम भागुरायन आदि भृत्यन मलय राख्यौ घेरिकै ।
तिमि गये सिद्धारथक ऐहैं तेउ काज निबेरिकै ।।
अब खलहु करि छल-कलह नृपसों भेद बुद्धि उपाइकै ।
पर्वत जनन सों हम बिगारत राक्षसहिं उलटाइकै ।।

कंचुकी : (**प्रवेश कर**) हा ! सेवा बड़ी कठिन होती है ।

नृप सों, सचिव सों, सब मुसाहेब गनन सों डरते रहौ ।
पुनि विटहु जे अति पास के तिनको कह्यो करते रहौ ।।
मुख लखत बीतत दिवस निसि, भय रहत संकित प्रान है ।
निज उदर-पूरन हेतु सेवा वृत्ति श्वान समान है ।।

[चारों ओर घूमकर, देखकर]

अहा ! यही आर्य चाणक्य का घर है ! तो चलूँ (**कुछ आगे बढ़कर और देखकर**)

अहा हा ! यह राजाधिराज श्री मंत्री जी के घर की संपत्ति है ।

कहुँ परे गोमय शुष्क, कहुँ सिल परी शोभा दै रही ।
कहुँ तिल, कहुँ जव-रासि लागीं बटुन जो भिच्छा लही ।
कहुँ कुस परे, कहुँ समिधि सूखत भार सों ताके नयो ।
यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैसो झुकि गयो ।।

महाराज चन्द्रगुप्त को बड़े भाग्य से ऐसा मंत्री मिला है—

बिना गुनहुँ के नृपन कौ धन हित गुरुजन धाइ ।
सूखो मुख करि झूठहीं बहु गुन कहहिं बनाइ ।।
पै जिनको तृष्णा नहीं ते नर लबार समान ।
तिनसों तृन सम धनिक जन पावत कबहुँ न मान ।।

(**देखकर डर से**) अरे आर्य चाणक्य यहाँ बैठे हैं, जिन्होंने—

लोक धरषि चंद्रहि कियो राजा, नंद गिराइ ।
होय प्रात रवि के कढ़त जिमि ससि-तेज नसाइ ।।
(**प्रगट दंडवत करके**) जय हो ! आर्य जय हो ! !

चाणक्य : (**देखकर**) कौन है ? वैहीनर ! क्यों आया है ?

कंचुकी : आर्य ! अनेक राजागणों के मुकुट-माणिक्य से सर्वदा जिनके पदतल लाल रहते हैं उन महाराज चंद्रगुप्त ने आपके चरणों में दंडवत करके निवेदन किया है कि यदि आपके किसी कार्य में विघ्न न पड़े तो मैं आपका दर्शन किया चाहता हूँ !

चाणक्य : वैहीनर ! क्या वृषल मुझे देखना चाहता है ? क्या मैंने कौमुदी महोत्सव का प्रतिषेध कर दिया है, यह वृषल नहीं जानता ?

कंचुकी : आर्य, क्यों नहीं ?

चाणक्य : (**क्रोध से**) हैं ! किसने कहा बोल तो ।

कंचुकी : (**भय से**) महाराज प्रसन्न हों ! जब सुगांगप्रासाद की अटारी पर गए थे तब देखकर महाराज ने आप ही जान लिया कि कौमुदी महोत्सव अबकी नहीं हुआ ।

चाणक्य : अरे ठहर, मैंने जाना, यह तुम्हीं लोगों ने वृषल का जी मेरी ओर से फेरकर उसे चिढ़ा दिया । और क्या ?

कंचुकी : (**भय से सिर नीचा करके चुप रह जाता है।**)

चाणक्य : अरे राज के कारबारियों का चाणक्य के ऊपर बड़ा ही विद्वेष-पक्षपात है । अच्छा, वृषल कहाँ है, बता !

कंचुकी : (**डरता हुआ**) आर्य सुगांगप्रासाद की अटारी पर से महाराज ने मुझे आपके चरणों में भेजा है ।

चाणक्य : (**उठकर**) कंचुकी ? सुगांगप्रासाद का मार्ग बता ।

कंचुकी : इधर महाराज ! (**दोनों घूमते हैं।**)

कंचुकी : महाराज ! यह सुगांगप्रासाद की सीढ़ियाँ हैं । धीरे-धीरे चढ़ें ।

[दोनों सुगांगप्रासाद पर चढ़ते हैं । चाणक्य के घर का परदा गिरता है, घर छिप जाता है ।]

चाणक्य : (**चढ़कर और चन्द्रगुप्त को देखकर प्रसन्नता से**) अहा ! वृषल सिंहासन पर बैठा है !

हीन नंद सों रहित नृप चंद्र करत जेहि भोग ।
परम होत संतोष लखि आसन राजा जोग ।।

(**पास जाकर**) जय हो वृषल की !

चन्द्रगुप्त : (**उठकर और पैरों पर गिरकर**) आर्य ! चन्द्रगुप्त दंडवत करता है ।

चाणक्य : (**हाथ पकड़कर उठाकर**) उठो बेटा ! उठो !

जहँ लौ हिमालय के सिखर सुरधुनी-कन सीतल रहैं ।
जहँ लौं विविध मणि खंड-मंडित समुद्र दच्छिन दिसि बहैं ।।

तहँ लौं सबै नृप आइ भय सो तोहि सीस झुकावहीं।
तिनके मुकुट-मणि-रँगे तुव पद निरखि हम सुख पावहीं ।।

चन्द्रगुप्त : आर्य ! आपकी कृपा से ऐसा ही हो रहा है। बैठिए।

[दोनों यथास्थान बैठते हैं।]

चाणक्य : वृषल ! कहो, मुझे क्यों बुलाया है ?

चन्द्रगुप्त : आर्य के दर्शन से कृतार्थ होने को !

चाणक्य : (**हँसकर**) भैया, बहुत शिष्टाचार हुआ ! अब बताओ, क्यों बुलाया है, क्योंकि राजा लोग किसी कर्मचारी को बेकाम नहीं बुलाते।

चन्द्रगुप्त : आर्य, आपने कौमुदी महोत्सव के न होने में क्या फल सोचा है ?

चाणक्य : (**हँसकर**) तो यही उलहना देने को बुलाया है न ?

चन्द्रगुप्त : उलहना देने को कभी नहीं।

चाणक्य : तो क्यों ?

चन्द्रगुप्त : पूछने को।

चाणक्य : जब पूछना ही है तब तुमको इससे क्या ? शिष्य को सर्वदा गुरु की रुचि पर चलना चाहिए।

चन्द्रगुप्त : इसमें कोई संदेह नहीं, पर आपकी रुचि बिना प्रयोजन नहीं प्रवृत्त होती इससे पूछा।

चाणक्य : ठीक है, तुमने मेरा आशय जान लिया। बिना प्रयोजन के चाणक्य की रुचि किसी ओर कभी फिरती ही नहीं।

चन्द्रगुप्त : इसी से तो सुने बिना मेरा जी अकुलाता है।

चाणक्य : सुनो, अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार के राज्य लिखे हैं—एक राजा के भरोसे, दूसरा मंत्री के भरोसे, तीसरा राजा और मंत्री दोनों के भरोसे। सो तुम्हारा राज्य तो केवल सचिव के भरोसे है, फिर इन बातों के पूछने से क्या ? व्यर्थ मुँह दुखाना है। यह सब हम लोगों के भरोसे है, हम लोग जानें।

[राजा क्रोध से मुँह फेर लेता है। नेपथ्य में दो वैतालिक गाते हैं।]

प्रथम वैतालिक :

अहो, यह सरद संभु ह्वै आई !
काँस-फूल फूले चहुँ दिसि तें सोई मनु भस्म लगाई।
चंद उदित सोइ सीस अभूषन सोभा लगति सुहाई ।।
तासों रंजित घन-पटली सोइ मनु गज-खाल बनाई।
फूले कुसुम मुंडमाला सोइ सोहत अति धवलाई ।।
राज हंस सोभा सोइ मानो हास-विभव दरसाई।
अहो, यह सरद संभु बनि आई !

और भी :

हरौ हरि नैन तुम्हारी बाधा ?
सरद-अंत लखि सेस अंक तैं जगे जगत सुभ साधा ।।
कछु कछु खुले, मुँदे कछु सोभित आलसभरि अनियारे ।
अरुन कमल से मद के माते थिर भे जदपि ढरारे ।।
सेस-सीस-मनि-चमक चकौंधन तनकहुँ नहिं सकुचाहीं ।
नींद-भरे श्रम जगे चुभत जे नित कमल-उर माहीं ।।

दूसरा वैतालिक : (कड़खे की चाल में)

अहो, जिनकौं बिधि सब जीव सों बढ़ि दीनों जग काज ।
अरे, दान-सलिल-वारे सदा जे जीतहिं गजराज ।।
अहो, झुक्यो न जिनको मान नृपवर जग सिरताज ।
अरे, सहहिं न आज्ञा-भंग जिमि दंतपात मृगराज ।।
अरे, केवल बहु गहना पहिरि राजा होय न कोय ।
अहो, जाकी नहीं अज्ञा टरे सो नृप तुम सम होय ।।

चाणक्य : (सुनकर आप ही आप) भला पहले ने तो देवता-रूप शरद के वर्णन में आशीर्वाद दिया, पर इस दूसरे ने क्या कहा ? **(कुछ सोचकर)** अरे जाना, यह सब राक्षस की करतूत है। अरे दुष्ट राक्षस ! क्या तू नहीं जानता कि अभी चाणक्य सो नहीं गया है ।

चन्द्रगुप्त : अजी वैहीनर ! इन दोनों गाने वालों को लाख-लाख मोहर दिलवा दो !

वैहीनर : जो आज्ञा, महाराज। **(उठकर जाना चाहता है।)**

चाणक्य : (क्रोध से) वैहीनर ठहर, अभी मत जा । वृषल ! कुपात्र को इतना क्यों देते हो ?

चन्द्रगुप्त : आप मुझे सब बातों में योंही रोक दिया करते हैं, तब यह मेरा राज क्या है, उलटा बन्धन है।

चाणक्य : वृषल ! जो राजा आप असमर्थ होते हैं, उनमें इतना ही तो दोष है। इससे जो ऐसी इच्छा हो तो तुम अपने राज का प्रबन्ध आप कर लो।

चन्द्रगुप्त : बहुत अच्छा; आज से मैंने सब काम सँभाला ।

चाणक्य : इससे अच्छी और क्या बात है? तो मैं भी अपने अधिकार पर सावधान हूँ।

चन्द्रगुप्त : जब यही है तब पहले मैं पूछता हूँ कि—कौमुदी महोत्सव का निषेध क्यों किया गया ?

चाणक्य : वृषल ! मैं भी यही पूछता हूँ कि उसके होने का प्रयोजन क्या था ?

चन्द्रगुप्त : पहले तो मेरी आज्ञा का पालन ।

चाणक्य : पहला प्रयोजन यह है कि मैंने आपकी आज्ञा के अपालन के हेतु ही कौमुदी महोत्सव का प्रतिषेध किया। क्योंकि—

आइ चारहूँ सिंधु से छोरहु के भूपाल।
जो सासत सिर पैं धरैं जिमि फूलन की माल॥
तेहि हम जो कछु टारहीं सोउ तुव हित उपदेश।
जासों तुमरों विनय गुन जग में बढ़ै नरेश ! ॥

चन्द्रगुप्त : और जो दूसरा प्रयोजन है, वह भी सुनूँ।

चाणक्य : वह भी कहता हूँ।

चन्द्रगुप्त : कहिए।

चाणक्य : शोणोत्तरे ! अचलदत्त कायस्थ से कहो कि तुम्हारे पास जो भद्रभट इत्यादि का लेख-पत्र है, वह माँगा है।

प्रतिहार : जो आज्ञा (**बाहर से पत्र लाकर देता है।**)

चाणक्य : वृषल ! सुनो।

चन्द्रगुप्त : मैं उधर ही कान लगाए हूँ।

चाणक्य : (**पढ़ता है**) स्वस्ति परम प्रसिद्ध नाम महाराज श्री चन्द्रगुप्त देव के साथी जो अब उनको छोड़कर कुमार मलयकेतु के आश्रित हुए उनका यह प्रमाण-पत्र है। पहला गजाध्यक्ष भद्रभट, अश्वाध्यक्ष पुरुषदत्त, महाप्रतिहार चन्द्रभानु का भांजा हिंगुराज, महाराज के नातेदार महाराज बालगुप्त, महाराज के लड़कपन का सेवक राजसेन, सेनापति सिंह बलदत्त का छोटा भाई भागुरायण, मालव के राजा का पुत्र रोहिताक्ष और क्षत्रियों में सबसे प्रधान विजयवर्मा (**आप ही आप**) ये सब लोग महाराज का काम सावधानी से साधते हैं (**प्रकाश**) यही इस पत्र में लिखा है। सुना ?

चन्द्रगुप्त : आर्य ! मैं इन सबों के उदास होने का कारण सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य : वृषल ! सुनो, वे जो गजाध्यक्ष और अश्वाध्यक्ष थे वे रात-दिन मद्य, स्त्री और जुए में डूबकर अपने काम में निरे बेसुध रहते थे, इससे मैंने उनसे अधिकार लेकर केवल निर्वाह के योग्य उनकी जीविका कर दी थी। इससे उदास होकर वे कुमार मलयकेतु के पास चले गए और वहाँ अपना कार्य सुनाकर फिर उन्हीं पदों पर नियुक्त हुए हैं। हिंगुराज और बालगुप्त ऐसे लालची हैं कि कितना भी दिया परन्तु मारे लालच के कुमार मलयकेतु के पास इस लोभ से जा रहे कि वहाँ बहुत मिलेगा। राजसेन, जो आपका लड़कपन का सेवक था उसने आपकी थोड़ी ही कृपा से हाथी, घोड़ा, घर और धन सब पाया। इस पर भय से भाग कर मलयकेतु के पास चला गया कि यह सब छिन न जाए। वह जो सिंहबलदत्त सेनापति का छोटा भाई, भागुरायण है उसे पर्वतक से बड़ी प्रीत थी सो उसने कुमार मलयकेतु से

यह कहा कि "जैसे विश्वासघात करके चाणक्य ने तुम्हारे पिता को मार डाला वैसे ही तुम्हें भी मार डालेगा, इससे यहाँ से भाग चलो।" ऐसे ही बहकाकर उसने कुमार मलयकेतु को भगा दिया और जब आपके बैरी चंदनदासादिक को दंड हुआ तब मारे डर के मलयकेतु के पास जा रहा। उसने भी यह समझकर कि इसने मेरे प्राण बचाए हैं और मेरे पिता का परिचित भी है उसको कृतज्ञता से अपना अंतरंग मंत्री बनाया है। वे जो रोहिताक्ष और विजयवर्मा थे वे ऐसे अभिमानी थे, जब आप उनके नातेदार का आदर करते तब वे कुढ़ते थे, इसी से वे भी मलयकेतु के पास चले गए। बस यही उन लोगों की उदासी का कारण है।

चन्द्रगुप्त : आर्य जब इन सबके भागने का उद्यम जानते ही थे तो क्यों न रोक रखा ?

चाणक्य : ऐसा कर नहीं सके।

चन्द्रगुप्त : क्या असमर्थ हो गए या उसमें भी कुछ प्रयोजन था ?

चाणक्य : असमर्थ कैसे हो सकते हैं ? उसमें भी कुछ प्रयोजन ही था।

चन्द्रगुप्त : आर्य ! वह प्रयोजन मैं सुना चाहता हूँ।

चाणक्य : सुनो और भूल मत जाओ।

चन्द्रगुप्त : आर्य ! मैं सुनता हई हूँ, भूलूँगा भी नहीं। कहिए।

चाणक्य : अब जो लोग उदास हो गए हैं या बिगड़ गए हैं उनके दो ही उपाय हैं—या तो फिर से उन पर अनुग्रह करें या उनको दंड दें। भद्रपद और पुरुषदत्त से जो अधिकार ले लिया गया है तो अब उन पर अनुग्रह यही है कि फिर उनको उनका अधिकार दिया जाए। पर यह हो नहीं सकता क्योंकि उनको मृगया, मद्यपानादिक का जो व्यसन है उससे वे इस योग्य नहीं हैं कि हाथी-घोड़ों को सँभालें और सब सेना की जड़ हाथी-घोड़े ही हैं। वैसे ही हिंगुराज और बालगुप्त को कौन प्रसन्न कर सकता है ? क्योंकि उनको सब राज्य पाने से भी संतोष न होगा। राजसेन और भागुरायण तो धन और प्राण के डर से भागे हैं, वे तो प्रसन्न हो ही नहीं सकते। रोहिताक्ष तथा विजयवर्मा का तो कुछ पूछना ही नहीं है, क्योंकि वे तो और नातेदारों के मान से जलते हैं। उनका कितना भी मान करो, उन्हें थोड़ा ही दिखलाता है। तो इसका क्या उपाय है ? यह तो अनुग्रह का वर्णन हुआ। अब दंड का सुनिए। यदि हम प्रधान पद पाकर इन सबों को, जो बहुत दिनों से नंदकुल के सर्वदा शुभाकांक्षी और साथी रहे, दंड देकर दुखी करें तो नंदकुल के साथियों का हम पर से विश्वास उठ जाए। इससे हमने इन्हें छोड़ ही देना योग्य समझा। सो इन्हीं सब हमारे भृत्यों को पक्षपाती बनाकर राक्षस के उपदेश से म्लेच्छराज की बड़ी सहायता पाकर और अपने पिता

के वध से क्रोधित होकर पर्वतक का पुत्र कुमार मलयकेतु हम लोगों से लड़ने को उद्यत हो रहा है। सो यह लड़ाई के उद्योग का समय है, उत्सव का समय नहीं। इससे गढ़ के संस्कार के समय कौमुदी महोत्सव क्या होगा? यही सोचकर उसका प्रतिषेध कर दिया।

चन्द्रगुप्त : आर्य ! मुझे अभी इसमें बहुत कुछ पूछना है।

चाणक्य : भली भाँति पूछो, क्योंकि मुझे भी बहुत कुछ कहना है।

चन्द्रगुप्त : यह पूछता हूँ।

चाणक्य : हाँ ! मैं भी कहता हूँ।

चन्द्रगुप्त : कि हम लोगों के सब अनर्थों की जड़ मलयकेतु है। उसे भागते समय क्यों नहीं पकड़ा ?

चाणक्य : वृषल ! मलयकेतु के भागने के समय भी दो ही उपाय थे—या तो मेल करते या दंड देते। जो मेल करते तो आधा राज देना पड़ता और जो दंड देते तो फिर यह लोगों की कृतघ्नता सब पर प्रसिद्ध हो जाती कि इन्हीं लोगों ने पर्वतक को भी मरवा डाला। आधा राज देकर जो अब मेल कर लें तो उस बेचारे पर्वतक के मारने का केवल पाप ही हाथ लगे इससे मलय-केतु को भागते समय छोड़ दिया।

चन्द्रगुप्त : और भला राक्षस इसी नगर में रहता था उसका भी आपने कुछ न किया। इसका क्या उत्तर है ?

चाणक्य : सुनो, राक्षस अपने स्वामी की स्थिर भक्ति से और यहाँ बहुत दिन रहने से यहाँ के लोगों का और नंद के सब साथियों का विश्वासपात्र हो रहा है और उसका स्वभाव सब लोग जान गए हैं। उसमें बुद्धि और पौरुष भी है वैसे ही उसके सहायक भी हैं और उसे कोषबल भी है। इससे जो वह यहाँ रहे तो भीतर के सब लोगों को फोड़कर उपद्रव करे और जो यहाँ से दूर रहे तो वह ऊपरी जोड़-तोड़ लगावे, पर उनके मिटाने में इतनी कठिनाई न हो, इससे उसके जाने के समय उपेक्षा कर दी गई।

चन्द्रगुप्त : तो जब वह यहाँ था तभी उसको वश में क्यों नहीं कर लिया ?

चाणक्य : वश में क्या कर लें ? अनेक उपायों से तो वह छाती में गड़े काँटे की भाँति निकाल कर दूर किया गया है। उसे दूर करने में और कुछ प्रयोजन ही था।

चन्द्रगुप्त : तो बल से क्यों नहीं पकड़ रखा ?

चाणक्य : वह राक्षस ही है, उस पर जो बल प्रयोग किया जाता तो वह आप मारा जाता या तुम्हारी सेना का नाश कर देता ! दोनों ही प्रकार हानि थी, देखो—

हम खोवैं इक महत नर, जो वह पावै नास।
जो वह नासै सैन तुव, तौहूँ जिय अति त्रास।।
तासों कल बल करि बहुत अपने बस करि वाहि।
जिमि गज पकरैं सुघर तिमि बाँधैंगे हम ताहि।।

चन्द्रगुप्त : मैं आपकी बात तो नहीं काट सकता, पर इससे तो मंत्री राक्षस ही बढ़-चढ़ के जान पड़ता है।

चाणक्य : (क्रोध से) 'आप नहीं' इतना क्यों छोड़ दिया? ऐसा कभी नहीं है, उसने क्या किया है, कहो तो?

चन्द्रगुप्त : जी, आप न जानते हों तो सुनिए कि वह महात्मा—

जदपि आपु जीती पुरी तदपि धारि कुसलात।
जब लौं जिय चाह्यौ रह्यौ धारि सीस पै लात।।
डौंडी फेरन के समय निज बल जय प्रगटाय!
मेरे बल के लोग कों दीनों तुरत हराय।।
मोहे परिजन रीति सों जोके सब बिनु त्रास।
पै मोपैं निज लोकहू आनहिं नहिं बिस्वास।।

चाणक्य : (हँसकर) वृषल! राक्षस ने यह सब किया?

चन्द्रगुप्त : हाँ! हाँ! अमात्य राक्षस ने यह सब किया।

चाणक्य : तो हमने जाना कि जिस तरह नंद का नाश करके तुम राजा हुए, वैसे ही अब मलयकेतु राजा होगा।

चन्द्रगुप्त : आर्य, यह उपालंभ आपको नहीं शोभा देता। करने वाला सब दूसरा है।

चाणक्य : रे कृतघ्न!

अतिहि क्रोध करि खोलिकै सिखा प्रतिज्ञा कीन।
सो सब देखत भुव करी नव-नृप-नंद-बिहीन।।
घिरि स्वान अरु गीध सों भय-उपजावनि हारि।
जारि नंदहू नहिं भई सांत मसान-देवारि।।

चन्द्रगुप्त : यह सब किसी दूसरे ने किया।

चाणक्य : किसने?

चन्द्रगुप्त : नंदकुल के द्वेषी दैव ने।

चाणक्य : दैव तो मूर्ख लोग मानते हैं।

चन्द्रगुप्त : और विद्वान लोग भी यद्वा-तद्वा करते हैं।

चाणक्य : (क्रोध का नाट्य करके) अरे वृषल! क्या नौकर की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है।

बँधी सिखाहु खोलिबे चंचल भे पुनि हाथ।

(**क्रोध से पृथ्वी पर पैर पटककर**)

घोर प्रतिज्ञा पुनि चरन करन चहत कर साथ ॥
नंद नसे सों निरुज ह्वै तू फूल्यौ गरबाय।
सो अभिमान मिटायहौं तुरतहि तोहिं गिराय ॥

चन्द्रगुप्त : (**घबड़ाकर आप ही आप**) अरे ! क्या आर्य को सचमुच क्रोध आ गया ?

फर फर फरकत अधर-पुट भये नयन जुग लाल।
चढ़ी जात भौंहैं कुटिल, स्वास तजत जिमि व्याल ॥
मनहुँ अचानक रुद्र-दृग खुल्यौ त्रितिय दिखरात।

(**आवेग सहित**)

धरनी धार्‌या बिनु धँसे हा किमि पद-घात ॥

चाणक्य : (**नकली क्रोध रोककर**) तो वृषल ! इस कोरी बकवाद से क्या लाभ ? जो राक्षस चतुर है तो यह शस्त्र उसी को दे। (**शस्त्र फेंक कर और उठकर ऊपर देखते हुए आप ही आप**) ह ह ह ! राक्षस ! यही तुमने चाणक्य को जीतने का उपाय किया।

तुम जान्यो चाणक्य सों नृप चंदहि लरवाय।
सहजहिं लैहै राज हम निज बल बुद्धि उपाय ॥
सो हम तुमहीं कहँ छलन कियो क्रोध परकास।
तुमरोई करिहै उलटि यह तुव भेद बिनास ॥

[क्रोध प्रकट करता हुआ चला जाता है।]

चन्द्रगुप्त : आर्य वैहीनर ! "चाणक्य का अनादर करके आज से चन्द्रगुप्त सब काम-काज आप ही सँभालेंगे," यह लोगों से कह दो।

कंचुकी : (**आप ही आप**) अरे, आज महाराज ने चाणक्य के पहले 'आर्य' शब्द नहीं कहा ! क्यों ? क्या सचमुच अधिकार छीन लिया ? वा इसमें महाराज का क्या दोष है ?

सचिव-दोष सों होत हैं, नृपहु बुरे ततकाल।
हाथीवान प्रमाद सों गज कहवावत व्याल ॥

चन्द्रगुप्त : क्यों जी ? क्या सोच रहे हो ?

कंचुकी : यही कि महाराज को 'महाराज' शब्द अब यथार्थ शोभा देता है।

चन्द्रगुप्त : (**आप ही आप**) इन्हीं लोगों के धोखा खाने से आर्य का काम होगा। (**प्रकट**) शोणोत्तरे ! इस सूखी कलह से हमारा सिर दुखने लगा, इससे शयनगृह का मार्ग दिखलाओ।

प्रतिहार : इधर आवें महाराज, इधर आवें।
चन्द्रगुप्त : (**उठकर चलता हुआ आप ही आप**)

गुरु-आयसु छल सों कलह करिहु जीय डराय।
किमि नर गुरुजन सों लरहिं यहै सोच जिय, हाय ॥

[सब जाते हैं—यवनिका गिरती है।]

उपर्युक्त अंक में जो संघर्ष है वह केवल 'छल-कलह' का अभिनय मात्र है। जब स्वयं चन्द्रगुप्त का यह कथन है कि 'गुरु ने कहा है कि तू झूठी कलह करके कुछ समय तक स्वतंत्र होकर अपना प्रबन्ध आप कर ले' और चाणक्य ने भी यह कहा कि—

अब लखहु करि छल-कलह नृप सों भेद बुद्धि उपाइ कै,
पर्वत जनन सों हम बिगारत राक्षसहिं उलटाइ कै।

तब इस संसार का क्या महत्त्व रह जाता है ? दोनों ही पात्र जानते हैं कि यह झूठी लड़ाई है तो जो मन में आए, कहा जा सकता है। चन्द्रगुप्त जैसे धीरोदात्त नायक की दशा उस समय तो और भी दयनीय हो जाती है जब वह घबड़ा कर आप ही आप कहता है—'अरे, क्या आर्य को सचमुच क्रोध आ गया ?' और अंक के अंत में वह कहता है कि 'इन्हीं लोगों के धोखा खाने से आर्य का काम होगा।' यह समस्त संभाषण और उससे उत्पन्न संघर्ष केवल कूट-नीति का एक अंग है जिसमें चन्द्रगुप्त के मनोविज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। वह पूर्ण रूप से चाणक्य के इशारे पर चल रहा है और 'कौमुदी महोत्सव' एक घटना मात्र है जिससे चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपनी नीति का साधन मात्र बनाकर एक भ्रम उत्पन्न करना चाहता है जैसे हम नाटक में आत्म-हत्या करते हैं और रक्त का एक बूँद भी हमारे शरीर में से नहीं निकलता। मुद्राराक्षस में चाणक्य की नीति ही प्रधान है जिसके प्रभाव से नाटक के समस्त पात्र और समस्त घटनाएँ सौर-मंडल के ग्रहों और उपग्रहों की भाँति सूर्य रूपी चाणक्य के चारों ओर घूमती हैं। नाटककार की दृष्टि में संघर्ष तो राक्षस और मलयकेतु में है। चन्द्रगुप्त जो चाणक्य के ही पक्ष का है, संघर्ष का भोक्ता कैसे हो सकता है ! इस संबंध में श्री ब्रजरत्नदास जी ने मुद्राराक्षस की भूमिका में लिखा है[1]—

"घटनाओं के वर्णन में यह विशेषता भी है कि सब बातें ठीक वैसी ही होती थीं जैसा कि चाणक्य चाहता था। कहीं भी उसकी इच्छा के विपरीत कोई घटना नहीं हुई। ऐसा जान पड़ता है कि चाणक्य घटनाओं का अनुशासन उसी प्रकार

---

1. मुद्राराक्षस (संपादक : ब्रजरत्नदास), पृष्ठ 20

करता था जैसे काठ की पुतली नचाने वाला सूत्रों को हाथ में पकड़कर इच्छानुकूल उनसे कार्य कराता है। इस अवस्था में या तो हम चाणक्य की बहुज्ञता और दूरदर्शिता का परिचय पाते हैं अथवा कवि पर अस्वाभाविकता का दोष लगा सकते हैं। कभी-कभी अनुकूल घटनाएँ ठीक समय पर हो जाती हैं, पर आदि से अंत तक चाणक्य द्वारा प्रेरित सब घटनाओं का सरोतर उतारना नाटक के नाट्यत्व में बाधक होता है।"

ऐसी स्थिति में चन्द्रगुप्त के मनोविज्ञान और संघर्ष की आशा करना दुराशा मात्र है। अब स्वर्गीय श्री द्विजेन्द्रलाल राय लिखित चन्द्रगुप्त नाटक लीजिए। यह हिन्दी अनुवाद पं० रूपनारायण पाण्डेय कृत है। उसमें 'कौमुदी महोत्सव' का प्रसंग चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य में है।

चतुर्थ अंक

2

स्थान : पाटलिपुत्र का राजमहल

समय : रात्रि

[मुरा और चन्द्रकेतु]

मुरा : चन्द्रकेतु ! आज चन्द्रगुप्त दाक्षिणात्य जय करके मगध को लौटा आ रहा है। नगर में उत्सव क्यों नहीं मनाया जा रहा है?"

चन्द्रकेतु : मंत्री चाणक्य ने निषेध कर दिया है।

मुरा : यह कैसे? गुरुदेव ने अपने प्रिय शिष्य की विजय पर उत्सव-निषेध कर दिया है? यह उसका कैसा विचार?

चन्द्रकेतु : माँ, मंत्रीवर ने जो निशेध किया है, उसका अवश्य ही कुछ न कुछ कारण होगा।

मुरा : कारण कुछ नहीं। जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त के विजय-गौरव पर ब्राह्मण के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई है।

चन्द्रकेतु : उस विजय-गौरव की सूचना किसने दी थी, माँ? ब्राह्मण के प्रति अविचार नहीं करना चाहिए।

मुरा : यह देखो बाजे का शब्द सुनाई दे रहा है। बेटा लौटा आ रहा है। मैं जाती हूँ, महल के शिखर पर खड़ी होकर प्रवेश-समारोह देखूँगी— **(जल्दी से चली जाती है।)**

चन्द्रकेतु : आज बहुत दिनों के बाद भाई का जय की दीप्ति से दमकता हुआ मुख

देखने को मिलेगा। आज मुझे कितना आनन्द है! चन्द्रगुप्त, तुम क्या पूर्व जन्म में मेरे भाई ही थे?

[नेपथ्य में कोलाहल और बाजे पर गाने की ध्वनि]

[धीरे-धीरे 'महाराज चन्द्रगुप्त की जय' की ध्वनि अधिकाधिक होने लगी और क्रम से निकटवर्ती होने लगी। तदनन्तर पताकाधारी लोगों और सैनिकगणों के सहित चन्द्रगुप्त ने प्रवेश किया।]

चन्द्रकेतु : आओ बन्धु! (**आलिंगन करने को उद्यत होता है**)

चन्द्रगुप्त : (**रूखे भाव से**) चन्द्रकेतु! तुम्हें हमारी आज्ञा मिली थी?

चन्द्रकेतु : कौन-सी आज्ञा प्रियवर!

चन्द्रगुप्त : मेरे आगमन के उपलक्ष्य में नगर में रोशनी की जावे, यह आज्ञा पायी थी?

चन्द्रकेतु : हाँ, पायी थी।

चन्द्रगुप्त : फिर उस आज्ञा का पालन नहीं किया गया?

चन्द्रकेतु : मंत्री ने निषेध कर दिया था।

चन्द्रगुप्त : यह तो मैंने पहले ही अनुमान कर लिया था। चन्द्रकेतु, मगध का महाराज मैं हूँ या चाणक्य?

चन्द्रकेतु : सुनो भाई···

चन्द्रगुप्त : उत्तर दो, मगध का महाराज मैं हूँ या मेरा मंत्री!

चन्द्रकेतु : मगध के महाराज चन्द्रगुप्त हैं।

चन्द्रगुप्त : तब?

चन्द्रकेतु : प्रियवर···

चन्द्रगुप्त : मैं नहीं सुनना चाहता, मंत्री को बुलाओ।

चन्द्रकेतु : सुनो भाई! इसका एक विशेष कारण···

चन्द्रगुप्त : मैं नहीं सुनना चाहता। मैं इसी समय उसका जवाब तलब करूँगा।

चन्द्रकेतु : उन्होंने कहा···

चन्द्रगुप्त : उन्होंने जो कुछ कहा था वह वे स्वयं आकर कह लेंगे। आज इसी समय निश्चित हो जाना चाहिए कि मगध का महाराजा चन्द्रगुप्त है या चाणक्य!

चन्द्रकेतु : अधीर न होओ, सुनो।

चन्द्रगुप्त : चन्द्रकेतु, तुम भी मेरा कहना नहीं मानते हो, जाओ।

[चन्द्रकेतु का धीरे-धीरे प्रस्थान]

चन्द्रगुप्त : ब्राह्मण का दम्भ मेरा धीरज छुड़ाए देता है।

एक बार···नहीं पहले···स्पर्धा ! ···आश्चर्य !
इस बार मैं···नहीं···पहले जवाब तलब करूँगा ! (**घूमता है**)

[चाणक्य और चन्द्रकेतु का प्रवेश।]

चाणक्य : महाराज की जय हो।

चन्द्रगुप्त : (**रूखे भाव से प्रणाम करके**) मंत्रिवर ! मैंने आज अपने नगर-प्रवेश के उपलक्ष्य में नगर में रोशनी करने की आज्ञा दी थी। उस आज्ञा का पालन नहीं किया गया !

चाणक्य : मैंने निषेध कर दिया था।

चन्द्रगुप्त : (**थोड़ी देर तक स्तब्ध होकर**) क्या मैं इसका कारण जान सकता हूँ ?

चाणक्य : कुछ प्रयोजन नहीं है।

चन्द्रगुप्त : प्रयोजन नहीं है !

चाणक्य : मैंने जो किया है समझ-बूझकर ही किया है।

चन्द्रगुप्त : तो भी मैं कारण जानना चाहता हूँ।

चाणक्य : कारण जानने का समय अभी नहीं आया है। जब आएगा तब बता दूँगा।

[चाणक्य मुसकराते हुए देखते रहते हैं।]

चन्द्रगुप्त : मंत्री, मैं इस उद्धतता को सहन नहीं कर सकता। मैं इसका न्याय-विचार करूँगा।

चाणक्य : चन्द्रगुप्त ! तुम उत्तेजित हो गए हो। जरा शांत होओ। (**प्रस्थानोद्यत**)

चन्द्रगुप्त : मंत्री !

चाणक्य : (**लौटकर**) वत्स !

चन्द्रगुप्त : मैं जानना चाहता हूँ कि इस राज्य का स्वामी मैं हूँ या चाणक्य।

चाणक्य : महाराज चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त : यह तो मैं नहीं देख रहा हूँ। देखता तो यह हूँ कि अपने ही साम्राज्य में बन्दी हूँ, अपने ही घर में मैं दास हूँ। मंत्री चाणक्य पाटलिपुत्र में निश्चित बैठकर राजभोग करें और महाराज चन्द्रगुप्त देश-देशान्तर से आहरण करके ला दिया करें। भारतवर्ष मंत्री चाणक्य के गुणों का गीत गाया करे और उस गीत के उपादान जुटाया करें महाराज चन्द्रगुप्त ! महाराज चन्द्रगुप्त मंत्री चाणक्य की आज्ञा को सिर झुकाकर माना करें और चाणक्य चन्द्रगुप्त की आज्ञा को लात से रौंदा करें। यदि मेरे और तुम्हारे बीच में यही संबंध है, तो जितनी जल्दी यह बन्धन छिन्न हो जाए, उतना ही अच्छा।

चाणक्य : महाराज की अभिरुचि। चाणक्य ने यह मंत्रित्व माँग कर नहीं लिया है। मैं इसी समय अपना पदत्याग करता हूँ।

चन्द्रगुप्त : परन्तु उसके पहले मैं इसकी कैफ़ियत चाहता हूँ।

चाणक्य : मैं कैफ़ियत नहीं दूँगा।

चन्द्रगुप्त : इतना साहस ! सैनिको ! बन्दी करो !

[सैनिक स्थिर भाव से खड़े रहते हैं।]

चन्द्रगुप्त : सैनिको ! (**सैनिकों के आगे बढ़ने पर चाणक्य बड़े ही शांत भाव से हाथ के संकेत से उन्हें रोक देते हैं।**)

चाणक्य : शूद्र की इतनी मजाल अब भी नहीं हुई है। महाराज ! यह लो मैंने आपका मंत्रित्व त्याग दिया। (**मंत्री की पोशाक वगैरह उतार कर रख देते हैं**) महाराज, चाणक्य निश्चित होकर राजधानी में विलास नहीं करता है। वह यहाँ बैठा हुआ एक बड़े भारी साम्राज्य को चला रहा है। और रहा चाणक्य का राजभोग ! सो वह आहार करता है दो मुट्ठी उबाले हुए चावल और सोता है मृगछाला की शैया पर। वह रात के तीसरे पहर कुटीर के आँगन में उष्ण मस्तिष्क से राज्य की चिन्ता करता हुआ टहलता है। मैं जाता हूँ। तुम्हारा राज्य है, तुम्हीं उसका शासन करो। (**जाने को तैयार होता** है; **सहसा लौटकर**) हाँ, जाने के पहले मैं यह कहे जाता हूँ कि क्यों मैंने आज उत्सव नहीं होने दिया। भूतपूर्व महाराज नंद के मंत्री ने विद्रोह-मंत्रणा को गर्मी देकर एक बड़ा भारी षड्यंत्र तैयार किया है। आज रात्रि में उत्सव के समय उसके दल के लोगों ने नगर पर आक्रमण करने का इरादा किया था। वे लोग तुम्हारे सोने के कमरे में सुरंग काटकर तुम्हारी हत्या करने के लिए वहाँ तुम्हारा मार्ग देख रहे हैं। मैंने उन लोगों का वध करने के लिए सैनिकों को भेज दिया है। (**प्रस्थानोद्यत, फिर लौटकर**) हाँ, और भी एक बात है। विजयी सेल्यूकस सिन्धुनद के पार उतर आया है। इस तरह शत्रु चारों ओर से सशस्त्र हो रहे हैं। यह उत्सव का समय नहीं है। इसीलिए मैंने उत्सव बन्द कर दिया था। (**प्रस्थानोद्यत**)

चन्द्रकेतु : (**चाणक्य के पैरों पर गिरकर**) गुरुदेव ! क्षमा कीजिए।

चाणक्य : कैफ़ियत दे चुकने पर चाणक्य मंत्रित्व ग्रहण नहीं करेगा। (**प्रस्थान**)

चन्द्रकेतु : बन्धुवर ! मंत्री महाशय को अनुनय करके लौटा लो।

चन्द्रगुप्त : क्यों, जहाँ चाणक्य नहीं है, वहाँ क्या राज्य नहीं चलते हैं ? इतना अहंकार ! इसमें बुरा क्या हुआ ? आज मैं मुक्त हूँ। आज मैं सचमुच महाराज हूँ।

चन्द्रकेतु : भाई, उपदेश सुनो। उनको पकड़ कर ले आओ।

चन्द्रगुप्त : चन्द्रकेतु, मैं तुम्हारा उपदेश नहीं चाहता। तुम्हारे अनुरोध से मैंने चाणक्य को एक बार क्षमा कर दिया था ! पर वह मैंने ग़लती की थी। ब्राह्मण की मजाल तो देखो ! मैं महाराज हूँ, फिर भी मेरी कोई शक्ति नहीं है ! भाई को क्षमा करने की मुझमें क्षमता नहीं है। मानो राज्य का मैं कोई भी नहीं हूँ। केवल एक महाराज का अभिनय कर रहा हूँ। इस व्यंग-अभिनय से तो सीधी-सादी गुलामी अच्छी।

चन्द्रकेतु : गुरुदेव जो कुछ करते हैं वह तुम्हारी भलाई के लिए।

चन्द्रगुप्त : इसी भलाई के लिए क्या ब्राह्मण ने मेरे भाई नंद की हत्या की थी ? उन्होंने और कात्यायन ने मेरे नंद की हत्या करके पैशाचिक उल्लास से उसके मृत शरीर के ऊपर ताण्डव नृत्य किया था। क्या मैंने वह देखा नहीं था !

चन्द्रकेतु : किन्तु इस सिंहासन के लिए तुम उनके ऋणी हो।

चन्द्रगुप्त : ऋणी !—जाओ, तुम अप्रिय वाक्य कहने में खूब दक्ष हो, यह मैं जानता हूँ।

चन्द्रकेतु : अप्रिय सत्य बोलने का अधिकार एक बन्धु को ही होता है।

चन्द्रगुप्त : पर वह बन्धुत्व होता है बराबर वालों में।

चन्द्रकेतु : (**थोड़ी देर चुप रहकर**) महाराज ! मेरी उद्धतता को क्षमा कीजिए। भविष्य में महाराज के साथ बन्धुत्व की स्पर्धा नहीं करूँगा। अच्छा, तो अब मैं विदा होता हूँ—पर जाने के पहले एक बात कहे जाता हूँ कि सम्पत्ति काल में महाराज मेरे बन्धुत्व की उपेक्षा करते हैं तो करें; किन्तु विपत्ति में उस अधिकार से मुझे वंचित न रखिएगा। यदि मेरी सहायता का महाराज को कभी कोई प्रयोजन आ पड़े तो आज की बातों से लज्जा के कारण मुझे बुलाने में दुविधा मत कीजिएगा। मेरे जीवन से यदि महाराज का कोई साधारण-सा भी लाभ हो तो यह जीवन मैं हँसते-हँसते महाराज के लिए सदा के लिए दे देने को प्रस्तुत हूँ। (**प्रस्थान**)

[चन्द्रगुप्त थोड़ी देर तक चुप खड़े रहते हैं। पाँच सशस्त्र सैनिक प्रवेश करते हैं। उनमें से एक सैनिक के हाथ में कटा सिर है। उस सिर को चन्द्रगुप्त को दिखाकर वह कहता है—]

सैनिक : महाराज, यही दलपति का सिर है।

चन्द्रगुप्त : कौन दलपति ?

सैनिक : पच्चीस घातक महाराज के सोने के कमरे में सुरंग काटकर अस्त्र लिए हुए छिपे थे। हमें मंत्री महाशय ने उनका वध करने के लिए वहाँ भेजा था।

हम लोग उन पच्चीस घातकों का वध कर आए हैं और यह उनके दलपति का सिर ले आए हैं।

चन्द्रगुप्त : (सिर देखकर) यह तो नंद का साला वाचाल है। अच्छा, जाओ।

[सैनिकगण चले जाते हैं]

चन्द्रगुप्त : तभी तो !

[एक सेनाध्यक्ष का प्रवेश]

सेनाध्यक्ष : महाराज की जय हो।

चन्द्रगुप्त : क्या संवाद है ?

सेनाध्यक्ष : विद्रोही लोग नगर को आक्रमण करने आए थे; परन्तु हम लोगों को होशियार और सशस्त्र देखकर लौट गए।

चन्द्रगुप्त : किसने तुम लोगों को होशियार रहने को कहा था ?

सेनाध्यक्ष : मंत्री महाशय ने।

[चन्द्रगुप्त एक दृष्टि से शून्य में देखने लगते हैं। सेनाध्यक्ष धीरे-धीरे चला जाता है। चन्द्रगुप्त पहले की तरह देखते रहते हैं।]

उपर्युक्त प्रसंग में चन्द्रगुप्त ने अधिकार का प्रदर्शन करना चाहा है किंतु वह प्रदर्शन हास्यास्पद हो गया है। चन्द्रगुप्त एक रूठे हुए बालक के समान अपने सम्मान की माँग करता है। चाणक्य का भी ऐसा स्वभाव नहीं है जैसा कि नाटककार ने चित्रित किया है। इतिहास ने चाणक्य को हठी और उद्धत कहा है, यहाँ चाणक्य तो जैसे चापलूस और सीधा-सादा मंत्री है। चन्द्रगुप्त बिना किसी हिचक के महामंत्री चाणक्य को सैनिकों से बन्दी करने के लिए कह देता है। सैनिक बन्दी करने के लिए बढ़ते भी हैं। जो चाणक्य नंद के द्वारा केवल निकाले जाने पर उसके वंश के विनाश की प्रतिज्ञा करता है, वह तुच्छ सैनिकों द्वारा बन्दी किए जाने की बात पर क्या न करता, यह चाणक्य के स्वभाव से परिचित व्यक्ति सहज ही जान सकता है लेकिन यहाँ का चाणक्य ब्राह्मणत्व पर आकाश-पाताल की बातें करता है, और स्वयं के लांछित होने पर शांत भाव से खड़ा रहता है। अधिक से अधिक शूद्र[1] कह कर फिर महाराज कहने लगता है। यहाँ तो दोनों चरित्र ही हास्यास्पद हो गए हैं। श्री द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों में भावुकता और भावातिरेक (शायद बंगाली कलाकार होने के नाते) इतना अधिक है कि अनेक स्थलों पर परिस्थितियों के चित्र अतिरंजित होकर बिगड़ गए हैं और उनमें

1. राव महाशय भी चन्द्रगुप्त के शूद्र होने की भ्रान्ति में थे।

से पारसी रंगमंच की दुर्गन्ध आने लगती है।

चन्द्रगुप्त न इतना छिछोरपन कर सकता है और न चाणक्य इतना शांत ही रह सकता है। मुद्राराक्षस में तो चाणक्य अग्नि की भाँति जलता है और उसके आतंक से घटनाएँ ही नहीं, पात्र भी आप-से-आप उसकी इच्छानुसार चलने लगते हैं। प्रस्तुत अवतरण में इसकी तो नकल हुई है किन्तु चरित्र बिखर गए हैं। घटनाएँ जैसे चाणक्य के जाने का रास्ता देखती थीं। जैसे ही चाणक्य रंगमंच से जाता है कि पाँच सशस्त्र सैनिक एक आदमी का कटा सिर लाकर कहते हैं कि पच्चीस घातक महाराज के सोने के कमरे में सुरंग काट कर अस्त्र (या शस्त्र ?) लिए हुए छिपे थे। हमें मंत्री महाशय ने उनका वध करने के लिए वहाँ भेजा था। हम लोग उन पच्चीसों घातकों का वध कर आए हैं और यह उनके दलपति का सिर ले आए हैं। (पाँच ने पच्चीसों को मार डाला और पाँच में एक भी घायल नहीं हुआ !) इन पाँच सैनिकों के बाद सेनाध्यक्ष प्रवेश करता है और कहता है कि मंत्री महाशय की सजग रहने की आज्ञा से यह हुआ कि विद्रोही लोग नगर को (या पर ?) आक्रमण करने आए थे परन्तु हम लोगों को सशस्त्र देखकर लौट गए।

संक्षेप में राय महाशय का चन्द्रगुप्त नाटक विशेषकर चन्द्रगुप्त के चरित्र-चित्रण की यथार्थता स्पष्ट नहीं कर सका।

अंत में स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद रचित चन्द्रगुप्त नाटक लीजिए। इसमें कौमुदी महोत्सव का प्रसंग चतुर्थ अंक के तीसरे दृश्य में है।

चतुर्थ अंक

3

राक्षस : (**प्रवेश करके**) तो आप लोगों की सम्मति है कि विजयोत्सव न मनाया जाय ! मगध का उत्कर्ष उसके, गर्व का दिन यों ही फीका रह जाय ?

शकटार : मैं तो चाहता हूँ, परन्तु आर्य चाणक्य की सम्मति इसमें नहीं है।

कात्यायन : जो कार्य बिना किसी आडंबर के हो जाए, वही तो अच्छा है।

[मौर्य सेनापति और उसकी स्त्री का प्रवेश]

मौर्य : विजयी होकर चन्द्रगुप्त लौट रहा है, हम लोग आज भी उत्सव न मनाने पावेंगे ! राजकीय आवरण में यह कैसी दासता है ?

मौर्य-पत्नी : तब यही स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कौन इस राज्य का अधीश्वर है ! विजयी चन्द्रगुप्त अथवा यह ब्राह्मण या परिषद् ?

चाणक्य : (**राक्षस की ओर देखकर**) राक्षस ! तुम्हारे मन में क्या है ?

राक्षस : मैं क्या जानूँ, जैसी सब लोगों की इच्छा ।

चाणक्य : मैं अपने अधिकार और दायित्व को समझ कर कहता हूँ कि वह उत्सव न होगा !

मौर्य-पत्नी : तो मैं ऐसी पराधीनता में नहीं रहना चाहती। (**मौर्य से**) समझा न ! हम लोग आज भी बंदी हैं ?

मौर्य : (**क्रोध से**) क्या कहा, बंदी ! नहीं, ऐसा नहीं हो सकता ! हम लोग चलते हैं। देखूँ, किसकी सामर्थ्य है जो रोके ! अपमान से जीवित रहना मौर्य नहीं जानता। चलो ! (**दोनों का प्रस्थान**)

[चाणक्य और कात्यायन को छोड़कर सब जाते हैं।]

कात्यायन : विष्णुगुप्त, तुमने समझ कर ही ऐसा किया होगा। फिर भी मौर्य का इस तरह चले जाना चन्द्रगुप्त को···

चाणक्य : बुरा लगेगा। क्यों ? भला लगने के लिए मैं कोई काम नहीं करता, कात्यायन ! परिणाम में भलाई ही मेरे कामों की कसौटी है। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी चले जाओ। बको मत !

[कात्यायन का प्रस्थान]

चाणक्य : कारण समझ में नहीं आता—यह वात्याचक्र क्यों ? (**विचारता हुआ**) क्या कोई नवीन अध्याय खुलने वाला है ? अपनी विजयों पर मुझे विश्वास है, फिर यह क्या ? (**सोचता है।**)

[सुवासिनी का प्रवेश]

सुवासिनी : विष्णुगुप्त !

चाणक्य : कहो सुवासिनी !

सुवासिनी : अभी परिषद् गृह से जाते हुए पिताजी बहुत दुखी दिखाई दिए, तुमने अपमान किया क्या ?

चाणक्य : यह तुमसे किसने कहा ? इस महत्त्व को रोक देने से साम्राज्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। मौर्यों का जो कुछ है, वह मेरे दायित्व पर है। अपमान हो या मान, मैं उसका उत्तरदायी हूँ। और पितृ तुल्य शकटार को मैं अपमानित करूँगा; यह तुम्हें कैसे विश्वास हुआ ?

सुवासिनी : तो राक्षस ने ऐसा क्यों···?

चाणक्य : कहा, ऐं ? सो तो कहना ही चाहिए ! और तुम्हारा भी उस पर

विश्वास होना आवश्यक है; क्यों न सुवासिनी ?

सुवासिनी : विष्णुगुप्त ? मैं एक समस्या में डाल दी गई हूँ।

चाणक्य : तुम स्वयं पड़ना चाहती हो, कदाचित् यह ठीक भी है।

सुवासिनी : व्यंग्य न करो; तुम्हारी कृपा मुझ पर होगी ही, मुझे इसका विश्वास है।

चाणक्य : मैं तुमसे बाल्यकाल से परिचित हूँ, सुवासिनी ! तुम खेल में भी हारने के समय रोते हुए हँस दिया करती और तब मैं हार स्वीकार कर लेता। इधर तो तुम्हारा अभिनय का अभ्यास भी बढ़ गया है ! तब तो··· (**देखने लगता है।**)

सुवासिनी : यह क्या विष्णुगुप्त ! तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो ! फिर अपने को नहीं ? देखा दर्पण लेकर—तुम्हारी आँखों में तुम्हारा यह कौन-सा नवीन चित्र है ? (**प्रस्थान**)

चाणक्य : क्या ? मेरी दुर्बलता ? नहीं ! कौन है ?

दौवारिक : (**प्रवेश करके**) जय हो आर्य, रथ पर मालविका आई हैं।

चाणक्य : उसे सीधे मेरे पास लिवा लाओ !

[दौवारिक का प्रस्थान—एक चर का प्रवेश]

चर : आर्य ! सम्राट् के पिता और माता दोनों व्यक्ति रथ पर अभी बाहर गए हैं। (**जाता है।**)

चाणक्य : जाने दो ! इनके रहने से चन्द्रगुप्त के एकाधिपत्य में बाधा होती ! स्नेहातिरेक से वह कुछ का कुछ कर बैठता।

[दूसरे चर का प्रवेश]

दूसरा : (**प्रणाम करके**) जय हो आर्य ! वाल्हीक में नयी हलचल है। विजेता सिल्यूकस अपनी पश्चिमी राजनीति से स्वतंत्र हो गया है। अब वह सिकन्दर के पूर्वी प्रान्तों की ओर दत्तचित्त है। वाल्हीक की सीमा पर नवीन यवन-सेना के शस्त्र चमकने लगे हैं।

चाणक्य : (**चौंक कर**) और गांधार का समाचार ?

दूसरा : अभी कोई नवीनता नहीं है।

चाणक्य : जाओ। (**चर का प्रस्थान**) क्या उसका भी समय आ गया ? तो ठीक है। ब्राह्मण ! अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह ! कुछ चिन्ता नहीं, सब सुयोग आप ही चले आ रहे हैं।

[ऊपर देखकर हँसता है, मालविका का प्रवेश]

मालविका : आर्य, प्रणाम करती हूँ। सम्राट् ने श्री चरणों में सविनय प्रणाम

करके निवेदन किया है कि आपके आशीर्वाद से दक्षिणापथ में अपूर्व सफलता मिली, किन्तु सुदूर दक्षिण जाने के लिए आपका निषेध सुनकर लौटा आ रहा हूँ। सीमान्त के राष्ट्रों ने भी मित्रता स्वीकार कर ली है।

चाणक्य : मालविका, विश्राम करो। सब बातों का विवरण एक साथ ही लूँगा।

मालविका : परन्तु आर्य ! स्वागत का कोई उत्साह राजधानी में नहीं ?

चाणक्य : मालविका, पाटलिपुत्र षड्यंत्रों का केन्द्र हो रहा है ! सावधान ! चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा तुम्हीं को करनी होगी।

[यहाँ कौमुदी महोत्सव विजयोत्सव में परिवर्तित हो गया है। यह भी द्विजेन्द्र लाल राय का अनुकरण है। मुद्राराक्षस में जो कुसुमपुर की विजय में कौमुदी महोत्सव का प्रसंग है वह राय महोदय ने अपने चन्द्रगुप्त नाटक में दाक्षिणात्य जय करने के उत्सव का प्रसंग बना दिया है; यही परिवर्तन प्रसाद जी ने भी कर दिया है। आगे के दृश्य में चन्द्रगुप्त और चाणक्य में संघर्ष चित्रित किया गया है।]

स्थान : राजमंदिर का एक प्रांत

समय : प्रभात

चन्द्रगुप्त : (**अकेले टहलता हुआ**) चतुर सेवक के समान संसार को जगा कर अंधकार हट गया। रजनी की निस्तब्धता काकली से चंचल हो उठी है। नीला आकाश स्वच्छ होने लगा है, या निद्राक्लांत दिशा उषा की शुभ्र चादर ओढ़ कर नींद की गोद में लेटने चली है। यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना ! और कर्मक्षेत्र क्या है ? जीवन-संग्राम ! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली-सी है। तो फिर···मेरे पिता···मेरी माता, इनका तो सम्मान आवश्यक था। वे चले गए, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या, मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किए गए। यह परतंत्रता कब तक चलेगी ! प्रतिहारी !

प्रतिहारी : (**प्रवेश करके**) जय हो देव !

चन्द्रगुप्त : आर्य चाणक्य को शीघ्र लिवा लाओ !

[प्रतिहारी का प्रस्थान]

चन्द्रगुप्त : (**टहलते हुए**) प्रतिकार आवश्यक है !

[चाणक्य का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त : आर्य, प्रणाम !

चाणक्य : कल्याण हो आयुष्मन्, आज तुम्हारा प्रणाम भारी-सा है .

चन्द्रगुप्त : मैं कुछ पूछना चाहता हूँ ।

चाणक्य : यह तो मैं पहले ही से समझता था ! तो तुम अपने स्वागत के लिए लड़कों के सदृश रूठे हो ?

चन्द्रगुप्त : नहीं आर्य, मेरे माता-पिता—मैं जानना चाहता हूँ कि उन्हें किसने निर्वासित किया।

चाणक्य : जान जाओगे तो उसका वध करोगे ! क्यों ? (**हँसता है**)

चन्द्रगुप्त : हँसिए मत, गुरुदेव ! आपकी मर्यादा रखनी चाहिए, यह मैं जानता हूँ। परन्तु वे मेरे माता-पिता थे, यह आपको भी जानना चाहिए ।

चाणक्य : तभी तो मैंने उन्हें उपयुक्त अवसर दिया। अब उन्हें आवश्यकता थी शान्ति की, उन्होंने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया है । इसमें खेद करने की कौन बात है ?

चन्द्रगुप्त : यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं ? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियंत्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।

चाणक्य : चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था । आनन्द समुद्र में शांतिद्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्यश्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, संतोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की जन्म-भूमि को छोड़कर कहाँ आ गया ! सौहार्द के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान में भय। ज्ञानामृत के परिवर्तन में कुमंत्रणा ! पतन और कहाँ तक हो सकता है ! ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त ! अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छायाचित्र, किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे, भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ । शांति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया। जान गया, मैं कहाँ और कितने नीचे हूँ ।(**प्रस्थान**)

चन्द्रगुप्त : (**दीर्घ निःश्वास लेकर**)—तो क्या मैं असमर्थ हूँ ? ऊँह, सब हो जाएगा !

सिंहरण : (**प्रवेश करके**) सम्राट की जय हो ! कुछ विद्रोही और षड्यंत्रकारी पकड़े गए हैं । एक बड़ी दुखद घटना भी हो गई है।

चन्द्रगुप्त : (**चौंक कर**) क्या ?

सिंहरण : मालविका की हत्या··· (**गद्गद कण्ठ से**)—आपका परिच्छद पहनकर वह आप ही की शय्या पर लेटी थी ।

चन्द्रगुप्त : तो क्या उसने इसलिए मेरे शयन का प्रबन्ध दूसरे प्रकोष्ठ में किया ! आह ! मालविका !

सिंहरण : आर्य चाणक्य की सूचना पाकर नायक पूरे गुल्म के साथ राजमंदिर की रक्षा के लिए प्रस्तुत था। एक छोटा-सा युद्ध होकर वे हत्यारे पकड़े गए ! परन्तु उनका नेता राक्षस निकल भागा।

चन्द्रगुप्त : क्या राक्षस उनका नेता था !

सिंहरण : हाँ सम्राट् ! गुरुदेव बुलाए जायँ ?

चन्द्रगुप्त : वही तो नहीं हो सकता, वे चले गए। कदाचित् न लौटेंगे।

सिंहरण : ऐसा क्यों ? क्या आपने कुछ कह दिया ?

चन्द्रगुप्त : हाँ सिंहरण ! मैंने अपने माता-पिता के चले जाने का कारण पूछा था।

सिंहरण : (**निःश्वास लेकर**)तो नियति कुछ अदृष्ट-सा सृजन कर रही है सम्राट्, मैं गुरुदेव को खोजने जाता हूँ।

चन्द्रगुप्त : (**विरक्ति से**)—जाओ; ठीक है—अधिक हर्ष, अधिक उन्नति के बाद तो अधिक दुःख और पतन की बारी आती है।

[सिंहरण का प्रस्थान]

चन्द्रगुप्त : पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर सहचर सिंहरण गया, तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और रहेगा ! परन्तु मालविका ! आह, वह स्वर्गीय कुसुम ! (**चिन्तित भाव से प्रस्थान**)

प्रस्तुत अवतरण में श्री जयशंकर प्रसाद ने 'कौमुदी महोत्सव' के प्रसंग में कुछ परिवर्तन कर दिया। पहले तो यह प्रसंग दो दृश्यों में विभाजित किया गया है। पहले में 'कौमुदी महोत्सव' कुसुमपुर विजयोत्सव के स्थान पर दक्षिणापथ की विजय के उत्सव में परिणत किया गया है (जो स्पष्टतः श्री द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव ज्ञात होता है) और दूसरे में माता-पिता के निर्वासित होने के फल-स्वरूप उठने वाली चन्द्रगुप्त की व्यथा और उसके बीच में स्वागत के प्रति उदा-सीनता ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य से स्पष्ट बात कहने की शक्ति दी है। उस मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में नाटककार ने रजनी की स्तब्धता के बाद जागरण की बेला का चित्र खींचा है जिसे जागरण की प्रस्तावना कहा गया है और जागरण

का अर्थ है कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना। और कर्मक्षेत्र क्या है ? जीवन-संग्राम। किन्तु चन्द्रगुप्त में फिर भी इतनी शक्ति नहीं है कि वह चाणक्य के सामने जीवन-संग्राम की प्रस्तावना भी उपस्थित कर सके।

चन्द्रगुप्त अपने स्वागत की चर्चा छेड़ने के लिए ही सम्भवतः आर्य चाणक्य को बुलवा भेजता है किन्तु चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का प्रणाम 'भारी-सा' जानकर उसकी चर्चा स्वयं छेड़ दी। लाचार चन्द्रगुप्त को अपने माता-पिता के निर्वासन का प्रसंग लेकर चाणक्य के अक्षुण्ण अधिकार के भोगने पर प्रश्न-चिह्न लगाना पड़ा। और जैसे ही चन्द्रगुप्त यह प्रश्न-चिह्न लगाता है कि चाणक्य ब्राह्मणत्व का निवृत्ति मार्ग सराहते हुए स्वयं अपना तिरस्कार करता है और 'मंत्री' के अधिकार से मुक्त हो जाने का प्रस्ताव करता है और चला भी जाता है। उसके जाते ही चाणक्य की नीति से फलीभूत होने वाली घटनाएँ सामने आती हैं, चन्द्रगुप्त के प्राणों का मूल्य मालविका को देना पड़ता है और चन्द्रगुप्त माता-पिता, सिंहरण और गुरुदेव के जाने से दुखी और मालविका के मरण से आहत होकर एक निःश्वास छोड़कर रह जाता है।

प्रसाद जी पर श्री द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव तो अवश्य पड़ा किन्तु प्रसाद ने भावनातिरेक में अपने चरित्रों को विकृत होने से बचाया है। फिर भी कवि होने के कारण प्रसाद के पात्र अपने स्वगत-कथनों में बड़े कल्पनाशील हो जाते हैं और काव्यमयी भाषा में जीवन के सिद्धान्तों का निरूपण करने लगते हैं। उनके 'अजातशत्रु' नाटक में तो जीवन के भयानक और भीषण कर्म करने वाले पात्र भी कविता की कल्पनाशील तरंगों में बहने लगते हैं। विरुद्धक इसका प्रमाण है। उदयन, बिम्बसार, श्यामा यदि कविता के प्रभाव में अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करें तो बात समझ में आ सकती है।

चन्द्रगुप्त का ऐतिहासिक व्यक्तित्व ऐसा है जो कल्पना में अधिक विश्वास नहीं कर सकता। उसने जीवन के संघर्षों में इतना अधिक भाग लिया था कि वह भावुक तो बन ही नहीं सकता था। कहाँ तो मुद्राराक्षस नाटक में चन्दनदास की स्त्री जैसी साधारण पात्र को भी केवल एक स्थान पर आने का अवकाश दिया गया है, (अन्यथा समस्त नाटक में एक स्त्री पात्र नहीं है) और कहाँ प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में दस स्त्री पात्र हैं। राजनीति में भाग लेने के साथ ही साथ उन लोगों में प्रणय-लीला भी चलती जाती है और चन्द्रगुप्त तो प्रेमिकाओं का नायक है। वह युद्ध-क्षेत्र में भाग लेते हुए भी समय निकाल लेता है कि अपनी प्रेयसियों से बातें करे। एक स्थान पर तो स्वयं चाणक्य को कहना पड़ा कि···छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है, मौर्य ! (अंक 2, दृश्य 4)।

प्रसाद जी प्रेम और यौवन के नाटककार हैं और उनके नाटकों में ये प्रणय

की अभिसंधियाँ बराबर चला करती हैं। चन्द्रगुप्त जैसा वीर पुरुष जिसने समरांगण की चित्रपटी में अपने जीवन का चित्र सजाया है, न जाने कितनी प्रेमिकाओं के गूँथे हुए हार पहनकर समय की दीवाल पर सुसज्जित होना चाहता है। प्रसाद जी की प्रेमांकन की चरम स्थिति तो अपनी पराकाष्ठा पर तब पहुँचती है जब अर्थशास्त्र के रचयिता और कूटनीति के विधायक काले कुरूप ब्राह्मण आचार्य चाणक्य की सूखी शिराओं में भी प्रेम का अंगराग तरुण रक्त बनकर संचरित होता है और सुवासिनी की स्मृति में रूप तथा सौन्दर्य की आकांक्षा हृदय को अधिक स्पंदनशील बना देती है।

चाणक्य और प्रेम ! चाणक्य के पास हृदय था, यह कहना कठिन है। उसका मस्तिष्क ही इतना बड़ा था कि वह सिर से लेकर वक्षस्थल तक फैला हुआ था। चाणक्य प्रेम करने के पूर्व अपनी प्रेयसी के कपोल-कूपों में पहले राजनीति की गहराई देखता बाद में मुस्कुराहट का रहस्य !

चाहे वह चन्द्रगुप्त के माता-पिता का निर्वासन हो, चाहे दक्षिणापथ में विजय प्राप्त कर लौटने पर स्वागत का प्रसंग हो, चाणक्य और चन्द्रगुप्त में स्पष्ट वार्तालाप का अवसर ही प्रसाद जी ने अपने नाटक में नहीं आने दिया। चन्द्रगुप्त 'यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं ?' कहता ही है कि चाणक्य उसे टालकर चला जाता है और चन्द्रगुप्त 'पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए' कहकर स्वर्गीय कुसुम 'मालविका' की स्मृति में अपनी रोदनशीला प्रकृति जोड़ देता है। यहाँ भी 'गुरुदेव' चाणक्य 'शिष्य' चन्द्रगुप्त पर अंकुश की तरह तने हुए हैं और अपनी समस्त वीर प्रकृति लेकर भी चन्द्रगुप्त अपने अधिकारों के सम्बन्ध में चाणक्य से एक बात भी नहीं कह सका है। प्रणय की तीन-तीन ग्रंथियों में उलझा हुआ चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव के समक्ष अपना अधिकार दृढ़तापूर्वक रख ही कैसे सकता है, जब वह इससे पहले ही गुरुदेव की कड़ी डाँट खा चुका है—'छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है, मौर्य !'

संक्षेप में, इतिहास-ग्रंथों से मुझे जो चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व मिला है, उसके प्रति हमारे साहित्य में न्याय नहीं हो सका, मुझे ऐसा लगता है। मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक रहकर भी 'छल-कलह' से ही काँप उठता है। आर्य चाणक्य द्वारा आश्वासन पाकर भी कि 'तू झूठी कलह करके कुछ समय तक स्वतंत्र होकर अपना प्रबंध आप कर ले।' उसे 'बड़ा पाप' सा लगता है और चाणक्य का अभिनय-क्रोध देखकर ही घबराकर कहता है, 'अरे ! क्या आर्य को सचमुच क्रोध आ गया ?' आर्य चाणक्य की राजनीति के आवर्त में वीरवर चन्द्रगुप्त तिनके की तरह चक्कर खा रहा है। श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने चन्द्रगुप्त का वीरत्व-प्रदर्शन एक रूठे हुए बालक की मनचली हास्यास्पद मनोवृत्ति की भाँति चित्रित किया है। राय महाशय के नाटक से दिए गए उद्धरण

के पूर्व दृश्य में चाणक्य जब चन्द्रकेतु के जाने के उपरान्त स्वगत-कथन में कहता है—'एक महान पवित्र उज्ज्वल राज्य छोड़कर मैं कहाँ जा रहा हूँ ! अब भी उसका आलोक-मंडित शिखर दिखाई पड़ रहा है। तब सब कुछ अंधकार में लुप्त हो जाने के पहले ही क्यों न लौट चलूँ ?—पिशाची ! छोड़ दे, लौट जाऊँ। नहीं-नहीं—कहाँ लौट जाऊँगा ! कौन हाथ पकड़कर ले जाएगा ? मिथ्या, प्रवंचना, चौर्य, हत्या इन सबका भी तो एक राज्य है। इसमें बुरा क्या है ! मजे में हूँ। खूब है।' आदि-आदि और चन्द्रगुप्त एक अदूरदर्शी सम्राट् की भाँति सैनिकों से चाणक्य को बन्दी करने को कहता है। जब सैनिक आगे बढ़ते हैं तो चाणक्य बड़े ही शान्त भाव से हाथ के संकेत से उन्हें रोक देते हैं। और सैनिक सम्राट् के आदेश की अवहेलना करते हुए रुक भी जाते हैं। चाणक्य के चले जाने के बाद चन्द्रगुप्त चन्द्रकेतु से खीजे हुए बालक की भाँति कहता है—'चन्द्रकेतु ! मैं तुम्हारा उपदेश नहीं चाहता। तुम्हारे अनुरोध से मैंने चाणक्य को एक बार क्षमा कर दिया था—पर मैंने गलती की थी। ब्राह्मण की मजाल तो देखो ! मैं महाराज हूँ, फिर भी कोई शक्ति नहीं है। भाई को क्षमा करने की भी मुझमें क्षमता नहीं, मानो राज्य का मैं कोई भी नहीं हूँ। केवल एक महाराज का अभिनय कर रहा हूँ। इस व्यंग-अभिनय से तो सीधी-सादी गुलामी अच्छी।'

राय महाशय ने बहुत अधिक भावुकता से दोनों चरित्रों—चन्द्रगुप्त और चाणक्य—को मर्यादा के पद से गिरा दिया है।

प्रसाद जी ने श्री राय महोदय का अनुकरण करते हुए भी अपनी विशेषता बनाए रखी है। उन्होंने सुलझे हुए ढंग से चाणक्य-चन्द्रगुप्त दोनों के महत्त्व और गौरव का अच्छा प्रतिपादन किया है। जैसा मैंने पहले कहा कि भावनातिरेक से उनके चरित्र विकृत होने से बच गए हैं, किंतु प्रणय के चक्रव्यूह में चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों ही मार्गभ्रष्ट-से होते दीख रहे हैं। वीरत्व से कहीं अधिक प्रेम चन्द्रगुप्त का धर्म हो गया है और संन्यास के सूने क्षणों में चाणक्य पर भी राजनीति के स्थान पर प्रेम की स्मृतियाँ प्रहार कर बैठती हैं। चाणक्य और चन्द्रगुप्त में गुरु-शिष्य का ऐसा कठिन-कठोर सम्बन्ध है कि चन्द्रगुप्त अपने महान् व्यक्तित्व से उद्भूत अधिकार की अवहेलना में एक वाक्य भी स्पष्ट कंठ से नहीं कह सकता और चाणक्य उसका स्पष्टीकरण करना अपने महान् 'ब्राह्मणत्व' के आदर्श से बहुत नीचा समझता है और ऐसा व्यवहार करता है कि चन्द्रगुप्त एक मच्छर की तरह उसके कानों के पास कुछ भनभना गया और उसने हाथ की हवा से उसे दूर कर दिया या उस स्थान से चला गया।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य के इस गम्भीर चरित्र-चित्रण का उत्तरदायित्व मैंने अपने ऊपर लेने का साहस किया है। इस सम्बन्ध में बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रंथों,

मेगस्थनीज तथा चन्द्रगुप्त के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले समस्त ग्रंथों के अध्ययन को मैंने प्रमुख स्थान दिया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुशीलन कर मैंने तत्कालीन वातावरण का अन्तर्दृश्य प्राप्त करने की चेष्टा की है। मैंने अपना कथानक मुद्राराक्षस की कथावस्तु के अनुसार ही रखा है जिसमें कुसुमपुर की विजय के उपरांत 'कौमुदी महोत्सव' के मनाए जाने का आयोजन है। पाटलिपुत्र का भौगोलिक ज्ञान मैंने मेगस्थनीज और हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता से लेकर कौमुदी महोत्सव की सजावट अपनी कल्पना से प्रस्तुत की है। चन्द्रगुप्त के इतिहास से उसका जो व्यक्तित्व मिला है उसे मैंने मनोविज्ञान में इस प्रकार सुसज्जित किया है कि चन्द्रगुप्त के द्वारा प्रयुक्त समस्त उपमाएँ भी वीररस से परिपूर्ण हैं।

राजनर्तकी और चन्द्रगुप्त का वार्तालाप चन्द्रगुप्त के वीरत्व के साथ राजसी प्रकृति का प्रतीक है जिससे वह वास्तव में धीरोदात्त नायक बनता है। चाणक्य का ऐसे अवसर पर आ जाना जबकि चन्द्रगुप्त राजनर्तकी को पुरस्कार देने जा रहा है; मेरे नाटकीय कथावस्तु का प्रथम कौतूहल है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य का अपने दृष्टिकोण के आधार पर जो विवाद हुआ है वह प्रत्येक के स्पष्ट कंठ से निकला है और दोनों के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचायक है। इसी अंग की साहित्य में प्रथम बार अभिव्यक्ति और स्पष्टता के लिए मैंने नाटक की रचना और सजावट की है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी हैं और विशेषता इस बात में है कि दोनों अपनी मर्यादा में रहकर सागर की भाँति गर्जन करते हैं और अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की मान्यता के लिए प्रबल कारण उपस्थित करते हैं। दोनों के द्वारा दिए हुए कारण अपनी विशेष परिस्थितियों में सत्य हैं और विवेकपूर्ण भी। नीति और कूटनीति में चाणक्य अवश्य श्रेष्ठ है और अन्त की घटना ही उसे श्रेष्ठ प्रमाणित कर देती है, जैसाकि ऐतिहासिक सत्य है। मैं अपनी कल्पना में वैभवशाली होते हुए भी ऐतिहासिक वातावरण और सत्य के प्रतिकूल नहीं जा सकता था, अतः अन्त में चन्द्रगुप्त को कहना ही पड़ा कि 'कौमुदी महोत्सव नहीं होगा।' किन्तु इसके पूर्व दोनों महापुरुषों के व्यक्तित्व को अपनी महानता में उभरने का पूर्ण अवसर दिया गया है। अन्तिम घटना जिसमें राजनर्तकी अलका और वसुगुप्त के वास्तविक व्यक्तित्व का उद्घाटन होता है, चाणक्य की वाक्शक्ति, अन्तर्दृष्टि, नीति और तर्क की महानता सिद्ध करने के लिए ही नियोजित की गई है। आशा है, मेरे इस प्रयास में हमारे देश के महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त को अपने व्यक्तित्व के प्रकाशन के लिए यथेष्ट बल और वाणी मिलेगी और भारतीय साहित्य और इतिहास का यह लांछन यथासम्भव दूर होगा।

आप इस दृष्टि से मेरे नाटक को पढ़ने की कृपा करें और मुझे सूचित करने

का कष्ट करें कि कहाँ तक मैं अपने प्रयास में सफल हुआ हूँ ।

यह नाटक आल इंडिया रेडियो के लिए लिखा गया था और शनिवार, 9 अक्तूबर, 1948 को दस बजे रात वह दिल्ली स्टूडियो से सफलतापूर्वक प्रसारित भी हुआ था । यही कारण है कि इसका प्रतिन्यास ध्वनि-आलेखन के रूप में हुआ ।

इस लम्बी भूमिका के लिए आप मुझे क्षमा करें किन्तु अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक था । अब कृपया मेरे नाटक को पढ़ने के लिए पृष्ठ उलटने का कष्ट करें ।

—लेखक

पात्र-सूची

सम्राट् चन्द्रगुप्त	:	कुसुमपुर के मौर्य सम्राट्
चाणक्य	:	सम्राट् चन्द्रगुप्त के महामन्त्री
वसुगुप्त	:	कुसुमपुर के समाहर्त्ता
यशोवर्मन	:	कुसुमपुर के अन्तपाल
पुष्पदन्त	:	कुसुमपुर के कार्यान्तिक
अलका	:	राजनर्त्तकी
सैनिक और दौवारिक		
समय	:	ई० पू० 322

[बाहर चारों ओर कोलाहल हो रहा है। बीच-बीच में तुरही का नाद हो उठता है। शंख और घंटों की आवाज भी सुन पड़ती है। धीरे-धीरे यह ध्वनि क्षीण होती है।

राज-कक्ष में समाहर्त्ता वसुगुप्त और अन्तपाल यशोवर्शन बातें कर रहे हैं।]

वसुगुप्त : आज कुसुमार की जनता का कोलाहल कितना उभरा हुआ है ! ढाल के मध्यभाग की भाँति वह किसी भी तलवार का वार रोकने के लिए आगे बढ़ आया है। कुसुमपुर का उत्साह एक ढाल की तरह है जिस पर विद्रोह की तलवार भी कुंठित हो जाएगी। अब तो अन्तपाल यशोवर्मन का सन्देह दूर हो गया होगा।

यशोवर्मन : वसुगुप्त ! सन्देह पानी का बुलबुला नहीं है जो एक क्षण में भंग हो जाता है। सन्देह तो धूमकेतु की रेखा है जो आकाश में एक छोर से दूसरे छोर तक फैली रहती है, और धूमकेतु जानते हो किस बात का प्रतीक है ? भय का, आशंका का, अमंगल का !

वसुगुप्त : किन्तु भय, आशंका और अमंगल तो नहीं हैं। नंदवंश का विनाश होते ही ये ढाक के तीन पात की तरह अलग हो गए।

यशोवर्मन : अलग-अलग भले ही हो गए हों, पर हैं तो !

वसुगुप्त : अब रहे भी नहीं। जब शक, यवन, पारस और वाह्लीक राजाओं के साथ महाराज चन्द्रगुप्त ने कुसुमपुर में प्रवेश किया तो सारी प्रजा ने उनका स्वागत किया। क्या इस कोलाहल में तुमने प्रजाजनों के उत्साह की सरिता उमड़ते हुए नहीं देखी ?

यशोवर्मन : देखी, किन्तु इस उत्साह के बीच ऐसे कंठ भी हो सकते हैं जिनमें व्यंग्य और परिहास की ध्वनि हो। नंद के प्रति राजभक्ति अभी निष्प्राण नहीं हुई है। हरी घास में कुश और कंटक भी होंगे।

वसुगुप्त : तो वे निर्मूल कर दिए जावेंगे।

यशोवर्मन : किन्तु आपको क्या ज्ञात नहीं है कि महाराज नंद के मंत्री राक्षस की नीति छद्मवेश धारण कर चलती है ? नंद नहीं हैं, किन्तु नंद के मंत्री तो हैं जो छिपकर कुसुमपुर से बाहर चले गए हैं।

वसुगुप्त : तो हमारे पास भी पहिचाननेवाली आँखें हैं। (**जनरव फिर बढ़ता है**) देखा, यह जनरव बढ़ रहा है ! वातायन बन्द कर दो।

यशोवर्मन : हाँ, बात ही नहीं सुन पड़ती। (**वातायन बन्द करते हैं।**)

वसुगुप्त : तो सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जब कुसुमपुर में प्रवेश किया तो पहला कार्य तो यहाँ की शासन-व्यवस्था ठीक करना है।

यशोवर्मन : आचार्य चाणक्य के मस्तिष्क में राजनीति के न जाने कितने व्यूह प्रतिदिन बनकर बिगड़ते हैं, उनसे अधिक राजनीति की व्यवस्था कौन कर सकता है ?

वसुगुप्त : तो क्या सम्राट् चन्द्रगुप्त का मस्तिष्क केवल बाहुबल का केन्द्र ही है ?

यशोवर्मन : हाँ, आचार्य चाणक्य की नीति और सम्राट् चन्द्रगुप्त के बाहुबल ने ही नंदवंश को समाप्त किया है। नंदवंश की विलासिता-संध्या सम्राट् चन्द्रगुप्त की यश-चन्द्रिका के समक्ष अधिक देर तक नहीं रुक सकी।

[नेपथ्य में 'सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय' का घोष]

वसुगुप्त : (**उत्सुकता से**) सम्राट् आ गए ? तो क्या जनता का इतना कोलाहल उन्हीं के स्वागत के लिए था ? वातायन खोलकर देखो, यशोवर्मन !

यशोवर्मन : मैं देखता हूँ। (**वातायन खोलते हैं। जनरव फिर तीव्रता से सुनाई पड़ता है**) हाँ, जनता उत्सुकता से पुष्पों के हार उछाल रही है ! महाराज ने अंतरंग प्रकोष्ठ सिंह-द्वार से प्रवेश कर लिया है; उनका वेश इस समय दर्शनीय है। विस्तीर्ण ललाट, उठी हुई नासिका और बड़े-बड़े अरुण नेत्र। वे नागरिकों से कुछ कह भी रहे हैं। कहते समय उनकी वाणी में वीरत्व उसी प्रकार गुंजायमान होता है जैसे दिशाओं में दूर से आती हुई प्रतिध्वनि सिमिट कर अंतिम स्वर में गूँजती है। उनकी भौंहों में स्वाभाविक रूप से बल पड़े हुए हैं जैसे दृष्टि के उपर आकांक्षाएँ वक्र होकर दुहरी हो गई हैं। घुँघराले मुक्त केशों पर मुकुट है जिसकी कलंगी सिर के हिलने मात्र से लज्जाशील नारी की दृष्टि की भाँति झुक जाती है। भुज-दण्डों में शक्ति का संचय है, ज्ञात होता है जैसे वे राज्य के मेरु-दण्ड हैं। सैनिकों जैसा वेश, हृदय पर मोतियों की माला, कमर में मखमली म्यान के भीतर खड्ग ! बड़ा उत्साहपुर्ण वेश-विन्यास है उनका !

वसुगुप्त : (**प्रसन्नता से**) सचमुच, सम्राट् वीररस के प्रतीक हैं ! वह दौवारिक आया।

[दौवारिक का प्रवेश]

दौवारिक : महाराज की जय ! सम्राट् का आगमन हो रहा है।

वसुगुप्त : हम लोग भी उनके स्वागत के लिए उत्सुक हैं। तुम जाओ, बाहरी द्वार

पर सम्राट् पर पुष्प-वर्षा हो।

दौवारिक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

यशोवर्मन : सम्राट् ने तक्षशिला में ग्रीक सैन्य-संचालन का जो कौशल देखा है, उस कौशल के बल पर तो वे समस्त भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। उन्होंने विदेशी राजनीति को स्वीकार कर किसी भविष्य कार्यक्रम की नींव डाली है। यह बहुत कम लोग जानते हैं।

वसुगुप्त : राजनीति के साथ नारी ! यही तुम्हारे कहने का तात्पर्य है ? (**दबी हुई सम्मिलित हँसी**)

[सम्राट् की जय-ध्वनि के बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त का कार्यान्तिक पुष्पदन्त के साथ प्रवेश]

वसुगुप्त और यशोवर्मन : (**सम्मिलित स्वर में**) सम्राट् की जय !

चन्द्रगुप्त : समाहर्ता वसुगुप्त ! कुसुमपुरी का वैभव मैंने देखा। मुझे ऐसा ज्ञात होता है जैसे युद्ध की भैरवी ने काषाय वस्त्र धारण कर लिए हैं और वह संन्यासिनी हो गई है। नगर की शोभा मलिन है जैसे तलवार की झनकार वायु में विलीन हो गई है। नागरिकों का यह हुल्लास श्रृगालों का कोलाहल जैसा ज्ञात होता है जिसे हमें मनुष्यत्व देना है। नागरिकों से कहला दो कि वे अब अपने घर जावें।

वसुगुप्त : जो आज्ञा, सम्राट्। (**प्रस्थान**)

[धीरे-धीरे जनरव शांत हो जाता है।]

चन्द्रगुप्त : और अन्तपाल यशोवर्मन ! जो तेज मैंने ग्रीक सैनिक के सेवकों में देखा था वह कुसुमपुर के प्रतिष्ठित नागरिकों तक में नहीं है। यहाँ के व्यक्तियों में स्पष्ट बात कहने का साहस नहीं है। एक छल है, एक विडंबना है जो सोन नदी की भाँति कुसुमपुर को घेरे हुए है। उसे बंधन-मुक्त करो, यशोवर्मन।

यशोवर्मन : मुझे विश्वास है, सम्राट् ! आचार्य चाणक्य की नीति से कुसुमपुर एक कुसुम के समान सुन्दर और आपकी कीर्ति की भाँति निर्मल हो जाएगा।

[वसुगुप्त का प्रवेश]

चन्द्रगुप्त : संभव है। आर्य चाणक्य की नीति ने कुसुमपुर की राजनीति में ऐसे चक्रव्यूह की रचना की है जिसमें अराजकता का पथ मृत्यु-दीवार पर जाकर समाप्त होता है। और उस मृत्यु-दीवार की नींव में जानते हो, क्या है ? समस्त नंदवंश चिर निद्रा में शयन कर रहा है।

वसुगुप्त : और उस नंदवंश की आँखों में विलासिता का मद अंतिम क्षणों तक रहा है।

चन्द्रगुप्त : मुझे इस बात का दु:ख है किन्तु राजनीति कृपाण की धार का मार्ग है। जो व्यक्ति विलासिता का बोझ अपने सिर पर रख कर चलता है, वह उस कृपाण को निमंत्रण देता है कि वह उसके शरीर के दो टुकड़े कर दे। मैं आचार्य चाणक्य के चक्रव्यूह की मृत्यु-दीवार को जीवन का प्रकाश-स्तम्भ बनाना चाहता हूँ।

वसुगुप्त : सम्राट् के बाहु-बल में और आचार्य चाणक्य की नीति में यह क्षमता है।

चन्द्रगुप्त : आचार्य चाणक्य की सहायता से जो कुछ भी अभी तक हुआ है, उनके प्रति नागरिकों को असंतोष तो नहीं होना चाहिए। तक्षशिला के अनुभव से मैं कुसुमपुर की सभी बाधाएँ दूर करना चाहता हूँ। शासन का मापदण्ड प्रजा का सन्तोष और सुख होना चाहिए।

यशोवर्मन : सम्राट् का कथन सत्य है।

चन्द्रगुप्त : इसीलिए मैं एक महोत्सव का आयोजन करना चाहता हूँ, कौमुदी महोत्सव। शरद ऋतु की आज पूर्णिमा है। इसलिए समाहर्त्ता वसुगुप्त के प्रस्ताव के अनुसार मैंने मध्याह्न में इस निर्णय की घोषणा कर दी है। प्रकृति की इस चन्द्रमयी निर्मलता में जनता के हृदय की समस्त पाप-वासनाएँ धुल जावें। कौमुदी महोत्सव, इस भाँति, कुसुमपुर का महान् राजनीतिक पर्व है।

वसुगुप्त : सम्राट् ! कुसुमपुर के सिंह-द्वार ने अभी तक शृगालों का स्वागत किया है। आपके प्रवेश ने सिंह-द्वार का नाम सार्थक किया।

चन्द्रगुप्त : तुम प्रसन्न कर देने वाली बात कह सकते हो, वसुगुप्त ! इसीलिए मैंने कुसुमपुर का नागरिक होने पर भी कर एकत्र करने वाले समाहर्त्ता का नवीन पद दिया है। तुम मधुर बातें कह कर अच्छी तरह 'कर' एकत्र कर सकते हो।

वसुगुप्त : यह सम्राट् की कृपा है।

चन्द्रगुप्त : फिर प्रजा का सन्तोष ही मेरे सुख का अग्रदूत है। (**कार्यान्तिक पुष्पदन्त को संबोधित करते हुए**) कार्यान्तिक पुष्पदन्त ! कौमुदी महोत्सव के लिए कुसुमपुर के नागरिकों में उत्सुकता है ?

पुष्पदन्त : सम्राट् ! जिस समय से कौमुदी महोत्सव का संवाद नागरिकों के समीप पहुँचा है, उस समय से प्रत्येक नागरिक ने शूद्र महापद्म नंद की क्रूरता के उपसंहार में आपकी उदारता का 'भरत-वाक्य' जोड़ दिया है। सम्राट् ने आर्य चाणक्य की सहायता से शस्त्र और पृथ्वी का उद्धार किया है।

आपका कुसुमपुर में प्रवेश शस्त्र-विजय का सूचक है जिसमें शास्त्र का संतोष और पृथ्वी का कल्याण है।

यशोवर्मन : प्रजा-वर्ग में से कुछ व्यक्ति नंदवंश के समर्थक हो सकते हैं और नंद-वंश के विनाश से उनका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है, इसलिए कौमुदी महोत्सव के संबंध में सम्राट् की घोषणा असंतोष को सुख और ऐश्वर्य से भरकर उसमें राजभक्ति की तरंग उठा सकती है। कौमुदी महोत्सव में कुसुमपुर के निवासी अपनी नगरी की शोभा देखकर अपने बैर-विरोध को भूल सकते हैं। नगरी का ऐश्वर्य देखकर उनके विचारों की दिशा में परिवर्तन हो सकता है। किन्तु हमें यह उत्सव सतर्कता से देखना चाहिए।

वसुगुप्त : सतर्कता से देखने की ऐसी विशेष आवश्यकता नहीं है। नगरी का ऐश्वर्य जननी का ऐश्वर्य है। जननी का ऐश्वर्य देखकर किस पुत्र को प्रसन्नता न होगी ? अपरिचित व्यक्ति की ओर से आयी हुई कल्याण-कामना भी जब रुचिकर ज्ञात होती है तो सम्राट् ! आप जैसे उदारमना सम्राट् की ओर से की गई कल्याण-कामना नागरिकों के हृदय में सम्राट् के प्रति भक्ति और श्रद्धा की मन्दाकिनी प्रवाहित किए बिना नहीं रहेगी।

चन्द्रगुप्त : ऐसा ही हो ! (**कार्यान्तिक पुष्पदन्त से**) क्यों कार्यान्तिक पुष्पदन्त ! कौमुदी महोत्सव का क्या प्रबन्ध किया गया है ?

पुष्पदन्त : सम्राट् ! कौमुदी महोत्सव के अवसर पर कुसुमपुर को सजाने में नायक ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। सोन और गंगा के संगम पर एक शत नौकाओं को सम्राट् के शुभ नाम के आकार में सजाकर उन पर चालीस हाथ ऊपर आकाश-दीपों की व्यवस्था की गई है जिससे शरद-चन्द्रिका के हास के साथ सम्राट् का नाम भी दीपों का आलोक-मण्डल बनाता हुआ नागरिकों के हृदयों में प्रवेश कर जावे।

चन्द्रगुप्त : यह मनोवैज्ञानिक चातुर्य है ! और ?

पुष्पदन्त : नगर के काष्ठ-प्राचीर के चौंसठ द्वारों पर मंगल-कलशों की तरंगें सुसज्जित होंगी। दूर से ऐसा ज्ञात होगा कि कुसुमपुर प्रकाश का एक सरोवर है जिसमें चारों ओर दीप-किरणों की चौंसठ तरंगें प्रवाहित हो रही हैं !

चन्द्रगुप्त : यह सौन्दर्य-रचना सराहनीय है !

पुष्पदन्त : सम्राट् ! प्राचीर पर जो पाँच सौ सत्तर अलिन्द हैं उनमें नगर की उतनी ही बालाएँ मणिजटित आभूषणों से अपने को सुसज्जित कर प्रकाश के आलोक में नृत्य करेंगी। उनके नृत्य में जब उनके रत्न प्रकाश की किरणों से आलोकित होंगे तो ज्ञात होगा जैसे किरणों के कमलों में प्रकाश-बिन्दुओं के भ्रमर क्रीड़ा कर रहे हैं।

चन्द्रगुप्त : यह तो बहुत सुन्दर होगा !

पुष्पदन्त : और सम्राट् ! प्राचीर के चारों ओर जो सोन नदी की नहर है उसमें सहस्रों दीप-दान होंगे। ज्ञात होगा जैसे नगर के चारों ओर द्वीपों की आकाश-गंगा बहती जा रही है।

वसुगुप्त : सम्राट् ! नायक पुरस्कार का अधिकारी है।

चन्द्रगुप्त : निस्सन्देह ! और कार्यान्तिक पुष्पदन्त ! तुम इस बात की घोषणा कर दो कि इस महोत्सव में जितने भी पण व्यय किए जाएँ, वे राजकोष से व्यय न होकर मेरे 'चन्द्रकोष' से व्यय किए जाएँ। यद्यपि इस उत्सव से प्रजावर्ग का मनोरंजन होगा तथापि इसका व्यय-भार मैं वहन करूँगा।

वसुगुप्त : यह सम्राट् की उदारता है। शूद्र राजा महापद्म तो प्रजा से सहस्र-सहस्र पण लेकर उन्हें अपने विलास में व्यय करते थे और प्रजाजनों को उसी अवसर पर प्राण-दण्ड का पुरस्कार मिलता था। अपने को एक राष्ट्र घोषित करते हुए भी वे प्रजाजनों के हृदयों में अणु मात्र भी स्थान नहीं बना सके थे। यही अवस्था उनके पुत्र धनानंद के समय में थी।

चन्द्रगुप्त : वसुगुप्त ! अपने समारोह को इन अरुचिकर चर्चाओं से क्षत-विक्षत मत होने दो।

वसुगुप्त : मुझसे भूल हुई सम्राट् ! मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

चन्द्रगुप्त : और कार्यान्तिक पुष्पदन्त ! प्रजा-भवनों का शृंगार कैसा होगा ?

पुष्पदन्त : सम्राट् ! प्रजा-भवनों की श्रेणी में विविध रंग के प्रकाश-तोरणों की व्यवस्था है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे रात्रि में सम्राट् की राजधानी में सप्त रंगों के इन्द्र-धनुष विविध नृत्य-मुद्राओं में सजे हैं।

वसुगुप्त : और इस अवसर पर सम्राट् के समक्ष नंद-वंश की राजनर्तकी के नृत्य की व्यवस्था भी तो होनी चाहिए ?

यशोवर्मन : यह समय तो नगरी की शोभा देखने का होगा, नर्तकी की शोभा देखने का नहीं।

वसुगुप्त : नगरी की शोभा देखने के अनन्तर सम्राट् विश्राम भी तो चाहेंगे ! विश्राम के क्षणों को निद्रालु बनाने के लिए राजनर्तकी के नृत्य की आवश्यकता भी होगी।

चन्द्रगुप्त : कार्यान्तिक पुष्पदन्त ! जाओ और नायक से कौमुदी महोत्सव की व्यवस्था शीघ्र करने के लिए कहो ! मेरे 'चन्द्रकोष' से उसे पाँच सहस्र पण के पुरस्कार की सूचना भी दो। कौमुदी महोत्सव के प्रारम्भ का संकेत मुझे तूर्य-नाद से मिलना चाहिए।

पुष्पदन्त : जो आज्ञा सम्राट् ! **(प्रस्थान)**

चन्द्रगुप्त : नायक वास्तव में पुरस्कार का अधिकारी है। कुसुमपुर में ऐसी

सौन्दर्य-रचना संभवतः पहली बार होगी ! क्यों वसुगुप्त ?

वसुगुप्त : निस्संदेह सम्राट् ! कुसुमपुर में रहते मेरा इतना जीवन व्यतीत हुआ, किन्तु महाराज नन्द ने विलासिता की थाह पाकर भी कभी अपनी नगरी का ऐसा शृंगार नहीं किया। यह श्रेय आपके ही शासन को होगा कि कुसुमपुर सचमुच सौन्दर्य का कुसुम बन सका।

चन्द्रगुप्त : वसुगुप्त ! तुम्हारी प्रशंसा अतिशयोक्तियों से भरी होती है। इतनी प्रशंसा सुनकर मुझे कभी-कभी सन्देह होने लगता है।

वसुगुप्त : किस संबंध में, सम्राट् ?

चन्द्रगुप्त : जो तुम कहते हो, उसकी यथार्थता में।

वसुगुप्त : सम्राट्, परीक्षा करके देख लें। सत्य को सत्य कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है, सम्राट् ! और फिर सम्राट् भी तो स्पष्टवक्ता हैं ! सम्राट् स्वयं इस बात को समझते होंगे।

चन्द्रगुप्त : चन्द्रगुप्त रणनीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझना चाहता, वसुगुप्त ! समाहर्त्ता के नवीन पद पर तुम्हारी नियुक्ति के संबंध में भी महामंत्री चाणक्य ही समझें। इस संबंध में उनसे पूछने का मुझे अवकाश ही नहीं मिला।

यशोवर्मन : आचार्य चाणक्य से पूछना बहुत आवश्यक था, सम्राट् !

वसुगुप्त : यशोवर्मन ! तुम्हें मेरा अपमान करने का कोई अधिकार नहीं। तुम मुझे युद्ध के लिए प्रेरित करते हो !

यशोवर्मन : सम्राट् के सेवक और आचार्य महामंत्री चाणक्य के शिष्य होने के नाते मैं द्वन्द्व-युद्ध के लिए प्रस्तुत हूँ, वसुगुप्त ! सम्राट् ! मैं द्वन्द्व की आज्ञा चाहता हूँ।

चन्द्रगुप्त : यशोवर्मन, यह राजकक्ष है समरांगण नहीं ! कौमुदी महोत्सव को रक्त का अभिषेक नहीं चाहिए ! तुम्हें भी इतने शीघ्र क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

वसुगुप्त : सम्राट् ! मैं क्षमा चाहता हूँ। किन्तु सत्य की रक्षा हो।

चन्द्रगुप्त : अवश्य होगी। और आज कौमुदी महोत्सव में तो सौन्दर्य की ही रक्षा होगी ! हाँ, तुम राजनर्त्तकी के सम्बन्ध में क्या कह रहे थे ?

वसुगुप्त : सेवक यही निवेदन कर रहा था, सम्राट् ! कि सम्राट् के विश्राम-क्षणों को निद्रालु बनाने के लिए राजनर्त्तकी के नृत्य की आवश्यकता हो !

चन्द्रगुप्त : हाँ, होनी चाहिए।

वसुगुप्त : तो सम्राट् ! मैंने उसकी सज्जा के लिए विशेष प्रबन्ध करा दिया है। वह राजप्रासाद के उत्तर-कक्ष में वेशभूषा से सुसज्जित है।

चन्द्रगुप्त : मेरी इच्छाओं के पूर्व ही कार्य की आयोजना करने वाले वसुगुप्त ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। कौमुदी महोत्सव में सदैव मेरे साथ रहोगे।

वसुगुप्त : यह मेरा सौभाग्य है, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : इस अवसर पर मुझे तक्षशिला का स्मरण हो आता है, उस तक्षशिला में जहाँ अठारह विषयों की शिक्षा दी जाती थी, सहस्रों विद्यार्थी थे। वहाँ मेरे एक मित्र थे। तुमने भी उनका नाम सुना होगा। प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ कात्यायन।

वसुगुप्त : वे तो व्याकरण-निर्माता पाणिनि के अभ्यास-सिद्ध शिष्य प्रसिद्ध हैं, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : हाँ, मैं आयुर्वेद, धनुर्वेद और शल्य सीखता था और कात्यायन वेद और व्याकरण। पाणिनि के व्याकरण-सूत्र भाषा और साहित्य के पूर्व ही चलते थे। उसी प्रकार तुम्हारे कार्य भी मेरी इच्छा के पूर्व ही हो जाते हैं।

वसुगुप्त : आप मुझे आदर देते हैं, प्रभु !

चन्द्रगुप्त : वहीं आचार्य चाणक्य से मैत्री हुई। नीति-निष्णात आर्य चाणक्य के समान बुद्धि और अन्तर्दृष्टि में आज समस्त आर्यावर्त्त में एक भी व्यक्ति नहीं है। यह मेरा सौभाग्य है कि वे मेरे आचार्य और महामंत्री हैं।

यशोवर्मन : सम्राट् ! आचार्य चाणक्य की नीति अमर होने की क्षमता रखती है। राजनीति के साथ आयुर्वेद आदि में भी आचार्य चाणक्य निपुण हैं। चीन के एक राजकुमार अपनी नेत्र-पीड़ा की चिकित्सा कराने के लिए तक्षशिला आए थे। आचार्य चाणक्य ने एक सप्ताह की चिकित्सा में ही उन्हें स्पष्ट दृष्टि प्रदान की।

चन्द्रगुप्त : यह मैं जानता हूँ। उनकी राजनीति पर मुग्ध होकर तक्षशिला-शासक आम्भीक उन्हें तक्षशिला में ही रखना चाहता था; किन्तु उन्होंने वहाँ रहना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया था कि हम दोनों एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करेंगे।

यशोवर्मन : और सम्राट् ! उनका कथन अन्त में कितना सत्य निकला !

वसुगुप्त : सत्य क्यों न होता ? मानवी हृदय को पहिचानने की अन्तर्दृष्टि उनमें इतनी अधिक है कि वे एक ही क्षण में उनका सम्पूर्ण कार्यक्रम स्पष्टत: बतला सकते हैं। वे कार्य करने की शैली जानते हैं। अपूर्व शक्ति, अपूर्व बुद्धि का विचित्र समन्वय उनमें हुआ है।

यशोवर्मन : वे नर-रत्न हैं, सम्राट् ! आपके सहयोग से वे राज्य को निष्कंटक बना देंगे।

चन्द्रगुप्त : मैं भी ऐसा ही अनुमान करता हूँ, किन्तु कौमुदी महोत्सव के सम्बन्ध में भी मैं आचार्य चाणक्य से परामर्श नहीं कर सका। संग्राम की उलझनों ने अवकाश ही नहीं दिया, किन्तु इसकी सूचना तो उन्हें अवश्य मिल चुकी होगी !

वसुगुप्त : वे आपकी इच्छा का समर्थन ही करेंगे। कौमुदी महोत्सव की उपयोगिता और सामयिकता तो वे अपनी अन्तर्दृष्टि से अवश्य ही देख चुके होंगे। तो अब समय अधिक हो रहा है। सम्राट्, राजनर्तकी के नृत्य के सम्बन्ध में क्या निर्णय करते हैं?

चन्द्रगुप्त : उसका क्या नाम है?

वसुगुप्त : 'अलका' सम्राट्। वह अनिन्द्य सुन्दरी और अद्वितीय नृत्यकला की सम्राज्ञी है।

चन्द्रगुप्त : मैं पहले उसे देखना चाहूँगा।

वसुगुप्त : अवश्य, सम्राट्! वह राजप्रासाद के उत्तर-कक्ष में वेश-भूषा से सुसज्जित है। आज्ञा हो तो उसे सम्राट् की सेवा में निरीक्षणार्थ उपस्थित करूँ।

चन्द्रगुप्त : ऐसा ही हो।

वसुगुप्त : जो आज्ञा। मैं उसे अभी सम्राट् की सेवा में उपस्थित करता हूँ।

[वसुगुप्त का प्रसन्नता के साथ प्रस्थान]

चन्द्रगुप्त : अन्तपाल यशोवर्मन! आज राजनर्त्तकी अलका का नृत्य देखकर मैं कुसुमपुर की उत्कृष्ट नृत्य-कला का परिचय पा सकूँगा।

यशोवर्मन : मैं सम्राट् की सेवा में एक निवेदन करना चाहता हूँ।

चन्द्रगुप्त : निवेदन करो।

यशोवर्मन : विलासी नंदवंश की राजनीति में यह राजनर्त्तकी अलका है।

चन्द्रगुप्त : यह राजनर्त्तकी अलका?

यशोवर्मन : हाँ, सम्राट्! राजनर्त्तकी के जीवन का यह सबसे बड़ा अभिशाप है कि वह नंदवंश के विनाश का कारण बनी और इस तरह वह निर्दोष नहीं कही जा सकती।

चन्द्रगुप्त : निर्दोष? वह सब प्रकार से दोषी कही जानी चाहिए। गौतम ने अहल्या को शाप क्यों दिया? क्या अहल्या ने अपने सदाचार से अपने सौन्दर्य की रक्षा नहीं की थी? फिर क्यों उसने इन्द्र को नहीं पहिचाना? शची का सौभाग्य अप्सराओं को बाँटने वाले इन्द्र की लालसा का भी परिचय चाहिए? वैसे ही क्या अलका महाराज नंद को नहीं पहचान सकी? क्या महाराज नंद की आँखों में उसके अंगराग की अरुण रेखाएँ विद्युत बन कर नहीं चमक उठीं? यशोवर्मन! तुम जानते हो, आकाश की उल्का प्रकाश से ओतप्रोत रहती है, किन्तु जब वह उदित होती है तो समस्त संसार में अमंगल की आशंका क्यों होती है?

यशोवर्मन : जब सम्राट् ऐसा सोचते हैं तो उसके नृत्य की अनुमति क्यों दे रहे हैं?

चन्द्रगुप्त : केवल कौमुदी महोत्सव को शोभा-सम्पन्न करने के लिए। और कुसुमपुर की जनता के मन में यह संतोष उत्पन्न करने के लिए कि सम्राट् चन्द्रगुप्त ने महाराज नंद के आश्रितों के साथ सहानुभूति का व्यवहार किया। तुम जानते हो, यशोवर्मन ! महाराज नंद के लिए जो विष था, उसे मैं अमृत में परिणत करना चाहता हूँ।

यशोवर्मन : सम्राट् तक्षशिला के स्नातक हैं। सम्राट् जानते हैं कि राजनीति में राजनर्त्तकी का क्या स्थान है !

चन्द्रगुप्त : वही स्थान जो कृपाण की धार को ढँकने के लिए म्यान का होता है। राजनीति रूपी कठोर कृपाण का आतंक छिपाने के लिए राजनर्त्तकी रूपी आवरण आवश्यक है किन्तु वह आवरण कृपाण की धार को कुंठित नहीं करता। राजनीति की परुषता प्रजा की दृष्टि से ओझल रहना आवश्यक है।

यशोवर्मन : सत्य है, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : किन्तु महाराज नंद की राजनीति राजनर्त्तकी से कुंठित हो गई। तलवार ही म्यान बनकर रह गई, मैं राजनर्त्तकी को म्यान बनाकर रखना चाहता हूँ। (**रुककर**) क्या कारण है, मुझे कौमुदी महोत्सव के प्रारम्भ की सूचना तूर्य द्वारा नहीं सुन पड़ी ?

[वसुगुप्त का प्रवेश]

वसुगुप्त : सम्राट् ! राजनर्त्तकी सेवा में उपस्थित है।

चन्द्रगुप्त : उपस्थित करो। वह मेरे कक्ष के वातावरण को संगीत और नृत्य से मुखरित करे।

वसुगुप्त : जो आज्ञा, सम्राट् ! (**प्रस्थान**)

चन्द्रगुप्त : अंतपाल यशोवर्मन ! नृत्य और संगीत कौमुदी महोत्सव की वह प्रस्तावना है जिसमें उमंग की रूपरेखा मंगल के रंग में सुसज्जित होती है। नृत्य मेरी मनोहर भावनाएँ हैं जिनमें सुख का रहस्य जागता है !

[वसुगुप्त के साथ राजनर्त्तकी अलका का प्रवेश]

अलका : सम्राट् की सेवा में अलका का प्रणाम स्वीकार हो !

[अत्यन्त सुकुमार भाव से प्रणाम करती है]

चन्द्रगुप्त : (**हाथ उठाकर**) कुसुमपुर की श्री और शोभा की अधिवासिनी बनो। (**यशोवर्मन से**) यशोवर्मन ! तुम जा सकते हो।

यशोवर्मन : जो आज्ञा सम्राट् ! मेरा निवेदन है कि इस नृत्य-समारोह में आचार्य

चाणक्य भी सम्मिलित हों।

चन्द्रगुप्त : (**हँसकर**) आचार्य चाणक्य ? राजनीति को कविता से मिलाना चाहते हो ? मुझे कोई आपत्ति नहीं। यदि चाहो तो उन्हें यहाँ भेज सकते हो। वे भी राजनीति के कुचक्रों से थक गए होंगे, उन्हें भी विश्राम की आवश्यकता होगी। राजनीति का मस्तिष्क आज नृत्य की कविता से हृदय की सहानुभूति प्राप्त करे।

वसुगुप्त : जो आज्ञा, सम्राट् ! (**प्रस्थान**)

चन्द्रगुप्त : राजनीति और कविता ! (**राजनर्त्तकी से**) क्यों राजनर्त्तकी ! तुम राजनीति की ताल पर नृत्य कर सकती हो ?

अलका : सम्राट् ! अभी तक तो राजनीति ही मेरे नृत्य की ताल थी किन्तु मैंने इसकी ओर कभी ध्यान दिया ही नहीं। राजनर्त्तकी का राजनीति से क्या संबंध, सम्राट् ! वह तो राज्य की अनुचरी मात्र है।

चन्द्रगुप्त : (**हँसकर**) इन्हीं छद्मवेशी शब्दों से अनुचरी स्वामिनी बन जाती है, राजनर्त्तकी ! महाराज नंद तुम पर मोहित थे या तुम महाराज नंद पर मोहित थी ?

अलका : सम्राट्, मुझे क्षमा करें। सच्ची नारी मोहित नहीं होना चाहती। वह आत्म-समर्पण करना चाहती है। जो नारी मोहित होती है, वह अपने रूप का व्यापार करती है, हृदय का समर्पण नहीं।

चन्द्रगुप्त : तुम किस व्यापार में विश्वास करती हो ? रूप के व्यापार में या हृदय के व्यापार में ?

अलका : हृदय का व्यापार नहीं होता, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : तो हृदय का समर्पण सही !

अलका : उस समर्पण की कोई भाषा नहीं होती, सम्राट् ! जिस समर्पण की भाषा होती है, वह व्यापार बन जाता है और हृदय का व्यापार कभी नहीं होता !

चन्द्रगुप्त : पर महाराज नंद तो हृदय का व्यापार करते थे ! और उस व्यापार में वे अपना सारा साम्राज्य हार गए ! क्या यह बात सत्य नहीं है ?

अलका : सत्य है, सम्राट् ! किन्तु पुरुष तो व्यापारी है, वह अपने व्यापार में सब कुछ लुटा सकता है !

चन्द्रगुप्त : पुरुषों के प्रति तुम्हारी बहुत हीन दृष्टि है, राजनर्त्तकी !

अलका : उसी प्रकार जैसे पुरुषों की नारियों के प्रति हीन दृष्टि है, सम्राट् ! वे नारी को विलासिता की सामग्री बानकर छोड़ देते हैं !

चन्द्रगुप्त : किन्तु कोई नारी बलपूर्वक विलासिता की सामग्री नहीं बनायी जा सकती। वह अपनी विजय के लिए विलासिता की सामग्री बनती है और

दोष पुरुषों को देती है !

अलका : सम्राट् ! राजनीति के आचार्य हैं और सेविका राजनीति के पैरों से कुचली हुई धूल है, सम्राट् ! मैं क्या निवेदन कर सकती हूँ !

चन्द्रगुप्त : किन्तु राजनर्त्तकी ! धूल भी सिर पर चढ़ सकती है !

अलका : हाँ, सम्राट् ! जब वह पैरों से ठुकरायी जाती है। किन्तु सेविका का यह अधिकार नहीं।

चन्द्रगुप्त : अधिकार नहीं, राजनर्त्तकी ! यह तो उसकी गति है। गति में अधिकार का आडम्बर नहीं होता, उसमें शक्ति की विद्युत होती है। और तुममें वह शक्ति की विद्युत है जिसने आकाश का हृदय चीरते हुए तड़पकर नंद जैसे विशाल शाल वृक्ष को धराशायी कर दिया।

अलका : तब तो मुझे विद्युत की भाँति ही पृथ्वी में विलीन हो जाना चाहिए, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : किन्तु राजनर्त्तकी महासती सीता नहीं बन सकती जो भूमि में विलीन हो जाए। राजनर्त्तकी को राज्य का शृंगार करना पड़ता है।

अलका : वह मेरे जीवन का अभिशाप है, सम्राट् ! ऐसे फूलों का क्या सौन्दर्य जो किसी शव पर बिखेर दिए जाते हैं। आज आपके चरणों पर गिरकर मैं अपने जीवन से मुक्त हो जाऊँगी।

चन्द्रगुप्त : निराशा की बातें मत करो, राजनर्त्तकी ! तुम जानती हो, आज कौमुदी महोत्सव है। कुसुमपुर की जनता मेरे साथ आनन्द-विभोर हो जाना चाहती है। तुम्हें मधुर गायन से वातावरण को गुंजरित करना है।

अलका : सम्राट् की जो आज्ञा, किन्तु आज से मैं राजनर्त्तकी का पद त्याग दूँगी और आपके चरणों की धूल में शयन कर अमर हो जाऊँगी।

चन्द्रगुप्त : राजनर्त्तकी ! तुम्हारा यह वार्त्तालाप महाराज नंद से नहीं हो रहा, सैनिक चन्द्रगुप्त से हो रहा है। मुझे अपने चरणों की धूल वीरों की परंपरा के लिए छोड़नी है, राजनर्त्तकियों की परंपरा के लिए नहीं। किन्तु मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। कुसुमपुर के नागरिकों को नृत्य-शिक्षा दो और उसका मंगलाचरण आज कौमुदी महोत्सव में तुम्हारे नृत्य से हो। नृत्य प्रारम्भ करो जिसमें कुसुमपुर का वायुमंडल तुम्हारे नूपुरों के स्वरों का वाहक बन कर कौमुदी महोत्सव का निमंत्रण प्रत्येक दिशा में पहुँचा दे।

वसुगुप्त : अलका ! तुम्हें कुसुमपुर के आदर्श नृत्य का परिचय सम्राट् को देना है। इस समय तुम्हें ऐसा नृत्य करना है कि सम्राट् नृत्य-विभोर होकर अपने जीवन के समस्त विषाद को भूल जाएँ !

चन्द्रगुप्त : मुझे तो कोई विषाद नहीं है, वसुगुप्त !

वसुगुप्त : सम्राट् को विषाद ही क्या हो सकता है ! सम्राट् तो सैनिक हैं।

सैनिकों को विषाद कैसा ! मैं तो यह कहना चाहता था कि कुसुमपुर के नागरिकों के हितचिन्तन में लगा हुआ आपका मन जो थका हुआ है···

चन्द्रगुप्त : ठीक है, राजनर्त्तकी, नृत्य प्रारम्भ हो !

अलका : जो आज्ञा सम्राट् की !

[प्रणाम कर नृत्य प्रारम्भ करती है। कुछ देर नृत्य करने के बाद मधुर कंठ से गीत गाती है।]

आज मधुमय कुसुमों के द्वार—
द्वार पर है अलि का गुंजन !
सजीली थी मधुवन की गली,
समीरन धीरे-धीरे चली,
फूल के पास खिल गई कली,
और नभ से संध्या ने उतर,
लगाया आँखों में अंजन !
आज मधुमय कुसुमों के द्वार—
द्वार पर है अलि का गुंजन।

[थोड़ी देर तक नृत्य होता रहता है। अंत में सम्राट् के मुख से प्रशंसा के शब्द निकलते हैं।]

चन्द्रगुप्त : बहुत सुन्दर, राजनर्त्तकी अलका ! तुम जितनी सुन्दर हो, उतना ही सुन्दर तुम्हारा नृत्य है। यह लो अपना पुरस्कार !

[चन्द्रगुप्त अपने गले से मोतियों की माला उतारते हैं। सहसा आचार्य चाणक्य का प्रवेश।]

चाणक्य : पुरस्कार नहीं दिया जावेगा, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : (**आश्चर्य से रुककर**) महामंत्री, चाणक्य !

चाणक्य : सम्राट् ! आग बुझ जाने पर भी आग की राख गरम रहती है, उसे तुम हाथों में नहीं उठा सकते। तुम इतने थोड़े समय में कैसे मान बैठे कि कुसुमपुर की आग इतनी शीतल भस्म हो गई है कि उसमें कुसुमों की क्यारियाँ सजायी जाएँ ?

चन्द्रगुप्त : महामंत्री, चन्द्रगुप्त ने कुसुमों की क्यारियों में नहीं, समरांगण में अपने जीवन का वैभव देखा है, उसने नूपुरों की झंकार में नहीं, तलवारों की झंकार में अपने जीवन का संगीत गाया है। आपने यह कैसे समझ लिया कि चन्द्रगुप्त के क्षणिक मनोविनोद में उसका समरांगण कुसुम की क्यारी बन गया ? आपको यह समझना चाहिए कि यह क्षणिक विश्राम भविष्य

के युद्ध की भूमिका है ।

चाणक्य : और सम्राट् चन्द्रगुप्त ! यदि इस क्षणिक विश्राम में ही जीवन का अंत हो गया तो ? तुम्हारे भविष्य के वैभव का समरांगण ही कहीं तुम्हारे शव का श्मशान बन गया तो इस विश्राम के क्षण को तुम क्या कहोगे ?

चन्द्रगुप्त : आर्य, विश्राम के क्षणों की सीमा क्या और कितनी है, यह जानने के लिए चन्द्रगुप्त के पास पर्याप्त विवेक···

चाणक्य : (**बीच में ही**) नहीं है । यही समझकर मैं अपने साथ सैनिक लाया हूँ । (**पुकारकर**) सैनिको ! राजनर्त्तकी और समाहर्त्ता को अपने नियंत्रण में लो !

[सैनिक नेपथ्य से निकलकर आगे बढ़ते हैं ।]

वसुगुप्त : सम्राट्, राजमर्यादा भंग हो रही है, रक्षा कीजिए !

चन्द्रगुप्त : महामंत्री, वसुगुप्त अपने नवीन समाहर्त्ता हैं !

चाणक्य : किन्तु इस समय वे बन्दी हैं । सैनिको, दोनों को नियंत्रण में लो । यदि कोई विरोध हो तो बल-प्रयोग हो !

वसुगुप्त : (**करुण स्वर में**) मैं निर्दोष हूँ, मैं निर्दोष हूँ, सम्राट् ! महामंत्री ! मैं निर्दोष हूँ ।

अलका : (**अत्यन्त करुण स्वर में**) मेरा स्पर्श कोई न करे ! मैं नारी हूँ । नारी की मर्यादा सुरक्षित हो । सम्राट् ! नारी की मर्यादा सुरक्षित हो । मैं स्वयं नियंत्रण में होती हूँ । हाय, नारी नियंत्रण में, सदैव नियंत्रण में, जीवन भर नियंत्रण में । (**विह्वल हो जाती है ।**)

चन्द्रगुप्त : (**आगे बढ़कर**) आर्य चाणक्य !···

चाणक्य : कुछ मत कहो इस समय, सम्राट् चन्द्रगुप्त ! चाणक्य अपना कर्त्तव्य अच्छी तरह समझता है । सैनिको ! दोनों को नियंत्रण में लेकर दूसरे कक्ष में ले जाओ ।

सैनिक : जो आज्ञा । (**दोनों को बन्दी कर सैनिकों का प्रस्थान**)

चन्द्रगुप्त : यह राजमर्यादा की सबसे बड़ी अवहेलना है, महामंत्री ! जिस राजमर्यादा की पूजा हमने रक्त चढ़ा कर की है, उसी राजमर्यादा को तुच्छ सैनिक अपने पैरों की धूल से कलंकित करें ! यह कैसी राजनीति है ! आज कौमुदी महोत्सव के अवसर पर···

चाणक्य : कौमुदी महोत्सव ?

चन्द्रगुप्त : हाँ, कौमुदी महोत्सव । क्या आपने मेरी घोषणा नहीं सुनी ?

चाणक्य : वह सुनने योग्य नहीं थी ।

चन्द्रगुप्त : आप राजमर्यादा का इतना अपमान कैसे कर रहे हैं, महामंत्री !

कौमुदी महोत्सव की घोषणा कुसुमपुर में मेरी प्रथम राजघोषणा है।

चाणक्य : वह राजघोषणा प्रारम्भ होने से पूर्व ही समाप्त हो गई !

चन्द्रगुप्त : (**आश्चर्य से**) समाप्त हो गई ! किसने यह साहस किया ?

चाणक्य : मैंने, आर्य चाणक्य ने।

चन्द्रगुप्त : इसीलिए मुझे घोषणा का तूर्य नहीं सुन पड़ा। तो आपने कौमुदी महोत्सव की घोषणा नहीं होने दी !

चाणक्य : नहीं। मैंने ही घोषणा नहीं होने दी।

चन्द्रगुप्त : मैं कारण जानना चाहता हूँ।

चाणक्य : मैं कारण नहीं बतला सकता।

चन्द्रगुप्त : सम्राट् कौन है, चन्द्रगुप्त या चाणक्य ?

चाणक्य : चन्द्रगुप्त।

चन्द्रगुप्त : फिर सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा की अवहेलना क्यों हो रही है ?

चाणक्य : इसलिए कि वह आज्ञा किसी मनचले बालक के हठ की तरह है।

चन्द्रगुप्त : फिर भी उसकी रक्षा होनी चाहिए।

चाणक्य : नहीं, बालक आग पकड़ना चाहता है। उसे आग पकड़ने की सुविधा नहीं दी जा सकेगी।

चन्द्रगुप्त : यह तुम्हारा गर्व है, महामंत्री !

चाणक्य : यह तुम्हारा अज्ञान है, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : (**क्रुद्ध होकर**) महामंत्री ! कुसुमपुर की विजय में तुम्हारा हाथ रहा है, तो क्या इतनी छोटी-सी विजय ने ही तुम्हारे गर्व की चिनगारी को फूँक मारकर लपट में परिवर्तित कर दिया ! यह गर्व उस चिता की ज्वाला है जिसमें तुम्हारी राजनीति जल कर भस्म हो सकती है।

चाणक्य : मुझे इसकी चिन्ता नहीं है, सम्राट् ! गर्व मेरे अंत:करण का अधिकार है। वह राज्य से अनुशासित नहीं है। किन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि चाणक्य के गर्व की चिनगारी स्वर्ग के राज्य को प्राप्त करके भी लपट नहीं बनेगी ! हाँ, अपमान के हल्के झोंके से ही वह दावाग्नि बन कर तुम्हारे वैभव के नंदन वन को क्षण भर में भस्म कर सकती है। क्या तुम नंदवंश के विनाश की पुनरावृत्ति देखना चाहते हो ?

चन्द्रगुप्त : आर्य चाणक्य ! सैनिक चन्द्रगुप्त विलासी नंद नहीं है जो पतन के गर्त्त के मुख पर खड़ा होकर हलकी-सी राजनीति के धक्के की प्रतीक्षा करे। मौर्य चन्द्रगुप्त हिमाद्रि की तरह सुदृढ़ है जिसे महामंत्री चाणक्य की कुटिल राजनीति-रूपी आँधियों के झोंके एक कण-भर भी विचलित नहीं कर सकते।

चाणक्य : मौर्य चन्द्रगुप्त ! क्षत्रियत्व क्या इतना पतित हो गया कि वह

ब्राह्मणत्व पर पदाघात करे ? क्या तुम जानते हो कि मौर्य हिमाद्रि की भाँति सुदृढ़ कैसे हो गया ? उसकी सुदृढ़ता को धारण करने वाली पृथ्वी इसी ब्राह्मण की राजनीति है। यदि यह शक्ति एक क्षण के लिए अलग हो जाए तो हिमाद्रि इतने वेग से नीचे गिरेगा कि वह अपने साथ समीपवर्ती वृक्षों को भी लेकर समुद्रतल में चला जाएगा और तब समुद्र की तरंगें इसी ब्राह्मण के चरणों में लोटने के लिए आवेंगी और वह ब्राह्मण उस ओर देखेगा भी नहीं।

चन्द्रगुप्त : आर्य चाणक्य ! संसार में जितने प्रतापशाली राज्य हुए हैं क्या वे सब महामंत्री चाणक्य की राजनीति के बल पर ही हुए हैं ? और जहाँ महामंत्री चाणक्य नहीं है, वहाँ किसी राज्य की स्थापना भी नहीं है ? क्या सारे राज्यों की शक्ति महामंत्री चाणक्य की शक्ति से ही भिक्षा माँग कर संसार में चली है और क्या चन्द्रगुप्त इतना हीन है कि उस शक्ति के बल पर विजय प्राप्त करता है ? तब जाने दो ऐसी शक्ति को। उसे मैं आज ही दूर करता हूँ। महामंत्री चाणक्य ! तुम महामंत्री पद से मुक्त किए गए।

चाणक्य : मौर्य ! यह लो अपना शस्त्र, (**फेंक देते हैं**) यह कलंक इसी समय दूर करता हूँ। राजमंत्री राक्षस की राजनीति के कुचक्र में आने वाले चन्द्रगुप्त ! क्या मैं अपनी शिखा खोलकर विनाश की फिर प्रतिज्ञा करूँ ? जिस ब्राह्मण की शिखा-सर्पिणी ने नंदवंश को एक ही दंशन में समाप्त कर दिया, क्या मौर्य भी उस सर्पिणी पर हाथ रखना चाहता है ? जिस चन्द्रगुप्त को अपना आत्मीय समझकर कुसुमपुर के सिंहासन पर आरूढ़ कराया उसी चन्द्रगुप्त के विनाश से क्या श्मशान को सुसज्जित करूँ ! वाह रे ब्राह्मण ! ब्रह्म-ज्ञान में जीवित रहने वाला आज राज्य के कुचक्रों से लांछित हो रहा है। आज अपने सृष्टि-सागर का विष मैं ही पी रहा हूँ। किन्तु चन्द्रगुप्त ! मुझमें कालकूट को भी पी जाने वाले नीलकंठ की शक्ति है ! समझते हो ?

चन्द्रगुप्त : समझता हूँ, चाणक्य ! (**शस्त्र उठाते हुए**) यह शस्त्र अब मेरे अधिकार में है। आज से मैं समस्त राजनीति अपने बाहु-बल में केन्द्रित कर कुसुमपुर का शासन करूँगा और विद्रोह के सर्पों को जलाने के लिए महायज्ञ करूँगा।

चाणक्य : करो, इसी समय से करो वह महायज्ञ और उसमें तुम भी विनष्ट हो जाओ ! आज कौमुदी महोत्सव करो और अपने नवीन समाहर्त्ता और राज-नर्त्तकी के रूप में अपनी मृत्यु को निमंत्रण दो।

चन्द्रगुप्त : मेरे आनंदोत्सव से ईर्ष्या करने वाले चाणक्य ! तुम यही कहो। ब्राह्मण को इन ऐश्वर्यों से द्वेष होना स्वाभाविक है।

चाणक्य : आत्म-चिन्तन में जो ऐश्वर्य है, क्षत्रिय ! वह इन तुच्छ भड़कीले वैभवों

में नहीं है और वह वैभव जो अपने साथ मृत्यु लिए हुए है ! शत्रु के गुप्तचरों और विषकन्याओं पर विश्वास करने वाला सम्राट् एक ही पदक्षेप में मृत्यु का आलिंगन उसी भाँति करता है जैसे एक ही उछाल में पतिंगा दीप-शिखा के भीतर जलती हुई मृत्यु में भस्म हो जाता है। तुम भी भस्म हो जाओ और अपने वैभव का जला हुआ काला धुआँ अपने पीछे छोड़ जाओ।

चन्द्रगुप्त : अपनी राजनीति में अविश्वासी बने हुए, चाणक्य ! तुम प्रत्येक व्यक्ति को गुप्तचर और प्रत्येक नारी को विषकन्या समझ सकते हो ! राज्य-सीमा की रेखा पर रेंगती हुई तुम्हारी आँखों की पुतलियाँ काले कीड़े की तरह केवल निरीह जीवों की हिंसा करना ही जानती हैं। महामंत्री की विशेषता···

चाणक्य : महामंत्री मत कहो, मौर्य ! मैं अब तुम्हारा महामंत्री नहीं हूँ। मैं भी तुम्हें सम्राट् नहीं कह रहा हूँ। मैं केवल एक ब्राह्मण हूँ, वह ब्राह्मण जिसकी शिखा बहुत दिनों तक खुली रही और यह तभी बाँधी गई जब उसने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार नंदवंश का विनाश कर दिया। अब उसके सामने केवल दो ही मार्ग हैं : या तो वह पुनः अपनी शिखा खोल कर मौर्यवंश के विनाश की प्रतिज्ञा करे या क्षितिज की भाँति अपनी बाहुओं को फैला कर नक्षत्रों के नेत्रों से विश्वंभरा पृथ्वी को अपनी करुणा और शान्ति से सींचे। तब समस्त सृष्टि में उसका राज्य होगा, पशु-पक्षी उसके सहचर होंगे और वायु-झकोरों में झूल कर वह सामगान करता हुआ तुम्हें क्षमा करेगा।

चन्द्रगुप्त : यह तपोवन नहीं है, आर्य ! और चन्द्रगुप्त क्षमा का न तो पात्र है, न अभिलाषी। अब तपोवन के होमकुण्ड में हिंसा करो या कुश-कंटक चरने-वाले हरिणों को क्षमा करो, किन्तु जाने से पूर्व नवीन समाहर्त्ता वसुगुप्त तथा राजनर्त्तकी अलका पर लगाए हुए लांछन का निराकरण करना होगा ! और यदि वह लांछन असत्य निकला तो राज्य का दण्ड-विधान अपराधी को पहचानता है। यह मेरा अन्तिम आदेश है।

चाणक्य : अपने नवीन महामंत्री को प्रथम आदेश दो, मौर्य ! मैं तुम्हारे समक्ष सत्य के उद्घाटन के लिए बाध्य नहीं हूँ।

चन्द्रगुप्त : जो ब्राह्मण सत्य के उद्घाटन को अपना धर्म न समझे, उसे मैं किस संज्ञा से संबोधित करूँ ?

चाणक्य : सत्य का उद्घाटन मैं अपनी इच्छा से कर सकता हूँ। किन्तु इस उद्घाटन के अनन्तर मैं एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहर सकूँगा। यह वातावरण अभिशाप बन कर मेरे रोम-रोम में तीव्र प्रतिहिंसा की ज्वाला उत्पन्न कर रहा है।

चन्द्रगुप्त : सर्वप्रथम प्रमाण उपस्थित किया जाए।

चाणक्य : (**पुकार कर**) सैनिक !

[सैनिक का प्रवेश]

सैनिक : आज्ञा, महाराज !

चाणक्य : समाहर्त्ता वसुगुप्त और राजनर्त्तकी अलका को उपस्थित करो।

सैनिक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

चाणक्य : चन्द्रगुप्त ! प्रजा के संस्कार जल्दी नहीं छूटते। इस समय भी महाराज नंद से सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति कुसुमपुर में विद्रोह की लपटों के स्फुलिंग बने हुए हैं। राजमंत्री राक्षस कुसुमपुर के बाहर रहकर भी कुसुमपुर के नागरिकों में अविश्वास के बीजों पर अपनी नीति का जल सींच रहा है। कुसुमपुर में समस्त कार्यों में षड्यंत्रों का जाल जयकार के छद्मवेश में चारों ओर घूम रहा है और तुम कौमुदी महोत्सव में असावधान होकर विषकन्या का स्पर्श करना चाहते हो ? चन्द्रगुप्त ! मैं अपने निस्पृह नेत्रों से सब कुछ देख रहा हूँ···और तुम देख कर भी कौमुदी महोत्सव की शीतलता में हलाहल पान करने जा रहे हो ! मैं फिर यही कहना चाहता हूँ···

[सैनिक का वसुगुप्त और अलका के साथ प्रवेश]

अच्छा ! समाहर्त्ता वसुगुप्त और राजनर्त्तकी अलका ! सैनिको ! तुम जाकर द्वार पर अपना स्थान ग्रहण करो। (**सैनिकों का प्रणाम कर प्रस्थान। वसुगुप्त को सम्बोधित करते हुए**) समाहर्त्ता वसुगुप्त ! मुझे दुःख है कि मैंने तुम्हें सैनिकों के नियंत्रण में रखा। मैं जानता हूँ कि तुम सम्राट् चन्द्रगुप्त के विश्वासपात्र नवीन समाहर्त्ता हो !

वसुगुप्त : मैं समाहर्त्ता नहीं हूँ, महामंत्री ! यदि समाहर्त्ता होता तो सम्राट् समाहर्त्ता का अपमान इस भाँति नहीं देख सकते थे।

अलका : (**करुण स्वर में**) और नारी का अपमान ! आज तक कुसुमपुर के राजकक्ष में नहीं हुआ ! मैं अपमानित हुई हूँ, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त : (**दृढ़ता से**) निस्सन्देह ! मैं दोनों का प्रतिकार करूँगा।

चाणक्य : (**वसुगुप्त से**) सम्राट् से तुमने आश्वासन पा लिया है, समाहर्त्ता और (**राजनर्त्तकी से**) राजनर्त्तकी ! तुम्हें भी सम्राट् के बाहुओं की शीतल छाया प्राप्त हो चुकी है, किन्तु (**वसुगुप्त से**) मैं जानना चाहता हूँ समाहर्त्ता ! राजनर्त्तकी से तुम्हारा परिचय कितना पुराना है ?

वसुगुप्त : मैं राजनर्त्तकी का नाम भी नहीं जानता, महामंत्री ! मुझे तो कौमुदी महोत्सव की घोषणा के कुछ क्षण पूर्व राजनर्त्तकी का परिचय मिला था।

चाणक्य : तुम कुसुमपुर के निवासी हो, समाहर्त्ता ?

वसुगुप्त : कुसुमपुर के एक ग्राम अमरावती का निवासी हूँ, मैं वहाँ का अंतपाल था।

चाणक्य : तो तुम कुसुमपुर में कब से निवास करते हो ?

वसुगुप्त : मैंने कहा न, महामंत्री ! मैं कुसुमपुर का नहीं, अमरावती का निवासी हूँ।

चाणक्य : सम्राट् चन्द्रगुप्त ने तुम्हें कुसुमपुर में पाया या अमरावती में ? उन्होंने तुम्हें अपना समाहर्त्ता बनाने में तो कुसुमपुर की नागरिकता को ही ध्यान में रखा होगा ?

वसुगुप्त : मैं कुसुमपुर में निवास नहीं करता, महामंत्री ! मैं अमरावती से कुसुमपुर आया अवश्य करता हूँ।

चाणक्य : वर्ष में कितनी बार आया करते हो ?

वसुगुप्त : मैं कह नहीं सकता !

चाणक्य : (**कठोर स्वर में**) प्रश्न की अवहेलना नहीं हो सकती ! ठीक उत्तर दो।

वसुगुप्त : महाराज नंद के प्रमुख उत्सवों में आया करता था।

चाणक्य : गत वर्ष वसंतोत्सव में सम्मिलित हुए थे, अमरावती के अंतपाल ?

वसुगुप्त : हाँ, महामंत्री !

चाणक्य : वसंतोत्सव में राजनर्त्तकी अलका ने नृत्य किया था। तुमने उसे देखा था ?

वसुगुप्त : हाँ, महामंत्री !

चाणक्य : तब तुम अलका के नाम से परिचित हो !

वसुगुप्त : हाँ, महामंत्री !

चाणक्य : अभी तुमने कहा कि मैं अलका का नाम भी नहीं जानता और कहा कि कौमुदी महोत्सव के एक क्षण पूर्व राजनर्त्तकी का परिचय मिला।

वसुगुप्त : मैं राजनीति की बातें प्रकट नहीं किया करता !

चाणक्य : (**हँसकर**) बड़े राजनीतिज्ञ हो ! अच्छा, राजनीति की बातें मत कहो। सीधा उत्तर दो, तुम राजमंत्री राक्षस के गुप्तचर कब हुए ?

वसुगुप्त : महामंत्री ! मैं दुष्ट राक्षस को जानता भी नहीं हूँ।

चाणक्य : उसी तरह जिस तरह तुम राजनर्त्तकी को नहीं जानते थे ?

वसुगुप्त : (**चन्द्रगुप्त से**) सम्राट् ! मेरे सम्मान की रक्षा कीजिए।

चन्द्रगुप्त : मैं रक्षा करूँगा ! पहले महामंत्री आचार्य चाणक्य के प्रश्नों के उत्तर दे दो।

वसुगुप्त : मैं उत्तर देने में असमर्थ हूँ, सम्राट् ! कौमुदी महोत्सव के इस अवसर

पर मैंने अधिक आसव पान कर लिया है। इसी कारण मेरे उत्तर ठीक नहीं हैं।

चाणक्य : कोई हानि नहीं, समाहर्त्ता ! मैं तुम्हें और भी आसव पान करने के लिए दूँगा जिससे तुम्हारे लिए यह कौमुदी महोत्सव और भी मंगलमय हो।

वसुगुप्त : मैं अधिक आसव पान करना राजधर्म के प्रतिकूल समझता हूँ, महा-मंत्री !

चाणक्य : अभी तुमने कहा कि अधिक आसव पान करने के कारण मैं ठीक उत्तर नहीं दे सकता। अब कहते हो, मैं अधिक आसव पान करना राजधर्म के प्रतिकूल समझता हूँ।

वसुगुप्त : मैं राजनीति के रहस्य आपके समक्ष खोलने में असमर्थ हूँ।

चाणक्य : बार-बार राजनीति ! प्रत्येक प्रश्न में राजनीति ! राज्य का समा-हर्त्ता राज्य के महामंत्री से राजनीति के रहस्य नहीं कहना चाहता ? और आसव पान करने में भी तुम्हारी राजनीति है ! हाँ, तुम्हारी नहीं, मेरी है। समाहर्त्ता ! यदि तुम नहीं चाहते तो मैं तुमसे राजनीति के रहस्य खोलने के लिए नहीं कहूँगा। कविता की बातें कहूँगा। कविता की बातें कर सकते हो ? उत्तर दो, जो आसव वन्य कुसुमों की सुगंधि लिए हुए है, वह इतना मादक क्यों होता है ?

वसुगुप्त : मैं नहीं जानता, महामंत्री !

चाणक्य : तुम नहीं जानते ? मैं जानता हूँ। जो आसव वन्य कुसुमों की सुगंधि लिए हुए है वह इतना मादक इसलिए है कि उसे सुन्दरियाँ अपने हाथ से पान कराती हैं, ऐसी सुन्दरियाँ जिनके नेत्रों में आसव है। तुम्हारे आसव को देखते हुए अपने नेत्रों का आसव उसमें ढालकर उसे और भी मादक बना देती हैं।

वसुगुप्त : आप तो राजनीति और कविता दोनों में पारंगत हैं, महामंत्री !

चाणक्य : चाणक्य की सूखी शिराओं में कविता कहाँ ! किन्तु तुम्हारी इच्छानु-सार मैं राजनीति के रहस्यों के बदले तुम्हें कविता देना चाहता हूँ। एक बात और पूछूँ ? सुन्दरियों के नेत्रों में अधिक मादकता है या अधरों में ?

वसुगुप्त : इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, महामंत्री !

चाणक्य : राजनीति के रहस्यों से भी कठिन, समाहर्त्ता ! जिसमें तुम पारंगत हो ? अमरावती के अंतपाल और महाराज नंद के वसंतोत्सव में सम्मिलित होने वाले वसुगुप्त के लिए यह प्रश्न कठिन नहीं है। महाराज नंद के वसंतोत्सव में 'अनंग क्रीड़ा' का आयोजन हुआ था ?

वसुगुप्त : हाँ, महामंत्री !

चाणक्य : और तुम उसमें सम्मिलित हुए थे। तब तो तुम जानते ही होगे कि सुन्दरियों के नेत्रों से अधिक अधरों में मादकता होती है। होती है समाहर्त्ता ? (**तीव्र स्वर में**) उत्तर दो।

वसुगुप्त : हाँ, महामंत्री !

चाणक्य : तो जो आसव सुन्दरियाँ अपने अधरों से लगाकर देती हैं उसमें और भी अधिक मादकता होती है ? (**तीव्र स्वर में**) उत्तर दो।

वसुगुप्त : हाँ, महामंत्री !

चाणक्य : अब मुझे तुमसे कोई प्रश्न नहीं पूछना। तुमसे इतने प्रश्न पूछकर मैंने तुम्हें जो कष्ट दिया है, उसके लिए मैं तुम्हें पुरस्कार देना चाहता हूँ और वह पुरस्कार यह है कि तुम राजनर्त्तकी अलका के अधरों से स्पर्श किए गए मादक आसव का एक घूँट···

अलका : (**विह्वल होकर**) क्षमा कीजिए महामंत्री ! मैं आसव का स्पर्श नहीं करूँगी। आज तक न मैंने आसव पान किया है और न पान कराया है। मैं क्षमा की भीख माँगती हूँ, महामंत्री !

चाणक्य : कौमुदी महोत्सव में पुरस्कार मिलता है, देवी ! भीख नहीं। (**पुकारकर**) सैनिक ! (**सैनिक का प्रवेश**) आसव का एक चषक उपस्थित करो।

सैनिक : जो आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

अलका : (**बिलखकर**) महामंत्री, मेरा जीवन अभिशाप से परिपूर्ण है। मैं राजनर्त्तकी बनकर नारी भी नहीं रह पाई। मैं संसार की सबसे बड़ी विडम्बना हूँ, मैं पाप की कालिमा हूँ, मैं रौरव की ज्वाला हूँ ! मैं···मैं···

चाणक्य : नहीं देवी ! तुम महाराज नंद की राजनर्त्तकी हो ! अनिंद्य सुन्दरी, कलापूर्ण नृत्य की सम्राज्ञी ! हाँ, मुझे दुःख है कि तुम्हारा जीवन··· (**सैनिक चषक लेकर आता है**) क्या ले आए चषक ? हाँ, मैं अपने साथ ही तो लाया था, आसव और चषक लाओ ! तुम इसका पान करो, राजनर्त्तकी !

अलका : महामंत्री ! मुझे आसव पान कराओ, मुझे विष दे दो ! भयानक हलाहल दे दो ! उससे शान्ति मिलेगी ! मेरी जिह्वा पर सर्प-दंशन चाहिए सर्प-दंशन, महामंत्री !

चाणक्य : सर्प-दंशन तुम्हें नहीं चाहिए, राजनर्त्तकी ! किसी और को चाहिए। (**सैनिक से**) सैनिक ! बलपूर्वक यह आसव राजनर्त्तकी को पान कराओ। (**सैनिक राजनर्त्तकी को बलपूर्वक आसव पान कराता है। अनिच्छापूर्ण लड़खड़ाती हुई साँस में मदिरापान करने की आवाज**) बस, रहने दो ! (**सैनिक राजनर्त्तकी के अधरों से चषक हटाता है**) अब यह आसव राजनर्त्तकी के

अधरों को छूकर और भी मादक बन गया। अब कौमुदी महोत्सव के समाहर्त्ता वसुगुप्त को उनका पुरस्कार चाहिए। सैनिक ! यह शेष आसव समाहर्त्ता वसुगुप्त पान करेंगे।

वसुगुप्त : सम्राट् ! मेरी रक्षा कीजिए। मैं वह आसव पान नहीं करूँगा, नहीं करूँगा !

चाणक्य : सैनिक ! वसुगुप्त को शेष आसव बलपूर्वक पान कराओ।

[सैनिक बलपूर्वक आसव पान कराते हैं। घुटते हुए कंठ की आवाज—]

वसुगुप्त : (**लड़खड़ाते शब्दों में**)ओह ! घोर···हलाहल···आग की···ज्वाला ! सर्प-दंशन···सर्प···दंशन···महामंत्री, चाणक्य ! तुम···राज···मंत्री··· राक्षस···पर···विजयी···हुए। कौमुदी महो···त्···सव···नहीं···हो··· सका···! ···अलका···मुझे···क्षमा···कौमुदी···महो···त्···सव···कौ··· मु···दी···महो···त्···स···व

[प्राण छूट जाते हैं]

चन्द्रगुप्त : आह विषकन्या ! राजनर्त्तकी विषकन्या है ! अधरों से स्पर्श किया गया आसव···हलाहल···बन गया ! समाहर्त्ता···

चाणक्य : समाहर्त्ता अब इस संसार में नहीं है, चन्द्रगुप्त ! अब अलका···

अलका : सम्राट् क्षमा कीजिए ! महामंत्री, प्राणों की भिक्षा दीजिए ! मैं निर्दोष हूँ ! मैं निर्दोष हूँ ! सम्राट् ! मैं आपके चरण चूमकर··· (**चरणों पर गिरने के लिए आगे बढ़ती है।**)

चाणक्य : पीछे हटो ! पीछे हटो, चन्द्रगुप्त ! (**चन्द्रगुप्त पीछे हटते हैं**) यह तुम्हारे पैरों में अपने दाँत चुभाकर तुम्हें मृत्यु-मुख में ढकेल देगी। यह इसका अन्तिम प्रयोग है। नारी रूप में भयानक सर्पिणी विषकन्या ! राजमंत्री राक्षस ने कौमुदी महोत्सव का प्रस्ताव वसुगुप्त से कराकर असावधान चन्द्रगुप्त को विषकन्या के प्रयोग से नष्ट करने की चाल सोची थी। सैनिको ! राजनर्त्तकी को बन्दी करो। इसका प्रयोग शत्रु पर ही किया जाएगा। (**सैनिक राजनर्त्तकी को बन्दी करते हैं**)समाहर्त्ता वसुगुप्त राक्षस का गुप्तचर था और राजनर्त्तकी अलका विषकन्या ! इस सत्य का उद्घाटन मैंने अपनी इच्छा से किया है और इस उद्घाटन के अनन्तर मैं एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहर सकूँगा ! मेरा मार्ग छोड़ दो। हटो ! तपोवन मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। चन्द्रगुप्त ! अपने विश्वासपात्र समाहर्त्ता वसुगुप्त का अन्तिम संस्कार और कौमुदी महोत्सव का आयोजन दोनों साथ-साथ करो और अपना राज्य सम्हालो। (**प्रस्थान**)

चन्द्रगुप्त : (**विह्वल स्वर में**) आर्य चाणक्य ! महामंत्री चाणक्य ! चन्द्रगुप्त को तुम्हारी आवश्यकता है। महामंत्री चाणक्य के बिना यह राज्य नष्ट हो जाएगा, चन्द्रगुप्त नष्ट हो जाएगा ! महामंत्री चाणक्य ! कौमुदी महोत्सव नहीं होगा। (**चाणक्य के पीछे शीघ्रता से जाते हैं। उनकी ध्वनि क्रमशः क्षीण होती सुनाई पड़ती** है) कौमुदी महोत्सव नहीं होगा !!··· कौमुदी महोत्सव नहीं होगा !!!

□

विजय-पर्व

भूमिका

सम्राट् अशोक का इतिहास

सम्राट् अशोक का ऐतिहासिक इतिवृत्त प्राचीनता की गहराइयों में डूबा हुआ है। इनके इतिहास के जो स्रोत हैं, वे प्रामाणिक तथ्यों से हमें परिचित कराने में असमर्थ हैं, प्राचीन काल में इतिहास लिखने की परम्परा न थी। विदेशों से जो पर्यटक भारत में आए, उन्होंने यहाँ के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन पर अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है; उसमें भी कहीं-कहीं या तो अतिरंजना का समावेश हो गया है या अपने देश-प्रेम से प्रेरित होकर विभिन्न तथ्यों का उल्लेख नहीं किया गया है। यूनानी तथा चीनी इतिहासकारों एवं पर्यटकों के ग्रंथ अशोक के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश नहीं डालते हैं। कलिंग-विजय और बौद्ध धर्म में प्रव्रज्यित हो जाने के उपरान्त का इतिहास तो कुछ प्रकाशित भी है, किन्तु इससे पूर्व का इतिहास पूर्णत: अंधकार के गर्त्त में ही है।

अशोक के प्रारम्भिक जीवन के अतिरंजित चित्र हमें बौद्ध-गाथाओं में मिलते है, किन्तु वे गाथाएँ एकमत नहीं हैं, इस प्रकार उन गाथाओं पर विश्वास करना कठिन है। अशोक का विस्तृत वर्णन उत्तरी और दक्षिणी गाथाओं में मिलता है। दक्षिण (ताम्रपर्णी) की बौद्धगाथाएँ अशोक के जीवन का जो चित्र प्रस्तुत करती हैं, वह अतिरंजना के रंगों से भरपूर है। 'दीपवंश' और 'महावंश' में अशोक के प्रारम्भिक जीवन से सम्बद्ध अनेक कथाएँ हैं। महावंश के अनुसार अशोक के पिता सम्राट् बिन्दुसार के सोलह रानियाँ थीं और एक सौ पुत्र थे। अशोक ने सिंहासनारोहण के पूर्व अपने सौ भाइयों का वध किया था। अशोक अपने पिता द्वारा उज्जयिनी का शासक बनाया गया था। जब उसे पिता की मृत्यु का समाचार मिला, तो उसने पाटलिपुत्र आकर सिंहासन के वास्तविक उत्तराधिकारी अपने ज्येष्ठ भाई 'सुमन' का वध किया और स्वयं सिंहासन का अधिकारी बना।

अनेक दृष्टियों से उत्तरी गाथाएँ दक्षिणी (सिंहली) गाथाओं की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक ज्ञात होती हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध अशोक की जन्मभूमि से

अधिक निकट था। इस परम्परा की गाथाएँ अशोक को अपेक्षाकृत कम क्रूर चित्रित करती हैं और उनके सिंहासनारोहण की घटना का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन इन गाथाओं में है। 'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक को केवल सुसीम (अथवा सुमन) से ही युद्ध करना पड़ा था। 'दिव्यावदान' में उल्लिखित अशोक की कथा का सारांश यह है—

अशोक की माता 'शुभ्रदांगी' चम्पा के ब्राह्मण की कन्या थी। उनकी बाल्यावस्था में ही किसी ज्योतिषी ने यह घोषणा की थी कि उनका पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। उनके पिता उन्हें लेकर मगध-सम्राट् बिन्दुसार के यहाँ उपस्थित हुए और शुभ्रदांगी ने परिचारिका के रूप में राजभवन में प्रवेश किया। इस घटना का भेद खुलने पर सम्राट् ने उन्हें राजरानी के रूप में ग्रहण किया। एक दिन सम्राट् बिन्दुसार ने परिव्राजक पिंगलावत्साजीव से अपने उत्तराधिकारी के विषय में प्रश्न किया। उन्होंने स्पष्ट न कहकर संकेतों से यह बता दिया कि अशोक ही उनके अनन्तर सम्राट् होंगे। उन्होंने अशोक की माता को भी स्पष्ट बता दिया कि सम्राट् के सिंहासन के उत्तराधिकारी अशोक ही होंगे।

सम्राट् बिन्दुसार अपने ज्येष्ठ पुत्र सुसीम को अधिक स्नेह करते थे; इस कारण वे अधिक उद्दण्ड हो गए। उन्होंने एक दिन खेल-खेल में अमात्य खल्लाहक का अपमान कर दिया। इस कारण वे तथा अन्य मंत्री उनसे रुष्ट हो गए।

जिस समय सम्राट् बिन्दुसार का स्वर्गवास हुआ, सुसीम तक्षशिला का विद्रोह शांत करने गए थे। अमात्य-मंडल की सहायता से अशोक ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। सुसीम जब तक्षशिला से लौटा, तो उसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करना चाहा, किन्तु अशोक के मंत्री राधागुप्त ने धोखे से सुसीम को जलते हुए अंगारों के खड्ड में गिराकर उसे समाप्त करा दिया।

'दिव्यावदान' की कथा से हमें कुछ विशेष संकेत मिलते हैं—

(1) अशोक राजसिंहासन के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे। (परिव्राजक द्वारा उल्लिखित तथ्य)

(2) अशोक को अमात्य-मंडल की सहायता प्राप्त थी।

(3) राजकुमार सुसीम उद्दण्ड स्वभाव के थे।

इनके अतिरिक्त अन्य जो तथ्य हैं, वे इतिहास की दृष्टि से प्रामाणिक नहीं हैं। उनका उद्देश्य बौद्ध धर्म के महत्त्व को प्रतिपादित करना ही है।

बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रंथ 'महाबोधि वंश' में भी अशोक के सिंहासनारोहण के विषय में महत्त्वपूर्ण संकेत हैं। उक्त ग्रंथ के अनुसार अशोक के सम्राट् होने पर उनके 98 भाइयों ने युवराज सुसीम के नेतृत्व में अशोक के विरुद्ध चढ़ाई कर दी, किन्तु वे अशोक से पराजित हुए।

इन समस्त गाथाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि अशोक सम्राट् बिन्दुसार

की मृत्यु के उपरान्त अमात्य-मडल द्वारा सम्राट् बनाए गए। अमात्य-मंडल के इस निर्णय से अशोक के अन्य भाई असंतुष्ट थे और उन्होंने सुसीम की अध्यक्षता में अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए विद्रोह किया, किन्तु अशोक ने उस विद्रोह का अपने अदम्य साहस और कुशल बुद्धि द्वारा शमन किया।

यह कहना उपयुक्त न होगा कि अशोक ने सिंहासन के लिए अपने भाइयों की हत्या की थी। अशोक के शिलालेखों में उनके भाइयों और बहनों का उल्लेख है और यह जनश्रुति, कि उन्होंने अपने 98 भाइयों की हत्या कराई; पाँच सौ अमात्यों का अपने हाथों से वध किया तथा पाँच सौ महादेवियों को अग्नि में जलाया, पूर्णतः आधारहीन है। गिरनार के प्रथम शिलालेख में अशोक ने उत्कीर्ण कराया है—

"मातृ और पितृ सेवा करना उत्तम है, तथा मित्र, परिचितों, बांधवों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदार होना श्लाघनीय है।"

तृतीय शिलालेख में उल्लेख है—

"ये धर्म-महामात्र, यहाँ (पाटलिपुत्र) तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के अन्तःपुर में सर्वत्र नियुक्त हैं।"

उनके अन्य शिलालेखों से यह ध्वनित होता है कि वे अपने सम्बन्धियों का अत्यधिक ध्यान रखते थे और उनका परिवार अत्यन्त विस्तृत था। उनके भाई-बहिन पाटलिपुत्र ही नहीं, दूरस्थ नगरों में भी रहते थे।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि अशोक ने सिंहासन के लिए अपने भाइयों का वध नहीं किया था। वे अपने भाइयों के प्रति उदार थे। इन गाथाओं में अशोक के भ्रातृ-प्रेम सम्बन्धी एक कथा है। उक्त गाथा के अनुसार अशोक के सौतेले भाई महेन्द्र अथवा सुगाम अत्यधिक उद्दण्ड थे। वे प्रजा को कष्ट देते थे। अशोक ने अपने भाई को बुलवाकर उनसे अश्रुपूर्ण शब्दों में कहा, "भाई, मैंने प्रजा की उन्नति और उसकी रक्षा का भार अपने कन्धों पर लिया है। किन्तु स्मरण करो, तुम कैसे मेरे स्नेह और प्रेम को विस्मृत कर गए। शासन के उदयकाल में ही नियमों का अतिक्रमण असम्भव है; अतः यदि इस समय मैं तुमको दण्ड दूँ, तो मुझे पितृ-कोप का भय है और यदि क्षमा करूँ तो मुझे प्रजा की अवज्ञा का डर है।" कुमार ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और वह बाद में बौद्ध हो गया।

फाहियान तथा अन्य चीनी यात्रियों ने भी इस कथा का उल्लेख कुछ परिवर्तनों के साथ किया है। फाहियान ने उस भाई के नाम के विषय में कुछ नहीं लिखा है, कुछ चीनी यात्री उसका नाम सुदत्त या सुगाम बताते हैं। पालि-ग्रन्थों

में उसका नाम तिस्य था और दिव्यावदान के अनुसार उसका नाम 'वितासोक' बताया गया है।

उक्त घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि पितृ-कोप से भय खाने वाले अशोक किसी भी प्रकार अपने भाइयों की हत्या करने वाले सिद्ध नहीं हो सकते। बौद्ध धर्म के ग्रन्थ इस विषय में धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए अतिरंजना का आश्रय लेते हैं।

सिंहासनारोहण के पूर्व अशोक उज्जयिनी के करमोलि थे, जिस पद पर वे ई० पू० 285 से 274 तक रहे। इसी काल में उन्होंने विदिशा की देवी से ई० पू० 284 में विवाह किया, जिनसे एक पुत्र महेन्द्र (ई० पू० 283) तथा एक पुत्री संघमित्रा (ई० पू० 281) का जन्म हुआ। ई० पू० 273 में वे पाटलिपुत्र के सम्राट् बने, किन्तु उनका अभिषेक तीन वर्ष बाद हुआ।

सम्राट् अशोक ने मूर्द्धाभिषिक्त होने के उपरान्त अपने पूर्वजों की नीति के अनुसार अमात्य-मण्डल की सहायता से शासन करना प्रारम्भ किया। वे सात्त्विक वृत्ति के थे, किन्तु उन्होंने अन्याय को सहन करना न सीखा था। अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। साथ ही, ब्राह्मण, श्रमण तथा विद्वान सम्राट् द्वारा समुचित आदर पाते थे। वे तीन वर्षों तक साठ सहस्र ब्राह्मणों को भोज कराते रहे।

बौद्ध धर्म से सम्राट् अशोक का सम्पर्क ई० पू० 267 से ही हो गया था, किन्तु उन्होंने विधिवत बौद्ध धर्म कलिंग-विजय के उपरांत ही स्वीकार किया। अशोक ने समस्त जम्बूद्वीप में चौरासी सहस्र 'आरामों' या विहारों का निर्माण कराया (ई० पू० 266)। इस कार्य में लगभग नौ करोड़ रुपये व्यय हुए थे और यह व्यवस्था इन्द्रगुप्त के निरीक्षण में हुई थी। ई० पू० 266 में ही उनके प्रयत्नों से बौद्ध भिक्षुओं के बीच विचार-विमर्श के लिए एक 'सभा' का आयोजन हुआ जिसमें लगभग 60 सहस्र भिक्षुओं ने भाग लिया था। 'आरामों' के निर्माण के उपरान्त ही उन्होंने 'धम्मासोक' (धर्म्माशोक) की उपाधि धारण की थी। अशोक की पुत्री संघमित्रा का पति अग्नि ब्रह्मा भी बौद्ध था। संघमित्रा और महेन्द्र ई० पू० 265 में भिक्षु-जीवन में प्रविष्ट हो गए। सम्राट् की भी बौद्ध धर्म में रुचि बढ़ती जा रही थी। ई० पू० 264 में उन्होंने 'प्रियदर्शी' की उपाधि धारण की।

उसी बीच में कुछ कारणों से अशोक ने पाटलिपुत्र के संघाराम (अशोकराम) को बन्द करा दिया था। हो सकता है कि इसका कुछ राजनीतिक कारण हो, क्योंकि वे सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे।

अपने राज्यारोहण के आठवें वर्ष में सम्राट् अशोक ने कलिंग को विजय किया। उस आक्रमण के कई कारण थे; जिनमें सबसे प्रमुख यह था कि कलिंग-

राज्य की स्थिति मगध-साम्राज्य के अधीनस्थ प्रदेशों के बीच में थी; अतः उसका विजय करना परमावश्यक था। दूसरे, कलिंग-नरेश ने अशोक की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। ऐसा भी सम्भव है कि कलिंग-नरेश ने अशोक के विद्रोही भाइयों को सहायता दी हो।

कलिंग-युद्ध लगभग तीन वर्ष तक चलता रहा, अन्त में विजयश्री ने सम्राट् अशोक का वरण किया। इस युद्ध का अशोक के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अशोक ने अपने तेरहवें शिलालेख में लिखवाया है कि इस युद्ध में 'डेढ़ लाख मनुष्य बाहर ले जाए गए, एक लाख आहत हुए और उसके कई गुने अधिक मरे'। इस हत्याकांड से अशोक की अन्तरात्मा को कष्ट हुआ होगा और उन्होंने भेरी घोष को धर्म घोष में परिवर्तित करने की घोषणा की।

कलिंग-विजय (ई० पू० 261) के उपरान्त प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने संघ की यात्रा की और ई० पू० 259 में वे पूर्णतः बौद्ध हो गए। उन्होंने अपने उपदेश लौह लेखनी से प्रस्तर के हृदयों में उत्कीर्णित कराए और जन-साधारण को सद्धर्म की ओर प्रेरित किया। ये शिलालेख सम्राट् अशोक की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए, उत्तर में कालसी (देहरादून), पश्चिम में मानसेरा और शाहबाज गढ़ी (पेशावर), दक्षिण में गिरनार और चित्रलगढ़ (मैसूर) और पूर्व में बंग देश तक फैले हुए हैं।

सम्राट् अशोक का स्वभाव

सम्राट् अशोक सात्त्विक वृत्ति के थे। उनमें साहस और शौर्य था। तक्षशिला और उज्जयिनी का शासन उन्होंने अत्यन्त कुशलता से किया था, इसी कारण अमात्य-मण्डल ने उन्हें सम्राट् पद पर अभिषिक्त किया था। यह सम्भव है कि प्रारम्भिक जीवन में वे अधिक कठोर रहे हों; और दया को स्त्री-सुलभ दुर्बलता समझते रहे हों; किन्तु प्रारम्भिक जीवन से ही वे ब्राह्मणों, श्रमणों, विद्वानों आदि का आदर करते थे और शरणागत की रक्षा अपना कर्त्तव्य समझते थे। वे क्षमा को दण्ड की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझते थे, इसी कारण उन्होंने अपने भाई सुगाम को क्षमा कर दिया था।

शासक के रूप में

अशोक का स्थान अत्यन्त उच्च है। वेल्स आदि इतिहासकारों ने उन्हें विश्व का श्रेष्ठ शासक माना है। उन्होंने भूमि-प्रबन्ध, कर-व्यवस्था, मार्ग-व्यवस्था आदि में महत्त्वपूर्ण सुधार किए थे। उनका शासन आतंक से नहीं, सद्भावना से संचालित था; उनका साम्राज्य अनेक व्यक्तियों के हृदयों पर था, जो सदैव ही उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहते थे।

सम्राट् अशोक निःसंदेह विश्व के इने-गिने महापुरुषों में से थे। उन्होंने भारतीय राजनीति को एक नवीन दिशा दी। प्रजा के प्रति सम्राट् या शासक के व्यवहार के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया और समस्त विश्व में 'अहिंसा' और 'प्रेम' का घोष निनादित किया। वे वास्तव में देवानाम् प्रिय-प्रियदर्शी अशोक थे।

प्रस्तुत नाटक का ऐतिहासिक आधार

सम्राट् अशोक के जीवन के तीन अध्याय हैं। सम्राट् होने से पूर्व, कलिंग-विजय के पूर्व और कलिंग-विजय के उपरान्त। प्रस्तुत नाटक से इन तीनों अध्यायों पर प्रकाश पड़ता है। अशोक को अमात्य-मण्डल ने एकमत से सम्राट् बिन्दुसार का उत्तराधिकारी निर्वाचित किया, क्योंकि वे ही इस पद के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। अमात्य-मण्डल के इस निर्णय से अशोक के अन्य भाई असंतुष्ट हो गए और उन्होंने अशोक की हत्या करने की योजना बनाई। इन भाइयों में सुसीम और सुगाम ही प्रमुख थे, शेष भाई वस्तुतः अशोक के विरुद्ध न थे, किन्तु सुगाम और सुसीम ने उन्हें प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया था।

अमात्य खल्लाहक को गुप्तचर-विभाग से दुरभिसंधि की सूचना मिली और उन्होंने सम्राट् अशोक को सोन नदी के तट पर मन्त्रणा के लिए आमन्त्रित किया। कुमार सुगाम को इसका पता चला और उन्होंने इसी अवसर पर अशोक पर सम्मिलित रूप से आक्रमण करने की युक्ति सोची। सम्राट् अशोक ने इस स्थिति पर विजय प्राप्त की, तलवार से नहीं, अपने आत्म-विश्वास से। सुगाम और सुसीम का षड्यन्त्र विफल हुआ। अशोक की विजय हुई और वे मगध के सम्राट् बने; सोन के तट पर उन्हें मगध के भावी शासक होने का वरदान मिला।

सुगाम और सुसीम इस पराजय से विमुख होकर बैठे नहीं; वे नित्य नये षड्यन्त्र करते रहे किन्तु सफल नहीं हो सके, क्योंकि प्रजा उनके साथ नहीं थी। सुसीम ने राजनीति से वैराग्य ले लिया और सुगाम ने बौद्ध भिक्षु बनने की इच्छा की। उदार सम्राट् ने कुमार सुगाम को पश्चिम चक्र का प्रधान शासक (करमोलि अथवा कुमारामात्य) बनाकर भेजा; उसी स्थान पर, जहाँ वे स्वयं शासक रह चुके थे।

सुगाम ने कुछ वर्षों तक उज्जयिनी का शासन किया; किन्तु प्रजा उनसे संतुष्ट न थी। उन्होंने प्रजा पर अनेक अत्याचार किए, जिनसे प्रजा त्रस्त हो गई। कुमार सुगाम अपने इस पद से ही संतुष्ट न हो सके, वे मगध-सम्राट् होने का स्वप्न देखते थे। उन्होंने प्रजा को सम्राट् के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफलता न मिली। उन्होंने अपनी योजना को सफल बनाने के लिए

कलिंग-नरेश को उज्जयिनी में आमन्त्रित किया। कलिंग-नरेश मगध के वैभव से ईर्ष्या करता था, उसने इस अवसर का उपयोग किया और सुगाम की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने की योजना बनाई। इस कुमन्त्रणा को अशोक से गुप्त रखने के लिए सुगाम ने पश्चिम-चक्र के कार्यान्तिक को, जो प्रति सप्ताह सम्राट् के पास शासन-व्यवस्था की सूचना भेजा करता था, बन्दीगृह में डाल दिया तथा ऐसी व्यवस्था की कि कोई सूचना पश्चिम-चक्र के प्राचीर से बाहर न निकल सके। उन्होंने कलिंग-नरेश को सेना-संगठन के लिए अपार धनराशि भी दी।

सम्राट् अशोक का गुप्तचर-विभाग अपने उत्तरदायित्व में अत्यधिक सतर्क था। गुप्तचर-विभाग का एक अधिकारी (बुद्धिभद्र) पश्चिम-चक्र की परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए भेजा गया और उसने समस्त सूचनाएँ सम्राट् अशोक की सेवा में उपस्थित कीं। यह भी ज्ञात हुआ कि कुमार सुगाम पाटलिपुत्र आए हुए हैं। बुद्धिभद्र (गुप्तचर) ने कुमार सुगाम को सम्राट् के समक्ष उपस्थित किया। अशोक ने पुनः अपनी उदारता का परिचय दिया और कुमार सुगाम को क्षमा कर दिया; साथ ही उनके द्वारा ही कलिंग के लिए युद्ध का निमन्त्रण भिजवाया।

कलिंग-नरेश के पास अपार सेना थी। तीन वर्षों तक युद्ध होता रहा। एक लाख व्यक्ति मरे और कई लाख आहत हुए। युद्ध क्षेत्र में अशोक की पत्नी 'देवी' भी साथ थीं। उन्होंने सम्राट् को युद्ध से विरत करने का असफल यत्न किया। महास्थविर उपगुप्त ने भी सम्राट् को 'सत्य-धर्म' का उपदेश देना चाहा, पर वे उनके उपदेशों को हँस कर टाल देते थे। सम्राट् ने भी निरपराधों का रक्तपात देखा। एक दिन एक स्त्री अपने मृत शिशु को लेकर आई, उसने सम्राट् के प्रति कटुवचन कहे; सम्राट् उसकी करुण दशा से आर्द्र हो उठे; उन्होंने सोचा कि लाखों मृत वीरों की माताओं के हृदयों की कैसी दशा होगी। इसी बीच कलिंग नरेश ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और सन्धि-पत्र भेजा। सम्राट् अशोक की विजय हुई; पर वे युद्ध से विरत हो गए। यह घटना ई० पू० 261 की है।

यह तथ्य दिव्यावदान तथा अशोक के अभिलेखों के अनुसार सत्य है। कथा में एकसूत्रता और नाटकीयता लाने के लिए उनमें यथा-स्थान परिवर्तन किए हैं; किन्तु ऐतिहासिक प्रामाणिकता को ध्यान में रखते हुए ही।

इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों के अतिरिक्त मैंने इसमें कुछ कल्पित पात्र भी रखे हैं, किन्तु वे इतिहास की संभावनाओं से पोषित हैं। अशोक तथा उनके अन्य भाई, देवी, संघमित्रा, महेन्द्र, उपगुप्त, खल्लाहक ये पात्र इतिहास के प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। गुप्तचर विभाग का अधिकारी बुद्धिभद्र, सम्राट् की अंगरक्षिका चारुमित्रा, परिचारिका स्वयंप्रभा आदि पात्र कल्पित हैं।

सुगाम के आचरण को मैंने उज्जयिनी से सम्बद्ध कर दिया है। उज्जयिनी पश्चिम-चक्र की राजधानी थी, जिसका शासक राजवंश का व्यक्ति ही होता था। अशोक ने अपने प्रिय बन्धु सुगाम को पश्चिम-चक्र का शासक बनाया था; किन्तु उन्होंने पुनः विद्रोह किया। इतिहास में अशोक के भाइयों का विद्रोह उल्लिखित है। सुगाम ने सुसीम का पक्ष लेकर इस षड्यन्त्र को सफल बनाने का यत्न किया, जिसके मूल में उनकी स्वार्थ-लिप्सा निहित थी। स्वार्थ के वशीभूत होकर उन्होंने कलिंग-नरेश से अभिसन्धि की।

इस प्रकार के परिवर्तनों से ऐतिहासिकता को क्षति नहीं पहुँची है। नवीन पात्रों के आ जाने से ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करने में सहायता मिली है तथा ऐतिहासिक सत्य अधिक मुखर हो गया है। नाटक में कल्पना वहीं तक मान्य हो सकती है जहाँ तक उससे ऐतिहासिक सत्य उभर सकता है। इतिहास ने तो उन्हीं घटनाओं को सुरक्षित किया है, जिनसे राजनीति या समाज में कोई विशेष परिवर्तन हुआ है। प्रतिदिन की बातों को सहेजना, इतिहास आवश्यक नहीं समझता। नाटक का सम्बन्ध तो प्रतिदिन की संवेदना-सम्पन्न घटना से है। ऐसी स्थिति में इतिहास तो अपने समकालीन सत्य का संकेत कर चुप हो जावेगा, कल्पना ही उस सत्य से उत्पन्न हुई परिस्थितियों में जीवन का रंग भरना आरम्भ करेगी। किन्तु यह रंग उसी कल्पना द्वारा भरा जा सकेगा जो ऐतिहासिक सत्य में डूबकर निकली है। वह अपने साथ सत्य के उस समस्त मनोविज्ञान को लिए हुए है, जो जीवन में घटित हुआ है या हो सकता है। यही कल्पना सत्य की सहचारिणी है और नाटक के सत्य के साथ समान रूप से आदर प्राप्त कर सकती है। सत्य की सम्भावनाओं से सम्भूत ऐसी ही कल्पना में चारुमित्रा, स्वयंप्रभा या बुद्धिभद्र की रूपरेखा अंकित हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि चारुमित्रा या स्वयं-प्रभा के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती (जिसे इतिहास सुरक्षित करता) तो वह चारुमित्रा या स्वयंप्रभा की भाँति ही यह कार्य करती। इस प्रकार इस नाटक में जिस कल्पना का आश्रय ग्रहण किया गया है, वह ऐतिहासिक सत्य की मान्यताओं से पूर्ण है।

हिन्दी नाटक और रंगमंच

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नाटक साहित्य का सगुण रूप है। जिस प्रकार निराकार ब्रह्म अपने वैभव का अभिज्ञान अवतार के माध्यम से भक्त को कराता है, उसी प्रकार साहित्य का सौन्दर्य रंगमंच पर अवतरित होकर नाटक के रूप में प्रकट होता है। नाटक दृश्य-काव्य है, जिसमें नृत्य, संगीत और अभिनय हृदय की ललित सृष्टि को एक आकर्षक रूप प्रदान करते हैं। इस भाँति नाटक के दो पार्श्व हैं। प्रथम तो हृदय की वे समस्त अनुभूतियाँ हैं, जो मनोविज्ञान या रस

से ओत-प्रोत होकर जीवन के यथार्थ या आदर्श में प्रतिफलित होती हैं और द्वितीय काल की वे समस्त रूप-रेखाएँ हैं, जो मंच वेशभूषा, नृत्य, संगीत और अभिनय का माध्यम ग्रहण करती हैं। ये दोनों पार्श्व नाटक के लिए अनिवार्य हैं। दोनों में से यदि किसी एक को हानि होगी तो नाटक अपने अभीष्ट की पूर्ति नहीं कर सकेगा।

हिन्दी-साहित्य में जो नाटक लिखे गए हैं वे संस्कृत नाट्य-शास्त्र की परम्परा से अवश्य ही प्रभावित हैं। भारतेन्दु द्वारा अथवा भारतेन्दु युग के लेखकों द्वारा जो नाटक लिखे गए, वे तो प्रमुख रूप से संस्कृत-नाट्यशास्त्र के रस सिद्धान्त से प्रभावित रहे हैं। 20वीं शताब्दी के नाटकों में पश्चिम के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण और यथार्थ जीवन के चित्रण ने अवश्य ही कुछ परिवर्तन उपस्थित किए हैं। इन्हीं परिवर्तनों में एक परिवर्तन यह भी हुआ है कि नाटक पाठ्य-नाटक मात्र रह गए हैं। संस्कृत नाट्यशास्त्र मंच पर आधारित था, अतः हिन्दी के जितने नाटकों ने संस्कृत नाटक-शैली ग्रहण की उनमें आप से आप रंगमंच की मान्यताएँ समाविष्ट हो गईं, भले ही उनमें आधुनिक युग के यथार्थ की अवहेलना हो गई हो; लेकिन हिन्दी के ऐसे नाटक जिन्होंने पश्चिम की नाट्य-शैली ग्रहण की, उन्होंने जीवन की वास्तविकता तो चित्रित की, किन्तु उन्होंने मनोविज्ञान और चिन्तन की इतनी अधिकता स्वीकार कर ली है कि वे रंगमंच के उपयुक्त नहीं रह गए। वे पाठ्य-नाटक मात्र रह गए।

पाठ्य-नाटक और रंगमंच के नाटक में सबसे बड़ा भेद यही है। पाठ्य-नाटक कथावस्तु के विन्यास में किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नहीं करते। वे उपन्यास की भाँति एक घटना को, चाहे वह बड़ी से बड़ी हो या छोटी से छोटी, पात्रों के सहारे स्पष्ट करते चलते हैं। दृश्यों की व्यावहारिकता और क्रम में उनका विश्वास नहीं है। पात्रों की संख्या मनमाने ढंग पर घटती-बढ़ती है और चरित्र-चित्रण में उचित अनुपात का ध्यान नहीं रह जाता है। कोई पात्र दो दृश्यों में आकर आँखों से ओझल हो जाता है और कोई पात्र बार-बार आकर अनुचित रूप से प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। भाषा सर्वत्र एक-सी ही रह जाती है। पात्रों के स्वभाव और जीवन की स्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पाठ्य-नाटक केवल अभिनय की शैली में उपन्यास ही हैं; कथा का वर्णन स्वयं लेखक ने न कर, पात्रों द्वारा करा दिया है।

रंगमंच के नाटकों की प्रमुख दृष्टि अभिनयात्मक साहित्य की सृष्टि है। रंग-मंच के नियमों को ध्यान में रखकर साहित्य-सौंदर्य इस कौशल से स्पष्ट किया जाए कि वह दृश्य की आवश्यक और अनुरंजक सामग्री बन जाए। इस प्रकार रंगमंच की कथा साहित्य-कला की सहयोगिनी बनकर नए प्रकार से जीवन

का चित्रण करे। मैं तो समझता हूँ कि रंगमंच के नाटकों की सृष्टि उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि कला साहित्य-कला का पथनिर्देश न करे। एक बार अभिनय की मान्यताओं को स्वीकार करने पर साहित्य की कला अपना कौशल अपने आप निर्धारित कर सकेगी। उदाहरण के लिए, अभिनय की कला कथावस्तु के केवल उन स्थलों का चयन करना चाहती है, जो प्रमुख संवेदना की उभरी हुई परिस्थितियों से निर्मित है। साहित्य की कला इन परिस्थितियों को मान कर इनकी अभिव्यक्ति में जिस शैली को चुनेगी, वह होगी, ध्वनि या व्यंजना की शैली। व्यंजना से वह बड़ी से बड़ी परिस्थिति कम से कम स्थान और समय में स्पष्ट कर देगी। इससे कथावस्तु का विस्तार भी कम हो जाएगा, और अनावश्यक प्रसंगों की उलझनों से बचकर प्रमुख संवेदना ज्योत्स्ना की भाँति मानसिक क्षितिज पर फैल जाएगी। रंगमंच का नाटककार उपन्यासकार की भाँति छोटी-मोटी घटनाओं के मोह में नहीं पड़ सकता। वह कथा की पूरी परिधि में घूम भी नहीं सकता। वह तो अपनी कथा की परिधि में ऐसे बिन्दुओं को चुन लेगा जो परिधि की दशा-मात्र का निर्देश करते हैं और उन्हीं बिन्दुओं के सहारे वह संपूर्ण वृत्त का रूप स्पष्ट कर देगा। श्री जयशंकर प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक के अभिनय में यही कठिनाई पड़ती है कि नाटककार ने एक अन्वेषक की भाँति छोटी से छोटी घटना को भी बहुत बड़ा महत्त्व दे दिया है और चार अंकों में फैली हुई कथा धूमकेत की रेखा की भाँति क्षितिज के छोर छूने लगती है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य और सिंहरण के क्रिया-कलाप, इतिहास की भाँति अंकित हैं, जिनका सम्बन्ध रंगमंच की अपेक्षा अन्वेषण से अधिक है। अभिनय के लिए चंद्रगुप्त नाटक के कितने ही दृश्य काटने पड़ेंगे तब कहीं कथा-वस्तु के प्रमुख प्रसंग रंगमंच पर उभर सकेंगे। चंद्रगुप्त नाटक की अपेक्षा अजातशत्रु नाटक अधिक अभिनेय है जिसमें अधिकतर अभीष्ट प्रसंगों का चित्रण किया गया है। मैंने दोनों ही नाटकों में अभिनय किया है, इसलिए मैं उनकी रंगमंच सम्बन्धी कठिनाइयों से परिचित हूँ।

रंगमंच के नाटकों में चरित्र-चित्रण भी विशेष महत्त्व रखता है। चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध व्यक्तित्व से है और व्यक्तित्व मनोविज्ञान पर आधारित है। मनोविज्ञान के दो पक्ष हैं। पहला पक्ष व्यक्ति के संस्कारों से सम्बन्ध रखता है जो उसके स्वभाव का निर्माण करते हैं। ये संस्कार उसने अपने वंश से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किए हैं, जो उसके रक्त में हैं। ये बड़ी कठिनाई से बदलते हैं। वैभव और विपत्ति में भी ये व्यक्ति का साथ नहीं छोड़ते और अनायास ही उसके मुख से निकल पड़ते हैं। एक बनिए का लड़का जिस आसानी से दूकान चला सकता है उतनी आसानी से एक ब्राह्मण या कायस्थ का लड़का नहीं। चरित्र-चित्रण में संस्कारों की यही दृष्टि व्यक्तित्व का वास्तविक

चित्रण कर सकती है। अजातशत्रु नाटक में श्री जयशंकर प्रसाद ने पात्र के संस्कारों पर बड़ी गहरी दृष्टि रक्खी है। मागन्धी दरिद्र-कन्या है, अतः राज-महिषी होने पर भी उसकी क्षुद्रता नहीं गई और वह काशी में जाकर वार-विलासिनी बनी। इसी प्रकार विरुद्धक दासी शक्तिमती का पुत्र होने के कारण शैलेन्द्र डाकू बना। छलना विरोध करते हुए भी पतित नहीं होती, क्योंकि उसमें लिच्छवि रक्त है। इस प्रकार संस्कार मेरुदण्ड बनकर पात्र को अपनी स्थिति में बड़ी स्वाभाविकता प्रदान करता है। मनोविज्ञान का दूसरा पक्ष परिस्थितियों के प्रभाव से सम्बन्ध रखता है। पात्र के संस्कारों पर जब परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, तो वे अपना विकास करने लगते हैं। यदि प्रभाव संस्कार के अनुकूल होता है तो पात्र उचित या अनुचित दिशा से सरलता में विकास करने लगता है। यदि यह प्रभाव संस्कार के प्रतिकूल पड़ता है तो पात्र में अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक संघर्ष आरम्भ हो जाता है। इससे पात्र के मनोविज्ञान के भीतर का एक-एक पार्श्व झलकने लगता है। संस्कार और प्रभाव की उचित युति में ही चरित्र-चित्रण का सौंदर्य है। जब यह सौंदर्य अभिनय-कला के साँचे में ढलता है तो रंगमंच पर सच्चे जीवन का अवतरण होता है। इस अभिनय-कला में कृत्रिमता के लिए कोई स्थान नहीं है। पात्र अपने मनोविज्ञान में इतना अधिक लीन हो जाए कि वह कार्य या क्रिया को ही अपने मन की दिशा बना ले। प्रायः अभिनय की कला दर्शकों की रुचि को ध्यान में रखने लगती है और उसकी वास्तविकता में अन्तर आने लगता है। हम बिना किसी के देखे जैसा अपना कार्य करते हैं, ठीक वैसा ही कार्य रंगमंच पर हो। यदि हम जानते हैं कि कोई हमें कार्य करते हुए देख रहा है, तो हम कार्य करते हुए कुछ 'बनने' लगते हैं। रंगमंच पर भी वह 'बनना' स्वाभाविकता में बाधा डालता है। स्थिति तो ऐसी हो, कि पात्र रंगमंच पर इस मनोभाव से कार्य करे कि कोई उसे देख नहीं रहा है। दर्शक जैसे पात्र के अनजाने किसी दीवार के छिद्र से उसका क्रिया-कलाप देख रहे हैं।

रंगमंच के नाटकों के लिए संवाद संक्षिप्त और चुभते हुए होने चाहिए। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करने वाली प्रभाव-शालिनी भाषा हो जिससे हृदय पर पात्र की पूरी छाप पड़ सके। प्रभाव डालने के लिए श्री जयशंकर प्रसाद-युग के पूर्व नाटकों में पद्य का प्रयोग हुआ करता था। नारायण प्रसाद 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक के नाटकों में तो प्रमुख पात्रों का शायद ही कोई ऐसा संवाद हो, जिसका अन्त किसी पद्य से न हुआ हो। श्री माखनलाल चतुर्वेदी के नाटक कृष्णार्जुन युद्ध, श्री बदरीनाथ भट्ट के चन्द्रगुप्त और माधव शुक्ल के महाभारत (पूर्वार्ध) आदि नाटकों में भी पद्य का प्रचुर प्रयोग हुआ है। श्री जयशंकर प्रसाद के अजातशत्रु तथा स्कन्दगुप्त नाटक में भी दो-एक स्थलों पर संवादों में पद्य का प्रयोग हुआ है, किंतु संवाद में पद्य

का प्रयोग, जब तक वह कोई उद्धरण न हो, अस्वाभाविक प्रतीत होता है और इसलिए रंगमंच के नाटकों में संवाद के अन्तर्गत पद्य का प्रयोग एकदम छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार स्वाभाविकता की माँग ने स्वगत-कथन का पूर्ण वहिष्कार कर दिया है, यद्यपि नाटक में यह शैली प्राचीन काल से चली आई है। संस्कृत में तो आकाशभाषित की शैली बड़ी कौतूहलजनक थी, किन्तु आज के रंगमंच पर आकाशभाषित के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। जनान्तिक और अपवारित तो अब केवल कान में रहस्य की बात कहने के रूप में ही रह गए हैं।

कथोपकथन में भाव-तीव्रता के साथ मनोरंजन का भी स्थान है किन्तु केवल मात्र मनोरंजन ही कथोपकथन का संचालक नहीं है। अनावश्यक मनोरंजन भी पात्र के विकास में बाधा डालने वाला समझा गया है। प्राचीन नाटकों में मनो-रंजन के लिए एक विशिष्ट पात्र की अवतारण की जाती थी। वह था विदूषक। किन्तु विदूषक का विचित्र वेश और उसकी मोदक-प्रियता अब विशेष आकर्षण और मनोरंजन की वस्तु नहीं है। अब तो जहाँ कहीं विनोद या परिहास की आवश्यकता पड़ती है, कथानक का निर्वाह करने वाले कुछ पात्रों द्वारा ही उसकी पूर्ति कर ली जाती है। कथा-सूत्र के विकास में ऐसी परिस्थितियाँ भी उपस्थित कर दी जाती हैं, जहाँ गम्भीर क्रिया-कलाप के बीच में निर्झरिणी की भाँति किसी पात्र या पात्रों की खिलखिलाहट गूँज उठती है। प्रसाद जी के अजातशत्रु में वसन्तक विदूषक है, किन्तु वही कार्य स्कन्दगुप्त में धातुसेन से करा दिया गया है, जो सिंहल का राजकुमार है। चन्द्रगुप्त में कभी-कभी चाणक्य जैसा गम्भीर पात्र भी विनोद और परिहास करता है। ध्रुवस्वामिनी में हास्य की सृष्टि बौने, कुबड़े और हिजड़े द्वारा की गई है, जिससे रामगुप्त के व्यक्तित्व की विकृत और हल्के-पन की सूचना मिल सके। मेरी दृष्टि से रंगमंच के नाटक में विदूषक जैसा पात्र तो अवश्य ही होना चाहिए, भले ही वह कथा के किसी सूत्र का विधायक बना दिया जाए। दर्शकों के अनुरंजन की सामग्री किसी न किसी रूप में होनी आवश्यक है और मैं समझता हूँ कि स्वस्थ समाज का स्वाभाविक गुण हँसना उसके विकास का द्योतक है। और यदि समाज या व्यक्ति अपने पर ही हँसने का गुण प्राप्त कर ले तो इससे अधिक परिष्कार और आत्म-विश्लेषण की कोई कला संसार में नहीं है।

संवाद की भाषा के सम्बन्ध में भी दो मत हैं। पहला मत तो यह है कि नाटक में सर्वत्र एक-सी भाषा हो, जिसके द्वारा कथावस्तु की सम्पूर्ण संवेदना एक ही रूप से दर्शकों के हृदय तक पहुँचाई जा सके। यदि कथानक में ऐसे पात्र हों जो विदेशी हों और वे अन्य पात्रों से भिन्न भाषा बोलते हों, तो उनके संवाद भी अन्य पात्रों के साथ एक ही भाषा में होने चाहिए। इस प्रकार की शैली 'प्रसाद'

के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में है जहाँ 'सिकन्दर', 'सिल्यूकस' और 'कार्नेलिया' आदि उसी शुद्ध और तत्सम शैली में बातें करते हैं, जिसमें 'चाणक्य', 'चन्द्र-गुप्त' और 'अलका' आदि का कथोपकथन है। दूसरा मत है कि संवाद की एक ही शैली भिन्न-भिन्न पात्रों के व्यक्तित्व की स्वाभाविकता के विपरीत है। जीवन में हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के बात करने का अपना अलग ढंग होता है। यदि रंगमंच पर स्वाभाविकता का लाना विधेय है, तो हमें प्रत्येक पात्र के स्वभाव और व्यक्तित्व के अनुसार कथोपकथन की शैली का निर्धारण करना होगा। इससे नाटक में विविधता और रस का उद्रेक होगा और कुतूहलता को बल प्राप्त होगा। यदि नाटक में कोई विदेशी पात्र है, तो उसकी भाषा अपनी विशिष्ट प्रकृति लिए हुए अन्य पात्रों की भाषा के अधिक-से-अधिक समीप होगी। यदि पात्र सामान्य होगा तो उस शैली से विनोद की सृष्टि होगी। यदि पात्र गम्भीर होगा, तो उससे उसके व्यक्तित्व का बोध होगा। दोनों ही में स्वाभाविकता की रक्षा होगी।

रंचमंच के नाटकों में व्यक्ति, वर्ग, समाज और राष्ट्र को ऊपर उठाने की शक्ति है। यह आवश्यक नहीं कि उन नाटकों में उपदेश या प्रवचन हो। जीवन का सत्य, स्वाभाविकता का चित्रण और नैतिक दृष्टिकोण का संकेत कथा-वस्तु की व्यंजना से ही उत्पन्न किया जा सकता है। काव्य या उपन्यास केवल श्रव्य है, किन्तु नाटक श्रव्य और दृश्य होने के कारण अधिक प्रभावशाली है। नाटक के रंगमंच पर हम एक ओर संसार की सृष्टि करते हैं और दूसरी ओर अपनी परिस्थितियों और समस्याओं को सुलझाने या अन्य व्यक्तियों के राग-विराग में सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करने की एक नई दृष्टि प्राप्त करते हैं। अत: यदि नाटक साहित्य का सबसे विशिष्ट अंग होना चाहता है, तो उसे रंगमंच का आश्रय ग्रहण करना ही होगा। यदि यदि नाटक प्राण है, तो रंगमंच उसका शरीर; बिना शरीर के प्राण की अभिव्यक्ति संभव नहीं हो सकती।

संस्कृत नाटकों का रंगमंच था। इसी प्रकार मैथिली नाटकों ने भी रंगमंच की सृष्टि की। इसके बाद बंगाली नाटकों और मराठी नाटकों ने भी अपने अभिनय की व्यवस्था के लिए रंगमंच प्राप्त किया। किन्तु हिन्दी नाटकों को रंगमंच प्राप्त नहीं हो सका। विदेशी शासकों की बाहु जहाँ तक शक्तिशालिनी रही, वहाँ तक रंगमंच के अंकुर निर्मूल हुए, क्योंकि रंगमंच की व्यवस्था धर्म के प्रतिकूल समझी गई। दूसरी बात यह भी रही कि रंगमंच की व्यवस्था के लिए चारों ओर के वातावरण में सुख और शान्ति होना आवश्यक है, विदेशी शासन में यह संभव नहीं था। रंगमंच की व्यवस्था कहीं सांस्कृतिक जागरण का रूप न ले ले, इसलिए अंग्रेजों ने भी शासन की ओर से किसी प्रकार का सहयोग नहीं किया। व्यावसायिक दृष्टिकोण से पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ छुटपुट ढंग से

शहरों में घूमती रहीं। छोटी-मोटी नाटक मंडलियाँ भारतेन्दु के युग में काम करती रहीं, जिनमें जनता को जगाने की कोई क्षमता नहीं थी। ये भी कुछ दिनों में बिखर गईं। रामलीला और रासलीला केवल धर्मप्रवण वर्गों और निम्न वर्गों तक सीमित रह गई। अभिनय-कला समाज में भाँड़ों की नकल की श्रेणी तक पहुँच गई और संगीत विलास की अट्टालिकाओं में निवास करने लगा।

नवयुग के जागरण ने हमें, नया प्रभात और नई किरण प्रदान की है। हमारे साहित्य और सांस्कृतिक वैभव को दृष्टि प्राप्त हुई है। पश्चिम ने हमें सवाक् चित्रपट प्रदान कर एक विशाल रंगमंच दिया है और हमने विश्वविद्यालयों तथा शिक्षा संस्थाओं में विद्यार्थियों द्वारा एक प्रयोगात्मक रंगमंच एकांकी नाटकों से प्राप्त किया है। अब ऐसा वातावरण हमें मिल गया है, जिसमें अभिनय और संगीत शिक्षा के उच्च स्तर पर आसीन हुआ है। वह दिन भी दूर नहीं है, जब ललित कलाएँ उच्च से उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में निर्धारित होंगी और अभिनय-कला सांस्कृतिक अंग बनकर अपना विकास करेगी।

अभिनय कला में वेश-भूषा का अध्ययन, संगीत, प्रकाश-व्यवस्था और विविध भावों के प्रदर्शन की कला निहित है। सवाक् चित्रपट ने हमारे जीवन को ललित दृष्टि से देखने की शैली भी प्रदान की है। यदि सवाक् चित्रपट में चित्रित जीवन को हम अधिक स्वाभाविक और सीमित कर लें, तो हमें नाटकीय रंगमंच प्राप्त हो सकता है। जब तक हम रंगमंच की पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हम अभिनय के योग्य नाटकों की सृष्टि नहीं कर सकते। अत: साहित्य और रंगमंच के योग में ही हम वास्तविक नाटकों का रूप प्राप्त कर सकेंगे और मुझे विश्वास है कि निकट ही रंगमंच और रंगरंच के नाटक हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

ऐतिहासिक नाटक की रचना

ऐतिहासिक उपन्यास या नाटक की रचना करते समय लेखक को अत्यधिक सतर्कता से काम लेना पड़ता है। प्राय: ऐसा होता है कि नाटक में या तो ऐतिहासिकता की हत्या होती है या उसमें 'प्रसाद' के कुछ नाटकों की भाँति इतिहास की इतनी अधिक प्रधानता हो जाती है कि नाटकीय तत्त्व उभर ही नहीं पाते। विदेशों में ऐतिहासिक नाटकों की रचना प्रचुर संख्या में हुई है। मार्लो, शेक्सपीयर, ड्राइडन, शॉ आदि नाटककारों ने श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक लिखे। मार्लो के नाटकों में ऐतिहासिक तथ्यों की प्रधानता है; शेक्सपीयर ने यथार्थ तथ्यों में मनमाना परिवर्तन किया है, किन्तु नाट्य-कला की दृष्टि से उनके नाटक श्रेष्ठ हैं। ड्राइडन के ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रेम-तत्त्व की प्रधानता है; ऐतिहासिक

घटनाओं का अभाव है। शॉ के नाटकों में ऐतिहासिक तथ्यों की नवीन व्याख्या तथा नाटकीय तत्त्वों का समन्वय है।

हिन्दी-साहित्य में श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों की कमी है। हिन्दी नाटक के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नीलदेवी' की रचना करके हिन्दी नाटककारों का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को नवीन जीवन प्रदान किया; नाटक के प्राण को रंगमंच का शरीर उन्होंने प्रदान किया। उन्होंने रंगमंच पर ऐसे नाटकों के अभिनय का आयोजन किया, जिनसे भारतीय जनता अपने अतीत को पहचान कर अधोन्मुख दशा को सुधारने का यत्न करे। इसलिए उनके सम-कालीन नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी की। राधाकृष्ण दास के दो नाटक, पद्मावती (सन् 1882) तथा महाराणा प्रताप (सन् 1897) रंगमंच पर कई बार खेले गए। इस युग के अन्य ऐतिहासिक नाटककार थे : काशीनाथ खत्री ('तीन परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक', सन् 1884); बैकुण्ठनाथ दुग्गल ('श्री हर्ष', सन् 1884); श्रीनिवास दास ('संयोगिता-स्वयंवर', सन् 1885)। भारतेन्दु की मृत्यु के उपरान्त भी ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा चलती रही। राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमरसिंह राठौर' (सन् 1895), बलदेवप्रसाद मिश्र कृत 'मीराबाई' (सन् 1897)। भारतेन्दु के समकालीन लेखकों की रचनाएँ हैं, जो उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं।

भारतेन्दु-युग में रचित नाटकों पर पाश्चात्य नाट्य-शैली का भी प्रभाव है। भारतेन्दु जी ने नाट्यादर्श के सम्बन्ध में अपने जो विचार 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में व्यक्त किए थे उनसे अधिकांश नाटककार सहमत थे। किन्तु इन नाटकों पर पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का भी थोड़ा प्रभाव है; क्योंकि जो रंगमंच इन लेखकों की कल्पना में था, वह पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों जैसा ही था।

प्रसाद के पूर्व हिन्दी-नाटककारों में बद्रीनाथ भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। उनका 'चन्द्रगुप्त' नाटक अनेक बार रंगमंच पर अवतरित हुआ है; मैंने स्वयं उसके अभिनेता के रूप में कार्य किया है। इसी बीच में व्यावसायिक कम्पनियों के लिए राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र, बेताब आदि ने अनेक नाटक लिखे, जिनमें से कुछ ऐतिहासिक भी हैं; किन्तु वे नाटक साहित्य की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटक रंगमंच की दृष्टि से भले ही सफल न हों; किन्तु उनमें हमारे गौरवमय अतीत के स्वर्णिम पृष्ठ इन्द्रधनुषी रंगों से सजाए गए हैं। प्रसाद जी ने ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन भी किया है; किन्तु या तो वह नवीन अनुसन्धानों (जो प्रामाणिक सिद्ध न हो सके) के आधार पर है, या कथा-वस्तु में चमत्कार लाने के लिए। प्रसाद जी ने ऐतिहासिक

घटनाओं को प्रधानता दी है; उनके साथ ही वे पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व चित्रित करना चाहते हैं। इसी कारण उनके नाटकों में रंगमंच के उपयुक्त वातावरण का अभाव है। उनके नाटकों में कल्पित पात्रों की संख्या अधिक है; जिससे कहीं-कहीं अस्वाभाविकता भी आ जाती है। समय का ध्यान उन्होंने नहीं रखा है, क्योंकि वे सम्पूर्ण जीवन को चित्रित करना चाहते थे। इतिहास के मोह ने उनके नाटकों को रंगमंच के अनुपयुक्त बना दिया है।

अन्य ऐतिहासिक नाटककारों में श्री चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, श्री उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि प्रमुख हैं। श्री 'मिलिन्द' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (सन् 1922 ई०) नाटक तत्कालीन वातावरण प्रस्तुत करने में असमर्थ है; प्रताप का कटारी लिए मानसिंह के सामने आ जाना हास्यास्पद-सा हो गया है। शास्त्री जी का 'अमरसिंह राठौर' तीन अंकों और पच्चीस दृश्यों का नाटक है, जिसमें अनेक ऐतिहासिक भूलें हैं और दृश्यों की अधिकता के कारण रंगमंच पर भी अधिक सफल नहीं हो सकता। सेठ गोविन्ददास ने वातावरण की सृष्टि करने में तो सफलता प्राप्त की है, पर उसमें गम्भीर ऐतिहासिक अनुशीलन की गन्ध है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा कल्पित पात्रों के द्वारा इतिहास के युगों को मोहक रूप देने में सफल हुए हैं। किसी-किसी नाटक में ऐतिहासिक पात्र भी रखे हैं; पर कल्पित पात्रों की अधिकता है।

सन् 1935 ई० के उपरान्त कुछ अच्छे ऐतिहासिक नाटक लिखे गए हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत 'अशोक' (सन् 1935), और 'रेवा' (1942 ई०), सेठ गोविन्ददास कृत 'शशिगुप्त' (1942 ई०), वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'हंस मयूर' (1948), लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'वत्सराज' (1940 ई०), हरिकृष्ण 'प्रेमी' कृत 'प्रकाश-स्तम्भ' (1954 ई०) आदि नाटक पूर्ववर्ती नाटकों से उत्कृष्ट हैं। इन नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण है।

श्री उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक नाटक काव्यात्मकता लिए हुए हैं; दाहर और शकविजय उनके प्रमुख नाटक हैं।

विजय-पर्व

सम्राट् अशोक पर जो नाटक लिखे गए हैं, वे उनके व्यक्तित्व को सच्चे रूप में प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। इतिहासकारों ने भी अशोक के प्रारम्भिक जीवन को उपेक्षित कर दिया है। ऐसे महान् व्यक्ति की उपेक्षा से मुझे क्षोभ हुआ और मैंने अशोक के शिलालेखों का अध्ययन कर अशोक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अपना मत निश्चित किया। अशोक की क्रूरता का जो अतिरंजित चित्र बौद्ध-गाथाओं में है, उसे सत्य मानना उचित नहीं है।

यदि अशोक के जीवन को पूर्वार्ध और उत्तरार्द्ध दो अंशों में रखा जाए, तो

कलिंग-विजय ही एक ऐसी घटना है, जिसने अशोक के जीवन की दिशा बदल दी। यही घटना इस नाटक की प्रमुख घटना है, जिसके द्वारा कार्य की अवस्था चरम-सीमा (Climax) पर पहुँच कर 'निगति' की ओर जाती है।

प्रस्तुत नाटक में तीन अंक हैं। तीनों अंकों में एक-एक प्रमुख बिन्दु है जिसे केन्द्र बनाकर ही वस्तु परिधि के चारों ओर घूमती है। प्रथम अंक में ई० पू० 273 की घटना है, जब सोन के तट पर अशोक को मगध का सम्राट् होने का वरदान मिला था। इस अंक में कथानक का परिचय प्राप्त हो जाता है। प्रमुख पात्र अशोक और सुगाम हमारे सम्मुख आ जाते हैं। अशोक का उदात्त चरित्र दर्शकों की सद्भावना प्राप्त कर लेता है। वैसे तो यह अंक अपने में पूर्ण है और एकांकी के रूप में अभिनीत किया जा सकता है; किन्तु इसमें आगे की कथा का संकेत है। सुगाम और सुसीम अपनी पराजय को स्वीकार करते हैं और फिर मिलने की बात कह कर चले जाते हैं।

प्रथम अंक के उपरान्त दर्शक सोचते हैं कि अब क्या होगा? क्या सुसीम और सुगाम शान्त हो जावेंगे? क्या वे अपनी पराजय को इतनी सरलता से स्वीकार कर लेंगे अथवा किसी नये षड्यन्त्र की सृष्टि करेंगे?

उनकी इसी उत्सुकता के बीच अगले अंक की घटना सामने आती है। महादेवी और संघमित्रा तलवारों की आरती कर रही हैं। उनके वार्तालाप से कुछ देर के लिए दर्शक कुछ शान्ति (Relief) का अनुभव करते हैं, तभी 'भयानक विद्रोह' की सूचना लिए महेन्द्र प्रवेश करता है। कुतूहल की शान्ति नहीं होती—दर्शक सोचते हैं कि सुगाम का यह षड्यन्त्र सफल होगा? अशोक अपने महान् व्यक्तित्व और शौर्य के साथ प्रवेश करता है, वह सभी घटनाओं से परिचित है। बुद्धिभद्र का आगमन पुनः शंका उत्पन्न करता है और दर्शक उज्जयिनी के विद्रोह की वास्तविक स्थिति से परिचित होते हैं। सुगाम का पाटलिपुत्र में उपस्थित होना भी दर्शकों में उत्सुकता जागरित करता है। जब सुगाम बन्दी होकर अशोक के सम्मुख उपस्थित किए जाते हैं, तो दर्शक यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि सम्राट् अशोक सुगाम को क्या दंड देंगे? जब अशोक इस बार उन्हें पुनः क्षमा करते हैं, तो दर्शकों के हृदय में अशोक के प्रति आदर की भावना का उदय होता है।

द्वितीय अंक में ही कलिंग-युद्ध की घोषणा हो जाती है। कथा-सूत्र आगे बढ़ता है।

तृतीय अंक का प्रारम्भ कलिंग के एक युद्ध-शिविर से होता है, जहाँ युद्ध की विभीषिका से चिन्तित महादेवी अपनी परिचारिका चारुमित्रा से वार्तालाप कर रही हैं। अशोक युद्ध में आनन्द लेते हैं; किन्तु महादेवी ऐसा युद्ध पसन्द नहीं करतीं, जिसमें निरपराधों का रक्त बहाया जाए, वे अशोक के हृदय में दया का संचार करना चाहती हैं, जिसे वे इस युद्ध में भूल-से गए हैं। अपने पूर्वजों तथा

मगध के सम्मान की रक्षा के लिए वे युद्ध समाप्त नहीं करना चाहते। किन्तु कुछ घटनाएँ इस प्रकार घटित होती हैं कि सम्राट् अशोक हिंसा से अहिंसा के पथ पर प्रवृत्त होते हैं। कलिंग की एक स्त्री अपने मृत शिशु को लिए आती है; वे वे असंख्य मृतों और आहतों को देखते हैं, सबसे अंत में उनकी अंगरक्षिका का बलिदान उनके हृदय पर गहरा प्रभाव डालता है और वे अहिंसा की नीति को अपनाते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में अशोक के सिंहासनारोहण से लेकर कलिंग-विजय तक की कथा है। कलिंग-विजय से ही उनकी धर्म-विजय प्रारम्भ होती है। युद्ध का अन्तिम दिन उनका विजय-पर्व है; **यह विजय कलिंग पर अशोक की विजय ही नहीं, हिंसा पर अहिंसा की विजय है, क्रूरता पर दया की विजय है। इसलिए इस नाटक का नाम विजय-पर्व है।**

नाट्य-कला

नाट्य-कला की दृष्टि से इसमें सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि प्रत्येक अंक अपने में पूर्ण होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध भी हैं।

कार्य-व्यापार की तीन अवस्थाएँ तीन अंकों में हैं। प्रथम अंक में कथानक का परिचय प्राप्त होता है, साथ ही विकास भी। दोनों पक्ष हमारे सम्मुख आते हैं और वे संघर्ष के लिए तत्पर हैं। यद्यपि परिस्थितियों की सीमाओं को देखते हुए यह संघर्ष प्रथम अंक में समाप्त-सा हो जाता है; किन्तु दूसरा पक्ष पुनः संघर्ष के लिए तत्पर है। द्वितीय अंक में संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच जाता है और तृतीय अंक में निगति होती है।

नाटक में पाँच प्रमुख पात्र हैं। अशोक, सुगाम, खल्लाहक, देवी और चारुमित्रा। इन पात्रों का चरित्र उभारने का प्रयत्न किया गया है। सभी पात्रों में परिवर्तन होता है; वे गतिशील हैं, स्थिर नहीं।

कथोपकथन में स्वाभाविकता लाने का मैंने सदैव ही प्रयास किया है। पिछले तीस वर्षों से रंगमंच से मेरा निकट का सम्बन्ध है; इस कारण नाटक अभिनेय हो सका है। न तो उलझे हुए वाक्य हैं और न लम्बे-लम्बे सम्भाषण। इनकी भाषा भी दुरूह नहीं है। भाषा में समरसता इसलिए है कि सभी पात्र एक ही वातावरण में रहने वाले हैं, इसलिए सभी प्रायः एक-सी भाषा बोलते हैं। किन्तु प्रत्येक पात्र की भाषा में उसकी व्यक्तिगत विशेषता की छाप है।

नाटक में तीन अंक हैं, और तीन ही दृश्य। आजकल नाटक का अभिनय पर्दों पर न होकर सेटों पर होता है, इसलिए नाटक में दृश्य-परिवर्तन कम से कम होना चाहिए। दृश्यावलियों की योजना में आयोजकों को कोई कठिनाई न होगी। इन दृश्यों से अशोक-कालीन भारत का चित्र सम्मुख उपस्थित हो जाएगा।

हिन्दी में ऐसे नाटकों का अभाव है, जो रंगमंच पर सफलता के साथ अवतरित हो सकें, साथ ही उनमें साहित्यिकता भी हो। प्रस्तुत नाटक में पाश्चात्य मनोविज्ञान और भारतीय रस-परम्परा का समन्वय कर उसे अभिनेय रूप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक के नायक सम्राट् अशोक के शासन से आज बहुत गुछ ग्रहण किया गया है; उनका धर्म-चक्र आज हमारी सरकार का चिह्न है, उनके अनुकरण पर ही अहिंसा की नीति के हमारे जन-नायक श्री जवाहरलाल नेहरू विश्व में भारत का प्रमुख स्थान बना गये हैं।

प्रस्तुत नाटक के पठन-पाठन से तरुणों में नव-स्फूर्ति आवेगी, ऐसा मेरा विश्वास है और रंगमंच पर अवतरित होकर यह जन-जीवन में उत्साह के बीज अंकुरित करने में सफल होगा।

यदि इस नाटक से चित्तानुरंजन के साथ ही समाज की मूलवृत्तियों का परिष्कार हो सका, तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

—लेखक

पात्र-सूची

पुरुष-पात्र

सम्राट् अशोक	:	स्वर्गीय सम्राट् बिन्दुसार के पुत्र और मगध के सम्राट्
कुमार सुसीम **कुमार सुगाम** **कुमार सुहास** **कुमार सुबेल**	:	सम्राट् बिन्दुसार के पुत्र और सम्राट् अशोक के बड़े भाई
कुमार सुदत्त	:	सम्राट् अशोक का छोटा भाई
खल्लाहक	:	सम्राट् अशोक के अमात्य
चंडगिरिक	:	सम्राट् अशोक का अंगरक्षक
बुद्धिभद्र	:	गुप्तचर-विभाग का एक अधिकारी
महेन्द्र	:	सम्राट् अशोक का ज्येष्ठ पुत्र
महास्थविर उपगुप्त	:	बौद्ध धर्म के आचार्य
राजुक	:	अन्तःपुर का द्वार-रक्षक प्रहरी, सैनिक आदि

स्त्री-पात्र

महादेवी	:	मगध की सम्राज्ञी, सम्राट् अशोक की पत्नी
संघमित्रा	:	सम्राट् अशोक की पुत्री
चारुमित्रा	:	सम्राट् अशोक की अंगरक्षिका
स्वयंप्रभा	:	चारुमित्रा की सखी, बाद में महादेवी की परिचारिका कलिङ्ग की स्त्री, परिचारिका आदि

प्रथम अंक

स्थान : पाटलिपुत्र, सोन नदी का तट

काल : 274 ई० पू०

[दृश्य—सोन नदी की समतल भूमि। मध्य में एक झुका हुआ पेड़ जिसका तना आसन की भाँति बैठने का काम दे सकता है। दाहिनी ओर बिखरी हुई शाखाओं वाला दूसरा पेड़ है, जिसकी दो शाखाओं में इतना अन्तर है कि उनके बीच में चन्द्र का बिम्ब दीख सकता है। स्थान-स्थान पर छोटी-मोटी झुरमुटें हैं जो कभी-कभी पैरों में उलझ जाती हैं। भूमि उपजाऊ होने के कारण हरीतिमा से परिपूर्ण है। गहरी संध्या का समय है। आज कृष्ण पक्ष की तृतीया है। अभी तक चन्द्रोदय नहीं हुआ है; किन्तु समीप काष्ठ-प्राचीर पर लगा हुआ दीप-स्तम्भ इस स्थान पर हलका-सा आलोक फेंक रहा है। पूर्व दिशा में चन्द्रोदय के पूर्व की आभा दीख पड़ने लगी है। वातावरण सुनसान है। कभी-कभी सीताध्यक्ष (कृषि विभाग के अध्यक्ष) का सेवक 'सा···व···धा···न' की आवाज देता है, जो वायु में गूँजती हुई क्रमशः धीमी हो जाती है। यह एकांत जैसे युद्ध के पूर्व का आतंक लिए हुए है। परदा उठने पर सुगाम और सुदत्त बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए दीख पड़ते हैं। वे कभी-कभी दायें और बायें भी झुककर देखते हैं कि इस स्थान पर अन्य कोई तो नहीं है। सुगाम और सुदत्त राजकुमार हैं। सुगाम के वस्त्र नीले और सुदत्त के पीले चीनांशुक के बने हुए हैं। दोनों के हाथ में कृपाण है। सुगाम पूर्व की ओर गहरी दृष्टि से देखते हुए सुदत्त से बात आरम्भ करते हैं।]

सुगाम : अभी चन्द्रोदय नहीं हुआ ?

सुदत्त : (आकाश की ओर देखते हुए) अभी तक चन्द्र के दर्शन नहीं हुए।

सुगाम : तो हमें चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करनी है। उसी समय इस सोन नदी के तट पर पाटलिपुत्र को उसका योग्य शासक मिलेगा। उत्साही, कृतज्ञ, वीर, जो राज्यश्री को अपने वश में रख सके; जिसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो।

सुदत्त : (**वृक्ष का सहारा लेकर, ठंडी साँस भरकर**) आह ! ये सब लक्षण हमारे पिता सम्राट् बिन्दुसार में थे। कौन जानता था, कि भाग्याकाश का ऐसा तेजस्वी नक्षत्र इतने शीघ्र अस्त हो जाएगा !

सुगाम : (**टहलने से रुककर**) करुणा का अवकाश नहीं है, सुदत्त ! उसके लिए हमारी माताओं की आँखों में सागर से भी अधिक जल है। उस सागर में राज्य की नौका नहीं डूब सकती। हमें आज पाटलिपुत्र के योग्य शासक का निर्णय करना ही है। मैं सभी भाइयों की सहमति प्राप्त कर चुका हूँ। केवल तुम्हीं शेष रह गए हो।

सुदत्त : (**व्यंग्य से**) और मेरे अतिरिक्त भी कुछ शेष रह गया है ?

सुगाम : तुम्हारे अतिरिक्त ? तुम्हारे अतिरिक्त···कुछ नहीं। (**कुछ सोचकर**) हाँ, मंत्रि-मंडल सम्भवत: हमारे पक्ष में नहीं है, किन्तु इसकी हमें चिन्ता नहीं। कृष्ण पक्ष चन्द्र की कलाएँ छीन सकता है, चन्द्र को मिटा नहीं सकता।

सुदत्त : जीवन की तृष्णा जिसमें है, वह मिटकर भी नहीं मिटता। तो इस कृष्ण पक्ष के क्रोड़ से चन्द्र का उदय होगा ?

सुगाम : अवश्य, यह तो प्रकृति का सत्य है।

सुदत्त : तो यह प्रकृति का सत्य किस व्यक्ति पर घटित होगा ?

सुगाम : यह व्यक्ति होगा, मगध का सम्राट्।

सुदत्त : स्पष्ट कहो, सुगाम ! मगध का सम्राट् कौन होगा ?

सुगाम : यही तो सोन की लहरें निर्णय करेंगी।

सुदत्त : मनुष्य का भाग्य ये लहरें बनाएँगी—जो एक कंकड़ी के गिरने से हिचकी ले उठती हैं ? सुगाम ! स्पष्ट कहो, तुम साम्रट् होना चाहते हो !

सुगाम : (**कृपाण टेककर**) मैं ?

सुदत्त : हाँ, तुम ! सुगाम ! हो सकते हो। सम्राट् बिन्दुसार के साहसी सुपुत्र ! मेरे ज्येष्ठ भ्राता ! और···और नाम भी बुरा नहीं रहेगा···एकराट् विजिगीषु राजर्षि श्री सुगाम।

सुगाम : मैं व्यंग्य नहीं सुनना चाहता, सुदत्त ! यदि मैं सम्राट् होना चाहूँ तो कोई शक्ति मुझे नहीं रोक सकती। वर्षा काल में बादल आकाश में स्वयं ही आते हैं और जल की वर्षा करते हैं। आकाश बादलों से भिक्षा नहीं माँगता। उसी प्रकार मैं भी राज्यश्री की भिक्षा नहीं माँगूँगा। राज्यश्री स्वयं मेरे पास आएगी किन्तु···एक बात पूछूँ···(**सहसा**) तुम सम्राट् होना चाहते हो ?

सुदत्त : मैं ? (**जोर से अट्टहास कर**) मैं ?

सुगाम : इतने जोर से मत हँसो। सुदत्त !···यह सुनसान कहीं चौंक न उठे।

यह एकांत कहीं मंत्रि-मंडल के पक्ष में न हो ! यह एक विश्वस्त प्रश्न है कि तुम सम्राट् नहीं होना चाहते।

सुदत्त : (**फिर हँसकर**) मैं ? इसी सोन नदी के किनारे हम दोनों का द्वन्द्व-युद्ध हो और मगध के योग्य शासक का निर्णय। इसी इच्छा से तुम मुझे यहाँ लाए हो ? किन्तु सुगाम ! मैं···मैं द्वन्द्व-युद्ध नहीं करूँगा। अपनी माताओं की अश्रु-धारा में किसी भाई की रक्तधारा नहीं मिलाऊँगा। मैं सम्राट्-पद के लिए द्वन्द्व-युद्ध नहीं करूँगा। पाटलिपुत्र विपत्तियों में रहा है। मैं उस पर अपने कृपाण का बोझ नहीं रखूँगा। हाँ···तुम सम्राट् बनो। पाटलिपुत्र के योग्य शासक ! मैं जीवन भर अपनी माताओं की सेवा करूँगा।

सुगाम : (**लम्बी साँस लेकर**) साधु ! सुदत्त ! तो तुम सम्राट्-पद के लिए उत्सुक नहीं हो ?

सुदत्त : उत्सुक कौन नहीं होगा ? किन्तु मैं नहीं हूँ।

सुगाम : तो यदि इस समय मैं सम्राट् न बनूँ और किसी अन्य भाई को बनाना चाहूँ तो तुम उसे सम्राट् मानोगे ?

सुदत्त : किसे सम्राट् बनाओगे ?

सुगाम : मैं पहले तुम्हारी सहमति चाहता हूँ।

सुदत्त : सोचकर बताऊँगा।

सुगाम : (**तीव्रता से**) मैं तुम्हारा विश्वास चाहता हूँ, सुदत्त ! हाँ ! या नहीं ! तीर लक्ष्य पर सीधा जाता है, वह आकाश में विहार नहीं करता। तुम्हारा उत्तर सीधा होना चाहिए।

सुदत्त : और यदि एक टेढ़ा प्रश्न पूछूँ तो उत्तर दोगे ? पाटलिपुत्र का सम्राट् कौन होगा···स्पष्ट उत्तर दो, सुगाम !

सुगाम : यह सोचकर बताऊँगा।

सुदत्त : मेरी तरह तुम भी सोचकर बताओगे ? मैं बिना सोचे बतला सकता हूँ। मगध का भावी सम्राट् होना चाहता है—सुगाम !

सुगाम : (**मुस्कुराकर**) तुम अन्तर्यामी ज्ञात होते हो, सुदत्त ! सभी भाइयों का मत मेरे पक्ष में है किन्तु इस समय मुझे पाटलिपुत्र की राजनीति की रक्षा करनी है। भावी सम्राट् को कुछ त्याग भी तो करना चाहिए। हमारी राज-नीति कुछ समय के लिए एक दूसरा सम्राट् चाहेगी।

सुदत्त : नहीं, मैं तो सुगाम को ही सम्राट् मानूँगा। मुझे उसका नाम बहुत प्रिय है। सम्राट् सुगाम। न जाने कितने अच्छे ग्राम इस नाम में ही निवास करते हैं।

सुगाम : साधु ! किन्तु कुछ दिन धैर्य रखो। प्यारे भाई सुदत्त ! मेरी प्रार्थना है

कि कुछ दिनों के लिए एक अन्य भाई को सम्राट् स्वीकार करो ।

सुदत्त : किसे ?

सुगाम : जो इस समय सबसे अधिक वीर है ।

सुदत्त : अशोक ?

सुगाम : तुम काँप क्यों उठे, सुदत्त ?

सुदत्त : अशोक के नाम से क्यों काँपूँगा ? वह भी तो हमारा भाई है। उसने उज्जयिनी का शासन कितनी योग्यता से सम्हाला है ! जब वह बोलता है तो ज्ञात होता है जैसे आकाश उसका साथ दे रहा है ।

सुगाम : तुम बहुत दुर्बल-हृदय हो, सुदत्त ! इसीलिए तुम्हें सुदृढ़ करने और तुम्हारा विश्वास पाने के लिए मैं तुम्हें यहाँ लाया हूँ, देखो, (**एक-एक शब्द पर रुक-रुककर दृढ़ता से**)—इसी स्थान पर आज हम सब अशोक का वध करेंगे। (**आतंक मुद्रा**)

सुदत्त : वध करेंगे ? क्यों ? उसका अपराध ?

सुगाम : उसने अपने सबसे ज्येष्ठ भ्राता सुसीम का अपमान किया है।

सुदत्त : किस प्रकार अपमान किया ? कुछ अपशब्द कहे या तुम्हारी तरह कुछ राजनीतिक वाक्यों का प्रयोग किया ?

सुगाम : राजनीतिक वाक्य तो नहीं कहे; किन्तु बड़े भाई के रहते अपने को सम्राट् घोषित कर दिया।

सुदत्त : सम्राट् घोषित कर दिया ? (**काँपता है**)

सुगाम : तुम फिर काँप उठे ! तुम अशोक से डरते हो ?

सुदत्त : डरता तो नहीं हूँ, किन्तु उसके साहस की प्रशंसा करता हूँ ।

सुगाम : सुनो, सुदत्त ! अब तुम्हें सुसीम की प्रशंसा करनी होगी। स्वर्गीय पिता के वात्सल्य के सबसे बड़े अधिकारी ! वे कुछ समय के लिए पाटलिपुत्र के सम्राट् होंगे । तुम्हें हमारे साथ उनका साथ देना होगा। दोगे ? वचन दो।

सुदत्त : (**सोचता हुआ**) अपने सबसे बड़े भाई ! सुसीम ! पर वे तो तक्षशिला का विद्रोह शांत करने गए हैं। सम्राट् ने उन्हें वहाँ भेजा था।

सुगाम : वे विद्रोह शान्त कर वहाँ से लौट भी आए। आज प्रातः सूर्य के साथ उन्होंने पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। विद्रोह तो उन्होंने एक दिन में शांत कर दिया। उन्हें देखते ही नागरिकों के सिर श्रद्धा से झुक गए। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—कुमार ! हमें सम्राट् से या आपसे असन्तोष नहीं है। कार्यान्तिक और अन्तपाल हमें कष्ट देते हैं। युवराज सुसीम ने कार्यान्तिक और अन्तपाल को कारागार में डाल दिया और उसी क्षण विद्रोह शांत हो गया। कितनी दैवी शक्ति है उनमें ? आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र

में सम्राट् को दैवी शक्ति-सम्पन्न माना है। इसी दैवी शक्ति के कारण वे सच्चे अर्थ में सम्राट् होंगे।

सुदत्त : (**सिर हिलाते हुए**) हाँ, सम्राट् तो हो सकते हैं; किन्तु मन्त्रि-मंडल उनसे रुष्ट है। एक बार उन्होंने अमात्य खल्लाहक का अपमान कर दिया था।

सुगाम : खल्लाहक जन्म से ही खल है तो बेचारे सुसीम क्या करें? खलों को अनुशासन में रखना सज्जनों का धर्म है।

सुदत्त : फिर भी अमात्य (**संकेत करते हुए**) उस दीप-स्तम्भ की तरह है जिसका आधार पाकर राज्यश्री प्रकाश फैलाती है।

सुगाम : हाँ, स्तम्भ ही है; जो जड़ता का प्रतीक है।

सुदत्त : फिर भी अमात्य समान धरातल से ऊँचा है।

सुगाम : सौ अमात्य भी जुड़ जाएँ, तो वे आकाश से ऊँचे नहीं हो सकते, सुदत्त! जिसमें तारों का संगठित प्रकाश है। हम सब भाइयों की संगठित शक्ति का सामना क्या अमात्य-मंडल कर सकता है? अमात्य-मंडल अमात्य-मंडल ही है और भाइयों की शक्ति ऐसा आलोक-मंडल है, जो मनुष्य की शक्ति से धूमिल नहीं हो सकता। दीपकों का समूह भी कहीं तारों की समता कर सकता है? और सुनो, सुदत्त! मन्त्रि-मंडल का संगठन तो सम्राट् करता है। हम लोगों की सहायता से सुसीम सम्राट् बनकर एक नये मन्त्रि-मंडल का संगठन करेंगे और सबसे बड़ी बात यह होगी कि···

सुदत्त : सबसे बड़ी बात क्या होगी?

सुगाम : सबसे बड़ी बात यह होगी कि···उस मन्त्रि-मंडल में होंगे हम और तुम···

सुदत्त : तुम और हम? यह तो बड़ी अच्छी बात होगी! दो नेत्रों की तरह हम और तुम सम्राट् सुसीम का मार्ग-दर्शन करेंगे। सुसीम की मुझ पर कृपा भी है। एक बार मुझसे हँसकर कहने लगे—सुदत्त! तुम्हारे नाम के अनुरूप मैं तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ।

सुगाम : तो अब वह समय आ गया है, सुदत्त! वे तुम्हें अपने नवीन मंत्री का पद प्रदान करेंगे। बोलो, हमारा साथ दोगे?

सुदत्त : इसी प्रकार का लालच, सुगाम! तुमने अन्य भाइयों को दिया होगा। तभी वे सब तुमसे सहमत हैं। सुसीम के नाम से सम्भवतः तुम पाटलिपुत्र का शासन करोगे।

सुगाम : (**तीव्र स्वर में चिल्लाकर**) सुदत्त!

सुदत्त : (**डरकर**) शब्दों पर मुझे अधिकार नहीं है, सुगाम! कुछ कहना चाहता हूँ, कुछ मुँह से निकल जाता है। मुझे कुछ डर लगता है। (**सोचकर**) अच्छा,

साथ दूँगा तुम्हारा। मुझे चाहे अमात्य-पद मिले या न मिले, बोलो, कैसे साथ देना होगा ?

सुगाम : आज कृष्ण की तृतीया है। **(पूर्व आकाश की ओर देख कर)** चन्द्र के उदय होने में कुछ ही विलम्ब होगा। मुझे मध्याह्न में गुप्तचरों से सूचना मिली थी कि आज चन्द्रोदय होने पर अशोक अमात्य खल्लाहक के साथ कुछ विशेष मंत्रणा करने के लिए इसी स्थान पर आवेंगे। उसी समय हम सब मिलकर उन पर आक्रमण करेंगे और या तो उनका वध करेंगे, या उन्हें कारागार में डाल देंगे।

सुदत्त : हम सब मिल कर एक पर आक्रमण करेंगे ? यह कौन-सी राजनीति है ?

सुगाम : यह सिंहासन प्राप्त करने की राजनीति है।

सुदत्त : **(मुस्कुराकर)** तो फिर यह राजनीति नहीं व्याज-नीति है।

सुगाम : **(तीव्रता से)** सुदत्त ! यह परिहास का समय नहीं है। चन्द्रोदय होना ही चाहता है।

सुदत्त : अच्छी बात है। चकोर की भाँति देखूँगा—**(पूर्व की ओर देखते हुए)** चन्द्रोदय कब होता है ?

सुगाम : उसी समय कुमार सुसीम अपने साथियों सहित अपने सम्राट् होने की घोषणा करेंगे। तुम्हें उनके जयकार में सम्मिलित होना पड़ेगा।

सुदत्त : मुझे तो जयकार में सम्मिलित होना है। चाहे वह तुम्हारा हो, चाहे अशोक का, चाहे सुसीम का।

सुगाम : **(तीव्र दृष्टि से)** यह जयकार सुसीम का होगा।

सुदत्त : तो सुसीम के जयकार में भाग लूँगा। अभी बोलो, 'कुमार सुसीम की जय !' मैं उसमें अपना कंठ-स्वर मिलाऊँगा।

[बाहर से किसी के आने का शब्द]

कोई आ रहा है, सुगाम ! तुम मुझे यहाँ क्यों ले आए ? मैं संध्या समय अपरिचितों को युद्ध का अवसर नहीं देता। तुम जानते हो, सुगाम ! करुणा के क्षणों में मुझे वीरता अच्छी नहीं लगती।

सुगाम : इस ओर चले आओ, सुदत्त **(दोनों दाहिनी ओर के पेड़ के समीप जाते हैं। अशोक के अंगरक्षक चंडगिरिक का प्रवेश। उसके हाथ में कृपाण है।)**

चंडगिरिक : **(सैनिक ढंग से)** कौन है यहाँ ?

[कोई उत्तर नहीं मिलता।]

चंडगिरिक : **(पुनः तीव्रता से)** शस्त्र या शास्त्र की परीक्षा देने वाला कौन है यहाँ ?

सुगाम : (**आगे बढ़कर**) तुम्हारे प्रणाम के अधिकारी कुमार सुगाम और कुमार सुदत्त।

चंडगिरिक : प्रणाम करता हूँ, कुमार !

सुदत्त : तुम सम्भवतः मुझे भी प्रणाम करोगे।

चंडगिरिक : दो नेत्रों के लिए एक ही दृष्टि होती है, कुमार ! किन्तु इस समय सोन नदी के तट पर कुमारों को किस कार्य के निमित्त कष्ट उठाना पड़ा ?

सुगाम : प्रश्नकर्ता अपना परिचय प्रस्तुत करें।

चंडगिरिक : चंडगिरिक, श्रीमन् ! सम्राट् अशोक का अंगरक्षक।

सुगाम : उज्जयिनी का करमोलि अशोक कहो···सम्राट् अशोक नहीं।

चंडगिरिक : श्रीमन् ! आज प्रातः निश्चय हो चुका है कि स्वर्गीय सम्राट् बिन्दुसार के स्थान पर···

सुगाम : वाक्य पूर्ण न हो, चंडगिरिक ! स्वर्गीय सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र युवराज सुसीम पाटलिपुत्र में प्रवेश कर चुके हैं; उनके रहते किसी को अधिकार नहीं है कि वह एकराट् बिन्दुसार का सिंहासन कलुषित करे। सम्राट् होने के वास्तविक अधिकारी युवराज सुसीम हैं।

चंडगिरिक : जो निर्णय अमात्य-मंडल से हुआ है, वह सर्वमान्य है, श्रीमन् !

सुगाम : सम्राट् के निधन के साथ अमात्य-मंडल भी समाप्त हो जाना चाहिए। पूर्णिमा के चन्द्र के साथ तारे भी अस्त हो जाते हैं। मैं इस अमात्य-मंडल के किसी भी अमात्य को महत्त्व नहीं देता।

चंडगिरिक : इसका उत्तर कोई अमात्य ही दे सकता है, अंगरक्षक नहीं। मैं यही निवेदन करना चाहता हूँ कि इस स्थान की अपेक्षा श्रीमान के लिए राज-महल अधिक उपयुक्त स्थान होगा।

सुदत्त : सुगाम ! माताएँ भी हम लोगों की प्रतीक्षा कर रही होंगी।

सुगाम : और मुझे इसी स्थान पर अशोक और सम्राट् सुसीम की एक साथ प्रतीक्षा करनी है। चंडगिरिक ! तुम अपने को बन्दी समझो। इस अशिष्टता के लिए कल न्यायाधिकरण में तुम पर विचार होगा।

चंडगिरिक : श्रीमन् ! न्यायाधिकरण पर एकमात्र अधिकार सम्राट् अशोक का है।

सुगाम : चुप रह, सम्राट् अशोक को रटने वाला दादुर ! तू दुर्विनीत भी है। द्वन्द्व के लिए प्रस्तुत हो।

(**नेपथ्य से**) चंडगिरिक तुम अपने स्थान पर हो ?

चंडगिरिक : श्रीमन् !

[अमात्य खल्लाहक का प्रवेश]

खल्लाहक : किससे बातें कर रहे हो ? (**सामने सुगाम को देखकर**) राजकुमार सुगाम और राजकुमार सुदत्त !

सुगाम : अमात्य ! चंडगिरिक ने राज-मर्यादा भंग की है। मैं उससे द्वन्द्व चाहता हूँ।

खल्लाहक : यह राजकुमार की मर्यादा के अनुकूल नहीं है, कुमार ! कि वह एक अंग-रक्षक से द्वन्द्व करे ! (**चंडगिरिक से**) चंडगिरिक ! कुमारों की मर्यादा अक्षुण्ण रहे।

चंडगिरिक : मर्यादा की सुरक्षा में ही सेवक का अस्तित्व है, श्रीमन् !

सुगाम : और वह अस्तित्व क्षण मात्र में मिटा दिया जा सकता है, अमात्य ! चंडगिरिक का यह साहस कि वह हमसे कहे कि इस स्थान की अपेक्षा राजमहल आपके लिए अधिक उपयुक्त स्थान होगा ! कुमार सुदत्त इसके साक्षी हैं !

सुदत्त : साक्षी क्या ! चंडगिरिक प्रणाम करना भी नहीं जानता।

खल्लाहक : कुमार चंडगिरिक का अपराध क्षमा हो। वह अंगरक्षक है। उसका कर्त्तव्य है कि जिस स्थान पर उसकी नियुक्ति हो, वह स्थान निरापद रहे।

सुदत्त : हमारे यहाँ रहने से स्थान निरापद नहीं समझा जाएगा ?

खल्लाहक : सम्राट् अशोक···

सुगाम : (**बीच ही में तीव्रता से**) सम्राट् अशोक ! सम्राट् अशोक ! किस विधान से उज्जयिनी का करमोलि अशोक, मगध का सम्राट् अशोक हो सकता है ? यह एक भयानक षड्यन्त्र है।

खल्लाहक : शान्त ! राजकुमार ! आपके द्वारा राजमर्यादा भंग न हो। सम्राट् अशोक स्वर्गीय सम्राट् बिन्दुसार के वैसे ही पुत्र हैं जैसे आप या सुसीम।

सुगाम : तो मैं या सुसीम सम्राट् क्यों नहीं हो सकते ?

खल्लाहक : हो सकते हैं, किन्तु अमात्य-मंडल का निर्णय ऐसा नहीं है।

सुगाम : वह अमात्य-मंडल तो ऐसा निर्णय करेगा ही, जिसके नायक आप हैं। ऐसा अमात्य-मंडल नष्ट कर दिया जाएगा।

खल्लाहक : राज्य का विधान एक खिलौना नहीं है, कुमार ! जिसे एक बालक अपने क्रोध में नष्ट कर दे। इस वाक्य का उत्तर···

सुगाम : (**बीच ही में**) उत्तर ? अभी सुसीम से मिल जाएगा (**सुदत्त से**) चलो, सुदत्त !

सुदत्त : हाँ ! राजकुमार सुसीम ही इसका उत्तर देंगे और उनके कंठ में हम लोगों का स्वर भी होगा और जैसा राजकुमार सुगाम ने कहा, उस स्वर में सुसीम का जय-जयकार भी होगा। हाँ ! चलो सुगाम !

सुगाम : अमात्य खल्लाहक ! थोड़ी देर अमात्य-पद की सन्ध्या में बादल की

भाँति राग-रंजित हो लो। चन्द्रोदय होने पर तुम्हारे रंगों का कहीं पता भी नहीं चलेगा !

[सुदत्त के साथ शीघ्रता से प्रस्थान]

खल्लाहक : (**सुगाम और सुदत्त के जाने की दिशा में देखते हुए**) विद्रोह की जड़ें दूर तक फैल गई हैं। ज्ञात होता है, कुमार सुगाम ने इसके लिए संगठन भी कर रक्खा है। मैं समझता हूँ, इसका पता सम्राट् अशोक को होगा।

चंडगिरिक : इसका पता सम्राट् को है, श्रीमन् !

खल्लाहक : इस विषय में उन्होंने कुछ कहा ?

चंडगिरिक : कहा, मुझे चिन्ता नहीं है। विद्रोह की अग्नि को दीपों में सजा कर मैंने दीपावली का उत्सव मनाया है।

खल्लाहक : (**मुस्कुराकर**) साहस के अवतार हैं हमारे सम्राट्। इसीलिए अमात्य-मंडल ने एक स्वर से निर्णय दिया है कि मगध के सिंहासन पर उनका ही अभिषेक हो। कल इसकी घोषणा होगी। सब भाइयों में वे ही सबसे अधिक शक्तिशाली और साहसी हैं।

चंडगिरिक : (**सिर झुकाकर**) श्रीमन् !

खल्लाहक : किन्तु इस विद्रोह का शमन करना आवश्यक होगा। कुमार सुगाम अवश्य ही इस विद्रोह का दावानल दूर-दूर तक पहुँचावेंगे और कुमार सुसीम को नेता बना कर कुछ अनिष्ट करने की बातें सोच रहे होंगे।

चंडगिरिक : इन्हीं कुमारों से सेवक ने सुना कि राजकुमार सुसीम अन्य कुमारों के साथ सम्राट् पर आक्रमण करेंगे और···

[सम्राट् अशोक का प्रवेश। मांसपेशियों से गठा हुआ शरीर। मुख पर तेज और नेत्रों में आकर्षण। स्वर में स्पष्टता और वज्र जैसी दृढ़ता। सम्राट् अशोक अंशुक की कसी हुई धोती पहने हुए हैं जिसके कमर के समीप-भाग में हंस-मिथुन के चिह्न हैं। कन्धों को ढकती हुई तथा बायीं बाहु पर होती हुई रेशमी चादर है जिसमें रत्नों के फुँदने लगे हुए हैं। चीनांशुक के बने हुए डोरी वाले कमरबंद, जिनके सिरे छाती के समीप रत्न-कंटक से कसे हुए हैं। शीर्षपट के साथ एक मयूरपक्ष के रंग का उष्णीष जिसके दोनों ओर एक-एक मोती की माला बँधी हुई है। पैर में तिपटल मंजीठ रंग के उपानह। हाथ में कृपाण।]

अशोक : (**प्रवेश करते ही**) चंडगिरिक ! तुम यहाँ से जा सकते हो।

खल्लाहक : (**घूम कर**) सम्राट् की जय !

चंडगिरिक : (**झुक कर**) सम्राट् की जय !

अशोक : आदेश दुहराये नहीं जाते, चंडगिरिक।

चंडगिरिक : (**झुक कर**) श्रीमन् ! (**शीघ्रता से प्रस्थान**)

खल्लाहक : किन्तु चंडगिरिक की यहाँ आवश्यकता होगी, सम्राट् !

अशोक : मेरी रक्षा के लिए ? (**कुछ हँसते हुए**) क्योंकि आपके अमात्य-मंडल ने निर्णय किया है कि अशोक मगध के सम्राट् हों और सम्राट् के लिए अंगरक्षक हो। किन्तु मैं समझता हूँ, अमात्य ! वह सम्राट् भी क्या है जिसे अंगरक्षक की आवश्यकता हो ? (**अमात्य खल्लाहक की मुद्रा गंभीर है। उसकी ओर तिरछी दृष्टि से देखते हुए**) बहुत गंभीर हो गए, अमात्य ! सम्राट् तो वही है, जो सम्यक् रूप से विराज सके ! संतोष से प्रजा उसकी श्री की सराहना कर सके। उसके लिए अंगरक्षक की क्या आवश्यकता है ? अंगरक्षक की नियुक्ति तो प्रजा के प्रति अविश्वास है ! प्रजा ऐसे राजा को क्या क्षमा कर सकती है ?

खल्लाहक : किन्तु इस समय परिस्थिति भयानक है। आपको भी यहाँ नहीं रहना चाहिए। परिस्थिति अत्यन्त भयानक है, सम्राट् !

अशोक : (**हँसकर**) भयानक ? परिस्थिति भी कभी भयानक होती है, अमात्य ? मनुष्य की दुर्बलता का दूसरा नाम परिस्थिति है। जब मनुष्य विवश होकर कुछ नहीं कर सकता, तो वह सरलता से कह देता है, परिस्थिति अनुकूल नहीं है—भयानक है। मनुष्य ही परिस्थितियों का निर्माण करता है और निर्माण कर चुकने पर जब वह असफल हो जाता है, तो भाग्य को दोष देता है। अपने हाथ से अपनी ही शक्तियों की हत्या करता है और कहता है कि मैं अकेला हूँ।

खल्लाहक : आपके साहस की मैं प्रशंसा करता हूँ, सम्राट् ! किन्तु मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।

अशोक : अमात्य की वाणी विधान की वाणी है। मैं सुनूँगा।

खल्लाहक : आप जानते हैं, सम्राट् ! अमात्य-मंडल ने जो निर्णय किया है, वह अन्य कुमारों को स्वीकार नहीं है। वे ज्येष्ठ कुमार सुसीम को सम्राट् बनाना चाहते हैं। इस गृह-विद्रोह के सम्बन्ध में ही परामर्श देने के लिए मैंने आपको इस एकान्त में निमन्त्रित किया था। राजमहल के तो कोने-कोने में अनन्त जिह्वाएँ, अनन्त नेत्र और अनन्त कान हैं। यह एकान्त ही मूक, अन्ध और बधिर है। किन्तु अब आपको यहाँ भी नहीं रहना चाहिए। यह एकान्त भी मुझे एक कच्छप की भाँति लग रहा है जो अपने विद्रोह का सिर अपने भीतर समेट कर बैठा हुआ है।

अशोक : मुझे उससे भय नहीं है, अमात्य ! कच्छप भले ही कठोर हो, किन्तु वह भय से आक्रान्त भी है। भय ही उसे सिर समेटने के लिए बाध्य करता है ! वह चोरी से मांस नोचता है, विषधर की तरह आक्रमण नहीं करता।

मुझे ऐसे कच्छपों से भय नहीं है; मैं उनके मर्मस्थल को वेधना जानता हूँ। हाँ, तुम मुझे कुछ परामर्श देना चाहते थे। पाटलिपुत्र की राजनीति के सम्बन्ध में···?

खल्लाहक : तो आपको सूचना है कि अन्य राजकुमार असंतुष्ट हैं।

अशोक : हाँ, मुझे इस बात की सूचना है कि अन्य राजकुमारों को अमात्य-मंडल के निर्माण से असंतोष है। इस सम्बन्ध में आपका और अमात्य-मंडल का क्या निर्णय है ?

खल्लाहक : अमात्म-मंडल इस सम्बन्ध में आपसे परामर्श के लिए उत्सुक है। जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत निर्णय है, सम्राट् ! वह बिलकुल स्पष्ट है और वह पाटलिपुत्र के हित में है। आज मुझे मगध की सेवा करते हुए बीस वर्ष से अधिक हो गए। स्वर्गीय सम्राट् की राजनीतिक मन्त्रणाओं का आसन मेरे परामर्श-निर्मित सिंहों के कंधों पर था। आचार्य चाणक्य के अर्थशास्त्र ने तो हमारा मार्ग प्रशस्त किया ही है किन्तु अनेक परिस्थितियाँ ऐसी आई हैं, जहाँ हमने राजनीति को सरस्वती की गुप्त धारा बना कर विपक्षियों में भी संग्राम करा दिया है। किन्तु यह अंतर्विद्रोह विपक्षियों की हिंसा से भी भयानक है।

अशोक : आपकी राजनीति पर हमें विश्वास है।

खल्लाहक : सम्राट् ! आज मगध में गृह-विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी है। स्वर्गीय सम्राट् इस बात को स्वीकार करते थे कि सब भाइयों में आप सबसे अधिक शक्तिशाली हैं किन्तु वे ज्येष्ठ कुमार सुसीम को समीप रहने के कारण अधिक चाहते थे। आप उज्जयिनी में ग्यारह वर्षों से थे। आपने अनेक विद्रोह शान्त किए, किन्तु कुमार सुसीम ने आपके शौर्य की सूचना सम्राट् तक पहुँचने भी नहीं दी। कुमार सुसीम सम्राट् का स्नेह पाकर धृष्ट और दुर्विनीत हो गए। कुमार सुगाम भी उन्हीं की भाँति निरंकुश बन गए। जब तक्षशिला में विद्रोह हुआ तो सम्राट् आपको उज्जयिनी से तक्षशिला भेजना चाहते थे किन्तु अमात्म-मंडल जानता था कि वह विद्रोह राज्य-कर्म-चारियों के प्रति है, सम्राट् के विरुद्ध नहीं। इसलिए आपके भेजे जाने की आवश्यकता नहीं समझी गई और कुमार सुसीम को राज्य से दूर करने के लिए तक्षशिला भेज दिया गया।

अशोक : सुसीम शांति स्थापित कर आज प्रातः तक्षशिला से पाटलिपुत्र लौट भी आए।

खल्लाहक : हाँ ! आज प्रातः वे लौट आए। उन्हें स्वर्गीय सम्राट् के निधन की सूचना मिल चुकी थी, इससे उन्हें आशंका थी कि अमात्य-मंडल उनके स्थान पर कहीं कुमार अशोक को सम्राट् न बना दे।

अशोक : (**मुस्कुराकर**) और आपके अमात्य-मंडल ने अशोक को ही सम्राट् बनाया।

खल्लाहक : इसीलिए कुमार सुसीम अन्य कुमारों के साथ मिल कर पाटलिपुत्र को विद्रोह की अग्नि में भस्म कर देना चाहते हैं।

अशोक : विद्रोह में तो यही होगा। किन्तु इससे रक्षा का उपाय ?

खल्लाहक : मेरी दृष्टि में एक ही है।

अशोक : सुनना चाहता हूँ।

खल्लाहक : यदि इसे राज्यवंश की मर्यादा के विपरीत न समझा जाए तो···

अशोक : तो···?

खल्लाहक : उन पर शीघ्रातिशीघ्र नियंत्रण लगा दिया जाए।

अशोक : सैनिक नियंत्रण ?

खल्लाहक : हाँ, सम्राट् ! अन्यथा बढ़ती हुई आग की लपटों की भाँति वे राज-मर्यादा की फूलती हुई बेलों को झुलसाते रहेंगे।

अशोक : इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है ?

खल्लाहक : वे सब प्रतिहिंसा के विष-दन्तों में मृत्यु का अभिशाप लिए हैं। वे आप पर आक्रमण करना चाहते हैं। उन्हें इस बात की सूचना है कि आप इस समय यहाँ पर हैं। इसीलिए मैंने निवेदन किया कि अब आप यहाँ से शीघ्र ही लौट चलें। जब आपकी रक्षा के लिए अंगरक्षक और एक सैनिक गुल्म की नितान्त आवश्यकता है, तब आपने अपने अंगरक्षक को यहाँ से जाने का आदेश दे दिया।

अशोक : (**सोचते हुए**) वे यहाँ मुझ पर आक्रमण करेंगे ?

खल्लाहक : निस्संदेह ? कुमार सुगाम और कुमार सुदत्त यही अभिसंधि लेकर यहाँ से गए हैं। वे आपके आने के पूर्व यहाँ थे। वे सब मिल कर किसी भी क्षण आप पर आक्रमण कर सकते हैं। चन्द्रोदय होने ही वाला है। वे इसी की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। यही उनके आक्रमण की वेला है।

अशोक : अंधकार में वे अपना आक्रमण अधिक सफलता के साथ कर सकते हैं। विद्रोह का कृपाण तो अंधकार की म्यान में रहता है।

खल्लाहक : इसीलिए सम्राट् ! परामर्श का समय चन्द्रोदय के पश्चात् ही रक्खा गया था।

अशोक : तो चन्द्रोदय ही उनके आक्रमण की वेला है ?

खल्लाहक : हाँ, सम्राट् !

अशोक : तो फिर अमात्य ! तुम भी यहाँ से जाओ।

खल्लाहक : मैं भी यहाँ से चला जाऊँ ? मगध के सम्राट् को इस एकान्त में छोड़कर चला जाऊँ; जिससे विद्रोहियों का मार्ग और भी सुगम हो जाए ?

मेरे लिए यह सम्भव नहीं होगा, सम्राट् ! यह राज-धर्म और सेवा-धर्म दोनों ही के प्रतिकूल है।

अशोक : तो राज-धर्म भी कैसा है कि उसने अपने सम्राट् की परीक्षा लिए बिना ही उसे सम्राट् बना दिया ? नदी की गहराई परखी ही नहीं और उसमें अपनी विशाल नौका छोड़ दी ? अमात्य-मण्डल को सम्राट् की परीक्षा भी तो लेनी चाहिए थी ?

खल्लाहक : उज्जयिनी में सम्राट् की परीक्षा अनेक बार ली जा चुकी है।

अशोक : उज्जयिनी पाटलिपुत्र नहीं है, अमात्य ! उज्जयिनी केवल पश्चिम-चक्र की राजधानी है और पाटलिपुत्र समस्त मगध राज्य का केन्द्र है। यहाँ की परीक्षा वास्तविक परीक्षा है।

खल्लाहक : फिर भी, सम्राट् ! आपसे प्रार्थना है कि आप मुझे यहाँ से जाने का आदेश न दें। विद्रोह में पाटलिपुत्र भस्म होने जा रहा है ?

अशोक : मैं अमात्य को आदेश न देकर उनसे आग्रह करना चाहता हूँ कि वे मुझे एकान्त में कुछ विचार करने का अवसर प्रदान करें।

खल्लाहक : जैसी आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

अशोक : (**टहलते हुए सोचते हैं**) विद्रोह ! विद्रोह की अग्नि में पाटलिपुत्र भस्म होने जा रहा है ! सम्राट् बिन्दुसार का पाटलिपुत्र ! सम्राट् चन्द्रगुप्त का···! टहलते हुए पेड़ के समीप आते हैं। वे पूर्व के आकाश में देखते हैं। यह चन्द्र ! तो चन्द्रोदय हो गया ! आक्रमण की यही वेला है। कैसा आक्रमण होगा ! किसी ने आक्रमण कर चन्द्र की तीन कलाएँ भी काट ली हैं। (**एक दिशा में चौंक कर देखते हैं**) कौन है ? (**कोई उत्तर नहीं मिलता**) पाटलिपुत्र में चोर की तरह छिपने वाला कौन है ?

सुगाम : (**सामने आकर तलवार टेक कर खड़ा होता है**) मैं चोर नहीं हूँ, अशोक !

अशोक : (**आत्मीयता के स्वर में**) सुगाम ! तुम हो ? तो फिर चोर की तरह क्यों छिप रहे हो ? तुम मेरे भाई हो। स्वर्गीय सम्राट् बिन्दुसार के पुत्र। मगध राज्य के संरक्षक।

सुगाम : व्यंग्य-बाण मत चलाओ। शक्ति हो तो तुम तलवार का प्रयोग कर सकते हो।

अशोक : शक्ति भी है और तलवार भी है, किन्तु प्रयोग का अवसर मैं नहीं देखता। हाँ, तुम प्रयोग करो ! देखो, चन्द्रोदय हो गया। तुम्हारे आक्रमण की वेला यही तो है। देखूँ, तुम किस प्रकार आक्रमण करते हो ?

सुगाम : मैं आक्रमण तो करूँगा ही, अशोक ! पहले यह जानना चाहता हूँ कि अमात्य खल्लाहक और अंगरक्षक चंडगिरिक कहाँ हैं ?

अशोक : दो भाइयों के बीच में कोई बाहरी व्यक्ति नहीं होना चाहिए, सुगाम ! इसीलिए दोनों को ही यहाँ रहने की अनुमति मैंने नहीं दी। अब यहाँ केवल मैं हूँ और तुम हो। हम दोनों का जीवन, जीवन है; कोई प्रदर्शनी नहीं जो बाहरी व्यक्ति देखें।

सुगाम : अशोक ! तुम जानते थे कि मैं यहाँ आने वाला हूँ ?

अशोक : निस्संदेह ! मैं अपने अन्य भाइयों की भी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वे सब कहाँ हैं ?

सुगाम : कहीं दूर नहीं होंगे, किन्तु तुम जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा ?

अशोक : भाइयों के मिलने का परिणाम बुरा नहीं होता, यह मैं जानता हूँ ।

सुगाम : तुम साहसी हो, अशोक ! इसलिए मुझे तुम पर दया आती है । मैं नहीं चाहता कि भाइयों की क्रोधाग्नि में तुम भस्म हो जाओ ।

अशोक : मैं भस्म हो जाऊँ ? असम्भव ! क्रोधाग्नि में क्रोध करने वाला व्यक्ति ही भस्म होता है । सुगाम ! मैं अपने भाइयों को क्रोधाग्नि में भस्म होने से रोकूँगा ।

सुगाम : यह तुम्हारा साहस मात्र है, अशोक ! तुम्हारे लिए उचित होगा कि तुम मगध के सिंहासन से हट जाओ ।

अशोक : अशोक आज तक अपने कर्त्तव्य से पीछे नहीं हटा है, सुगाम ! यदि अमात्म-मंडल एकमत से मेरे सम्राट् होने का निर्णय न करता तो मैं दूसरे दिन ही उज्जयिनी के लिए प्रस्थान करता। पिताश्री के निधन के पश्चात् मगध राज्य की सुरक्षा का प्रश्न मेरा पहला कर्त्तव्य है, जिसका पालन मैं जीवन के अन्तिम क्षणों तक करूँगा।

सुगाम : तुम्हारा यह झूठा अभिमान है। मैं तुम्हें सचेत करना चाहता हूँ, अशोक ! तुम युवराज सुसीम के मार्ग से हट जाओ ।

अशोक : मुझे सुसीम के मार्ग का मोह नहीं है। मुझे अपना मार्ग प्रिय है; और यदि मैं अपने सत्य में स्थित हूँ तो प्रत्येक मार्ग मेरे लिए राजमार्ग है; भूमि का प्रत्येक खंड मेरे लिए सिंहासन है। और, सिंहासन उच्च नहीं है सुगाम ! सिंहासन पर बैठने की योग्यता उच्च है । सुसीम सिंहासन को ही उच्च समझते हैं। यह मार्ग मेरा नहीं है।

सुगाम : फिर भी तुम्हारा के मार्ग के सुसीम मार्ग को अवरुद्ध करता है। तुम इस मार्ग से हट जाओ, नहीं तो···

अशोक : नहीं तो···?

सुगाम : समस्त भाइयों की सम्मिलित शक्ति तुम्हें बलपूर्वक मार्ग से हटा देगी।

अशोक : मैं ऐसी शक्ति के दर्शन करना चाहता हूँ। जीवन-भर मैंने शक्ति की ही उपासना की है। आज उसका सम्मिलित रूप देख कर मैं अपने को धन्य

समझूँगा । कहाँ है वह सम्मिलित शक्ति ! उस सम्मिलित शक्ति का प्रयोग मैं भी देखना चाहता हूँ, सुगाम !

सुगाम : वीरवर अशोक ! मैं नहीं चाहता कि स्वर्गीय पिताश्री का शुभ्र वंश भाइयों के रक्त से कलंकित हो। यदि तुम सुसीम के पक्ष में नहीं हो तो किसी अन्य भाई को सिंहासन पर बैठने का अवसर दे सकते हो। तुमने अपनी वीरता की ध्वजा समस्त पश्चिम-चक्र में फहराई है । तुम ऐसा कर सकते हो कि···यदि सुसीम योग्य नहीं है अर्थात् उसे सिंहासन के योग्य नहीं समझते तो···मैंने···अर्थात् मैंने···तुम्हारे मार्ग, आदर्श पर चलने का प्रयत्न ···प्रयत्न नहीं ··साधना की है···। मैं···अर्थात् मैं···

अशोक : देखो, सुगाम ! अपने व्यक्तित्व पर बल दो···किसी दूसरे का अनुकरण आत्महत्या है ।

सुगाम : (**तीव्रता से**) तो अब तुम्हारी हत्या की जाएगी, अशोक ! मैं तुम्हें सावधान करने आया था। तुम्हारे प्रति भाइयों का क्रोध अन्तिम सीमा पर पहुँच गया है ।

अशोक : मनुष्य की शक्ति अन्तिम सीमाओं में शोभा नहीं पाती। अन्तिम सीमाओं को संतुलित करने में शोभा पाती है।

सुगाम : यह तुम्हारा अन्तिम निर्णय है ?

अशोक : मेरे धैर्य की परीक्षा न लो, सुगाम ! क्या तुम समझते हो कि मगध का सिंहासन किसी वणिक् की तुला है, जो शब्दों के भार से किसी ओर भी झुक सकती है ? यह सिंहासन मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का है, सम्राट् बिन्दुसार का है, जिनका साहस और प्रताप उसमें रत्नों की भाँति जड़ा हुआ है, और इन रत्नों में देश का ही नहीं, विदेश का भी इतिहास प्रतिबिम्बित हुआ है।

[नेपथ्य में कोलाहल होता है।]

अशोक : यह कैसा कोलाहल ?

सुगाम : (**व्यंग्य से**) इसी कोलाहल में तुम्हारा इतिहास प्रतिबिम्बित होगा !

नेपथ्य में : एक स्वर—अशोक का वध करो।
दूसरा स्वर—पाटलिपुत्र का कलंक दूर हो !
तीसरा स्वर—अशोक को बन्दी करो !

अशोक : (**तीव्रता से कोलाहल की दिशा में देखकर**) मैं प्रस्तुत हूँ !

[नेपथ्य में फिर हलचल होती है ।]

सुगाम : (**उच्च स्वर से**) सम्राट् सुसीम की जय !

[**'जय' का नाद गूँजते ही नेपथ्य से सुसीम अन्य चार भाइयों सहित तलवार की नोक सामने कर झपटते हैं।**]

सुसीम : (**तीव्रता से तलवार उठा कर**) प्रतिहिंसा मेरे प्राणों में है ! मृत्यु मेरे हाथों में है···आक्रमण करो !

[हलचल होती है ।]

अशोक : (**गर्जना के स्वर में**) सावधान ! सम्राट् बिन्दुसार के वंश के हिंसक पशु ! वहीं खड़े रहो !

[सब स्तम्भित होकर रुक जाते हैं ।]

अशोक : (**वैसी ही गर्जना के स्वर में**) यदि एक भी व्यक्ति आगे बढ़ा तो वह खौलते हुए तेल के कड़ाह में झोंक दिया जाएगा !

[सब ठिठके हुए खड़े रहते हैं । केवल कुमार सुसीम आगे बढ़ते हैं ।]

सुसीम : किसका साहस है कि वह हमें खौलते हुए तेल के कड़ाह में झोंक दे ?

अशोक : पाटलिपुत्र का एक-एक व्यक्ति यह साहस रखता है । और खौलते हुए तेल की एक-एक बूँद मांस में डूबकर हड्डियों को गलाने की शक्ति रखती है । तुम आगे बढ़ोगे ?

सुसीम : मैं ही नहीं···मेरे भाई भी आगे बढ़ेंगे ।

अशोक : तुम्हारे ये भाई ? जिन्हें तुमने विद्रोह के लिए भड़काया है ? जिन देवता-जैसे राजकुमारों को तुमने भेड़ियों का बाना पहनाया है ? पिता की मृत्यु पर टूटते हुए इनके आँसुओं से तुम अपना राज्याभिषेक कराना चाहते हो ? बोलो, सुसीम ! स्वार्थ की वेदी पर भाइयों की बलि देना हिंसा की पराकाष्ठा है या नहीं ?

सुसीम : हिंसक तुम हो ।

अशोक : भाइयों को अपने साथ-साथ तुम लाए हो, जिससे वे मेरी तलवार से कटें और तुम मुझसे संधि कर सिंहासन पर बैठो । तुम्हारा स्वार्थ ये भाई जानते हैं । इसीलिए ये भाई देखने में तुम्हारे साथ हैं, पर वास्तव में साथ नहीं हैं । राज्य में विद्रोह स्वार्थ के पैरों पर खड़ा होता है । इन पैरों की दिशा जानते हो, किस ओर है सुदत्त ! सुहास ! सुबेल ! तुम लोगों के पैर काँप रहे हैं । तुम्हारे हाथों की तलवारें झुक रही हैं । राजनीति में विद्रोह वह हिम-खंड है जो अविश्वास की आँच में गलकर बह जाता है । तुम्हारे माथे पर जो पसीना है, सुदत्त ! वह उसी का रूप है । उसे जल्द पोंछो ।

[सुदत्त बायें हाथ से माथे का पसीना पोंछता है ।]

सुसीम : (**सुदत्त से सरोष**) पसीना क्या पोंछते हो ?

सुदत्त : (**हकलाते स्वर में**) अविश्वास···अविश्वास से गल-गलकर बह रहा है ।

सुगाम : (**चीखकर**) अविश्वास ? कैसा अविश्वास ?

अशोक : (**तीव्रता से**) वह अविश्वास, जो तलवारों में काँपता है। वह अविश्वास, जो तलवार को कसकर पकड़ता है, किन्तु मुट्ठी ढीली की ढीली रह जाती है। वह अविश्वास, जो साहस कर बोलना चाहता है, किन्तु भूमि में गड़े लोहे पर की गई चोट की भाँति गले में कुण्ठित हो जाता है। स्पष्ट कंठ से कहो, सुसीम ! क्या कहना चाहते हो ? तुम्हारी वाणी अविश्वास से बोझिल हो रही है !

सुसीम : मेरी वाणी बोझिल नहीं है। मैं पूछता हूँ, मुझे खौलते हुए तेल में झोंकने की शक्ति किसमें है ?

अशोक : मुझमें। उस शक्ति की परीक्षा लेना चाहते हो ? तुम्हारे भाइयों के पैर लड़खड़ा रहे हैं। तुम्हारी वाणी में पहले जैसा तीखापन नहीं है। कौन परीक्षा लेगा ? समझो सुसीम ! सागर की एक बूँद सागर के जल के समान ही है, किन्तु उसमें प्रलय का संघात उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि तुम्हारे साथ के भाइयों ने मगध का भविष्य नहीं पहचाना तो मुझे बलपूर्वक पहचानने के लिए बाध्य करना होगा।

सुसीम : हमें कोई बाध्य नहीं कर सकता।

सुगाम : राजकुमारों को कोई बाध्य नहीं कर सकता। काल भी उनके सामने आए, तो वे उसे अपने पैरों से कुचल देंगे। भाइयो ! अशोक तुम्हारे सामने है ! उस पर आक्रमण करो ! वध करो !

[कुमारों में एक-दूसरे का मुख देखकर फिर आक्रमण करने की हलचल होती है।]

अशोक : (**तीव्रता से**) शांत ! तुम लोग एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते। यह रणभूमि नहीं है। यह पाटलिपुत्र की पवित्र धरणी है। गंगा और सोन ने इसका अभिषेक किया है। युद्ध करना है तो पाटलिपुत्र के बाहर की भूमि रक्त से रंजित की जाएगी, यह पवित्र धरणी यज्ञभूमि है, रणभूमि नहीं।

सुसीम : किंतु तुम ! अशोक तुम ! इसे अपने दुस्साहस से रणभूमि में परिणत करना चाहते हो।

अशोक : आक्रमण करने का आदेश किसने दिया ? मैंने या तुमने ? यह भी तक्षशिला का विद्रोह है ? यह भी उत्तर-चक्र का विप्लव है ? यह पाटलिपुत्र के भविष्य का निर्णय है। यह हमारी पितृभूमि—हमारे मध्य-चक्र की परम्परा का निर्णय है। सुसीम ! अधिकार को विद्रोह का खिलौना मत बनाओ। मैं आवेश के चक्रव्यूह में अधिकार को लांछित नहीं होने दूंगा। मैं जानता हूँ, आवेश में भरे हुए व्यक्तियों का समूह पशुओं के पैरों से

चलता है। आवेश दूर हो !

सुगाम : तो सुसीम मगध के सम्राट् होंगे। पिता का उत्तराधिकार उन्हीं को प्राप्त होगा !

अशोक : और तुम्हें प्राप्त क्यों नहीं हो सकता ? तुम भी मगध सम्राट् के पुत्र हो, पिता के उत्तराधिकारी हो। सुगाम ! तुम भी मगध के सम्राट् हो सकते हो !

सुगाम : वह तुमने स्वीकार कब किया ?

अशोक : वह भी कभी स्वीकार हो सकता है। किंतु इसके लिए तुम विद्रोह करोगे ? किसके साथ विद्रोह करोगे ? अमात्य-मंडल की शक्ति प्रजा की शक्ति है। प्रजा की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। ईश्वर की शक्ति से कौन युद्ध करेगा ? याद रक्खो, सुसीम ! प्रजा की शक्ति मेरे साथ है, फिर किसमें साहस है कि ईश्वर की शक्ति के समक्ष खड़ा रह सके ? और, इन टूटी हुई तलवारों के साथ तुम मुझसे युद्ध करोगे ? सुगाम ! तुमने इन कुमारों के हाथों में टूट जाने वाली तलवारें क्यों दे रक्खी हैं ?

[कुमार अपनी तलवारों पर दृष्टि डालते हैं।]

सुगाम : ये राजकुमारों की अपनी तलवारें हैं।

अशोक : तो इन तलवारों का पानी उतर गया है ! जब विद्रोह के लिए तलवार उठती है तो उसका पानी उतर जाता है। **(तलवारों को लक्ष्य कर)** यह देखो ! ये तलवारें आपस में ही टकरा रही हैं। सुहास ! और सुबेल ! तुम लोगों की तलवारें आपस में ही टकरा कर कुण्ठित हो रही हैं ! पीछे हटो !

[सुहास और सुबेल दोनों यन्त्रवत् पीछे हट जाते हैं।]

सुदत्त : मेरी तलवार तो नहीं टकरा रही है।

अशोक : तुम भविष्य को पहचानते हो, सुदत्त ! और सुगाम ! तुम भी भविष्य को पहचानते हो। क्योंकि तुम मुझे सावधान करने आए थे और अपने लिए मगध का सिंहासन···

सुसीम : **(आश्चर्य से सुगाम की ओर देखते हुए)** अपने लिए मगध का सिंहासन चाहते थे ?

सुगाम : अपने लिए अर्थात् तुम्हारे लिए।

सुदत्त : मुझसे तो किसी अमात्य-पद की बात कर रहे थे !

सुहास : हाँ, और यही मुझसे भी कहा था।

सुबेल : और मुझे तो अमात्य के नाम से पुकारने भी लगे थे।

अशोक : शांत ! शांत ! परस्पर भेद की बातें करने से लाभ कुछ नहीं होगा। परस्पर अविश्वास का समय कहाँ ? पाटलिपुत्र का प्रत्येक राजकुमार सत्य को पहचानता है, वह धोखे में नहीं आ सकता। मैं तुम सबसे अपने मन की बातें कहना चाहता था किंतु पूज्य पिता की चिता की जलती हुई भस्म आज भी पाटलिपुत्र को दग्ध कर रही है ! पूज्य माताओं की आँखों से वही हुई आँसुओं की धारा इस सोन नदी के प्रवाह से किसी भी प्रकार कम नहीं।

सुदत्त : मैंने भी यही कहा था, अशोक !···मैंने भी यही कहा था !

सुसीम : (**दृढ़ता से**) मेरे सामने यह प्रश्न नहीं है, अशोक ! मैं अपना अधिकार चाहता हूँ ! अधिकार चाहता हूँ ! मैं ज्येष्ठ हूँ।

अशोक : फिर मेरे प्रणाम के अधिकारी होकर मेरे आक्रमण के अधिकारी क्यों होना चाहते थे ? सुसीम ! तुम नहीं जानते कि तुम कितने महान हो ! तुम में कितनी शक्ति और क्षमता है ! तुमने तक्षशिला का विद्रोह एक दिन में समाप्त कर दिया। तुम सम्राट् बिन्दुसार के ज्येष्ठ पुत्र ! मगध साम्राज्य के सुदृढ़ स्तम्भ ! यदि तुम अपने विवेक को संतुलित रखते तो यह राज्यश्री तुम्हारे चरणों में लोटती और तुम पदाघात करते हुए कहते—"दूर हो पिशाची ! तू मेरी शरण में आने के योग्य नहीं है।" किंतु आज पिता का मरण तुम्हारे राज्य-वैभव का सोपान बन रहा है ? माताओं की अश्रु-धारा में तुम अपने भाई की रक्त-धारा मिलाना चाहते हो ?

सुदत्त : मैंने तुमसे यही कहा था, सुगाम ! मैंने भी यही कहा था, अशोक ! मैं निश्चय तुम्हारे पक्ष में हूँ। मेरा प्रणाम स्वीकार करो।

[प्रणाम करके अशोक के समीप आकर खड़ा हो जाता है।]

सुबेल : और मैंने भी अशोक का विरोध कब किया ! मैं भी तुम्हारे पक्ष में हूँ। मैं प्रणाम करता हूँ। (**प्रणाम करता है और अशोक के समीप दूसरी ओर खड़ा हो जाता है।**)

सुहास : अशोक सत्य के पथ पर है। मैं भी प्रणाम करता हूँ। (**प्रणाम करके अशोक के पक्ष में आकर सुदत्त के समीप खड़ा हो जाता है।**)

अशोक : पाटलिपुत्र की राजनीति कृतज्ञता का स्वर पहचानती है। मैं तुम सब लोगों का कृतज्ञ हूँ। सुदत्त ! सुबेल ! और सुहास ! तुम लोग विविध शासन-चक्रों के कुमार बनने की योग्यता रखते हो। तुम लोग जाओ। माताओं को तुम्हारे शीतल शब्दों की आवश्यकता होगी।

सुदत्त : मैं भी यही सोचता हूँ, अशोक ! (**सुबेल और सुहास से**) चलो सुबेल ! चलो सुहास ! (**सुसीम से**) अच्छा सुसीम ! हम लोग जा रहे हैं।

सुबेल और सुहास : चलो ! **(अशोक को प्रणाम करके जाते हैं।)**

सुसीम : (अशोक से) तो इस प्रकार तुमने भेद-नीति से काम लिया !

अशोक : (शान्ति से) भेद-नीति का प्रयोग वहाँ हो, जहाँ संगठन हो और जहाँ लोगों को भ्रम में डालकर काम लिया जा सकता हो। इस नीति की आवश्यकता मुझे नहीं है, सुसीम ! मेरी नीति तो आत्मविश्वास की है। आत्मविश्वास जीवन के सत्य को पहचानने का बीज-मन्त्र है और जीवन का सत्य किसी एक व्यक्ति का धन नहीं है, वह मानव-मात्र का अखंड वैभव है। तुम उदार नहीं हो सके ! उदारता के अभाव में तुम्हारा वैभव शरद-कालीन बादल बन गया, जो देखने में तो उज्ज्वल है, किंतु उसमें जल की एक बूँद भी नहीं है। तुम नहीं समझ सके कि तुम्हारी आँखों की परिधि ही अन्तिम परिधि नहीं है···क्षितिज के पार भी एक परिधि है, जिसमें पृथ्वी और आकाश जैसे अलग तत्त्वों में भी संधि हो सकती है।

सुगाम : अशोक ! तुम महान् हो !

अशोक : महान् तो मानव है, सुगाम ! यदि कोई व्यक्ति सच्चा मानव बन सके ! मानव ही सृष्टि का केन्द्र है। जहाँ वह है, वहाँ सारी प्रकृति है···मानव ही राष्ट्र है और मानव ही युग है। वह अनन्त प्रगति है, उसमें अनन्त शक्ति का स्रोत है यद्यपि वह नहीं जानता कि इस शक्ति का स्रोत कहाँ है।

सुसीम : (सिर पकड़कर) ओह ! सब समाप्त हो गया !

सुगाम : मेरे लिए कहीं कोई स्थान नहीं रह गया !

[अमात्य खल्लाहक का प्रवेश]

खल्लाहक : सम्राट् की जय !

अशोक : (मुस्कुराकर) अमात्य ! तुम और अंगरक्षक गुप्त स्थान में बैठे-बैठे थक गए होगे किंतु मुझे अपनी वाणी और दृष्टि पर विश्वास था।

खल्लाहक : सम्राट् ! सैनिक गुल्म भी समीप ही था। वह प्रतीक्षा में था कि कुमार आक्रमण करें।

अशोक : किंतु कुमारों ने आक्रमण नहीं किया। कितने कृपालु हैं ये कुमार !

सुसीम : इस समय जाता हूँ, अशोक ! फिर कभी···

अशोक : नहीं ! अभी तुम नहीं जा सकोगे, कुमार सुसीम और सुगाम ! मेरा अनुरोध है कि तुम आत्महत्या नहीं करोगे। इस वंश में किसी ने आत्म-हत्या नहीं की है। तुमसे शासन-चक्र के सम्बन्ध में कुछ परामर्श करूँगा। यह स्मरण रखना कि आवश्यकता से अधिक बुद्धिमत्ता मूर्खता की जननी है।

सुसीम : क्या मुझे खौलते हुए तेल के कड़ाह में डालोगे ? मुझे कोई चिंता नहीं !

अशोक : (**अमात्य से**) मैं अंगरक्षक की उपस्थिति चाहता हूँ।

खल्लाहक : सम्राट् की जैसी इच्छा। मैं भी यही चाहता था। (**प्रस्थान**)

अशोक : कुमार सुसीम ! राज्यश्री एक महान पर्व मनाती है। उसमें महत्त्वाकांक्षा की भरी नदी में स्नान होता है। गुप्त अभिसंधियों का मंत्र-पाठ होता है। प्रशस्तियों के स्तोत्र पढ़े जाते और ऐश्वर्य के पुष्प बिखेरे जाते हैं। पाटलिपुत्र की राज्यश्री में यह कुछ नहीं होगा। उसमें प्राचीन राजुपुरुषों की अर्चना में केवल प्रेम की पुष्पांजलि अर्पित होगी और प्राणों के दीप जलेंगे। यही राजनीति है···यही राज्यश्री है।

(**नेपथ्य में देखकर**) कौन ? चंडगिरिक ?

चंडगिरिक : आज्ञा, सम्राट्। (**सिर झुकाता है।**)

अशोक : राजकुमार सुसीम और राजकुमार सुगाम को आदर सहित राजमहलों में पहुँचा दो।

सुसीम : हम लोग जिस भाँति आए हैं, उसी भाँति चले जावेंगे।

अशोक : नहीं, कुमार सुसीम ! सम्राट् बिन्दुसार के राजवंश की मर्यादा सुरक्षित रहेगी।

(**चंडगिरिक से**) और चंडगिरिक ! साथ में सैनिक गुल्म भी रहेगा।

चंडगिरिक : जैसी आज्ञा, सम्राट् ! (**कुमारों से**) कुमारों से प्रार्थना है कि वे राजमहलों की ओर प्रस्थान करें।

सुसीम : (**सुगाम से**) चलो, सुगाम !

सुगाम : अशोक ! तुम्हारे कहने से मैं आत्महत्या नहीं करूँगा।

अशोक : साधु, सुगाम !

[सुसीम और सुगाम का शीघ्रता से प्रस्थान]

[खल्लाहक का प्रवेश]

खल्लाहक : सम्राट् की कोई विशेष आज्ञा।

अशोक : (**सोचते हुए**) कृष्ण पक्ष की रात्रि में जितने अधिक तारे रहते हैं, उतना ही अधिक अंधकार भी रहता है।

खल्लाहक : सत्य है, सम्राट् ! किन्तु आज चन्द्रोदय होने पर पाटलिपुत्र को सच्चा सम्राट् मिला !

अशोक : यह उस पवित्र सोन (**नेपथ्य में संकेत करते हुए**) का वरदान है। सोन का, जिसने सम्राट् चन्द्रगुप्त के पाटलिपुत्र का निर्माण किया। उसी पवित्र सोन का वरदान है।

[अशोक के मुख-मंडल से तेज की किरणें फूटती-सी ज्ञात होती हैं।]

[धीरे-धीरे परदा गिरता है।]

द्वितीय अंक

स्थान : मगध सम्राट् का अन्तःपुर

काल : 266 ई० पू०

[मंच के मध्य में एक स्वर्ण सिंहासन जो फूल-मालाओं से सजा हुआ है। उस पर दो खड़ी तलवारें, एक-दूसरे पर कला के साथ सुसज्जित होती हुई, सिंहासन की पीठिका से टिकी हुई हैं, जैसे दो अर्द्धचन्द्र एक-दूसरे को काटते हुए सिंहासन पर सुशोभित हों। उनके नीचे सिंहासन पर दो तलवारें समानान्तर रखी हुई हैं। दीप-स्तम्भ पर उज्ज्वल ज्योति से जलते हुए दो दीपक। वातावरण में अगरु का धूम। फैलती हुई प्रकाश की किरण की भाँति महादेवी और संघमित्रा अलग-अलग आरती का थाल सजाए हुए तलवारों की आरती कर रही हैं। नेपथ्य में घण्टे और शंख की सम्मिलित ध्वनि। कुछ क्षणों तक आरती के उपरान्त आरती-पात्र सिंहासन पर रख दिए जाते हैं और थाली में रखे हुए पुष्पों को अंजुली में भर कर महादेवी और संघमित्रा तलवारों के समीप अर्पित करती हैं और हाथ जोड़ती हैं।]

संघमित्रा : इन दीपकों के प्रकाश में तलवार की शोभा कितनी मनोरम ज्ञात होती है, माँ! घूमता हुआ आरती-दीप जब किरणों से तलवार को स्पर्श करता है तो ऐसा लगता है जैसे तलवारों के अधरों से हँसी फूट रही हो!

महादेवी : (**सिंहासन के फूलों को सजाती हुई**) संघमित्रा! तुझे सब जगह हँसी ही दीख पड़ती है! इस पाटलिपुत्र के संघाराम में जहाँ जीवन की नीरसता प्रसार करती है, वहाँ भी तू हँसती रहती है?

संघमित्रा : तो, माँ! हँसना क्या बुरी बात है? ये फूल भी तो हँसते हैं, जिन्हें तुम इतनी सावधानी से तलवार के समीप सजा रही हो। मैं तो यह सोच लेती हूँ, माँ! कि हँसते-हँसते मैं अपनी हँसी के दीपक से संघाराम की आरती उतार लूँ! मेरा संघाराम भी तो तलवार की तरह उज्ज्वल और ज्योतिमय है।

महादेवी : (**सिंहासन से एक पात्र में फूल लेकर माला गूँथती हुई**) और तलवार की तरह टेढ़ा भी तो है। वहाँ युद्ध का चीत्कार तो नहीं सुनाई पड़ता, ललकार अवश्य सुनाई पड़ती है। वहाँ रक्त की धार तो नहीं बहती, किन्तु संघर्ष में पड़े हुए भिक्षुकों की वाक्य-धारा वर्षाकालीन नदी की भाँति बहती रहती है।

संघमित्रा : तब तो और भी अच्छा है! उसी बढ़ी हुई धारा में मैं अपनी हँसी का दीप-दान करूँगी। और जब किसी की क्रोध से भरी वाक्य-धारा में मेरी

हसी का दीपक प्रवाहित होगा; तो कितना अच्छा लगेगा ! एक बात पूछूँ, माँ ! तुम क्रोध में हँस सकती हो ?

महादेवी : तू पागल तो नहीं हो गई, संघमित्रा ! क्रोध और हँसी ! इन दोनों का कभी साथ हो सकता है ?

संघमित्रा : हो सकता है, माँ ! देखो न, वर्षा काल में जब मेघ क्रोध से गरजता है तो उसके भीतर बिजली की हँसी कितनी अच्छी तरह से चमक उठती है। माँ ! अगर कोई क्रोध में हँसना सीख ले, तो संसार का सारा संघर्ष मिट जाए। संघाराम में जो वाद-विवाद होता है न, वह प्रेम की हलकी फुहार में बदल जाए। इसीलिए तो मैं हँसती रहती हूँ कि मैं भिक्षुओं के क्रोध को बिजली की हँसी में बदल सकूँ। (**सिंहासन पर रक्खी हुई एक तलवार उठा लेती है**) देखो, माँ ! मेरी हँसी अधिक चमकती है या यह तलवार ! (**हँस पड़ती है, तलवार की धार को विविध कोणों से प्रकाश के समक्ष करती जाती है।**)

महादेवी : (**मुस्कुराकर**) दोनों ही लाड़ली हैं सम्राट् की। एक युद्ध-भूमि में चमकती है, तो दूसरी मेरे इस कक्ष में। किन्तु इतना समझ ले, संघमित्रा ! कि मैं तलवार की आरती उतार सकती हूँ, तेरी हँसी की आरती किसी दूसरे को ही उतारनी पड़ेगी।

संघमित्रा : (**बुरा मानकर**) जाओ, माँ ! मैं तुमसे नहीं बोलूँगी ! आज से हँसूँगी भी नहीं !

महादेवी : बुरा मान गई, संघमित्रा ! अच्छा, कुछ नहीं कहूँगी। मैं ही तेरी हँसी की आरती उतार लूँगी। बचपन से ही मैंने तुझे अपने हाथों में आरती की भाँति सँवारा है, तो तेरी हँसी की आरती तो आरती की आरती होगी !

संघमित्रा : (**मुस्कुराकर**) तब तो, माँ ! जब मेरे हाथों में तलवार आएगी, तब तो तीन आरतियाँ एक साथ ही होने लगेंगी ! अच्छा, माँ ! कल से मैं तलवार लेकर ही संघाराम में जाऊँगी।

महादेवी : संघाराम और तलवार ! तथागत के उपदेशों में तलवार का कोई स्थान नहीं है।

[हाथ में तलवार लिए हुए महेन्द्र का प्रवेश]

महेन्द्र : माँ ! प्रणाम। भयानक समाचार है।

महादेवी : (**चौंककर**) भयानक !

संघमित्रा : कैसा भयानक !!

महेन्द्र : तुम्हारे हाथ में भी तलवार है, संघमित्रा ! ठीक है, पाटलिपुत्र की राजनीतिक परिस्थिति संभवतः संघमित्रा के हाथों में भी तलवार दे।

महादेवी : मैं कुछ समझी नहीं। कैसी राजनीति ? कैसी तलवार ?

महेन्द्र : माँ ! भयानक विद्रोह !

संघमित्रा : विद्रोह ? पाटलिपुत्र में विद्रोह ?

महेन्द्र : पाटलिपुत्र में नहीं, पश्चिम-चक्र में।

महादेवी : उज्जयिनी में ?

महेन्द्र : उज्जयिनी और उसके समीपवर्ती अन्य राज्यों में भयानक षड्यन्त्र चल रहा है। (**सिंहासन की ओर संकेत करता हुआ**) इन तलवारों की पूजा बहुत हो चुकी, अब इनके प्रयोग का अवसर होगा।

संघमित्रा : तब तो मेरा तलवार लेना सार्थक हुआ।

महेन्द्र : हाँ, बहन ! पाटलिपुत्र के प्रत्येक नागरिक के हाथ में तलवार होनी चाहिए। आज तक हमारे पिता-श्री सम्राट् अशोक का आतंक, उनके व्यक्तित्व में था, अब सम्भवतः वह व्यक्तित्व तलवारों से झंकृत किया जाएगा।

महादेवी : क्या कभी इसकी भी आवश्यकता पड़ सकती है, महेन्द्र ! ऐसी कौन-सी घटना हो गई है, जो तलवार की धार पर तैरना चाहती है ?

महेन्द्र : माँ ! पिछले विद्रोह की चिनगारियाँ इस समय भी बुझते हुए अंगारों से निकलने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह पिता-श्री की क्षमा थी, जिसने उज्जयिनी के कुमारामात्य सुगाम को पश्चिम-चक्र का शासन फूल की माला की तरह पहना दिया। आज वही फूल की माला सर्प बनकर पाटलिपुत्र को डसना चाहती है। आर्य सुगाम किसी समय पाटलिपुत्र के संघाराम में भिक्षु बनना चाहते थे, बौद्ध धर्म का कवच पहन कर सम्भवतः वे सिद्ध करना चाहते थे कि उनका हृदय राज्यश्री के वैभव से मुक्त हो गया है। विद्रोह के क्रोड़ में पोषित होने वाली उनकी समस्त राज्य-लिप्सा जैसे अश्रु-धारा बनकर करुणा के सागर में मिल गई हो ! किन्तु माँ ! वह अश्रु-धारा नहीं थी, अग्नि की रेखा थी, जो अपने को तरल बूँदों में छिपाकर वज्र की तड़प बनने का स्वप्न देखती थी। माँ ! इससे सावधान रहना इस विशाल मगध-साम्राज्य के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

संघमित्रा : यह समाचार तुम्हें कैसे मिला ?

महेन्द्र : मैं आखेट से लौट रहा था। उसी समय मैंने देखा कि कुछ षड्यंत्रकारी उस घने वन की एक उलझी हुई झाड़ी के पीछे बैठे हुए आपस में बातें कर रहे थे। मेरा अश्व व्याघ्र के आक्रमण से आहत हो गया था, इसलिए मैं पैदल ही आ रहा था और मैंने झाड़ी के समीप आकर आर्य सुगाम का नाम अनेक बार सुना। मैंने छिपकर सारी बात सुनी। यदि मैं अश्व पर आता, तो यह सम्भव था कि उसकी टापों के शब्द से वे षड्यन्त्रकारी सावधान हो

जाते। मैंने उन षड्यन्त्रकारियों की एक-एक बात सुनी है और मैंने समझा कि पाटलिपुत्र पर एक भयानक आक्रमण करने का षड्यन्त्र हो रहा है। उस षड्यन्त्र के प्रमुख नेता होंगे आर्य सुगाम।

संघमित्रा : तो मगध भी असावधान नहीं है। पिता-श्री की शक्ति एक ऐसा प्राचीर है, जिसके भीतर कोई भी षड्यन्त्र प्रवेश नहीं कर सकता। उस प्राचीर के बाहर भी यदि किसी प्रकार का तुमुल सुनाई पड़ेगा, तो मगध की सेना का नेतृत्व मैं करूँगी। देखूँगी, कि आर्य सुगाम की तलवार में कितना पानी है!

महेन्द्र : भाई के रहते बहन को कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। किन्तु यह सुनकर मैं सुखी हुआ कि मेरी बहन केवल संघाराम में जाकर उपदेश ही नहीं सुनती, वरन् संकट काल में मगध के नागरिक का कर्त्तव्य भी पहचानती है। बहन! नारी होकर भी तुमने शस्त्र की जो शिक्षा प्राप्त की है, वह न जाने कितनी स्त्रियों को स्वतन्त्रता संग्राम में सैनिक बनने का संदेश देगी। जाओ, संघमित्रा! विश्राम करो, पहले हमारी ही शक्ति की परीक्षा होगी।

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : महादेवी की जय! सम्राट् इसी कक्ष में आ रहे हैं।

महादेवी : सम्राट् की कृपा! हम सब सम्राट् की प्रतीक्षा में हैं। तुम जाओ, राजुक!

राजुक : जैसी आज्ञा। **(प्रस्थान)**

महादेवी : संघमित्रा! तू सम्राट् के विश्राम की व्यवस्था कर।

संघमित्रा : **(हाथ की तलवार को सिंहासन पर रखकर)** मैं जाती हूँ, माँ!

महेन्द्र : सुनो, संघमित्रा! विश्राम करने के उपरान्त ही पिता-श्री को यह सूचना देनी उचित होगी, नहीं तो वे इसी समय बाहर जाने का कार्यक्रम बना लेंगे।

संघमित्रा : इस सम्बन्ध में मैं अभी कोई बात भी न करूँगी। जाती हूँ, माँ! **(प्रस्थान)**

महादेवी : महेन्द्र! क्या राजनीति कभी विश्राम नहीं लेती? जीवन की स्वाभाविकता इस राजनीति से इस प्रकार बहुत आहत हो जाती है, जिस प्रकार इस फूल का हृदय सुई की नोक से बिंधा हुआ है। फूल की माला की भाँति राज्यश्री भी वैभव की एक माला बनाती है, किन्तु माला में बिंधे हुए फूलों में वह सौन्दर्य कहाँ, जो मन्द वायु में झूमती हुई लता की गोद में है। यह राजनीति तो ऐसी मृगतृष्णा है जिससे आँखों को आशा का संदेश तो मिलता है, किन्तु कण्ठ सूखा ही रह जाता है।

महेन्द्र : माँ ! राजनीति तो सिंहासन का उत्तरदायित्व है । इस उत्तरदायित्व में राज-सत्ता का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि प्रजा के एक-एक व्यक्ति की रक्षा का महान् व्रत है। पिता-श्री की राजनीति का यह विधान मगध के इतिहास में अमर होगा ।

[नेपथ्य में 'सम्राट् अशोक की जय' का घोष । शस्त्रों से सुसज्जित अशोक का अंगरक्षिका चारुमित्रा के साथ प्रवेश]

महादेवी : आर्यपुत्र की जय ! (**फूलों की माला पहनाती है ।**)

महेन्द्र : पिता-श्री के चरणों में प्रणाम ! (**एक घुटना टेक कर प्रणाम करता है ।**)

अशोक : स्वस्ति, देवि ! सोन का वरदान तुम्हारे लिए मंगलमय हो। जिस सोन ने अपने प्रवाह में पाटलिपुत्र का उसी भाँति अभिषेक किया है, जिस प्रकार तुम्हारी पवित्र भावनाओं ने इस सिंहासन पर इन तलवारों का अभिषेक किया है। चारुमित्रा ! तुम बाहर जाओ ।

चारुमित्रा : जो आज्ञा, सम्राट् ! (**प्रस्थान**)

देवी : आर्यपुत्र ! इन तलवारों में आपकी शक्ति की ही आभा है और जब मैं इनका अभिषेक करती हूँ, तो मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि आपकी शक्ति का ही अभिषेक कर रही हूँ ।

अशोक : यह शक्ति पिता-श्री सम्राट् बिन्दुसार की है, देवी ! तभी तो आठ वर्ष पूर्व जब इसी सोन के तट पर मेरे भाइयों ने सम्मिलित रूप से मुझ पर आक्रमण करना चाहा था, तब इसी तलवार के आतंक ने उन समस्त तलवारों को केवल चित्रवत् बना दिया था। यह भी सच है कि उन भाइयों की तलवारों में भी पिता-श्री की शक्ति थी; किन्तु विद्रोह की वर्षा में उनकी तलवारों का पानी उतर गया था। महेन्द्र ! जिस तलवार का पानी उतर जाता है, उसका युद्ध में क्या महत्त्व है, यह जानते हो ?

महेन्द्र : पिता-श्री ! जिस तलवार का पानी उतर जाता है, उस पर रक्त नहीं चढ़ सकता। तब वह तलवार किसी विधवा के अश्रुओं की धारा है, जो रणभूमि में पड़े हुए मृतक पर प्रवाहित होती है ।

अशोक : इसीलिए उससे राज्य-श्री का शृंगार नहीं हो सकता। ये तलवारें जो महादेवी के कर-कमलों से इस सिंहासन पर सजी हुई हैं, किसी भी सम्राट् से महान् हैं, क्योंकि सम्राट् का अभिषेक केवल एक बार होता है, किन्तु इनका अभिषेक रक्त-चन्दन से प्रत्येक युद्ध में होता है ।

महेन्द्र : सत्य है, पिता-श्री !

अशोक : और तुम जानते हो, महेन्द्र ! यदि सिंहासन पर इनका अभिषेक अधिक

देर तक हो, तो ये उषा की अन्तिम आभा की भाँति श्री-हीन होने लगती हैं। आवश्यकता है कि ये उषा के अंगराग में न डूबकर प्रखर सूर्य की किरण की तरह दिशाओं के अन्तिम छोर तक चली जाएँ। सम्भव है, इस अवसर की अधिक देर तक प्रतीक्षा न करनी पड़े।

महादेवी : आर्यपुत्र ! पाटलिपुत्र की नारियों के लिए मेरा सन्देश प्राप्त करने को अमात्य-पत्नी किरण मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। मैं जाऊँ !

अशोक : जाओ, महादेवी ! तुम्हारे सन्देश ने नारियों को अपने उत्तरदायित्व की जो शिक्षा दी है, उससे पाटलिपुत्र की नागरिकता व्यवस्थित है। विदिशा में अर्जित की गई तुम्हारी साधना पाटलिपुत्र की सिद्धि बन गई है। जाओ, देवी ! पाटलिपुत्र की स्त्रियों को शक्ति का सन्देश दो।

महादेवी : जैसी आज्ञा। (**प्रणाम कर प्रस्थान**)

अशोक : यदि यह कहा जाए कि पाटलिपुत्र की शान्ति की सुरक्षा में मेरे साथ तुम्हारी जननी का भी हाथ है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। पाटलिपुत्र की नारियाँ समस्त विद्रोही स्वरों को शान्त करने में समर्थ हैं।

महेन्द्र : पिता-श्री ! मैं आपको एक आवश्यक सूचना देना चाहता हूँ।

अशोक : कैसी सूचना ?

महेन्द्र : उससे मगध की शान्ति में आशंका उत्पन्न हो सकती है।

अशोक : (**मुस्कुराकर**) उज्जयिनी के विद्रोह की ! सोन के तट पर हमारी परीक्षा लेकर कुमार सुगाम को संतोष नहीं हुआ। सम्भवतः सुगाम यह समझते हैं कि सिंहासन पर सजी हुई ये तलवारें स्वयं सम्राट् बन कर विश्राम के वैभव में सुकुमार बन गई हैं।

महेन्द्र : पिता-श्री ! आपको इस बात की सूचना है ?

अशोक : आज से चौदह दिन पूर्व। आज से चौदह दिन पूर्व ही मेरे संदेह ने सत्य का रूप ग्रहण किया। तुम जानते हो, महेन्द्र ! कि प्रत्येक क्षेत्र का कार्यान्तिक प्रति सप्ताह मेरे पास सूचना भेजता है। समस्त चक्रों की सूचनाएँ प्राप्त हुईं, किन्तु पश्चिम-चक्र के कार्यान्तिक ने पिछले दो सप्ताहों से उज्जयिनी के शासन की कोई सूचना नहीं दी। इसका अभिप्राय यह है कि कुमारामात्य सुगाम ने उस कार्यान्तिक को बन्दीगृह में डाल दिया है और उन्होंने मगध के शासन-विधान की अवहेलना की है। यह विद्रोह का स्वर है।

महेन्द्र : तब इस सम्बन्ध में क्या आज्ञा होगी, पिता-श्री ?

अशोक : विद्रोह किसी आज्ञा की भिक्षा नहीं माँगता। राज्यद्रोह ऐसा धूमकेतु है, जिससे ताराओं की कान्ति धूमिल पड़ जाती है। मुझे इस बात से दुःख है कि जिस उज्जयिनी की शासन व्यवस्था स्वर्गीय पिता-श्री के संकेत से मगध

के लिए आदर्श कही जाती थी, आज उसी शासन व्यवस्था में विद्रोह की ज्वाला राजनीति के काष्ठ समूहों में छिप-छिप कर प्रकट होना चाहती है। महेन्द्र ! तुम्हें उज्जयिनी शीघ्र ही जाना होगा। मैं यह देखना चाहता हूँ कि युवराज रहते हुए मैंने सुगाम के षड्यन्त्र को नष्ट कर दिया था, देखना चाहता हूँ कि तुम युवराज होकर सुगाम के षड्यन्त्र को समाप्त कर सकते हो या नहीं।

महेन्द्र : यह मेरा सौभाग्य है, पिता-श्री ! कि आपने मुझे इस योग्य समझा। आपको यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि जिस शक्ति ने पिछले विद्रोह का दमन किया, वही शक्ति मेरे रक्त में भी प्रवाहित हो रही है। यदि मैं उज्जयिनी के विद्रोह का शमन कर सका, तो उसका श्रेय मेरी तलवार को नहीं, आपकी तलवार को होगा, जिसकी चिनगारियों ने विद्रोह की ज्वाला को हिमखंड में परिवर्तित कर दिया है।

अशोक : तुम्हें वहाँ जाने की शीघ्र ही व्यवस्था करनी होगी। मैं विचार करूँगा कि तुम्हारे साथ कितने अश्वारोही सैनिकों को भेज सकूँगा।

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : सम्राट् की जय ! एक ज्योतिषी आपका दर्शन करने की आज्ञा चाहते हैं।

अशोक : ज्योतिषी ! इस अवसर पर ! एक ज्योतिषी मेरे दर्शन की आज्ञा चाहते हैं ! नहीं, उनसे कहो कि मुझे ज्योतिषियों के कल्पना-चित्रों को देखने का अवकाश नहीं है। **(कुछ सोचकर)** ज्योतिषी ! मेरे मगध सम्राट् होने की भविष्यवाणी करने वाला एक ज्योतिषी ही था ! सम्भव है, इस ज्योतिषी की वाणी में उज्जयिनी का भी भविष्य हो ! जाओ, राजुक ! उस ज्योतिषी को शीघ्र ही लाओ।

राजुक : जैसी आज्ञा। **(प्रस्थान)**

अशोक : महेन्द्र ! वह भी एक विचित्र घटना थी। मेरी अकिंचन जननी जब बालिका थीं, उस समय किसी ज्योतिषी ने यह भविष्यवाणी की थी कि उस बालिका का पुत्र चक्रवर्ती नरेश होगा। वह वाणी कितनी सत्य थी ! मैं मगध का सम्राट् बना। कौन जानता है कि भविष्य का कितना रहस्य किसी ज्योतिषी की वाणी में वट-वृक्ष के बीज की भाँति संचित रहता है !

महेन्द्र : मुझे आशंका है, पिता-श्री ! इस ज्योतिषी की वाणी कहीं मेरे पुरुषार्थ को चुनौती न दे दे।

अशोक : मैं भी ऐसा ही समझता हूँ महेन्द्र ! किंतु यदि तुममें शक्ति है, तो तुम किसी भी भविष्यवाणी में अपना जीवन-पथ निर्धारित कर सकते हो। यदि

भविष्यवाणी तुम्हारे अनुकूल है, तो तुम उसके अनुकूल चल सकते हो, किंतु यदि प्रतिकूल है तो तुम अपने भाग्य को भी चुनौती दे सकते हो। यही तुम्हारे वीरत्व का चिह्न होगा और यदि तुम भविष्यवाणी से युद्ध करोगे तो पराजय में भी तुम्हें मिलेगा।

[ज्योतिषी का प्रवेश]

ज्योतिषी : सम्राट् की जय हो !

अशोक : आइए ज्योतिषी जी ! अपनी उद्विग्नता में मैं तुम्हारे भविष्य-कथन को निमन्त्रित करता हूँ। कहिए ? मेरे भाग्याकाश के किस नक्षत्र की किरण मेरे पुरुषार्थ की गहराई में प्रवेश करना चाहती है ?

ज्योतिषी : सम्राट् ! भाग्याकाश की किरणें सिंहासन में लगे हुए रत्नों की किरणों से अधिक प्रकाश रखती हैं। सिंहासन की किरण तो सिंहासन तक ही सीमित रहती है, सम्राट् ! किंतु भाग्याकाश के नक्षत्रों की किरणें जीवन-पथ पर प्रकाश डालती हैं। सम्राट् ! एक निवेदन करना चाहता हूँ। यदि आज्ञा हो तो निवेदन करूँ !

अशोक : अवश्य ! मैं शीघ्र ही सुनना चाहता हूँ।

ज्योतिषी : यदि कुमार इसे अपना अपमान न समझें तो मैं निवेदन करूँ !

महेन्द्र : मेरा अपमान ! पिता-श्री के समक्ष मेरे अपमान की बात किसी प्रकार भी नहीं उठ सकती। आप सम्राट् से निवेदन करें।

ज्योतिषी : तो सम्राट् ! मैं एकांत चाहता हूँ। जो भविष्यवाणी मैं निवेदन करना चाहता हूँ, वह केवल सम्राट् के सुनने योग्य है।

अशोक : तब तो यह भविष्यवाणी विचित्र है !

महेन्द्र : मैं जाने की अनुमति चाहता हूँ, पिता-श्री ! प्रणाम। ज्योतिषी जी ! आपकी भविष्यवाणी मंगलमयी हो, यही कामना करता हूँ। (**प्रस्थान**)

अशोक : बड़ी विचित्र भविष्यवाणी है आपकी, जिसे पुत्र भी नहीं सुन सकता।

ज्योतिषी : (**धीरे से**) इस कक्ष के आसपास कोई अन्य व्यक्ति तो नहीं होगा, सम्राट् !

अशोक : नहीं ! राजुक इस कक्ष का द्वार-रक्षक है। यहाँ किसी अन्य व्यक्ति की सम्भावना नहीं हो सकती।

ज्योतिषी : (**अपनी पगड़ी उतारता है और अपने हाथों से अपनी मूँछें अलग करता हुआ घुटना टेककर अशोक को प्रणाम करता है**) सम्राट् की जय हो ! मैं सेवक बुद्धिभद्र, गुप्तचर हूँ।

अशोक : (**अभय हस्त उठाकर**) स्वस्ति ! एकांत याचना में ही तुम्हारे गुप्तचर

होने का संकेत मुझे मिल गया था, बुद्धिभद्र ! तुम पश्चिम-चक्र से कब आए ?

बुद्धिभद्र : इसी समय सम्राट् !

अशोक : सुगाम के क्या समाचार हैं ?

बुद्धिभद्र : सम्राट् ! आज्ञानुसार मैंने सर्वप्रथम उज्जयिनी के कार्यान्तिक की खोज की, जिसने पश्चिम-चक्र की शासन-व्यवस्था की सूचना सम्राट् की सेवा में नहीं भेजी थी। सम्राट् ! कार्यान्तिक अपने परिवार सहित अंधकूप में अपने जीवन के दिन व्यतीत कर रहा है और सुगाम ने समस्त पश्चिम-चक्र में यह घोषणा प्रचारित की है कि सुसीम के राजनीति से वैराग्य लेने पर अब मगध के वास्तविक अधिकारी वे हैं।

अशोक : क्या पश्चिम चक्र की प्रजा सुगाम को अपना नेता मानती है ? आज से नौ वर्ष पूर्व जो प्रजा मेरी इच्छा से अपने प्राणों की बलि दे सकती थी, क्या आज वह मेरे प्रतिकूल हो सकती है ? बुद्धिभद्र ! मैंने पश्चिम चक्र की प्रजा को मगध-सिंहासन का भार उठाने के लिए सिंह के समान शक्तिशाली बनाया था। क्या आज सिंहों का वह समूह शृगालों में परिणत हो गया है ?

बुद्धिभद्र : नहीं, सम्राट् ! प्रजा आज भी आपके गौरव की पताका अपने रक्त से सींचकर आकाश में उठाने के लिए प्रस्तुत है, किंतु सुगाम ने उस प्रजा पर इतने निर्मम अत्याचार किए हैं कि प्रजा कराह उठी है और अपने षड्यन्त्र से उन्होंने पश्चिम-चक्र के चारों ओर ऐसा प्राचीर खींच दिया है कि उस दीन-हीन प्रजा का चीत्कार पश्चिम-चक्र के बाहर नहीं सुन पड़ता।

अशोक : मेरी प्रजा पर इतना अत्याचार ! मैं यह सहन नहीं कर सकूँगा, बुद्धिभद्र ! मैंने शीघ्र ही वहाँ महेन्द्र को भेजने की व्यवस्था की है।

बुद्धिभद्र : मैं कुछ और निवेदन करना चाहता हूँ, सम्राट् !

अशोक : इस निर्मम अत्याचार के आगे और कौन-सी बात हो सकती है ? मुझे उत्तेजित कर देने के लिए यह सूचना पर्याप्त है।

बुद्धिभद्र : इससे भी भयानक सूचना है, सम्राट् !

अशोक : इससे भी भयानक ! शीघ्र कहो, बुद्धिभद्र ! शीघ्र कहो ! मैं एक क्षण का विलम्ब नहीं सहन कर सकता।

बुद्धिभद्र : सम्राट् ! सुगाम ने इस बात के लिए बहुत प्रयत्न किया कि वे प्रजा को विद्रोह के लिए उत्तेजित कर सकें, किंतु यह सम्भव नहीं हो सका। जब कुमारामात्य ने अपनी असफलता का अनुभव किया तो उन्होंने···तो उन्होंने···

अशोक : तो उन्होंने क्या किया ?

बुद्धिभद्र : उन्होंने कलिंग-नरेश को उज्जयिनी में आमन्त्रित किया और···

अशोक : और उन्हें विद्रोह के लिए उत्तेजित किया ?

बुद्धिभद्र : हाँ, सम्राट् ! कलिंग-नरेश मगध के वैभव से ईर्ष्या रखता है। उसने भारत के बाहर भी उपनिवेश स्थापित कर लिए हैं। वह अपने को जम्बूद्वीप का सम्राट् समझता है और इसलिए उसे मगध का ऐश्वर्य असह्य है। सम्राट् ! कलिंग-नरेश कुमारामात्य सुगाम के सहयोगी बन गए हैं और इस सहयोग के उपलक्ष्य में सेना-संगठन के लिए कुमारामात्य ने उज्जयिनी की अनन्त धन-राशि भी उन्हें समर्पित कर दी है।

अशोक : मेरी प्रिय उज्जयिनी की अनन्त धद-राशि नाग के दाँतों का विष बने ! और मेरी पवित्र भूमि में विद्रोह का दावानल श्मशान की लपटों के रूप में भयानक चीत्कार करे ! यह असम्भव है ! असम्भव है, बुद्धिभद्र ! मगध के पास ऐसा राजदण्ड है जो उस नाग के फन को कुचल सकता है। कुमारामात्य सुगाम के साथ ऐसे सहस्रों कलिंग विद्रोह कर सकते हैं और उनके विद्रोह की अग्नि उन्हीं के रक्त-सागर से बुझाई जाएगी। कलिंग-नरेश इस समय कहाँ हैं ?

बुद्धिभद्र : सम्राट् ! वह उस अनन्त धन-राशि को लेकर अपने देश कलिंग की ओर चला गया है।

अशोक : चला गया ! इसकी सूचना मुझे क्यों नहीं मिली ?

बुद्धिभद्र : मैंने निवेदन किया, सम्राट् ! कोई सूचना पश्चिम चक्र के प्राचीर को चीरकर बाहर नहीं निकल सकती। ज्योतिषी के छद्म वेश में ही सुगाम का कीर्तन करते हुए मैंने इन समस्त बातों का पता पाया और मैं यथाशीघ्र सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ।

अशोक : (सोचते हुए) तो उज्जयिनी की धनराशि आज कलिंग के हाथ में है ! मैं यह जानता हूँ, बुद्धिभद्र ! कि कलिंग की कूटनीति में पश्चिम-चक्र भी कलिंग का एक भाग बनने जा रहा है, किंतु मैं यह भी जानता हूँ कि पश्चिम चक्र की प्रजा कलिंग का साथ नहीं देगी।

बुद्धिभद्र : सम्राट् की सेवा में मुझे अन्तिम सूचना प्रस्तुत करनी शेष है।

अशोक : तुम्हारी प्रत्येक सूचना किसी विष-दन्त की भाँति तीक्ष्ण और घातक है, बुद्धिभद्र ! किंतु तुम अपनी अन्तिम सूचना भी कह डालो। मगध के प्रति विश्वासघात के प्रतिकार के लिए मैं सम्राट् से सैनिक बनूँगा। कहो, वह अन्तिम सूचना क्या है ?

बुद्धिभद्र : अन्तिम सूचना यह है कि कुमारामात्य सुगाम इस समय पाटलिपुत्र में हैं।

अशोक : (क्षुब्ध होकर) पाटलिपुत्र में ? कहाँ ? किस स्थान पर ? क्या फूल में

कीट प्रवेश कर गया अथवा हरिचन्दन में दावानल की चिनगारी अपना स्थान खोज चुकी है? शीघ्र बतलाओ, बुद्धिभद्र ! सुगाम कहाँ है ?

बुद्धिभद्र : सम्राट् ! मैं गुप्त रूप से कुमारामात्य सुगाम का पीछा करता रहा हूँ। वे यहाँ बौद्ध वेश में आए हुए हैं। पाटलिपुत्र की सीमा पर आकर उन्होंने अपने वेश-विन्यास में परिवर्तन किया और वे भिक्षुओं के एक संघ में सम्मिलित होकर न जाने किन-किन स्थानों में गए हैं, सम्राट् ! न जाने किस षड्यन्त्र को लेकर वे मगध के प्रशान्त वातावरण में विप्लव की ज्वाला उठाने आए हैं !

अशोक : तो तुम नहीं जानते कि वे किस दिशा में गए हैं ?

बुद्धिभद्र : क्षमा हो, सम्राट् ! कुमारामात्य के पाटलिपुत्र में प्रवेश करने पर सेवक का पहला कर्त्तव्य यह था कि वह आपकी सेवा में इसकी सूचना प्रस्तुत करता। इसलिए मुझे कुमारामात्य सुगाम को छोड़कर आपकी सेवा में आना पड़ा। अब सम्राट् जो उचित समझें, आज्ञा प्रदान करें।

अशोक : (**अशांत होकर टहलते हुए**) मैं इस समय अमात्य खल्लाहक से परामर्श करना चाहता हूँ। वे बाहरी कक्ष में होंगे। बुद्धिभद्र ! तुम ज्योतिषी का रूप धारण करो। (**बुद्धिभद्र शीघ्रता से पगड़ी सिर पर रखता है और वस्त्रों से मूँछें** निकालकर लगाते **हुए**) सम्राट् की जय !

अशोक : (**मुस्कराकर**) ठीक है। (**पुकारकर**) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : सम्राट् की जय !

अशोक : अमात्य खल्लाहक बाहरी कक्ष में होंगे। उन्हें मेरे पास आने की सूचना दो।

राजुक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

अशोक : मैं यह जानना चाहता हूँ, बुद्धिभद्र ! कि कुमारामात्य सुगाम को अपने आप पर विश्वास क्यों नहीं है? वे भी तो सम्राट् बिन्दुसार के पुत्र हैं। यदि वे विद्रोह करना चाहते हैं, तो छद्मवेश की आवश्यकता नहीं है। साहसहीनता का नाम ही छद्मवेश है।

बुद्धिभद्र : सोन के तट पर उनका प्रथम विद्रोह असफल हुआ, सम्राट् ! इसीलिए उनकी राजनीति अब कूटनीति का रूप ग्रहण कर रही है।

अशोक : जो कूटनीति राज्य-मर्यादा का विनाश करती है, उससे राज्य-श्री धूमिल पड़ जाती है।

[अमात्य खल्लाहक का प्रवेश]

खल्लाहक : सम्राट् की जय .

अशोक : महामात्य ! मैं आपकी प्रतीक्षा कर रहा था। इस ज्योतिषी की भविष्य-वाणी है कि मगध में शीघ्र ही विप्लव होगा। मैं चाहता हूँ कि यह कल्पना का सत्य है या सत्य की कल्पना !

खल्लाहक : पाटलिपुत्र में विप्लव ! यह कैसे सम्भव हो सकता है, सम्राट् ! सम्राट् के शौर्य का सूर्य कभी अस्त नहीं होता, इसलिए यहाँ निशाचरों का प्रवेश ही सम्भव नहीं है।

अशोक : किंतु छद्मवेश की काली घटाएँ सूर्य के उस प्रकाश को रोकना चाहती हैं। मैं समझता था कि आपका अमात्य-मंडल ऐसा आकाश-मंडल है, जिसमें विद्रोह की कोई घटा नहीं छा सकती। किंतु जो घटा छाना चाहती है, उसमें भीषण करका और वज्र की तड़प भी है। आपका अमात्य-मंडल इस बात को जानता है ?

खल्लाहक : सम्राट् ! मैं और अमात्य-मंडल दोनों ही इस घटा से परिचित हैं कि यह घटा दक्षिण से उठ सकती है, क्योंकि उज्जयिनी के कार्यान्तिक ने कुमारामात्य सुगाम की शासन-व्यवस्था की कोई सूचना हमारे पास नहीं भेजी। मुझे इस बात की भी सूचना है कि कुमारामात्य सुगाम उज्जयिनी में नहीं हैं।

अशोक : वे कहाँ हैं ?

खल्लाहक : पाटलिपुत्र में। और जब से मुझे इस बात की सूचना मिली है, तब से सम्राट् के गुप्तचर-विभाग में उनकी गतिविधि का पूरा विवरण है, सम्राट् ! कुमारामात्य होने के कारण उनसे किसी प्रकार का अशिष्ट व्यवहार नहीं किया जा सकता।

अशोक : किन्तु अमात्य, मेरी राजनीति कहती है कि राजद्रोही चाहे कुमारामात्य हो चाहे सामान्य नागरिक, उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए, जैसा किसी राजद्रोही से हो सकता है।

खल्लाहक : सत्य है, सम्राट् ! इस षड्यंत्र की अनेक शाखाएँ हैं। (**बुद्धिभद्र से**) बुद्धिभद्र ! तुमने सम्राट् के समक्ष सब सूचनाएँ प्रस्तुत कीं ?

बुद्धिभद्र : श्रीमन् ! मैंने सम्राट् की सेवा में विवरण उपस्थति किया है।

खल्लाहक : सम्राट् आपके प्रताप के समक्ष किसी को साहस नहीं हो सकता कि वह इस पवित्र पाटलिपुत्र की भूमि पर किसी कुत्सित कार्य की भूमिका उपस्थित करे। मुझे विश्वास है कि गुप्तचर-विभाग की सहायता से मैं इस षड्यंत्र का विघटन करके कुमारामात्य सुगाम को आपके समक्ष उपस्थित करता और आपसे दंड की व्यवस्था माँगता।

अशोक : अमात्य ! आपकी तत्परता से मैं प्रसन्न हूँ। किन्तु अमात्य-मंडल की यह भूल है कि वह विद्रोह को अंकुरित होने का अवसर देता है। शत्रु लहर

बन कर आता है और जल-चक्र बन कर प्रतिपक्षी की नौका डुबा देता है। हमारा अधिकारी-वर्ग दर्शक नहीं है कि वह कुमारामात्य का आचरण देखता रहे। और उस विद्रोही बीज पर दीर्घसूत्रता का जल सींचता रहे। बुद्धिभद्र ! तुम जाओ और मुझे सूचना दो कि कुमारामात्य सुगाम इस समय कहाँ पर हैं।

बुद्धिभद्र : जो आज्ञा। सम्राट् की जय ! (**प्रस्थान**)

अशोक : महामात्य ! सोन के तट पर सुगाम ने जिस षड्यंत्र का सूत्रपात किया था, वह समय के अन्तराल में अधिक भयानक बनता जा रहा है। मैंने उन्हें अवसर दिया कि वे पश्चिम चक्र के कुमारामात्य बनकर पाटलिपुत्र के गौरव में कलंक की कालिमा न लाएँ, किन्तु···

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : सम्राट् ! एक युवती अभी-अभी क्रन्दन करती हुई आपकी शरण में आना चाहती है। वह रोती हुई आपके चरणों पर गिर कर कुछ निवेदन करना चाहती है। यदि आज्ञा हो तो उसे सेवा में उपस्थित होने की अनुमति दी जाए।

अशोक : (**भौंहें बंद करते हुए**) रोती हुई स्त्री ! युवती ! पाटलिपुत्र में क्या दूसरी सोन प्रवाहित होना चाहती है ?

खल्लाहक : इस अवसर पर, इस कक्ष में क्या··· (**राजुक से**) वह कौन स्त्री है, राजुक !

अशोक : अमात्य ! स्त्री, स्त्री है। उसके करुण-क्रन्दन के लिए राज-वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति की सहानुभूति कुबेर के कोष की भाँति समृद्धिशालिनी हो। राजुक! उस स्त्री को आने की अनुमति सुनाओ।

राजुक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

अशोक : (**चिन्तित मुद्रा में टहलते हुए**) क्रन्दन करती हुई युवती···शरण में आना चाहती है···

खल्लाहक : इस युवती का सम्बन्ध कहीं उस षड्यन्त्र से न हो !

अशोक : मैं चाहता हूँ कि उसका सम्बन्ध षड्यन्त्र से हो, क्योंकि स्त्री जितनी सरलता से षड्यन्त्र का निर्वाह करती है, उतनी ही सरलता से वह षड्यन्त्र का भेद खोल भी सकती है।

[नेपथ्य में सिसकियों की ध्वनि पास आती हुई सुनाई पड़ती है।]

अशोक : नारी जब रुदन करती है, तो करुणा का समुद्र अपनी आँखों में भर लेती

है। कौन कह सकता है कि उसके आँसू सत्य के साक्षी हैं या मिथ्या के अग्रदूत !

[एक युवती का सिसकते हुए प्रवेश। वह आते ही अशोक के चरणों पर गिरना चाहती है।]

अशोक : (**पीछे हटते हुए**) सावधान ! अपने स्थान पर रहो, भद्रे ! तुम्हें किस बात का कष्ट ? तुम्हें इस प्रकार रुदन करना शोभा नहीं देता ! अपना परिचय दो।

युवती : (**सिसकते हुए**) रक्षा कीजिए, सम्राट् ! रक्षा कीजिए ! मैं क्या समझती थी कि मुझे संघाराम में भी शान्ति नहीं मिलेगी ! (**सिसकती है।**)

अशोक : संघाराम में शान्ति नहीं है, यह मैं जानता हूँ। भिक्षुओं के वाद-विवाद धर्म की ओट में राजनीति पर भी प्रहार करते हैं। पाटलिपुत्र का अशोका-राम क्या शोकाराम में परिणत होना चाहता है ? अमात्य ! क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि मैंने समस्त जम्बू द्वीप में जो 86 सहस्र संघारामों का निर्माण कराया है, उन्हें इस नारी की अश्रु-धारा में डूब जाने की घोषणा प्रदान करूँ। ये संघाराम जिस धर्म का प्रचार कर रहे हैं, वह विकास को कुण्ठित कर रहा है।

खल्लाहक : अपना परिचय दो, भद्रे ! तुम कहाँ की निवासिनी हो ?

युवती : मेरा नाम स्वयंप्रभा है, श्रीमन् ! मैं उज्जयिनी में निवास करती हूँ। महादेवी की परिचारिका चारुमित्रा मेरी बाल सखी है।

अशोक : तुम चारुमित्रा से इतनी अधिक परिचित हो ? वह तो कलिंग-बालिका है।

स्वयंप्रभा : हाँ, सम्राट् ! माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर वह निराश्रित होकर नृत्य सीखने उज्जियनी चली आई। मेरे पिता श्रीदत्त उज्जयिनी के नगर-श्रेष्ठी हैं। उनसे चारुमित्रा ने आश्रय की भिक्षा माँगी। मेरे पिता ने चारु-मित्रा को अपने परिवार में सम्मिलित कर लिया।

अशोक : (**सोचते हुए**) नगर-श्रेष्ठी श्रीदत्त ने ही तो चारुमित्रा की प्रशंसा कर उसे महादेवी की सेवा में नियुक्त करने का आग्रह किया था। मैं यह जानता हूँ। फिर क्या हुआ ?

स्वयंप्रभा : सम्राट् ! जब आप उज्जयिनी छोड़ कर मगध के सम्राट् हुए तो मेरी सखी चारुमित्रा भी महादेवी के साथ पाटलिपुत्र चली आई। यहीं उसके सहज सौन्दर्य ने कुमारामात्य सुगाम को प्रभावित किया। तब से कुमारा-मात्य सुगाम चारुमित्रा पर अधिकार करना चाहते थे।

अशोक : इसकी भी सूचना मुझे है। किन्तु इस दुराग्रह में क्या तुम्हारा भी योग है ?

स्वयंप्रभा : नहीं, सम्राट् ! इसीलिए मुझ पर अत्याचार किया जा रहा है। जब आर्य सुगाम उज्जयिनी के कुमारामात्य बने, तो उन्हें यह सूचना मिली कि चारुमित्रा मेरी अंतरंग सखी है। यदि मैं उससे कुमारामात्य की राज-महिषी बनने का आग्रह करूँ तो वह मेरा आग्रह कभी न टालेगी। कुमारा-मात्य ने मुझे अनेक प्रलोभन दिए, मुझे स्त्री-अध्यक्ष बनाने का सुनहरा स्वप्न भी दिखलाया किन्तु मैंने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

अशोक : तुम्हारा चरित्र अभिनन्दनीय है, स्वयंप्रभा !

स्वयंप्रभा : सम्राट् ! कुमारामात्य सुगाम के प्रस्ताव को अस्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने मेरे पिता नगर-श्रेष्ठी श्रीदत्त और मेरे परिवार को अन्धकूप में डाल दिया और मुझे भयानक यन्त्रणाएँ देनी आरम्भ कर दीं।

अशोक : कुमारामात्य सुगाम की मर्यादा क्या इतने नीचे गिर सकती कि वह एक निरपराध नारी को इतनी यंत्रणाएँ दे ? स्वयंप्रभा, मैं एक प्रश्न पूछूँ ? तुम विवाहिता हो ?

स्वयंप्रभा : **(सिसकियाँ लेते हुए)** सम्राट् ! मैं बाल विधवा हूँ। मैं वह निवेदन कैसे करूँ कि विधवा का जीवन ऐसा प्रदेश है, जो वैभव के सहस्रों सूर्यों के उदय होने पर भी अंधकारमय ही रहता है।

अशोक : मैं यह सुन कर अत्यन्त दुखी हूँ। मैं तुम्हारी मर्यादा की पूरी रक्षा करूँगा। और तुम जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहोगी, उस प्रकार की सारी सुविधाएँ तुम्हें दूँगा।

स्वयंप्रभा : सम्राट् ! मेरे जीवन की पवित्रता का एकमात्र उद्देश्य है, भिक्षुणी का जीवन। मुझे आज्ञा दीजिए, सम्राट् ! कि मैं अपने जीवन की सारी पवित्रता भिक्षुणी के जीवन में उतार सकूँ, मैं धन नहीं चाहती, मैं वैभव और सम्पदा के विष से अपने को मुक्त रखना चाहती हूँ। इस पाटलिपुत्र के संघाराम में मैं अपना सारा जीवन आपकी छत्रछाया में समाप्त कर दूँ। मेरी यही अभि-लाषा है, सम्राट् ! यही मेरी अभिलाषा है।

अशोक : तथास्तु ! किन्तु, देवि ! तुम इस निराशा के अंधकार में अपने जीवन की स्वर्गीय प्रभा को क्यों खो देना चाहती हो ? तुम नगर-श्रेष्ठी की कन्या हो। तुम्हारे जीवन की संध्या में अंधकार न हो, देवि ! चन्द्रोदय हो। पाटलिपुत्र तुम्हारे जीवन की पवित्र विभूति से जगमगा उठेगा। किन्तु तुम यह बताओ कि उज्जयिनी से यहाँ किस प्रकार चली आई ?

स्वयंप्रभा : जब मैंने कुमारामात्य सुगाम से अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखा

तो मैं चुपचाप रात्रि के अंधकार में छिप कर पाटलिपुत्र चली आई।

अशोक : तो पाटलिपुत्र में आकर तुमने कहाँ शरण ली ?

स्वयंप्रभा : सम्राट् ! मैं महास्थविर उपगुप्त की आज्ञा से संघाराम में चली आई। मेरे यहाँ आने का विवरण उज्जयिनी के गुप्तचरों से कुमारामात्य सुगाम को मिल गया। इसीलिए अधिक दिन नहीं बीते और कुमारामात्य ने भिक्षु के वेश में संघाराम में प्रवेश किया।

खल्लाहक : महास्थविर उपगुप्त ने उन्हें पहचाना नहीं ?

स्वयंप्रभा : यह मैं क्या जानूँ, श्रीमन् ! किन्तु कुमारामात्य ने आकर मुझसे फिर वही प्रस्ताव किया। सम्राट् ! मैं कहाँ जाऊँ ? मेरी रक्षा कीजिए ! क्या पाटलिपुत्र में भी नारियाँ अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत नहीं कर सकतीं ? (**हलकी सिसकी**)

अशोक : शान्त रहो, देवी ! तुम कुमारामात्य का पता दे सकती हो ?

स्वयंप्रभा : वे संध्या समय तक संघाराम में ही थे। सम्राट् ! मैं आपसे प्रार्थना करने आई हूँ कि आप मुझे कुमारामात्य के हाथों से बचा लें ! (**सिसकियाँ**)

अशोक : पाटलिपुत्र का अधिकारी-वर्ग अपने कर्त्तव्य में सतर्क है। यह ज्ञात होते ही कि तुम संकट में हो, सामान्य से सामान्य नागरिक भी तुम्हारी रक्षा करेगा।

स्वयंप्रभा : मुझे इसका विश्वास है, सम्राट् ! किन्तु मैंने यह याचना किसी अन्य व्यक्ति से इसलिए नहीं की कि वह कुमारामात्य को राजवंश का व्यक्ति समझ कर उनका विरोध करने में कहीं संकोच न करे। इसीलिए सम्राट् ! मैं आपकी शरण में आई हूँ। मेरी रक्षा कीजिए। या तो सेविका को संघाराम में भेज कर उसकी रक्षा की व्यवस्था कर दीजिए या आप महादेवी के चरणों में स्थान देकर आजीवन उनकी सेवा करने का अवसर दीजिए। किन्तु सम्राट् ! सुगाम से मेरी रक्षा कीजिए ! (**सिसकियाँ**) मेरी रक्षा कीजिए, कुमारामात्य से मेरी रक्षा कीजिए !

[बुद्धिभद्र तथा दो सैनिकों के साथ कुमारामात्य सुगाम का बन्दी के रूप में प्रवेश। भिक्षु वेश में है।]

अशोक : (**आश्चर्यमिश्रित कुतूहल से**) सुगाम ! कुमारामात्य सुगाम !

स्वयंप्रभा : (**विह्वलता से**) यही हैं, सम्राट् ! यही हैं कुमारामात्य, जिन्होंने मेरे जीवन में नर्क की अग्नि प्रज्वलित कर दी है ! यही हैं !

खल्लाहक : शान्त ! शान्त ! देवि ! वह नरकाग्नि अमृत से बुझाई जाएगी। बुद्धिभद्र, कुमारामात्य को यहाँ तक पहुँचाने का श्रेय तुम्हारा है ?

बुद्धिभद्र : श्रीमन् ! सेवक को सन्देह था कि कुमारामात्य संघाराम में ही हैं। जब

सम्राट् ने अपनी राजनीति का यह परिचय दिया कि राजद्रोही चाहे कुमारामात्य हो चाहे सामान्य नागरिक, उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा किसी राजद्रोही से हो सकता है, तो सेवक ने सैनिकों की सहायता से कुमारामात्य को सम्राट् की सेवा में उपस्थित कर दिया।

अशोक : साधु, बुद्धिभद्र मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। यह कार्य करने के लिए तुम्हें यथोचित पुरस्कार दिया जाएगा। तुमने अपने कर्त्तव्य का पालन समुचित रूप से किया है।

खल्लाहक : वास्तव में बुद्धिभद्र का कार्य पुरस्कार-योग्य है।

अशोक : बुद्धिभद्र ! तुम इस समय सैनिकों को लेकर बाहरी कक्ष में विश्राम करो।

बुद्धिभद्र : जैसी आज्ञा ! सम्राट् की जय ! (**सैनिकों के साथ प्रस्थान।**)

अशोक : पश्चिम चक्र के कुमारामात्य सुगाम ! सम्राट् बिन्दुसार के योग्य पुत्र सुगाम ! तुम्हें पाटलिपुत्र में छद्मवेश में आने की आवश्यकता नहीं थी ! इस नगर का सिंहद्वार तुम्हारे स्वागत के लिए उसी प्रकार उन्मुक्त रह सकता है, जिस प्रकार किसी सैनिक की ललकार प्राप्त करने के लिए युद्ध-क्षेत्र आकाश की भाँति मुक्त है।

सुगाम : (**उत्तर नहीं देता।**)

अशोक : उत्तर दो, सुगाम ! अशोक के शासन में प्रत्येक व्यक्ति को बोलने की स्वतंत्रता है, विशेषकर कुमारामात्य सुगाम के लिए तो यह स्वतंत्रता और भी अधिक है, क्योंकि वे स्वर्गीय सम्राट् बिन्दुसार के पुत्र हैं, क्योंकि वे पश्चिम-चक्र के कुमारामात्य हैं।

सुगाम : मैं एकान्त चाहता हूँ, सम्राट् !

अशोक : कुमारामात्य की इच्छा पूरी होगी। सोन के तट पर मैंने एकान्त में ही तुमसे भेंट की थी। आज तुम इस राज-कक्ष में एकान्त चाहते हो। कुमारामात्य की इच्छा पूरी हो। महामात्य ! आप स्वयंप्रभा को लेकर अन्तर्कक्ष में चले जाएँ। जाओ स्वयंप्रभा।

खल्लाहक : सम्राट् की जैसी आज्ञा।

[स्वयंप्रभा को लेकर प्रस्थान]

अशोक : अब तुम सन्तुष्ट हो, कुमारामात्य ? तुम्हारी मर्यादा भंग न हो, इसलिए तुमने एकान्त की इच्छा प्रकट की। किन्तु क्या तुम नहीं जानते कि तुमने समस्त जम्बू द्वीप में राज-मर्यादा की जो अवहेलना की है, वह इस एकान्त क्षुद्र आवरण में सुरक्षित नहीं की जा सकती ?

सुगाम : मैंने राज-मर्यादा की अवहेलना नहीं की, अशोक ! एक राजपुत्र का यह

अधिकार है कि वह अपनी इच्छा का तुरंग, अपने अधिकार के साथ, चाहे जिस दिशा में प्रधावित करे। यह समस्त जम्बू द्वीप जानता है कि मैं सम्राट् बिन्दुसार का पुत्र हूँ, और मेरा शासन पर उतना ही अधिकार है, जितना अशोक का। यह केवल संयोग की बात थी कि अमात्य-मंडल ने शासन का अधिकार मुझे न देकर, तुम्हें दिया।

अशोक : सुगाम ! यह तुम्हें स्मरण रहे कि यह मगध की राजधानी पाटलिपुत्र है, पश्चिम-चक्र की राजधानी उज्जयिनी नहीं, और यहाँ तुम केवल एक नागरिक हो। तुम्हारा यह निरंकुश वाग्विलास राजवंश की मर्यादा के प्रतिकूल है। यह मगध की राजनीति की उदारता है कि उसने तुम्हें खौलते हुए तेल के कड़ाह में नहीं डाला।

सुगाम : यह तुम अब भी कर सकते हो, अशोक ! राजपुत्र दो ही क्षेत्रों में अधिकार का इच्छुक है, या तो उसका अधिकार सिंहासन पर होगा, या मृत्यु पर।

अशोक : राजपुत्र के अधिकारों की परिभाषा बहुत सुन्दर है, सुगाम ! किन्तु इस परिभाषा को कार्य का रूप देना 'नितान्त कठिन है ! तुम सोचो कि जो कार्य तुम्हारे द्वारा इस समय किए जा रहे हैं, क्या वे संसार की किसी राजनीति से समर्थित हो सकते हैं ? मैंने सोचा था कि अपने प्रिय भाई सुगाम को मैं उसी स्थान का अधिपति बनाऊँ, जो स्थान मुझे प्राणों से प्रिय था। उज्जयिनी ! जिसके पवित्र नाम को सुन कर मुझे रोमांच हो आता है, जहाँ की कला जम्बू द्वीप में सर्वोच्च स्थान रखती है। उस पश्चिम-चक्र की राजधानी उज्जयिनी को, तुमने अपनी अहंमन्यता से कलुषित किया है ! वहाँ की शासन-व्यवस्था में तुमने अपने विद्रोह की ज्वाला जला दी है ! मैंने सोचा था कि अपने प्रिय चक्र में अपने प्रिय भाई को अमात्य का अधिकार देकर मैं इस विद्रोह की चिनगारी को बुझा सकूँगा, किन्तु सुगाम ! मुझे ज्ञात होता है कि वह एक चिनगारी नहीं थी, एक भीषण ज्वाला थी, जो प्रकाश नहीं फैलाना चाहती, अपने चारों ओर विनाश का तांडव करना चाहती है। बोलो, सुगाम ! मेरा अनुमान सत्य है ?

सुगाम : अशोक ! मेरी और तुम्हारी दोनों की नीति एक ही थी। तुम्हारी नीति सफल हुई, इसलिए तुम मगध के सम्राट् हुए; मेरी नीति असफल हुई, इसलिए मुझे विद्रोही कहा गया। सम्राट् अशोक ! राजनीति का निर्णय उसके उचित और अनुचित होने में नहीं है, उसकी सफलता और असफलता में है। मैं आज पाटलिपुत्र में हूँ, तुम मुझे, जो चाहो, दंड दे सकते हो।

अशोक : सुगाम ! मेरे भाई सुगाम ! यदि मैं तुम्हें दंड देना चाहता तो उसी समय देता, जब तुम मगध के सिंहासन के लिए भूखे भेड़िए की तरह अधिकार का आवरण लपेट कर मुझसे युद्ध के लिए आए थे और पराजित

हुए थे, किन्तु मैंने इस विद्रोह के बदले तुम्हें पश्चिम-चक्र का कुमारामात्य नियुक्त किया। यदि तुम्हारे पास राजवंश की मर्यादा होती, तो तुम स्वयं अपने को दंड देते। बोलो, विद्रोह की चिनगारी को अविश्वास की फूँक से लपट बनाने वाले सुगाम ! पाटलिपुत्र तुम्हारे लिए किस दंड की व्यवस्था करे ? मैं तुम्हीं से जानना चाहता हूँ। यदि मेरे स्थान पर तुम होते और मैं विद्रोह का विष-दन्त तुम्हारे शरीर में चुभाने का प्रयत्न करता तो तुम उसका प्रतिकार किस प्रकार करते ?

सुगाम : मेरा विद्रोह विष-दन्त नहीं है, अशोक !

अशोक : विष-दन्त नहीं है ? तुम्हारा एक-एक कार्य सौ-सौ सर्पों की हिंसा लिए हुए मगध साम्राज्य की सीमा को अपनी कुंडली में लपेट लेना चाहता है। विष-दंत नहीं है ? सुगाम ! चारुमित्रा को राजमहिषी बनाने का प्रलोभन विष-दंत नहीं है ? स्वयंप्रभा पर असंख्य यंत्रणाएँ फूल की मालाएँ हैं ? उज्जयिनी का राज्य-कोष कलिंग-नरेश को सौंप देना क्या किसी विष-दंत की भाँति मगध के वक्षस्थल पर नहीं चुभा हुआ है ? विलासी ! विद्रोही ! विश्वासघाती ! सुगाम ! तुम मगध की राजवंश परंपरा में कलंक हो।

सुगाम : सावधान, अशोक ! मुझे तुम द्वंद्व के लिए उत्तेजित कर रहे हो। मेरे हाथ में भी एक तलवार दो और यदि तुम अपने को मगध के राजवंश का सच्चा उत्तराधिकारी समझते हो तो मुझसे युद्ध करो। **(सिंहासन से एक तलवार उठा लेता है और आक्रमण की मुद्रा में खड़ा होता है।)**

अशोक : **(अट्टहास करता हुआ)** उज्जयिनी के कुमारामात्य को तलवार उठाना भी नहीं आता ! बड़ी तलवार उठाओ, सुगाम ! जो इस सिंहासन पर चन्द्रहास है, वह तुम्हारे हाथ में आना चाहिए। किंतु सम्भवतः तुम उसके योग्य नहीं हो ! और सुनो, सुगाम ! एक राजनीतिक बन्दी के साथ द्वंद्व-युद्ध करना मेरी मर्यादा के विपरीत है। पहले मेरी अंगरक्षिका चारुमित्रा से द्वंद्व करो। चारुमित्रा से ! कर सकते हो, सुगाम ? चारुमित्रा से द्वंद्व-युद्ध कर सकते हो ? अन्तःपुर से बुलवा दूँ ? चारुमित्रा ! कलिंग बालिका ! सम्भवतः इसीलिए कलिंग नरेश को यह उत्कोच है। चारुमित्रा से द्वंद्व-युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ, सुगाम !

सुसीम : इस व्यंग्य-बाण की अपेक्षा तुम यदि अपनी तलवार उठाते तो मैं समझता कि तुम वीर हो।

अशोक : मैं वीर नहीं हूँ, सुगाम ! क्योंकि मैंने छद्म वेश धारण नहीं किया ! मैं वीर नहीं हूँ, क्योंकि मैंने स्वयंप्रभा पर अत्याचार नहीं किए ! और मैं वीर इसलिए नहीं हूँ कि मैंने मगध की सम्पत्ति कलिंग की सेवा में अर्पित नहीं की ! और वीर इसलिए भी नहीं हूँ कि मैंने चारुमित्रा को कोई

प्रलोभन नहीं दिया ! सुगाम ! जिसे राजमहिषी बनाना चाहते हो, उसकी वीरता की परीक्षा भी तो लो !

सुगाम : अशोक ! यह मेरी व्यक्तिगत रुचि है और बड़ी से बड़ी शक्ति किसी राजपुत्र की इच्छाओं पर अंकुश नहीं लगा सकती ।

अशोक : राजपुत्र की इच्छाओं पर ! अपने इन वीभत्स कार्यों से क्या तुम राज-पुत्र कहला सकते हो ? न जाने कितने राजवंशों की सुन्दरियाँ आज सुगाम का वरण कर अपने को धन्य मानतीं ! आज पश्चिम-चक्र का कवच पहन-कर मगध-साम्राज्य इतना शक्तिशाली बन जाता कि सौ कलिंग उसके नाम से ही आतंकित हो उठते और कलिंग-नरेश मगध का सामंत बनकर अपने को कृतार्थ समझता । किंतु सुगाम ! राजपुत्र सामान्य कुल-शील की युवती से विवाह करना चाहता है और मगध की वंश-परम्परा में कलंक लगाते हुए शत्रु राज्यों से संधि कर मगध पर आक्रमण करना चाहता है ।

सुगाम : इन बातों की अपेक्षा मैं तुमसे युद्ध चाहता हूँ, अशोक !

अशोक : युद्ध ! सोन के तट पर जब पाँच भाई मिलकर मुझ पर आक्रमण न कर सके तो तुम अकेले मुझ पर आक्रमण नहीं कर सकते ! और जब तक मैं तलवार नहीं उठाता तब तक तुम्हें आक्रमण करने का अधिकार नहीं है, सुगाम ! किंतु मैं तुम्हारे लिए तलवार नहीं उठाऊँगा ! जाओ, मैंने तुमको मुक्त किया । भविष्य में तुम कलिंग-नरेश की तलवार उठाकर मुझ पर आक्रमण करना, तब मैं तलवार से उसका उत्तर दूँगा । उज्जयिनी के कोष में जितना अर्थ संचित है, वह भी कलिंग-नरेश के चरणों में अर्पित करो और उसकी सेना के नासीर भाग में अपना स्थान लेकर तुम मगध पर आक्रमण करो । मेरा प्रस्ताव तुम्हें स्वीकार है ?

सुगाम : स्वीकार है ! मैं देखूँगा कि तुम्हारे दंभ के इतिहास में कितने अध्याय शेष हैं और यह समझ लो, अशोक ! ये बचे हुए अध्याय रक्त से लिखे जाएँगे ।

अशोक : मैं यह सुनकर प्रसन्न हुआ, सुगाम ! मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे छद्मवेश की भाँति तुम्हारे वाक्य भी छद्मवेशी न बनकर स्पष्ट रहें । इस रण-निमंत्रण के अवसर पर मैं चाहता था कि चारुमित्रा से तुम्हारी आरती उतरवा सकता ! और उस आरती में प्रकाश न होता, केवल मात्र ज्वाला होती ! जाओ, सुगाम ! यदि कलिंग की सहायता से तुम मगध को पराजित कर सके, तो चारुमित्रा को अपनी राजमहिषी बनाना । यह तलवार ले जाओ और कलिंग-नरेश को मेरी ओर से रण-निमन्त्रण देना कि वह तुम्हारे साथ शीघ्र ही मगध पर आक्रमण करें ! **(पुकारकर)** राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : सम्राट् की जय !

अशोक : अन्तरंग कक्ष में अमात्य खल्लाहक और स्वयंप्रभा हैं, उन्हें आने का संवाद दो।

राजुक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

अशोक : सुगाम ! आज से सम्राट् बिन्दुसार का यह कुमार सुगाम छद्मवेश धारण नहीं करेगा। अब संघाराम में छिपने की आवश्यकता नहीं है। अपने विद्रोही भाई के छद्मवेश से भी मुझे दुःख होता है।

[अमात्य खल्लाहक और स्वयंप्रभा का प्रवेश]

खल्लाहक : (**प्रणाम कर**) आज्ञा, सम्राट् !

अशोक : पश्चिम-चक्र के कुमारामात्य श्री सुगाम मुझसे द्वंद्व-युद्ध करना चाहते थे। मुझे दुःख है कि मैं अतिथि का यह आग्रह स्वीकार नहीं कर सकता। किंतु मैंने अपने मान्य अतिथि को यह अधिकार दे दिया है कि वे इस तलवार को, जो उनके हाथ में है, अपनी विद्रोहाग्नि की आभा से और भी चमकाने का प्रयत्न करें। मैं सत्य कह रहा हूँ, सुगाम !

[सुगाम मुँह फेर लेता है।]

अशोक : कुमारामात्य सुगाम केवल एकांत में ही बात करते हैं, किंतु इस एकांत में मैंने इनके प्रिय देश कलिंग को युद्ध का निमंत्रण दे दिया है। आज से मगध कलिंग का शत्रु है और इस निमन्त्रण को लेकर हमारे ही पश्चिम-चक्र के कुमारामात्य कलिंग के लिए प्रस्थान करेंगे। (**सुगाम से**) सुगाम ! मुझे दुःख है कि तुम्हारे साथ चारुमित्रा और स्वयंप्रभा नहीं जा सकतीं; किंतु तुम वीर हो, राजपुत्र हो और अपनी परिभाषा से राजनीतिज्ञ भी हो। तुम्हें मार्ग में कोई भय नहीं रहेगा। महामात्य ! सैनिकों के साथ इन्हें पाटलिपुत्र की सीमा से बाहर तक सम्मान सहित पहुँचा दीजिए।

खल्लाहक : जैसी सम्राट् की आज्ञा। (**सुगाम से**) चलिए कुमारामात्य !

[भूमि पर तलवार पटककर चलने को उद्यत होता है।]

अशोक : क्या तुम इस तलवार के योग्य भी नहीं रहे ? जाओ, अब तुम अपनी वाणी को तलवार बनाना और मेरी ओर से कलिंग-नरेश को युद्ध का निमन्त्रण देना। मैं तुम्हें देखने के लिए कलिंग शीघ्र ही आऊँगा और देखूँगा कि तुमने अपने कर्त्तव्य का पालन किस सीमा तक किया है ?

[शीघ्रता से सुगाम का खल्लाहक के साथ प्रस्थान]

अशोक : स्वयंप्रभा ! तुम महादेवी की सहचरी हो। अपने सात्विक जीवन की

माला में मेरे वात्सल्य का मोती गूँथकर तुम निश्चिन्त और निर्भय हो। आज से सुगाम और कलिंग मगध के शत्रु होंगे और इन तलवारों में युद्ध की शक्ति भरने के लिए तुम्हें और महादेवी को इनकी आरती उतारनी होगी। जाओ, चारुमित्रा से कहो कि सम्राट् कलिंग युद्ध के पूर्व अपनी तलवार की आरती देखना चाहते हैं। महादेवी शीघ्र ही यहाँ आने की कृपा करें।

स्वयंप्रभा : मैं कृतार्थ हुई, सम्राट्! मेरा उद्धार कर आपने सदैव के लिए मुझे महादेवी की परिचारिका बनने का सौभाग्य प्रदान कर दिया। मैं अभी जाती हूँ। (**प्रस्थान**)

अशोक : (**टहलते हुए**) तलवार की आरती! यह तलवार का आरती-दीप मगध में सदैव प्रज्वलित रहे और इस आरती-दीप से जो किरणें निकलें, वे मगध की सीमा में सुनहले रंग भरते हुए उसे दिग्दिगन्त तक पहुँचा दें!

[महादेवी, चारुमित्रा और स्वयंप्रभा का प्रवेश]

अशोक : देवि! तुम्हारा आरती-पात्र सदैव ही प्रदीप्त रहता है। आज कलिंग के प्रति युद्ध-निमन्त्रण के अवसर पर मैं तुम्हारे हाथों से इन तलवारों की आरती देखना चाहता हूँ। (**चारुमित्रा से**) चारुमित्रा! इस पृथ्वी पर पड़ी हुई तलवार को योग्य स्थान दो। यह कुमारामात्य सुगाम की परीक्षा के लिए सिंहासन से उठकर चली आई थी।

चारुमित्रा : जो आज्ञा!

[तलवार उठाकर सिंहासन पर सजाती है]

अशोक : (**महादेवी से**) महादेवी! उठाओ आरती-पात्र और मगध की इन भुजाओं की आरती करो, जिन्होंने तलवारों का रूप धारण कर लिया।

महादेवी : आर्यपुत्र के यश की भाँति यह आरती-पात्र सदैव प्रदीप्त रहे!

[ऊपर से पुष्पों की वर्षा होती है और महादेवी आरती-पात्र हाथ में लेकर तलवारों की आरती करती है।]

चारुमित्रा : मगध की जय! सम्राट् अशोक की जय!!

[धीरे-धीरे यवनिका-पतन]

तृतीय अंक

स्थान : कलिंग में गोदावरी के तट पर सम्राट् अशोक का युद्ध-शिविर
काल : 261 ई० पू०

[सम्राट् अशोक ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसका कारण यह है कि कलिंग-नरेश, सम्राट् अशोक की सत्ता स्वीकार करने में अपना अपमान समझता है। उसने भारत के बाहर भी अपने उप-निवेश स्थापित कर रखे हैं। उज्जयिनी के कुमारामात्य सुगाम ने अपने असफल विद्रोह की प्रतिक्रिया में कलिंग-नरेश की सहायता करना उचित समझा है। सम्राट् अशोक को यह सहन नहीं हो सकता। उन्होंने उज्जैन और तक्षशिला में आत्माभिमान की जो दीक्षा प्राप्त की है, वह कलिंग-नरेश के स्वातन्त्र्य-प्रेम से समझौता नहीं कर सकती और जब अशोक ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के वंश में जन्म लिया है, तो वे कैसे अपने अधिकार से आँख मूँद सकते हैं ? इस समय उनका राज्य उत्तर हिन्दूकुश से लेकर दक्षिण में पेनार नदी तक है और पश्चिम में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक। सिर्फ कलिंग एक मतवाले नाग की तरह सिर उठाए हुए विषम दृष्टि से अशोक की ओर देखता है। अशोक उस नाग का सिर कुचलना चाहते हैं। उन्होंने दो वर्ष पहले कलिंग पर चढ़ाई कर दी है।

उनकी सैन्य शक्ति अपार है। पैदल, अश्वारोही, रथ और हाथियों को उन्होंने कलिंग की सीमा पर अड़ा दिया है। वे आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सम्राट् अशोक स्वयं सैन्य-संचालन करते हैं। उनका शिविर उनकी सेनाओं के साथ है। वे युद्ध के अतिरिक्त किसी भी विषय पर बात नहीं करना चाहते।

उनका शिविर इस समय गोदावरी-नट पर है। दूर पानी के बहने और शिलाओं से टक्कर खाने की ध्वनि है। शिविर के चारों ओर लताओं और गुल्मों का जाल है। समस्त वातावरण में शांति और सौन्दर्य है, जो कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भंग होता है, लेकिन शांत हो जाता है; जैसे एकाकी मार्ग में चलती हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख उठे; लेकिन फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। शिविर के पर्दों पर शस्त्र त्रिकोण में लम्बी रेखाओं के रूप से सजे हुए हैं। जगह-जगह युद्ध के वस्त्र टँगे हुए हैं। इस समय संध्या गहरी होती जा रही है। सम्राट् अशोक युद्ध से नहीं लौटे। इस समय उनकी रानी महादेवी अपने कक्ष में बैठी हुई चित्र बना रही हैं। शिविर के कक्ष में ऐश्वर्य बरस रहा है। स्तम्भों में स्वर्णलताएँ

लिपटी हैं, और उन पर रत्नों के फूल हैं, जो प्रकाश में ज्योति-मडल बन जाते हैं। नीलम और मोतियों की झालरों से कक्ष की दीवारों पर समुद्र की फेनिल लहरों का आभास उत्पन्न किया गया है। पीछे एक मेहराब है, जिसके दोनों ओर प्रस्तर निर्मित एक-एक हाथी घुटने टेके हुए हैं। चारों ओर दीपस्तम्भ हैं, जिनमें दीपक जल रहे हैं और उसी स्तम्भ में फूल के पात्र से सुगन्ध-धूम निकल रहा है। कक्ष के बीच में एक ऊँचा और सजा हुआ आसन है। उससे हटकर कोने की ओर चार छोटी-छोटी आसन्दिकाएँ हैं। उन आसनों में से एक पर महादेवी बैठी हैं। उनके सामने चित्रफलक पर एक अधबनी तस्वीर है, जिसमें प्रकृति का सौन्दर्य अपनी पूर्णता के लिए महादेवी की तूलिका में से उतर रहा है।

कक्ष में निस्तब्धता है। महादेवी चित्र बनाने में लीन हैं। रुककर एक स्थान पर खड़ी रहकर वह भिन्न-भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही हैं। दो क्षणों तक चित्र देखने के बाद, वे अपनी तूलिका से दीपस्तम्भ पर शब्द करती हैं। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करती है।]

महादेवी : चारु ! देख यह चित्र कितना अच्छा बन रहा है !

चारुमित्रा : बहुत अच्छा, महादेवी !

महादेवी : चारु ! मैंने चाहा कि इसी जगह की प्रकृति का चित्र बना लूँ। यहाँ रहते-रहते ये पेड़, ये झुरमुट, ये फूल मुझे बहुत अच्छे लगने लगे हैं। लता खिलती है, तो मालूम होता है जैसे उसके सुहाग के दिन आए हैं ! और गोदावरी तो ऐसे बहती है, जैसे किसी के छूने पर उसे रोमांच हो आया है ! तुझे भी तो यह जगह अच्छी लगी होगी ?

चारुमित्रा : हाँ, महादेवी ! मुझे बहुत अच्छी लगती है।

महादेवी : तब तो यह युद्ध समाप्त हो जाने दे ! फिर तो तेरा विवाह इसी जगह रचाऊँगी। इन्हीं पेड़ों के नीचे मण्डप होगा और इन्हीं फूलों से तेरी माँग भरूँगी।

चारुमित्रा : महादेवी, आपका चित्र बहुत अच्छा बना है।

महादेवी : तू अपने विवाह की बात इस तरह उड़ा देना चाहती है। इसी चित्र में तेरे विवाह का भी चित्र होगा। कुमारामात्य सुगाम के साथ विवाह करेगी। आह, कितने साहसी हैं ! वे तेरे लिए छद्मवेश भी धारण कर सकते हैं।

चारुमित्रा : क्षमा करें महादेवी ! कुमारामात्य सुगाम के लिए कोई सुगामिनी कुमारी ही हो सकती है, चारुमित्रा नहीं।

महादेवी : तो चारुमित्रा के लिए किसी मित्र की आवश्यकता होगी, जिसका चित्र

मुझे अपनी तूलिका से खींचना चाहिए। (हँसी)

चारुमित्रा : महादेवी ! आप अपनी तूलिका को कष्ट न दें। आपकी कला हम लोगों के लिए बहुत ऊँची है।

महादेवी : तू बहुत मीठी बातें करती है, चारु ! किन्तु मेरी कला जीवन के प्रत्येक चित्र को अपना अंग समझती है। यही दृश्य देख ! कितना साधारण है, पर मुझे तो बहुत प्रिय है !

चारुमित्रा : यह तो यहीं पास के कुंज का चित्र है।

महादेवी : हाँ, चारु ! मैं कल वहाँ गई थी, आर्यपुत्र के साथ। वे न जाने कैसे हो गए हैं ! सब समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिंग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है, तब से तो सारा राज्य-कार्य महामात्य खल्लाहक पर ही छोड़ रखा है। आज दो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं, पर कलिंग पर उनका क्रोध वैसा ही बना हुआ है।

चारुमित्रा : यह मेरे देश का दुर्भाग्य है !

महादेवी : मैं चाहती हूँ, चारु ! यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाए। सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। हमारे सुख और शान्ति के जीवन में जहाँ हँसी का फूल खिलना चाहिए, वहाँ आह और कराह काँटे की तरह चुभ जाती हैं।

चारुमित्रा : महादेवी ! लड़ाई में यही आह और कराह तो तलवार का संगीत बनती हैं।

महादेवी : अच्छा, चारु ! यह बता, तूने कभी लड़ाई लड़ी है ?

चारुमित्रा : नहीं, महादेवी !

महादेवी : तू जानती ही नहीं, लड़ाई किसे कहते हैं ? जीवन भी तो एक लड़ाई है। पुरुष की स्त्री से लड़ाई, स्त्री की पुरुष से लड़ाई। स्त्री-पुरुष की पुरुष-स्त्री से लड़ाई। तूने कभी लड़ाई लड़ी ही नहीं ?

चारुमित्रा : नहीं; महादेवी !

महादेवी : विवाह होने से पहले इसका अभ्यास अवश्य कर ले।

चारुमित्रा : हाँ, महादेवी !

महादेवी : और चारु ! मैं भी आर्यपुत्र से लड़ना चाहती हूँ। वे यह युद्ध बंद कर दें। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। कितने वीरों का नित्य रक्त बहता है ! आज जिन वीरों से देश की उन्नति होती, वही व्यर्थ मर रहे हैं ! जो वीर मिट्टी छूकर सोना बनाते, वही आज मिट्टी हो रहे हैं !

चारुमित्रा : सच है, महादेवी !

महादेवी : किन्तु कलिंग के लोग लड़ना भी अच्छी तरह से जानते हैं, नहीं तो

मगध की सेना के सामने कौन टिक सकता है ? दो वर्ष से तो यह लड़ाई चल रही है !

चारुमित्रा : अभी बहुत वर्षों तक चलेगी, महादेवी !

महादेवी : (**आवेश से**) क्या ? क्या ? चारु ! तू आर्यपुत्र की शक्ति का अपमान करती है ?

चारुमित्रा : महादेवी ! क्षमा कीजिए। इसमें सम्राट् की शक्ति का अपमान नहीं है। मेरे कलिंग के निवासी वीर हैं। वे माता की तरह अपनी भूमि का आदर करते हैं। जब तक एक भी वीर है, तब तक तो कलिंग की जय का घोष वायु को सहन करना ही होगा।

महादेवी : तू विद्रोह की बातें करती है, चारु !

चारुमित्रा : महादेवी ! मैं विद्रोह की बातें नहीं करती, मैं अपने देश के गौरव की बातें कह रही हूँ।

महादेवी : तब तो तू अपने सम्राट् के साथ विश्वासघात भी कर सकती है।

चारुमित्रा : महादेवी ! मैंने सम्राट् की सेवा उस समय से की है, जब उनका राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था। आपके चरणों की छाया में ही मैं बड़ी हुई हूँ। जब मैं सम्राट् की सेवा में कलिंग से आई थी, तब तो युद्ध की बात ही नहीं थी ! आज मेरा देश कलिंग संकट में है, तो महादेवी ! मुझे उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी ?

महादेवी : चारु ! तुझे पूरी आज्ञा है; किन्तु मैं आर्यपुत्र का अपमान सहन नहीं कर सकती।

चारुमित्रा : संसार में उनका अपमान करने की क्षमता किसी में नहीं है, महादेवी ! और मैं तो उनकी आजन्म सेविका हूँ।

महादेवी : किन्तु जब से कलिंग युद्ध प्रारम्भ हुआ है, तब से मैं सम्राज्ञी होकर भी तुझसे डरती हूँ।

चारुमित्रा : महादेवी ! आप मुझे आत्महत्या की ओर प्रेरित करती हैं !

महादेवी : (**हँसकर**) मैं तो तुझसे हँसी कर रही थी, चारु ! तू भी कभी हमसे विश्वासघात कर सकती है ?···चारु ! मुझे प्यास लग रही है।

चारुमित्रा : जो आज्ञा।

[कोने के पात्र से जल भर कर देती है।]

महादेवी : (**दो घूँट पीकर**) तेरे हाथ के जल-पात्र में ही मेरे विश्वास की तरलता है। चारु ! तू इस पात्र में विष डाल सकती थी, किन्तु तुझ पर मेरा विश्वास है। तू कलिंग-निवासिनी होकर भी मेरी प्रजा है, जिसने अपने जीवन के प्रभात से ही मगध-सेवा का पुनीत व्रत धारण किया है। यद्यपि

आर्यपुत्र का क्रोध कलिंग के प्रति बढ़ता ही जा रहा है, फिर भी, चारु ! यह युद्ध मुझे नहीं चाहिए। कितने दिनों से इस शिविर में रहते हुए जैसे मेरा सुख सपना बनता जा रहा है ! रात्रि में युद्ध की समाप्ति पर उनके दर्शन कर लेती हूँ तो ऐसा ज्ञात होता है जैसे कोई वृद्धा युवती बन गई हो। आज कहूँगी कि वे कलिंग का युद्ध बन्द कर दें। वीरों को स्वतंत्र साँस लेने देना भी तो दया की क्रूरता पर विजय है। मुझे तो इस विजय पर ही संतोष है।

चारुमित्रा : आप देवी हैं !

महादेवी : फिर बतला क्या उपाय करूँ, चारु ! आर्यपुत्र तक्षशिला में रह कर बड़े साहसी बन गए हैं। कहते हैं, पूज्य पितामह, जिन्होंने निकेटर सेल्युकस की प्रचण्ड सेना का नाश कर दिया था, जिन्होंने अलक्षेंद्र के राज्य की दिशा बदल दी थी, तक्षशिला के ही तो विद्यार्थी थे ! पितामह के योग्य पौत्र बनने का आदर्श जो है उनके सामने।

चारुमित्रा : हाँ, महादेवी !

महादेवी : अच्छा, चारु ! आज आर्यपुत्र से एक बात पूछूँगी कि आपके पूज्य पितामह ने तो सेल्युकस पर विजय पाकर उसकी सुन्दर कन्या पर विजय पाई थी। क्या आपकी विजय में किसी…

चारुमित्रा : महादेवी ! क्षमा करें। कलिंग देश वीरों का देश है, कन्याओं का नहीं।

महादेवी : क्या कलिंग देश में कन्याएँ होतीं ही नहीं ? चारु ! तू तो अपने देश की प्रशंसा करते-करते ऊबती नहीं। महाराज की प्रशंसा क्यों नहीं करती, जिन्होंने कलिंग से युद्ध होने पर भी कलिंग देश की सेविका को अपने देश से नहीं निकाला।

चारुमित्रा : महादेवी ! प्रियदर्शी नरेश अशोक सम्राट् हैं। मेरे यहाँ रहने से उनका क्या बिगड़ता-बनता है।

महादेवी : आचार्य चाणक्य ने शत्रु के विषय में क्या कहा है, जानती है ? कहा है, शत्रु कभी छोटा नहीं होता !

चारुमित्रा : महादेवी ! मैं अपने पद से अलग होने की आज्ञा चाहती हूँ।

महादेवी : **(हँसकर)** बस, बुरा मान गई। बात-बात पर आज्ञा चाहती है ? अरे, तू सेविका होकर भी मेरे वात्सल्य की अधिकारिणी है। अच्छा देख, मेरा चित्र और ध्यान से देख।

चारुमित्रा : **(ध्यान से देखते हुए)** महादेवी, आपने तो टूटे हुए वृक्ष बनाए हैं और उनमें लाल रंग भर दिया है।

महादेवी : बतला, इसमें क्या रहस्य है ?

चारुमित्रा : मैं चित्रकला नहीं जानती, महादेवी।

महादेवी : अरे, यह तो साधारण समझ की बात है! यह चित्र मैं आर्यपुत्र को दिखलाना चाहती हूँ। उनसे कहूँगी, 'देखिए, आपने कलिंग के वीरों को तो रक्त से नहला ही दिया है। अब आपकी तलवार इन बेचारे पेड़ों पर भी पड़ी है और उनकी शाखाओं और टहनियों से रक्त निकल रहा है।'

चारुमित्रा : महादेवी! आपकी बात की थाह नहीं ली जा सकती।

महादेवी : चारु!

चारुमित्रा : महादेवी!

महादेवी : आर्यपुत्र अभी नहीं आए?

चारुमित्रा : नहीं, महादेवी!

महादेवी : देख! यह गोदावरी का सुरम्य तट, ये पानी की लहरें जैसे सौंदर्य की मालाएँ हों, जो आपसे गुँथकर बड़ी होती हैं और तट पर किसी का हृदय न पाकर टूट जाती हैं।

चारुमित्रा : हाँ, महादेवी!

महादेवी : और ये जो पक्षी उड़ते चले जा रहे हैं, जैसे प्रेम की ग्रंथियाँ हैं जिन्होंने आकाश में उड़ना सीख लिया है। अच्छा सुन, यह समस्त वातावरण तेरा नाच देखना चाहता है। तू नाच सकेगी?

चारुमित्रा : (**स्वगत**) उज्जयिनी में सीखी हुई तेरी नृत्य-कला आज इस शिविर में साकार हो। जा, जल्दी पैरों में संगीत भर ला।

[चारु जाती है। महादेवी थोड़ी देर प्रकृति की ओर देखती हैं, फिर अपने चित्र के पास आकर तूलिका उठाती हैं और उसमें रंग भरने लगती हैं। धीरे-धीरे गाती जाती हैं—]

अली पहिचान गया कलि को
अपने स्वर से स्वर्ग बनाया,
इस सुमनाञ्जलि को
अली पहिचान गया कलि को।

मन्द पवन धीरे बहा, उर में भर अनुराग,
कलित कुंज में केतकी, मौन रही है जाग।

खिलने का संवाद कौन
देता कुसुमावलि को।
अली पहिचान गया कलि को।

[चारु नूपुर पहिनकर आती है और महादेवी के सामने खड़ी होती है।]

चारुमित्रा : आज्ञा है ?

महादेवी : मेरी, और उस कली की भी, जो तेरे नृत्य के साथ खिलना चाहती है।

[चारु प्रणाम कर नृत्य करती है। कुछ समय तक नृत्य होता है। महादेवी तन्मय होकर देखती हैं, कभी-कभी बीच में प्रशंसा करती जाती हैं। अकस्मात् 'सम्राट् अशोक की जय' का घोष। नृत्य रुक जाता है। महादेवी चारु को देखती हैं और चारु महादेवी को]

सम्राट् अशोक की जय ! सम्राट् अशोक की जय !!

[शीघ्रता से एक परिचारिका का प्रवेश।]

परिचारिका : महादेवी ! सम्राट् शिविर में लौट रहे हैं। (**जाती है।**)

चारुमित्रा : महादेवी, अब क्या होगा ?

महादेवी : (**सान्त्वना के स्वरों में**) कुछ नहीं। तू नूपुर उतार दे।

चारुमित्रा : (**सिर हिला कर**) जो आज्ञा।

[बैठ कर नूपुर उतारने लगती है। एक पैर का नूपुर उतर जाता है, लेकिन दूसरे पैर का नूपुर उतारने में उलझ जाता है और प्रयत्न करने पर भी नहीं उतरता। इतने में ही जय-घोष के साथ सम्राट् अशोक का प्रवेश। महादेवी और चारु प्रणाम करती हैं। अशोक अभय मुद्रा में हाथ ऊपर उठाते हैं।]

अशोक : विजय, देवी ! आज युद्ध में फिर विजय ! ओह, तुम्हारी मंगल कामनाओं में कितनी शक्ति है ! विजय, विजय, विजय !

[हाथ उठाते हैं]

महादेवी : आर्यपुत्र की विजय हो !

चारुमित्रा : सम्राट् की विजय हो !

अशोक : देवि ! शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी। हाथी और घोड़े जैसे दुर्भाग्य की तरह अड़े हुए थे, किन्तु तुम्हारी मंगल कामना ने मुझे और मेरे वीरों को ऐसी शक्ति दी कि शत्रु सूखे पत्तों की तरह बिखर कर चूर-चूर हो गए। मेरी शक्ति के पीछे, देवि, तुम्हारी मंगल कामना है। चारुमित्रा ! देवी पर पुष्प-वर्षा हो।

[चारुमित्रा आगे बढ़ने के लिए पैर उठाती है कि उसके पैर का नूपुर शब्द कर उठता है।]

अशोक : (**चारुमित्रा के पैरों पर दृष्टि गड़ाकर**) अरे, यह क्या ? नृत्य ! संग्राम-

भूमि में रंगभूमि ! (**प्रश्नसूचक मुद्रा में**) चारु ?

चारुमित्रा : सम्राट् ! क्षमा चाहती हूँ।

अशोक : मेरी युद्धभूमि में केवल भैरवी का नृत्य हो सकता है, चारुमित्रा का नहीं।

चारुमित्रा : सम्राट्···

अशोक : और उस भैरवी नृत्य में तलवारों का संगीत होगा, नूपुरों का नहीं।

चारुमित्रा : सम्राट्···

अशोक : आश्चर्य है कि मेरी अंगरक्षिका चारुमित्रा आज नर्त्तकी बनी हुई है ! यह नृत्य किस कूटनीति की भूमिका है ?

चारुमित्रा : सम्राट्···

अशोक : मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा ! तुझे क्या पुरस्कार चाहिए। रत्नों का हार, मोती की माला ?

चारुमित्रा : मुझे दंड दीजिए, सम्राट् !

अशोक : मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली, चारुमित्रा ! तुझे दंड ही मिलेगा। तू इस नीति से मुझे युद्ध करने से रोकना चाहती है ? स्त्री ! कलिंग से उत्पन्न शरीर, कलिंग का ही साथ देगा ! विश्वासघातिनी ! चारुमित्रा !!

(**पुकार कर**) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : राजुक ! चारुमित्रा जलते हुए अंगारों पर नाचना चाहती है। आग तैयार हो।

राजुक : जो आज्ञा ! (**प्रणाम कर प्रस्थान**)

अशोक : चारुमित्रा ! दूसरे पैर में भी नूपुर पहन ले। एक पैर से पूरी ध्वनि नहीं निकलेगी। दूसरा पैर नूपुरों की प्रतीक्षा में है।

[चारुमित्रा दूसरे पैर में भी नूपुर पहनने के लिए झुकती है]

महादेवी : आर्यपुत्र !

अशोक : देवि !

महादेवी : आर्य पुत्र ! चारु का दोष नहीं है।

अशोक : देवि ! चारु का दोष नहीं है ! यह कैसी बात कहती हो ? कलिंग के शरीर में कलिंग की आत्मा का मगध के साथ क्या व्यवहार हो सकता है ? चारु जानती है कि मेरे क्रोध में उसका देश जल रहा है। वह मेरे क्रोध की ज्वाला शांत करने के लिए अपने संगीत और नृत्य का प्रयोग करना चाहती

है। मुझे नहीं सुना सकती, तुम्हें सुनाकर तुम्हारे द्वारा मुझसे कोमलता का संचार करना चाहती है। मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे स्वभाव को भी उसने दया से भर दिया है।

महादेवी : आर्यपुत्र ! दया करना तो स्त्री का स्वाभाविक धर्म है। चारु मुझे क्या दया से भर सकती है ? किन्तु, आर्यपुत्र ! चारु निरपराध है। एकाकी क्षणों को काटने का यह मेरा साधारण उपाय था। मैंने ही चारु को आज्ञा दी थी कि वह नृत्य करे।

अशोक : तुमने आज्ञा दी थी ?

महादेवी : हाँ, आर्यपुत्र ! युद्ध के भयानक क्षणों में स्त्री के एकाकी हृदय को कौन-सा सहारा है ? संगीत, नृत्य, चित्रकला—यही तो।

अशोक : तो चारु अपनी ओर से नृत्य करने नहीं आई ?

महादेवी : नहीं आर्यपुत्र ! उसे क्षमा कीजिए।

अशोक : अशोक ने किसी को भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया किन्तु इस समय क्षमा करता हूँ। (**चारु की ओर देखकर**) चारु ! तुझे क्षमा करता हूँ। अच्छा हो कि तेरा नृत्य भैरवी नृत्य बनकर मगध की विजय के लिए हो। और यदि ऐसा न कर सके तो फिर यह नृत्य अपने कलिंग के कटते हुए वीरों के रुंडों और मुंडों के लिए रहने दे। (**पुकारकर**) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : आग तैयार हो गई ?

राजुक : हाँ, सम्राट !

अशोक : उस आग से उन कायरों को शीतल करो, जो आज युद्धभूमि से पीछे हटे हैं।

राजुक : जो आज्ञा। (**जाने लगता है।**)

अशोक : और, सुनो ! यह मत सुनना कि वे संचालक-कौशल से सावधानी के साथ पीछे हटे हैं। युद्धभूमि के अतिरिक्त प्रत्येक भूमि वीरों के लिए कलंक-भूमि है।

राजुक : जो आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

अशोक : इस शिविर के वातावरण को तेरे नृत्य की ध्वनि नहीं चाहिए, उसे वीरों का हुंकार चाहिए ! मेरी अंगरक्षिका का कवच नूपुरों में परिणत नहीं होगा। अपने हाथों को तलवार दे, पैरों को नूपुर नहीं, चारु ! इन संगीत-भरे पैरों को विश्राम की आवश्यकता है, जो नृत्य की गति से थक गए हैं।

[**चारु सिर झुका कर जाती है।**]

अशोक : देवि ! कलिंग से युद्ध करते समय ज्ञात होता था, जैसे पाटलिपुत्र की शक्ति से एक प्रलय उत्पन्न हुआ है, जो कलिंग को रक्त के समुद्र में डुबाना चाहता है। तक्षशिला, गान्धार और उज्जयिनी के बड़े-बड़े वीर मेरी घूमती हुई दृष्टि की दिशा में ही अपनी तलवार घुमाते थे। सेना की एक-एक टुकड़ी पानी की लहर की तरह बढ़ती थी और धीरे-धीरे बड़ी होकर शत्रुओं की तलवार से टकराती थी। वे तलवार भी नहीं घुमा सकते थे। उस समय मुझे तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी ललकार भी तलवार थी, जिसके सामने घूमा हुआ शस्त्र भी लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता था।

महादेवी : आर्यपुत्र ! इतना रक्तपात…

अशोक : मैंने अपनी सेना का अर्धव्यूह बनाकर आक्रमण किया था। शत्रु सोचते थे, जैसे सहस्रों धूमकेतु एक विशेष आकार में कसे हुए मृत्यु का दाह लेकर आ रहे हैं। न जाने कितने शत्रु हाथियों के पैरों से पिस गए ! सैकड़ों घोड़ों के पैरों में उलझ कर रक्त से लथपथ हो गए। ज्ञात होता था, रक्त का महानद महानदी से मिलने के लिए जा रहा है।

महादेवी : आर्यपुत्र ! इतना भयानक युद्ध !!

अशोक : मुझ पर भी एक वीर ने तलवार चलाई। मैंने महानाग वासुकि की भाँति अपना सिर बचा लिया। उसकी तलवार वायु-मंडल में शून्य चक्र बनाकर रह गई। अपने निष्फल हुए आक्रमण के वेग से वह घूम गया। उसके घूमते ही मैंने तलवार की नोक उसके पार्श्व में भोंक दी। उसकी ललकार आह में बदल कर रक्त में डूब गई ! वह टूटे हुए वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़ा !

महादेवी : आर्यपुत्र ! आपका युद्ध-कौशल भयानक है !

अशोक : और महादेवी ! आज के युद्ध में कुमारामात्य सुगाम भी कलिंग की कसौटी पर कसी हुई मगध की तलवार लेकर मुझसे युद्ध करने आए। मैंने देखा, आकाश में निकले हुए धूमकेतु की भाँति वे अपने अमंगल को ही गति का रूप देकर मेरी तलवार से टकराना चाहते हैं। उन्होंने अपने मगध-सम्राट् होने की घोषणा फिर से की। हम दोनों की तलवारें इतने वेग से लड़ीं की उनसे निकली हुई चिनगारियों ने भी तलवारों का रूप ले लिया। मैंने दूसरे ही क्षण देखा कि कुमारामात्य सुगाम की तलवार खंड-खंड हो गयी। उन्होंने जैसे ही दूसरी तलवार निकाली, वैसे ही उनका अश्व धराशायी हुआ और वे सैनिकों के समुद्र में अदृश्य हो गए।

महादेवी : क्या आर्य सुगाम युद्ध में मारे गए ?

अशोक : यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु वे दुबारा मुझसे युद्ध करने नहीं आए। फिर मैंने भी अश्व छोड़ दिया और मैं उन्हीं के मृतक अश्व की पीठ

से पैर टेक कर लड़ता रहा। शत्रुओं के नायक वीरभद्र की तलवार जैसे ही आगे बढ़ने के लिए अर्द्धचक्र बना रही थी, वैसे ही मैंने झुक कर कक्ष भाग से कंधे पर ऐसा प्रहार किया कि अपने वेग में, भुजा समेत उड़कर तलवार एक हाथी की पीठ में घुस गई। हाथी शत्रु पक्ष को कुचलता हुआ भाग खड़ा हुआ। उसी समय सेना के पैर उखड़ गए और आज की विजय ने, देवि ! हमारे गले में माला पहना दी।

महादेवी : बहुत भयानक युद्ध है, आर्यपुत्र ! अब सहन नहीं हो सकता।

अशोक : देवि ! तुम बड़ी कोमलहृदया हो। यह युद्ध तुम्हारे लिए नहीं है। इसीलिए मैं चाहता था कि तुम पाटलिपुत्र में ही रहो। किन्तु तुम्हारा अनुराग मुझे विवश कर सका कि तुम्हें साथ ले आया।

महादेवी : आर्यपुत्र ! यदि मैं एक अनुरोध और करूँ !

अशोक : क्या !

महादेवी : यह युद्ध रोक दीजिए।

अशोक : यह क्या कह रही हो, देवि ! युद्ध का रुक जाना पाटलिपुत्र की उन्नति का रुक जाना है। किसी भी साम्राज्य की सीमा तलवार से खींची जाती है और सीमा को स्थायी रखने के लिए उस रेखा में रक्त का रंग भरा जाता है। (**कक्ष में दृष्टि डालते हैं। चित्रफलक पर दृष्टि डाल कर**) अच्छा, यह तुमने बड़ा सुन्दर चित्र बनाया है !

महादेवी : आर्यपुत्र ! क्या इस चित्र का इतना सौभाग्य है कि आपकी प्रशंसा का वरदान इसे मिल सकता है ?

अशोक : बहुत ही सुन्दर है। यह तो उस कुंज का है, जहाँ बैठ कर मैंने युद्ध का कार्यक्रम बनाया था।

महादेवी : हाँ, आर्यपुत्र ! मैं भी साथ थी।

अशोक : तो ये वृक्ष टूटे हुए क्यों दिखाए गए हैं ?

महादेवी : आर्यपुत्र, युद्ध की गति में आपकी तलवार शत्रुओं पर पड़ने के साथ ही इन वृक्षों पर भी पड़ी है। ये बेचारे भी कट गए हैं और इनसे रक्त निकल रहा है।

अशोक : तो रक्त के स्थान पर लाल रंग की क्या आवश्यकता ? सच्चा रक्त भरो इनमें। वह तो बहुत मिल सकता है। मैंने कितने रक्त की शारीरिक सीमाएँ नष्ट कर उसे पृथ्वी पर बहने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। वहीं से रक्त लो।

महादेवी : आर्यपुत्र ! मेरा हृदय काँप रहा है, इस युद्ध की भयानकता से। आप क्यों इतने वीरों के रक्त से राज्यश्री को अग्नि का रूप देना चाहते हैं ?

अशोक : देवि ! अग्नि में तप कर ही स्वर्ण पवित्र होता है। आज मेरी तलवार

में शक्ति है। उसका अधिक से अधिक उपयोग होने दो।

महादेवी : जैसी आर्यपुत्र की इच्छा। किन्तु मुझे बहुत दुःख है, इस क्रूरता पर। (**सिर झुका लेती हैं।**)

अशोक : (**मानते हुए**) तुम दुखी हो, देवि ! नहीं, दुखी होने की क्या बात ? तुम तो दया की देवी हो, तुम्हें तो किसी के दुःख से भी दुःख होने लगता है। मैं यथाशक्ति तुम्हारे सद्भावों की रक्षा तो करता हूँ। देखो देवि ! आज तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दण्ड के कृपाण को कुंठित कर दिया···!

महादेवी : चारु निरपराध थी, आर्यपुत्र।

अशोक : रणभूमि की दृष्टि से, या रंगभूमि की दृष्टि से ?

महादेवी : आर्यपुत्र ! वह सेविका है, आपके चरणों की छाया में ही बड़ी हुई है।

अशोक : किन्तु आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर उसे काटने-छाँटने की आवश्यकता होगी, देवि ! मैं अपने शिविर में शत्रु पक्ष के किसी व्यक्ति को अब रहने की आज्ञा नहीं दे सकता।

महादेवी : किन्तु वह शत्रु-पक्ष की कहाँ है ? आर्यपुत्र ! वह तो उस समय से आपकी सेविका है, जब आप उज्जयिनी में कुमारामात्य थे। उस समय तो कलिंग से किसी प्रकार का शत्रु-भाव नहीं था, नृत्य सीखते-सीखते वह आपके अन्तःपुर की अंगरक्षिका बनी, उस पर आपका भी कितना अधिक विश्वास था ! उसके एक निरीह कार्य से उसे दण्ड का भागी न बनाइए, आर्यपुत्र ! उस पर कृपा कीजिए।

अशोक : किन्तु कृपा की दृष्टि राजनीति की दृष्टि नहीं होती, देवि ! आज युद्ध से लौटते समय मैंने चारु के सम्बन्ध में विचार किया था।

महादेवी : युद्ध से लौटते समय ?

अशोक : हाँ, युद्ध से लौटते समय कलिंग के कुछ व्यक्ति मुझे प्रणाम कर रहे थे। मुझे उनके प्रणाम में चारु का प्रणाम दीख पड़ा। यदि इस समय चारु नृत्य न भी करती तो उसके प्रति मेरा अविश्वास तो होता ही और किसी न किसी प्रकार से मैं उसे दण्डित करता।

महादेवी : किन्तु वह बेचारी !

अशोक : राजनीति देवी नहीं है, जो दया से तरल हो जाए ! किन्तु आज तुम्हारे कहने से मैंने राजनीति को स्त्री का हृदय बना दिया।

महादेवी : आर्यपुत्र की कृपा। विश्राम कीजिए।

अशोक : देवि, मुझे विश्राम ? पितामह चन्द्रगुप्त ने चौबीस वर्ष के शासन में कितना विश्राम किया ? तक्षशिला से मगध तक पृथ्वी का प्रत्येक कण उनकी आहट सुनकर काँपता था। बहुत से छोटे-छोटे राज्यों को एक संघ में गूँथकर उन्होंने अपनी राज्यश्री को विजय-माला पहनाई थी। सेल्युकस

निकेटर से उन्होंने गांधार और सीमाप्रान्त लेकर जम्बूद्वीप के मुकुट में कुछ रत्न और जड़ दिए थे। मैं उन्हीं की सन्तान हूँ, देवि ! विश्राम के लम्बे क्षणों में राज्य-सीमा संकुचित हो जाती है।

महादेवी : ठीक है, आर्यपुत्र ! पर कलिंग युद्ध ने आपको बहुत उत्तेजित कर दिया है।

अशोक : कलिंग नरेश अपने को सम्राट् मानता है। वह भी कुमारामात्य सुगाम की भाँति पाटलिपुत्र का आधिपत्य नहीं मानता। सुमात्रा और जावा में उसने अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। जलयानों में विहार करता है और समझता है कि वह जम्बूद्वीप का सम्राट् है। देवि, वह मेरे शासन के मार्ग को एक स्तूप बन कर रोकना चाहता है। मैं आचार्य उपगुप्त के उपदेशों की भाँति उसे भी ठोकर मार देना चाहता हूँ।

महादेवी : आर्यपुत्र! आचार्य उपगुप्त में और कलिंग में समानता नहीं हो सकती।

अशोक : क्यों नहीं ? आचार्य उपगुप्त बौद्ध धर्म के सबसे बड़े आचार्य हैं, कलिंग विद्रोहियों का सबसे बड़ा नेता है। मैं बौद्ध धर्म और कलिंग दोनों का नाश करूँगा। आचार्य उपगुप्त ने कुमार सुगाम को संघाराम में शरण दी थी, मैं ऐसे धर्म का नाश करूँगा, जो विद्रोह को प्रश्रय दे।

महादेवी : क्षमा, दया, करुणा, आर्यपुत्र ! आचार्य उपगुप्त कल यहाँ आए थे। उन्होंने कलिंग के भीषण रक्तपात को देख कर कहा था कि बुद्धि का अक्षय कोष मनुष्य, थोड़ी-सी भूमि के लिए मनुष्यत्व को मिट्टी में मिला देना चाहता है ! कलिंग के सम्बन्ध में कहा था कि अहंकार का फल यही हुआ है और होगा।

अशोक : यह व्यंग्य मुझ पर किया गया है, देवि !

महादेवी : आर्यपुत्र ! उनके कथन में सत्य है। क्या अहंकार का नाश नहीं होना चाहिए ?

अशोक : अहंकार और राज्य-धर्म में अन्तर है। राज्य-धर्म पाटलिपुत्र का अधिकार है और अहंकार कलिंग की वृत्ति है। उसे अपनी सेना का अहंकार है। उसके पास साठ सहस्र पदातिक, सात सौ हाथी और एक सहस्र अश्वारोही हैं। समझता है, कि वह इंद्र का वंशज है ! मैं अपनी सेना के हाथों उसके अहंकार के पौधे को उखाड़ फेंकूँगा, देवि !

महादेवी : कितनों का रक्त बहेगा, महाराज ?

अशोक : उसमें जम्बूद्वीप को नहलाकर पवित्र करना चाहता हूँ, देवि !

[नेपथ्य में भयानक तुमुल ! किसी स्त्री का क्रन्दन स्वर, "अशोक का नाश हो। अशोक का सर्वनाश हो !" प्रहरी का स्वर, "पुष्य ! मार डालो, इसे भी"]

अशोक : यह कैसा कोलाहल ! अशोक का तिरस्कार करने वाला कृपाण की धार में डूब जाता है ।

महादेवी : (**कान बन्द कर क्रन्दन स्वर में**) नहीं, आर्यपुत्र ! (**अशोक के वक्ष-स्थल में छिप जाती है**) नहीं !

अशोक : (**जोर से आवाज देते हैं, फिर महादेवी की पीठ पर हाथ फेर कर**) शान्त हो ! शान्त हो ! मैं अभी देखता हूँ । (**महादेवी को संभालकर आसन पर बिठलाते हैं । फिर शिविर की खिड़की से देखते हुए**) पुष्य ! इस स्त्री को मेरे शिविर में भेजो ।

[महादेवी अपने हाथों से नेत्र बंद किए हुए हैं । अशोक महादेवी के हाथों को आँखों से हटा अपने हाथों में लेते हैं ।]

अशोक : देवी ! मैं अभी देखता हूँ, कौन है जो अपने चीत्कार की चिनगारी से मगध के सम्मान में आग लगाना चाहता है ।

महादेवी : आर्यपुत्र ! मैं आपका अमंगल नहीं सुन सकती । (**आकाश की ओर देखते हुए**) आर्यपुत्र का मंगल हो ! आर्यपुत्र का मंगल हो ! आर्यपुत्र का मंगल हो ।

अशोक : कोई स्त्री है, गोद में एक बच्चे को लिए हुए है ।

महादेवी : मैं पूछूँगी, वह कौन है । क्यों ऐसी अशुभ बात मुँह से निकालती है !

अशोक : अवश्य, तुम्हीं पूछो । मैं वस्त्र बदलने जाता हूँ । (**जाते हैं ।**)

[प्रहरी एक स्त्री को लेकर आता है । महादेवी के संकेत से प्रहरी हट जाता है । वह स्त्री लगभग 25 वर्ष की होगी । उसके बाल और वस्त्र अस्तव्यस्त हैं । वह अपने बच्चे को गोद में लिए है । उसकी मुद्रा पागल स्त्री की तरह है ।]

महादेवी : आओ, स्त्री ! तुम कौन हो ?

स्त्री : (**विस्फारित नेत्रों से एक बार ही फूट कर**) ओह, रानी ! अशोक का सर्वनाश हो ! अशोक का सर्वनाश हो ! मुझे भी मार डालो ! मुझे मार डालो । तुम्हारी तलवार दीनों और अनाथों का रक्त पीना जानती है । उसकी प्यास तभी बुझ सकती है, जब वह कलिंग के छोटे-छोटे शिशुओं का रक्त पीकर सदैव के लिए सन्तुष्ट हो जाए । अपने शरीर का भी सारा रक्त मैं इसे चढ़ा दूंगी, जिससे शिशुओं के जीवन की रक्षा हो ! यह अशोक···

महादेवी : ठहरो-ठहरो, तुम आर्यपुत्र के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकतीं । चुप रहो, तुम क्या चाहती हो ?

स्त्री : मैं क्या चाहती हूँ ? मेरे बच्चे के खंड-खंड कर डालो। यह अभी मरा नहीं है ! (**पुत्र की ओर देखकर**) लाल ! अभी तुम मरे नहीं हो ! ये लोग तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। तब तुम मरोगे। तब तक कुछ बोलो ! बोलो, मेरे लाल (**अपने बच्चे को हाथों ही में झकझोरती है**) अगर मैं जानती कि इस अवस्था में तुम्हें सैनिकों की तलवार से कटना पड़ेगा तो मैं कुछ बड़े होते ही तुम्हारे हाथों में तलवार दे देती और कहती—'लाल ! तुम्हें मगध के क्रूर सम्राट् से युद्ध करना पड़ेगा। तुम अभी से युद्ध की शिक्षा लो', तुम भी तो मेरे छोटे राजकुमार हो ? मेरे राजकुमार ! मेरी गोद के राजकुमार ! किन्तु मैं तुम्हारे हाथों में तलवार नहीं दे सकी, मेरे लाल ! और आज सैनिकों ने तुम्हें बिना युद्ध के मेरी गोद में सदैव के लिए सुला दिया ! कायर ! नीच ! नारकी !

महादेवी : (**जिज्ञासा के स्वरों में**) क्या कह रही हो ?

[अशोक का प्रवेश। वे दूर चुपचाप इस तरह खड़े हो जाते हैं कि महादेवी के पीछे हैं और महादेवी की दृष्टि उन पर नहीं पड़ती।]

स्त्री : (**अपने बच्चे को देखकर**) तेरा रक्त इतना मीठा है, मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है ! और अधिक रक्त हो तो अपने नन्हे हृदय को सामने रख दे। ये सब मिलकर पी लें।

महादेवी : क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ? कैसे ?

स्त्री : अशोक राक्षस ले गया, मेरे बच्चे को। राज्य नहीं चाहता था मेरा लाल! किन्तु मेरे लाल को अशोक ले गया ! इसे···

अशोक : (**आगे बढ़ कर**) यह क्या कह रही हो, तुम ! ठीक तरह से बतलाओ। तुम्हारा न्याय होगा। यह बच्चा कैसे मरा ?

स्त्री : मुझे न्याय नहीं चाहिए। नहीं चाहिए। पाटलिपुत्र से न्याय उठ गया ! इसके पिता को सैनिकों ने घेर कर मारा और जब मैं इसे बचाने लगी तो इसके फूल से हृदय में भाला घुसेड़ दिया, उन राक्षसों ने ! मेरे बच्चे को राज्य नहीं चाहिए था ! मेरा छोटा राजा, तुम्हारा राज्य नहीं चाहता था ! तब भी इसे···तब भी इसे···

अशोक : ठहरो, मैं उन दुष्टों को दण्ड दूँगा। वीरों के लिए उनका भाला है, शिशुओं के लिए नहीं।

महादेवी : आर्यपुत्र ! न्याय होना चाहिए बेचारी स्त्री का।

अशोक : होगा और अवश्य होगा।

स्त्री : मैं अब न्याय लेकर क्या करूँगी ! और न्याय भी क्या मिलेगा ? जिस राजा का रक्त शिशुओं के रक्त से पुष्ट होता है, उससे न्याय मिलेगा ?

कैसा न्याय ! इसके पिता नहीं रहे, यह भी नहीं रहा ! अब अपने किस सुख के लिए मैं न्याय के बन्दनवार सजाऊँगी ? जो बन्दनवार मेरे लाल के रक्त से रँगा हुआ है, उससे कौन-सा मंगल सजाऊँगी ? मुझे नहीं चाहिए, सम्राट् ! मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुमने क्या सोच कर मेरे लाल को चन्दन की चिता पर चढ़ा दिया। वह तो धूल में खेलता हुआ ही मुझे अच्छा लगता था ! मेरे लाल ! जब तुम धूल में खेलकर आते थे और अपने हाथों से मेरा आँचल मैला कर देते थे तो मैं उन मैले वस्त्रों में भी अपने को राजमाता समझती थी ! तुम अब नहीं खेलोगे···तुम्हें तो अब चंदन की चिता पर चढ़ना है ! जाओ, मेरे लाल ! अब आग की लपटों में अधिक ज्वाला है, या मेरे हृदय में ! मेरे हृदय में, मेरे लाल ! मेरे हृदय में !

अशोक : (**ध्यान से शिशु की ओर देखते हुए**) यह रक्त ! इतना अधिक रक्त !

स्त्री : लाओ, मैं तुम्हें राज-तिलक कर दूँ। अपने बच्चे के रक्त का तिलक लगाकर··· (**चिल्ला कर**) सम्राट् अशोक···! चक्रवर्ती अशोक ! (**भयानक अट्टहास**)

अशोक : मैं अभी न्याय करूँगा। (**पुकारते हुए**) पुष्य···!

[प्रहरी का प्रवेश]

इस स्त्री को विश्राम-शिविरों में ले जाकर अपराधियों की पहचान कराओ, मैं अभी आता हूँ। जाओ !

[जाने को उद्यत होता है।]

और उन अपराधियों को बन्दी कर मेरे सामने उपस्थित करना। समझे ? मैं इसका न्याय करूँगा।

स्त्री : यदि न्याय कर सकते हो, तो यह न्याय करो कि मेरा शिशु जी उठे ! जिला सकते हो उसे ? अपने शरीर का रक्त देकर इसके रक्त की कमी पूरी कर सकते हो, मगध के सम्राट् ! पाटलिपुत्र के न्यायकर्त्ता ! मेरे पुत्र के यदि प्राण ले सकते हो तो क्या लौटा नहीं सकते ? यदि नहीं, तो मेरे भी प्राण ले लो ! तुम्हारा यही न्याय होगा ! अत्याचारी ! क्रूर ! अशोक ! शिशुओं और स्त्रियों के रक्त से अपने न्याय को बड़ा समझते हो ? मेरे लाल को मुझसे छीन कर···

अशोक : सावधान नारी ! युद्ध में मरे हुए व्यक्तियों पर आँसू नहीं चढ़ाए जाते। पुष्य ! ले जाओ इसे।

प्रहरी : जो आज्ञा। (**स्त्री से**) चलो। (**स्त्री को बलपूर्वक ले जाता है।**)

स्त्री : (**जाते हुए**) अपने पुत्र के रक्त को देखकर यदि तुम आँसू रोक सके तब

समझूँगी कि तुम मनुष्य नहीं, राक्षस हो राक्षस ! जिसने मेरे लाल का रक्त पी लिया। मेरा बच्चा ! मेरा लाल !

[धीरे-धीरे शब्द क्षीण हो जाता है। कुछ देर तक स्तब्धता रहती है। अशोक विचारमग्न हैं।]

महादेवी : आर्यपुत्र ! मूर्छा-सी आ रही है।

अशोक : देवी ! विश्राम करो। मैं अभी न्याय करूँगा।

महादेवी : आर्यपुत्र ! यह रक्तपात अब बन्द हो।

अशोक : एक छोटी-सी घटना राज्य की बढ़ती हुई बेल को काट दे ? यह घटना तुम्हारा चित्र नहीं है, देवि ! जिसमें तूलिका के एक हलके झटके से राज्य की बेल कट जाए ! देवि ! युद्ध में तो यह सब होता ही है।

महादेवी : मैं क्या करूँ, आर्यपुत्र ?

अशोक : विश्राम करो। मैं विश्राम-शिविरों में अभी जाता हूँ। सेना के विश्राम की क्या व्यवस्था है, घायलों की क्या सुश्रूषा हो रही है, यह मुझे देखना है। (**पुकार कर**) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : महामात्रों से कहो कि अश्व तैयार हों। उन्हें मेरे साथ नैश-निरीक्षण के लिए चलना होगा।

राजुक : जो आज्ञा सम्राट् ! (**जाता है।**)

अशोक : देवि ! पिता-श्री सम्राट् बिन्दुसार ने राज्य की सीमा नहीं बढ़ाई। वे कदाचित् यह उत्तरदायित्व मेरे लिए छोड़ गए हैं। सम्राट् चन्द्रगुप्त के परिश्रम की परम्परा कुछ वर्षों तक तो चले।

महादेवी : जब तक कि पाटलिपुत्र का प्रवासी नागरिक, कलिंग के जनपद में निवासी होकर न रहने लगे।

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : सम्राट् ! महामात्र और अश्व तैयार हैं।

अशोक : अच्छा, जाओ। मैं अभी आता हूँ। (**महादेवी से**) देवि ! आज उस स्त्री का न्याय भी करूँगा और निरीक्षण भी। सैनिकों के पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था एक साथ ही होगी। देवि ! मंगल कामना करो कि मगध चिरजीवी हो !

महादेवी : आर्यपुत्र ! मेरे दुःख में भी मगध चिरजीवी हो !

[अशोक का प्रस्थान]

महादेवी : वायु के प्रवाह की भाँति सदैव अस्थिर ! अभी आए और अभी गए ?

मैं क्या करूँ ? (**चित्र की ओर दृष्टि डालती हैं**) यह चित्र ! (**क्रोध से फाड़कर फेंक देती हैं। पुकार कर**) स्वयंप्रभा !

[स्वयंप्रभा का प्रवेश। वह प्रणाम करती है।]

स्वयंप्रभा : महादेवी ! यह क्या ? यह चित्र किसने फाड़ दिया ? ओह···इतना सुन्दर चित्र !

महादेवी : मैंने···मैंने इसे नष्ट कर दिया।

स्वयंप्रभा : मैं इसे जोड़ सकती हूँ।

महादेवी : नहीं। इसे उठाकर बाहर फेंक दे।

[स्वयंप्रभा फटे हुए चित्र के टुकड़े एकत्र करती है।]

महादेवी : स्वयंप्रभा ! आर्यपुत्र गए ?

स्वयंप्रभा : हाँ, महादेवी ! पाँच महामात्रों के साथ अभी-अभी गए हैं।

महादेवी : चले गए ? तू क्या कर रही थी ?

स्वयंप्रभा : महादेवी, आपके सुन्दर गीतों की स्वर-लिपि लिख रही थी।

महादेवी : उसको नष्ट कर दे। आर्यपुत्र यह सब कुछ नहीं चाहते।

स्वयंप्रभा : महादेवी ! बड़े सुन्दर गीत हैं !

महादेवी : इस विषय में बात मत कर, जा।

[स्वयंप्रभा जाना चाहती है।]

महादेवी : चारु कहाँ है ?

स्वयंप्रभा : महादेवी ! अभी तो यहीं थी। कदाचित् शिविर-कक्ष में हो।

महादेवी : रो रही थी ?

स्वयंप्रभा : महादेवी ! उदास तो बहुत थी। ज्ञात होता है कि उसके आँसू सूख गए हैं, किन्तु हृदय रो रहा है !

महादेवी : तूने उससे बातें कीं ?

स्वयंप्रभा : महादेवी ! आपके गीतों की स्वर-लिपि पूछी। वह कुछ भी नहीं कह सकी।

महादेवी : बेचारी चारु ! आज चारु पर महाराज बहुत अप्रसन्न हुए।

स्वयंप्रभा : महादेवी ! उससे कभी कोई अपराध तो हुआ नहीं।

महादेवी : कहते थे कि वह कलिंग की है, शत्रु-पक्ष की।

स्वयंप्रभा : महादेवी, आज तक महाराज की सेवा उसने जितनी श्रद्धा और भक्ति से की है उतनी पाटलिपुत्र की किसी सेविका ने नहीं। वह तो सम्राट के अंतःपुर की अंगरक्षिका है।

महादेवी : हाँ, मैं भी यही समझती हूँ।

स्वयंप्रभा : और मैं तो उसे अच्छी तरह जानती हूँ, महादेवी ! वह उज्जयिनी से मेरी अंतरंग-सखी है। सम्राट् की इच्छा ही उसके कार्य का नाम है। वह कैसे विश्वासघातिनी हो सकती है ?

महादेवी : कहते थे, राजनीति की दृष्टि दया की दृष्टि नहीं है।

स्वयंप्रभा : महादेवी ! वह राजनीति भी कोई राजनीति है, जिससे सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम में सन्देह उत्पन्न हो जाए ?

महादेवी : यही सन्देह तो कदाचित् उनके जीवन की सफलता है। उन्होंने शत्रु की छोटी से छोटी अभिसंधि को अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न कर दिया है। आज मेरी प्रार्थना पर ही उन्होंने चारु को क्षमा किया।

स्वयंप्रभा : महादेवी ! आपकी करुणा ने सम्राट् की शक्ति के साथ रह कर राज्य को संतुलित किया है।

महादेवी : स्वयंप्रभा, आज मेरी करुणा सीमा तक पहुँच गई !

स्वयंप्रभा : कैसे, महादेवी ?

महादेवी : एक स्त्री के छोटे से बच्चे को सैनिकों ने मार डाला !

स्वयंप्रभा : हाँ, महादेवी ! मैंने भी सुना।

महादेवी : आर्यपुत्र न्याय करने गए हैं। देखें, क्या न्याय करते हैं ! मैं तो आज बहुत अशान्त हूँ !

स्वयंप्रभा : महादेवी, विश्राम कीजिए···

['नेपथ्य में बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि']

स्वयंप्रभा : आचार्य उपगुप्त का कंठ-स्वर है, महादेवी !

महादेवी : (**स्वस्थ होकर**) जाकर उन्हें यहाँ ले आ। मैं बहुत विह्वल हो रही हूँ।

स्वयंप्रभा : जो आज्ञा, महादेवी ! (**स्वयंप्रभा जाती है।**)

महादेवी : (**अपने आप मंद कंठ-स्वर से**) महात्मा उपगुप्त···

[सम्हल कर उठती हैं और स्वयं आसन ठीक करती हैं। प्रतीक्षा-दृष्टि से द्वार की ओर देखती हैं। स्वयंप्रभा के साथ महास्थविर उपगुप्त का प्रवेश। महास्थविर उपगुप्त बौद्ध भिक्षु के वेश में हैं। पीत वस्त्र धारण किए हुए। हाथ में भिक्षा-पात्र]

महादेवी : प्रणाम करती हूँ, भंते !

उपगुप्त : (**अभय हस्त उठाकर**) सुखी रहो, देवि ! क्या सम्राट् नहीं हैं ?

महादेवी : भंते, वीर पुरुष घर पर नहीं रहते। रणक्षेत्र ही उनका घर है।

उपगुप्त : देवि ! रणक्षेत्र हृदय को शांति नहीं दे सकता। तथागत ने कहा है—'अहंकार और एषणा का नाश करो।' यह युद्ध अधिकारलिप्सा है, इसका अंत नहीं है, देवि !

महादेवी : भंते ! आपका उपदेश आर्यपुत्र के कानों तक पहुँचा ?

उपगुप्त : देवि ! सम्राट् नीति-कुशल हैं। मेरी बातें सुनते हैं। मुस्कुराकर कहते हैं—'आप थक गए होंगे, भंते ! विश्राम-गृह आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।'

महादेवी : भंते ! यह युद्ध बंद होना चाहिए। मैं इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकती।

उपगुप्त : देवि ! इस अत्याचार को कौन सहन कर सकता है ? एक लक्ष वीर तो रणक्षेत्र में हत हुए। तीन लक्ष आहत हुए हैं, जो एक लक्ष के पथ का अनुसरण करना चाहते हैं। देवि ! रक्त की नदियाँ बह निकली हैं जो महानदी की समानता करने को अग्रसर हैं। कलिंग राज्य के घर फूल की पंखुड़ियों की तरह गिर रहे हैं। देवि ! तुम कुछ नहीं कर सकती ?

महादेवी : भंते ! आज मैं सम्राज्ञी न होकर एक साधारण स्त्री होती तो किसी प्रकार आत्म-बलिदान कर सम्राट् के मन की दिशा बदल देती। पत्नी होकर पति के मार्ग की बाधिका बनने का साहस मुझमें नहीं होता ! राजवंश की मर्यादा कैसे नष्ट करूँ, भंते ! मैं सम्राज्ञी होकर साधारण स्त्री भी नहीं रही!

उपगुप्त : तो कहता हूँ, देवि ! शांत हो ! जब तक मनुष्य आर्य सत्य से परिचित नहीं होता, उसे दुःख उठाना ही पड़ता है। तथागत ने कहा कि 'भिक्खुओ ! मैं सब बंधनों से लौकिक और अलौकिक से मुक्त हो गया। अनेक के लाभ के लिए विचरण करो, अनेक के हित के लिए विचरण करो, संसार के प्रति करुणा के लिए विचरण करो, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरण करो।' देवि ! मुझे विश्वास है, सम्राट अशोक इस धर्म-शिक्षा को मानकर संसार का कल्याण करेंगे।

महादेवी : भंते ! मुझे तो विश्वास नहीं होता।

उपगुप्त : समय की प्रतीक्षा करो। महाराज में परिवर्तन होगा जब किसी व्यक्ति में शक्ति की क्षमता होती है तो बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर और अच्छे मार्ग से बुरे मार्ग पर जाने में विलम्ब नहीं लगता। महाराज में शक्ति की क्षमता है और वे बुरे मार्ग पर हैं। किसी भयानक भावना से उनके हृदय का दिशा-परिवर्तन संभव है। वे विजय के आकांक्षी हैं। विजय प्राप्त करें। किन्तु नहीं, हिंसा से नहीं, अहिंसा से। वे शासन करना चाहते हैं, करें, किन्तु क्रोध से करुणा से। विनाश करें, किन्तु जाति का नहीं, अपनी तृष्णा का। वे ज्ञान प्राप्ति में प्रयत्नशील हों, राज्य-प्राप्ति में नहीं। ज्ञान अमर है, राज्य क्षणभंगुर है।

महादेवी : महाभिक्षु ! आपका उपदेश सुनकर हृदय को शांति मिलती है।

उपगुप्त : शांति लाभ करो, देवि, यही पथ निर्वाण का है। अच्छा, देवि ! अब मैं जाऊँगा। (**उठ खड़े होते हैं।**)

महादेवी : भंते ! आशीर्वाद दीजिए कि राज्य में शांति हो !

उपगुप्त : ऐसा ही हो !

महादेवी : भंते ! शिक्षा स्वीकार कीजिए। मैं अपने हाथ से लाऊँगी।

[महादेवी बाहर जाती हैं।]

स्वयंप्रभा : भंते ! आपसे एक प्रार्थना करना चाहती हूँ।

उपगुप्त : कैसी ?

स्वयंप्रभा : भंते ! आप चारु को तो जानते हैं ?

उपगुप्त : हाँ, हाँ, सम्राट् की सेवा में सतत रहने वाली।

स्वयंप्रभा : आज वह बहुत दुखी है।

उपगुप्त : क्यों ?

स्वयंप्रभा : सम्राट् का उस पर से विश्वास उठ गया है।

उपगुप्त : इसलिए कि वह कलिंग-बालिका है ?

स्वयंप्रभा : हाँ।

उपगुप्त : तो उसके लिए उचित तो यही है कि वह महाराज की सेवा और भी संलग्नता के साथ करे। संदेह को सेवा से नष्ट कर दे। वह इस समय कहाँ होगी ?

स्वयंप्रभा : सम्राट् के बाहरी शिविर में।

उपगुप्त : अच्छा, मैं उससे मिलता जाऊँगा। उसे संतोष और शान्ति देकर फिर मैं संघाराम जाऊँगा।

स्वयंप्रभा : भंते ! बड़ी कृपा होगी आपकी।

उपगुप्त : यह तो तथागत की आज्ञा है।

[महादेवी भिक्षा लेकर आती हैं।]

महादेवी : मुझे अपने हाथों से आपकी सेवा में मधुकरी लाने में विशेष हर्ष होता है, भंते !

उपगुप्त : तुम सुखी रहो, देवि !

[महादेवी उपगुप्त को मधुकरी देती हैं।]

उपगुप्त : अच्छा, अब जाऊँगा।

महादेवी : भंते, प्रणाम।

उपगुप्त : सुखी रहो।

महादेवी : स्वयं ! महाभिक्षु को शिविर-द्वार तक पहुँचा दो।

स्वयंप्रभा : जो आज्ञा।

[स्वयंप्रभा का उपगुप्त के साथ प्रस्थान]

महादेवी : (**सोचते हुए**) महादेवी ! तेरी दशा एक कीड़े की तरह है, जो ऐसी लकड़ी में रहता है जिसके दोनों ओर आग लग रही है ! तू कहाँ रहेगी ?

[स्वयंप्रभा का प्रवेश]

स्वयंप्रभा : महादेवी ! भंते जाते समय आपके लिए स्वस्ति-वचन कह गए हैं।

महादेवी : तथागत को प्रणाम ! स्वयंप्रभा ! या तो मैं संघाराम चली जाऊँगी या वनवासिनी हो जाऊँगी।

स्वयंप्रभा : महादेवी ! आप शान्त हों !

महादेवी : नहीं, स्वयंप्रभा ! अब मुझे इस राज्यश्री से घृणा हो रही है। उसके सजाने के लिए कितने मनुष्यों की बलि देनी पड़ रही है ! रात-दिन युद्ध की बातें सुनते-सुनते जैसे श्रवण-शक्ति विद्रोह कर रही है। अब मैं और कुछ सुनना नहीं चाहती। देख, इतनी अच्छी वनश्री है। यहाँ के पेड़ और पर्वत कैसे सुख में दीख पड़ रहे हैं। ये तो किसी से लड़ने नहीं जाते, किसी का रक्त नहीं बहाते, किन्तु इन पर हरियाली छाई रहती है, फूल खिलते रहते हैं। निर्झर इनके चरणों को धोते रहते हैं। इन्हें किस बात की कमी है ? यह मनुष्य ही न जाने किस सुख के लिए दूसरे का सुख नष्ट करने में जुटा रहता है, रक्त की नदियाँ बहाता है।

स्वयंप्रभा : महादेवी ! जीवन का सत्य यही है।

महादेवी : और स्वयंप्रभा ! अगर मैं स्त्री न होकर इसी पास के पेड़ की एक कली होती, तो आनन्द के साथ वसंत के किसी प्रातःकाल में खिलकर सारे संसार को एक बार हँसती हुई आँखों से देख लेती और संध्या होने पर सूर्य के पीछे-पीछे मैं चली जाती। स्त्री होकर और सम्राज्ञी होकर मैं सुखी नहीं हूँ, स्वयंप्रभा ! जीवन के सत्य से बहुत दूर जा पड़ी हूँ !

स्वयंप्रभा : महादेवी ! आपका हृदय शान्त हो।

महादेवी : स्वयंप्रभा ! कैसे शान्त हो ? शान्ति का उपाय कहने के बदले मैं अशान्ति की लहरों में बही जा रही हूँ। पास में कोई कूल-किनारा नहीं है। ज्ञात होता है, युद्ध की समाप्ति होते-होते मेरा जीवन भी समाप्त हो जाएगा।

स्वयंप्रभा : महादेवी ! दुखी न हों। ऐसी बातें न करें।

महादेवी : मैं आर्यपुत्र के सामने बहुत साहस कर कुछ बातें कहना चाहती हूँ। या तो मैं कह नहीं सकती या उनकी दृष्टि मुझे कहने नहीं देती। साहस कर दो-एक शब्दों में यदि कुछ कहती भी हूँ, तो आर्यपुत्र की वीरता की लहर में मेरे शब्द बुद्‌बुद् की भाँति बह जाते हैं !

स्वयंप्रभा : महादेवी ! आप जो कुछ भी कह सकती हैं, सम्राट् के सामने उतना कहने की शक्ति संसार के किसी व्यक्ति में नहीं है।

महादेवी : किन्तु उसका परिणाम कुछ नहीं, स्वयंप्रभा ! चारु को यहाँ आने की सूचना देगी ?

[नेपथ्य में "सम्राट् अशोक की जय-जय !"]

महादेवी : स्वयंप्रभा ! रहने दे, किसी को मत बुला। आर्यपुत्र आ रहे हैं।

[चिंतित मुद्रा में अशोक का प्रवेश। महादेवी प्रणाम करती हैं। स्वयंप्रभा अधिक झुक कर प्रणाम करती है।]

अशोक : देवि ! न्याय नहीं हो सका।

महादेवी : आर्यपुत्र ! उस स्त्री का न्याय ?

अशोक : हाँ देवि ! वह स्त्री उसी शिविर में आत्महत्या करके मर गई।

महादेवी : मर गई ? (**करुण स्वर में**) आह, बेचारी स्त्री !

अशोक : मैंने पुष्य को आज्ञा दी थी कि वह उस स्त्री को विश्राम-शिविर में ले जाकर खड़ी कर दे। शिविर का प्रत्येक सैनिक उसके सामने आए और वह स्त्री उस सैनिक को पहचाने, जिसने उसके शिशु की छाती में भाला घुसेड़ दिया था। मुझे ज्ञात हुआ कि 123 सैनिक घरों में घुसे थे। उन्हीं 123 सैनिकों के भाग्य का निर्णय था, किन्तु उस स्त्री ने 17 सैनिकों के आने पर एक बार अपने बच्चे को चूमा, हृदय से चिपटा लिया और अठारहवें सैनिक की कमर से छुरी निकाल कर स्वयं अपने हृदय में भोंक ली। पुष्य उसे रोक नहीं सका और वह रक्त की नदी में तड़पने लगी। देवि ! उसने मेरे न्याय पर विश्वास नहीं किया। उसने मेरी राज्यसत्ता से बढ़कर अपने बच्चे को समझा !

महादेवी : आर्यपुत्र ! माता का हृदय संसार के किसी वैभव से नहीं तुल सकता। वह सबसे बड़ा है।

अशोक : किन्तु माता के हृदय में विशालता भी तो होती है।

महादेवी : पहले वह अपने बच्चे के लिए होती है, आर्यपुत्र ! आप अनुमान कर लीजिए कि इस युद्ध में जितने वीरों की मृत्यु हुई है, उनकी माताओं के हृदय की क्या दशा होगी ?

अशोक : मैं देख रहा हूँ, देवि ! आज एक शिशु की जननी ने मेरे सारे साम्राज्य को तुच्छ सिद्ध कर दिया।

महादेवी : आर्यपुत्र जम्बूद्वीप के सबसे बड़े वीर हैं।

अशोक : देवि ! आज विश्राम-शिविर में जाने पर ज्ञात हुआ कि एक लक्ष से अधिक सैनिक अभी तक युद्ध में मारे जा चुके हैं जिनसे बहुत अधिक संख्या कलिंग के सैनिकों की है। तीन लक्ष सैनिक आहत हुए हैं। उनकी माताओं के हृदय की क्या अवस्था होगी !

महादेवी : (**आश्चर्य और दुःख के स्वर में**) आर्यपुत्र ! चार लक्ष वीर इस संग्राम की बलि हुए हैं ?

अशोक : जब कलिंग-नरेश को ज्ञात हुआ कि चार लक्ष वीर संग्राम की बलि हुए हैं, तब उसने यह संधि-पत्र भेजा है। (**संधि-पत्र खोलते हुए**) आज पाटलिपुत्र की विजय हुई ! किन्तु देवि ! उस स्त्री की आत्महत्या ने मेरा ध्यान संग्राम में मरे हुए वीरों की माताओं की ओर आकर्षित कर लिया है और मेरी विजय में जैसे उल्लास के बदले अभिशाप तड़प रहा है !

[बाहर कोलाहल होता है। "चारु", "चारु", "क्या हुआ ?" "अभी प्राण शेष हैं ?" "कहाँ चोट लगी है ?" "यह कैसे हुआ ?" "शान्त ! शान्त !" की ध्वनि आती है।]

अशोक : (**चौंक कर**) यह कैसा शब्द ! (**पुकार कर**) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : सम्राट् ! चारुमित्रा का मूर्च्छित शरीर बाहर है।

अशोक : (**पुनः चौंक कर**) चारुमित्रा का मूर्च्छित शरीर ?

महादेवी : आह ! चारु ! (**सिर झुकाकर बैठ जाती है।**)

राजुक : हाँ, उन्हें तलवार का गहरा घाव लगा है। आचार्य उपगुप्त उनके साथ हैं।

अशोक : शीघ्र भीतर लाओ।

[चारुमित्रा का शरीर लेकर दो प्रहरी आते हैं। साथ में उपगुप्त भी हैं।]

अशोक : महाभिक्षु को अशोक का प्रणाम ! भंते ! यह क्या ? (**प्रहरियों से**) यह शरीर नीचे रख दो। ओह, चारुमित्रा ! (**प्रहरी शरीर रख देते हैं।**)

महादेवी : ओह ! मेरी चारु ! मेरी चारु !!

उपगुप्त : देवि, शान्त हों। सम्राट् ! यह चारुमित्रा की स्वामिभक्ति का प्रमाण है।

अशोक : स्वामिभक्ति ! कैसी स्वामिभक्ति ? अभी जीवित है चारु ?

उपगुप्त : महाराज ! अभी जीवित तो है, पर वह अचेतावस्था में है।

महादेवी : भंते ! क्या हुआ ? क्या हुआ ?

उपगुप्त : देवि ! शान्त हो ! चारुमित्रा ने आज संसार के सामने यह घोषित कर दिया कि एक नारी में कितनी शक्ति है ! कितनी क्षमता है !

अशोक : किस प्रकार, भंते ?

उपगुप्त : मैंने सुना था, आपने चारुमित्रा पर अविश्वास किया था।

अशोक : हाँ, वह कलिंग की अधिवासिनी थी। अविश्वास होना स्वाभाविक था।

उपगुप्त : किन्तु, सम्राट् ! उसने बाल्यावस्था से आपकी सेवा की थी इसलिए उसमें सेवा के संस्कार प्रकट थे और देशभक्ति के संस्कार प्रच्छन्न। और इन्हीं प्रकट संस्कारों ने प्रच्छन्न भावनाओं को धूमिल किया है और आज उसी सेवा से उसने अपने कलिंग को अमर बना दिया !

अशोक : मैं उत्सुक हूँ, भंते ! चारु के सम्बन्ध में सुनने के लिए।

उपगुप्त : सम्राट् ! जम्बूद्वीप जानता है कि आपने रक्त की नदी बहाकर कलिंग युद्ध में कितने वीरों को रणक्षेत्र में सुला दिया है। आपने रक्त की नदी से कलिंग की भूमि को लाल कर दिया है। और अब तो आपकी विजय निश्चित है।

अशोक : मैंने विजय प्राप्त कर ली, महाभिक्षु ! यह संधि-पत्र है।

उपगुप्त : सम्राट् ! इस संधि-पत्र से अधिक मूल्यवान चारु का बलिदान है।

अशोक : (**आश्चर्य से**) बलिदान !

महादेवी : मेरी चारु ने अपना बलिदान कर दिया ?

उपगुप्त : हाँ देवि ! सम्राट् के अविश्वास से उसे हार्दिक दुःख हुआ था। आज वह सम्राट् के बाहरी शिविर में सम्राट् से आज्ञा लेकर चली जाती और महानदी की लहरों में विश्राम करती, किन्तु उसके पूर्व ही उसे विश्राम करने का अवसर मिल गया।

अशोक : किस प्रकार ? शीघ्र बतलाइए।

उपगुप्त : सम्राट् ! चारुमित्रा आपके बाहरी शिविर में आपके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु संभवतः आपके लौटने में देर हुई।

अशोक : हाँ, आज मैं स्कंधावार के निरीक्षण के लिए चला गया था। अभी तक मैं अपने बाहरी शिविर में शयन के लिए नहीं पहुँचा।

उपगुप्त : सम्राट् ! उस शिविर में आप पर आक्रमण करने के लिए कलिंग के कुछ सैनिक छिपे हुए थे। वे संध्या से ही मगध सैनिकों के वस्त्रों में शिविर में घूम रहे थे। चारुमित्रा को उन पर संदेह हुआ। उसने बातें कर यह जान लिया कि वे कलिंग के सैनिक हैं।

अशोक : (**आश्चर्य से**) फिर ?

उपगुप्त : सम्राट् ! देवी चारुमित्रा ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा, 'कायरो ! तुम लोग मेरे देश कलिंग के नाम को कलंकित करने वाले हो ! यदि सम्राट् अशोक को मारना है, तो युद्ध में तलवार लेकर क्यों नहीं जाते ? यहाँ चोरों की तरह घुस कर एक वीर पुरुष से छल करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ?'

अशोक : चारुमित्रा ! तुम धन्य हो ! तुम देवी हो !

उपगुप्त : सम्राट् ! उन सैनिकों ने चारुमित्रा को लालच दिया, कलिंग की विजय

का स्वप्न दिखलाया, किन्तु चारुमित्रा ने कहा, 'मैं अपने स्वामी से विश्वास-घात नहीं कर सकती।'

अशोक : चारु ! तू अमर हो !

उपगुप्त : सम्राट् ! चारु निश्चय ही अमर होगी ! उसने उन सैनिकों को हट जाने के लिए ललकारा। जब वे नहीं हटे तो कक्ष में टँगी हुई आपकी तलवार लेकर उसने उन सैनिकों पर आक्रमण कर दिया।

महादेवी : धन्य, चारु !

उपगुप्त : हाँ, देवि ! दो सैनिक तो घायल होकर भाग गए। किन्तु एक सैनिक की तलवार चारु के कन्धे पर लगी और वह गिर पड़ी। उसी समय मैं पहुँचा। वह कायर वहाँ से भाग कर पास की झाड़ी में छिप गया। देवी चारु ने अचेत होने से पहले सारी कथा मुझे टूटे-फूटे शब्दों में सुनाई थी।

अशोक : धन्य है चारु ! आज तूने अपने देश कलिंग को अमर कर दिया ! भंते ! इसी समय किसी योग्य चिकित्सक को बुलाकर चारु के जीवन की रक्षा करनी होगी। (**पुकार कर**) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : महामात्रों को सूचना दो कि वे देवी चारुमित्रा की रक्षा के लिए योग्य चिकित्सकों की शीघ्र व्यवस्था करें।

राजुक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

महादेवी : आर्यपुत्र ! मेरी चारु···मेरी चारु की चिकित्सा शीघ्र ही होगी !

अशोक : महादेवी ! अधीर न हों। चारु ने जो कार्य किया है, वह नारी-जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। और सुनो देवि ! आज से अशोक ने···अत्याचारी अशोक ने युद्ध को सदैव के लिए छोड़ दिया ! (**तलवार भूमि पर फेंक देते हैं।**)

महादेवी (**प्रसन्नता से**) युद्ध छोड़ दिया ! युद्ध छोड़ दिया ! कितने महान् हैं आप ! धन्य हैं आप ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ ! (**घुटना टेक कर प्रणाम**) युद्ध छोड़ दिया···छोड़ दिया ! आर्यपुत्र की जय !

सब : सम्राट् अशोक की जय !

अशोक : महाभिक्षु ! आज से मैं हिंसा किसी भी रूप में न करूँगा ! और देखूँगा कि किसी मनुष्य का रक्त इस पृथ्वी पर न पड़े। प्रत्येक स्थान पर, सिंहासन पर, अंतःपुर में, विहार में, मैं प्रजा की सेवा करूँगा। आज से मेरा महान् कर्त्तव्य होगा कि मैं सब जीवों की रक्षा का अधिक से अधिक प्रबन्ध करूँ।

उपगुप्त : देवानाम् प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अशोक का कल्याण हो !

अशोक : मेरे आदेशों को शिलालेखों के रूप में लिखवा कर समस्त जम्बूद्वीप में प्रचार कर दो कि अशोक आज से उनकी रक्षा करने वाला उनका बन्धु है।

चारुमित्रा : (**मूर्च्छा दूर होने पर**) सम्राट् अशोक की जय !

महादेवी : ओह, चारु ! चारु, तू अच्छी है ?

अशोक : चारुमित्रा की जय ! चारु ?

चारुमित्रा : सम्राट् ! क्षमा ! आपकी आज्ञा थी कि मैं मगध की ओर से तलवारों के साथ भैरवी नृत्य सीखूँ। पूरी तरह नहीं सीख सकी, क्षमा हो।··· क्षमा !

अशोक : चारुमित्रा ! तू पाटलिपुत्र की शोभा है ! उसके गौरव की विभूति है !

चारुमित्रा : सम्राट् ! आग के अंगारों पर नाचने का अवसर तो आपने नहीं दिया, अब मैंने अंगारों पर अपनी देह रखने का अवसर आपसे माँग लिया ! (**महादेवी से**) क्षमा करें, देवि !

महादेवी : ओह, चारु ! तू अच्छी हो जाएगी। सम्राट् ने तेरे लिए कुशल चिकित्सकों का प्रबन्ध किया है। तू शीघ्र ही अच्छी हो जाएगी।

चारुमित्रा : नहीं, देवि (**शिथिल स्वर में**) सम्राट् अशोक की जय !

[आँखें बन्द कर लेती है। अशोक अवाक् हो चारुमित्रा की ओर देखते रह जाते हैं।]

अशोक : चारु ! तू मरेगी नहीं और जब मैंने आजीवन प्राणियों की सुरक्षा का व्रत ले लिया है, तो तेरे जीवन की सुरक्षा में मैं अपनी सारी शक्ति लगा दूँगा। मगध साम्राज्य के चिकित्सक तेरे जीवन की रक्षा करेंगे और समस्त जम्बूद्वीप के संघाराम तेरे जीवन की मंगल-कामना !

[नेपथ्य में—संघं सरणं गच्छामि ! धम्मं सरणं गच्छामि ! बुद्धं सरणं गच्छामि ! देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की जय !]

[धीरे-धीरे परदा गिरता है।]

□

कला और कृपाण

भूमिका

'कला और कृपाण' नाटक प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता होती है। यह मेरा दूसरा सम्पूर्ण नाटक है।

नाटक जीवन की प्रभावपूर्ण अनुकृति है, चाहे वह जीवन का वर्तमान रूप हो अथवा अतीत के स्वर्णिम पृष्ठों से लिया गया हो। नाटककार की सफलता इसी बात में है कि वह दर्शकों और श्रोताओं के सम्मुख तत्कालीन जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत कर सके। श्रोता या दर्शक कुछ समय तक यह समझने लगें कि वे किसी व्यक्ति के जीवन की सच्ची घटना देख रहे हैं। जिस प्रासाद या कक्ष में घटना घटित हो रही है उसकी एक दीवार हटा दी गई है; और हम व्यक्ति, घटना और परिस्थिति को प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

ऐतिहासिक नाटक का रचना-विधान

ऐतिहासिक नाटक की रचना करते समय नाटककार की समस्याएँ अधिक जटिल हो जाती हैं। उसे एक सफल नाटक की रचना तो करनी ही होती है, इतिहास के युग-विशेष का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए परिस्थितियों, घटनाओं एवं पात्रों की सृष्टि में इतिहास का भी आश्रय लेना पड़ता है। साहित्य और इतिहास के सत्य में अंतर होता है। साहित्यकार कोरा इतिहासकार नहीं होता, उसे ऐतिहासिक सत्य में सौन्दर्य की सृष्टि करनी पड़ती है और उस सत्य को अधिक प्रखर बनाने के लिए पात्रों और परिस्थितियों की कल्पना विशेष रूप से अभीष्ट होती है। नाटककार घटनाओं का उल्लेखमात्र नहीं करेगा, ऐसा करने से उसकी कृति कलात्मक नहीं हो सकेगी। वह किसी राजा से सम्बन्धित सभी घटनाओं को, उसके समस्त अभियानों को, उसके उत्थान-पतन को तीन अंकों के नाटक में प्रस्तुत नहीं कर सकता। वह समस्त जीवन से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट घटनाओं को चुनकर उनके आधार पर ही तीन या अधिक अंकों में उस पात्र-विशेष, वातावरण या घटनाओं के सत्य को उभार देगा।

इसी आधार पर ऐतिहासिक नाटकों की अग्रलिखित तीन कोटियाँ निर्धारित की जाती हैं—

1. चरित्र-प्रधान
2. वातावरण-प्रधान
3. घटना-प्रधान

मेरा पहला सम्पूर्ण ऐतिहासिक नाटक 'विजय-पर्व' चरित्र-प्रधान नाटक है। इस नाटक में चरित्र की मनोवैज्ञानिक शृंखला को ऐतिहासिक सत्य पर उसी भाँति अग्रसर करने का प्रयत्न किया गया है, जैसे मानसरोवर की मन्द लहरों पर हंस तैरता चला जाता है।

ऐतिहासिक नाटक में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें ऐतिहासिक भ्रान्तियों को दूर कर तथ्य की ओर संकेत किया गया हो। वह इतिहास न होते हुए भी युग-विशेष का सजीव चित्र होता है। सन्-संवत् का विशेष ध्यान रखना अनिवार्य न होते हुए भी काल-विशेष की पृष्ठभूमि आवश्यक है।

इसी प्रकार पात्रों की वेशभूषा, रूप-सज्जा, आचार-व्यवहार आदि का अध्ययन भी नाटककार के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार उदयन को हम मुगल-कालीन वेश-भूषा में रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं कर सकते, उसी प्रकार हम इंग्लैंड के सम्राट् या किसी वाइसराय को भारतीय वेश-विन्यास नहीं दे सकते। यदि पात्र की उपयुक्त वेश-भूषा का ध्यान नहीं रखा जाता है, तो नाटक में व्यक्तित्व का प्रभाव उत्पन्न नहीं होता और समस्त नाटक हास्यास्पद हो जाता है।

ऐतिहासिक नाटकों की भाषा के विषय में भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। भाषा का प्रभाव दर्शकों पर सबसे अधिक पड़ता है। यह सत्य है कि मौर्य या गुप्त-काल की भाषा हिन्दी नहीं थी, किन्तु यदि हमें हिन्दी में नाटक की रचना करनी है, तो उस समय की भाषा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हमें संस्कृत-निष्ठ भाषा का प्रयोग करना आवश्यक है। अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग हम उदयन या अशोक के मुख से नहीं करा सकते। इसी प्रकार औरंगजेब का व्यक्तित्व विदेशी भाषा की शैली में अधिक उभर सकता है।

रंगमंच का महत्त्व नाटक के प्रस्तुत करने में बहुत अधिक है। रंगमंच के बिना नाटक में प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। आज हिन्दी का रंगमंच शैशव अवस्था में है, उसे अभी विकसित होना है, किन्तु उसके विकासमार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। सस्ते मनोरंजन की भावना और सिनेमा की लोकप्रियता बाधक सिद्ध हो रही है। नाट्यकला की सफलता इसी में है कि सामान्य दर्शक उसमें रस ले सकें और नाट्य-कला के पण्डित भी उसे उत्कृष्ट समझें। उसमें न तो दर्शक को उबा देनेवाले उपदेशात्मक संवाद हों और न दुर्बोध भाषा। उसमें विभिन्न रसों का समावेश, कुतूहल की भावन और प्रेषणीयता होनी ही चाहिए। रस का स्थान आज मनोविज्ञान ने ले लिया है। मैं दोनों के समन्वय का पक्षपाती हूँ।

प्रस्तुत नाटक का ऐतिहासिक आधार

किसी ऐतिहासिक नाटक में केवल कल्पना का आश्रय ही पर्याप्त नहीं है, इतिहास के पृष्ठों की नींव पर ही उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक का प्रासाद खड़ा हो सकता है, जिसमें कला का प्रकाश हो सके। जैसा पहले ही कहा जा चुका है, इस नाटक में चरित्र की मनोवैज्ञानिक श्रृंखला है जो ऐतिहासिक सत्य से समर्पित हुई है। उदयन महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। उस युग का चित्र इस नाटक में स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होगा।

महाराज उदयन पाण्डव-वंश के थे। उनके पूर्वजों की सूची 'वायुपुराण' में दी गई है, जिसके अनुसार वे परीक्षित की बाईसवीं पीढ़ी में थे। परीक्षित की पाँचवीं पीढ़ी में महाराज विचक्षु थे, जिन्होंने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया, क्योंकि हस्तिनापुर गंगा के प्रवाह में नष्ट हो गया था। कौशाम्बी उस समय भी उल्लेखनीय नगर था, उसकी स्थापना चेदि-वंश के कुशपुत्र कुशाम्ब नामक राजा द्वारा हुई थी। महाभारत, हरिवंशपुराण और वाल्मीकि रामायण में भी कौशाम्बी का उल्लेख है।

कौशाम्बी नगर पौराणिक काल में भी आकर्षण का केन्द्र रहा। बौद्ध युग में वह अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर था। जातक कथाओं के अतिरिक्त कथा-सरित्सागर, ललित विस्तर, मेघदूत, रत्नावली आदि ग्रन्थों में भी कौशाम्बी का उल्लेख एक सुन्दर और समृद्ध नगर के रूप में हुआ है। कौशाम्बी के आस-पास का प्रदेश वत्स कहा जाता था, यही कारण है कि उदयन का उल्लेख वत्सराज के रूप में हुआ है।

उदयन का चरित्र साहित्यकारों को बहुत ही प्रिय रहा है। भास के दो नाटकों—'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' के वे नायक हैं। उदयन के समय में उनका राज्य समृद्ध था। व्यापार की भी दशा अच्छी थी। यमुना के तट पर स्थित होने के कारण वहाँ से नावों तथा अन्य जलपोतों के लिए विशेष सुविधा थी। चम्पा, श्रावस्ती, राजगृह, काशी आदि नगरों के अतिरिक्त विदेशों से भी व्यापार होता था। बौद्ध साहित्य में (विशेषतया 'दीर्घ निकाय' और 'सुत्त निपात' में) कौशाम्बी की समृद्धि की चर्चा के साथ ही वहाँ के तीन प्रमुख व्यापारियों के नाम भी उल्लिखित हुए हैं। वे हैं—घोषित, ककोद और पावारिय। ये सभी बौद्ध थे।

गौतम बुद्ध के समय में भारत में सोलह जनपद (राज्य) थे—अंग, मगध, काशी, कोशल, वृज्जि, मल्ल, चेदि, कुरु, पांचाल, मत्स्य, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गांधार, कम्बोज और वत्स। इनमें से मगध, कोशल और अवन्ति ही अधिक शक्तिशाली थे। मगध का साम्राज्य काशी तक था और अवन्ति का राज्य वत्स प्रदेश की दक्षिणी सीमा बनाता था। उदयन एक कुशल योद्धा थे, साथ ही वे

वीणावादन की कला में अद्वितीय थे। उनका मंत्री यौगन्धरायण कुशल नीतिज्ञ था और सेनापति रुमण्वान कुशल योद्धा। उदयन ने मगध और अवन्ति से वैवाहिक सन्धि की थी।

अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता और उदयन के विवाह की भी एक मनोरंजक कथा है। अवन्ति-नरेश चण्डप्रद्योत (महासेन) ने सुना कि उदयन हाथियों को मुग्ध करने की कला में प्रवीण हैं और यह भी समझा कि वे उदयन से युद्ध में विजयी नहीं हो सकते। उन्होंने युक्ति से काम लिया। सीमान्त के वनों में उदयन प्राय: आखेट के लिए जाया करते थे। महासेन ने एक नकली हाथी वहाँ के वन में छोड़ दिया। और उसके खींचने की भी व्यवस्था करा दी। जब उदयन उस हाथी का पीछा करते-करते अकेले ही अवन्ति की सीमा में प्रविष्ट हुए तो उन्हें महासेन के सैनिकों ने बन्दी बना लिया।

महासेन ने उदयन को राजकुमारी वासवदत्ता का शिक्षक नियुक्त किया और वासवदत्ता वीणा सीखते-सीखते उदयन की जीवन-संगिनी बन गई। उदयन को यह आशा न थी कि महासेन विवाह की स्वीकृति दे देंगे, इसलिए वे दोनों हाथी पर बैठकर भाग निकले। सैनिकों ने उनका पीछा किया, किन्तु उनके लिए वे मार्ग में रत्न-मणि आदि डालते गए थे, जिसके कारण वे उन्हें प्राप्त न कर सके। बाद में महासेन की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई।

वासवदत्ता के अतिरिक्त उदयन की तीन अन्य रानियों का उल्लेख इतिहास में है, मगध की राजकुमारी पद्मावती, घोषित श्रेष्ठि की पालित पुत्री सामावती और मागंदिया। पद्मावती का विवाह भी एक राजनीतिक आवश्यकता थी। इस विवाह का उल्लेख भास के नाटक 'वासवदत्ता' में विस्तार से है। मेरे नाटक की कथावस्तु में पद्मावती और मागंदिया को लाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। अत: व्यर्थ में ही अधिक पात्रों को नाटक में स्थान देना अनुचित है।

उदयन प्रारम्भ में बौद्ध धर्म के विरोधी थे। राजनीतिक दृष्टि से भी गौतम के मत से सहमत होना उनके लिए सम्भव न था। गौतम दो बार कौशाम्बी आए, पहली बार 642 ई० पू० में; उदयन के सिंहासनारूढ़ होने के एक वर्ष बाद और दूसरी बार 621 ई० पू० में—जब उदयन ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। राज्यारोहण आसपास ही उदयन का प्रथम विवाह हुआ था। इसके कुछ समय बाद ही उन्होंने भद्रवती नगर के सेठ की पुत्री सामावती से विवाह किया। सामावती को कौशाम्बी के श्रेष्ठि घोषित ने पाला था। घोषित बौद्ध धर्मानुयायी था। उदयन ने उसे आराम (विहार) बनवाने की आज्ञा भी दी थी। सामावती की भी रुचि बौद्ध धर्म में थी और उदयन ने उसका विरोध भी नहीं किया।

उदयन के धर्म-परिवर्तन के विषय में दो कथाएँ हैं। तिब्बती बौद्ध साहित्य के अनुसार 621 ई० पू० में जब बुद्ध भगवान कौशाम्बी आए, उस समय उदयन

अपनी सेना के निरीक्षण के लिए प्रस्तुत थे। उन्हें कनकावत पर आक्रमण करना था। ऐसे समय पर शान्तिदूत गौतम का आगमन उन्हें अच्छा न लगा। उन्होंने भीरुता के उपदेश को समाप्त करने का निर्णय किया। शब्दवेधी बाण की कला में वे निपुण थे और उन्होंने उस कला का प्रयोग गौतम पर किया; किन्तु बाण गौतम को न लगा। बाण से ध्वनि निकली कि "ईर्ष्या से दुःख होता है, जो व्यक्ति बलि और झगड़ों में विश्वास करता है वह भविष्य में नर्क के कष्टों को भोगता है। कष्ट और झगड़ों को दूर करो।"[1] इस घटना से प्रभावित होकर उदयन गौतम बुद्ध के चरणों पर गिर पड़े।

पालि-कथाओं के अनुसार उदयन को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का श्रेय पिण्डोल भारद्वाज को है। एक बार जब उदयन पर्यटन के लिए गए हुए थे, उनकी रानियाँ रात्रि में पिण्डोल भारद्वाज का प्रवचन सुनने के लिए उदयन को सोता छोड़कर चली गईं। उदयन ने रुष्ट होकर पिण्डोल के शरीर से चींटियों का छत्ता बँधवा दिया। पिण्डोल इससे अप्रभावित रहे। बाद में उदयन को पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

मुझे व्यक्तिगत रूप से प्रथम कथा में अधिक प्रामाणिकता प्रतीत होती है। इस नाटक में मैंने उसे ही स्वीकार किया है। यह भी कहा जाता है कि सामावती के भवन में आग लग गई और सामावती की मृत्यु से संतप्त होकर उदयन ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

उनके धर्म-परिवर्तन की कथा का मनोविज्ञान मेरी अपनी खोज है। उदयन शब्दवेधी बाण चलाने में अत्यधिक कुशल थे। इसी आधार पर मैंने प्रथम अंक की कथा का निर्माण किया है। वे सौन्दर्य-प्रेमी भी थे, इसका प्रमाण 'कथा-सरित्सागर' तथा भास के नाटक हैं। किरात-कन्या के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हुए। वह बाण, जिसे उदयन ने गौतम के लिए चलाया, उसी किरात-कन्या को लगा। इससे उदयन को अत्यधिक संताप हुआ। उनका ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु

नाटक की कथावस्तु के सूत्रों का निर्माण करते समय मेरे मस्तिष्क में भास के दो अमर नाटकों की भी स्मृति थी। 'प्रतिज्ञा यौगंधरायण' में वासवदत्ता के विवाह की कथा है। उसमें उदयन के चरित्र की दो विशेषताएँ अधिक उभरी हैं। पहली उसकी आखेट-प्रियता और दूसरी वीणावादन की कला। इन विशेषताओं को मैंने भी उदयन के चरित्र में प्रतिष्ठित किया है।

'स्वप्नवासवदत्ता' में उदयन की वीरता, विरह-व्यथा और भावुकता ही

1. राकहिल ने 'दि लाइफ आव बुद्ध' में भी इन शब्दों को दुहराया है।

प्रधान रूप से चित्रित हुई हैं। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि महाराज दर्शक (पद्मावती) की सहायता से उसने अपने शत्रु अरुणि को परास्त किया था। महाराज दर्शक के इसी संदेश से मेरे नाटक का द्वितीय अंक समाप्त होता है।

ऐतिहासिक ओर साहित्यिक स्रोतों से जो सामग्री मेरे सामने थी, उसके आधार पर मैंने प्रस्तुत नाटक की रचना की है। उदयन समस्त कथावस्तु के केन्द्रबिन्दु हैं। उन्हें मैंने धीरोदात्त न मानकर धीरललित माना है। उदयन आखेट के बहाने अपने सेनापति (प्रधान सेनापति नहीं) विजयसेन के साथ विन्ध्याटवी में जाते हैं। उनका मार्गदर्शन शेखरक और शंखचूड़ (दोनों कल्पित पात्र) कर रहे हैं। उनमें से एक उदयन की भाँति भावुक है और दूसरा शुष्क नीतिज्ञ। उन्हें मार्ग में मंजुघोषा नामक किरात-कन्या मिलती है, जिसकी पालिता सारिका सम्राट् उदयन के शब्दवेधी बाण द्वारा हत् हो गई है। उसे जब यह ज्ञात होता है कि वे दोनों अमात्य यौगंधरायण के सेवक हैं, तो वह अमात्य के सम्मुख अपना अभियोग स्पष्ट करती है। अमात्य के साथ आखेटक को देखकर वह क्रुद्ध हो जाती है और अमात्य से न्याय की याचना करती है। वह यह नहीं जानती कि सम्राट् उदयन ही आखेटक के छद्म-वेश में हैं। उदयन की बातचीत से वह बहुत अधिक प्रभावित होती है। अन्त में उसे न्याय के लिए कौशाम्बी बुलाया जाता है। प्रथम अंक समाप्ति पर दर्शक के मन में यह जानने के लिए कुतूहल होता है कि सम्राट् उदयन किस प्रकार अपने ऊपर लगाए हुए अभियोग का न्याय करेंगे।

दूसरा अंक कौशाम्बी के राजप्रासाद में प्रारम्भ होता है। सम्राट् उदयन की प्रतीक्षा में महारानी वासवदत्ता उन्मना हैं और अपनी वीणा पर स्वर-साधना के लिए यत्नशील हैं। उन्हें उदयन के आगमन की सूचना मिलती है। उदयन समस्त घटना वासवदत्ता को बताते हैं और उनसे निर्णय करने का अनुरोध करते हैं। उदयन की बातचीत से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मंजुघोषा के प्रति आकृष्ट हैं। मंजुघोषा के आने की सूचना पर उदयन पीछे के कक्ष में चले जाते हैं। वासवदत्ता उसका अभियोग सुनती हैं। इसी बीच में उदयन प्रवेश करते हैं। किरात-कन्याको अपनी भूल ज्ञात होती है। वह उदयन से क्षमा माँगती है और कुतूहल के ऊहापोह में उदयन निर्णय करते हैं कि वह महारानी की प्रमुख सहचरी के रूप में राजमहल में ही निवास करे। उदयन वीणा बजाना चाहते हैं, किन्तु महाराज दर्शक का संदेश लिए दूत प्रवेश करता है; कला की साधना के स्थान पर उन्हें कृपाण के प्रयोग के लिए अग्रसर होना पड़ता है।

तीसरे अंक की कथा बौद्ध इतिहास के आधार पर है। जब उदयन कनकावती पर आक्रमण करने की तैयारी में अपनी सेना का निरीक्षण करने के लिए प्रस्तुत हैं, उसी समय उन्हें गौतम के आने की सूचना मिलती है। वे इस सूचना से क्षुब्ध एवं क्रुद्ध होते हैं। सामावती की आज्ञा से बुद्ध का प्रवचन राजप्रासाद के पार्श्व में

ही होता है। मजुघोषा गौतम बुद्ध को पहनाने के लिए पुष्पहार ले जाती है। गौतम बुद्ध सेनाध्यक्ष रुमण्वान से परामर्श करते हैं और उदयन शब्दवेधी बाण छोड़ते हैं, जो गौतम को न लगकर मंजुघोषा को लगता है। क्रुद्ध भीड़ उदयन के प्रासाद पर आक्रमण करना चाहती है। बुद्ध उन्हें शान्त करते हैं। यही घटना उदयन के धर्म-परिवर्तन का कारण बनती है।

प्रस्तुत नाटक के पात्र

इस नाटक के नायक हैं कला और कृपाण-विद्या के ममान अधिकारी सम्राट् उदयन। उदयन के विषय में मैंने बौद्ध इतिहास तथा भास के नाटकों को प्रमाण माना है। सौन्दर्य, गुण, कला और शौर्य की प्रतिष्ठा उनमें समान रूप से हुई थी। यही कारण था कि सुन्दरियाँ स्वतः उनकी ओर आकृष्ट हो जाती थीं। उन्हें धीरललित नायक मानना चाहिए। मंजुघोषा की आकस्मिक मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म की ओर उनका आकृष्ट होना स्वाभाविक था। मैंने उदयन के चरित्र की रूप-रेखा अंकित करने में जो मौलिक उद्भावनाएँ जोड़ी हैं, उनसे इतिहास को किसी प्रकार की क्षति न हो, इसका ध्यान मुझे बराबर रहा है।

यौगंधरायण, रुमण्वान, वासवदत्ता और सामावती ऐतिहासिक चरित्र हैं। चरित्र को भी मैंने स्पष्ट करने का यत्न किया है। मंजुघोषा, शेखचूड़ आदि कल्पित पात्र भी वातावरण के अनुकूल हैं। शेखरक और शंखचूड़ की अवतारणा से दर्शकों या श्रोताओं का मनोरंजर तो होता ही है, वे नाटक की कथावस्तु से भी परिचित होते हैं, और आगे घटित होने वाली घटनाओं का अनुमान लगा सकते हैं।

प्रस्तुत नाटक का उद्देश्य

नाटक की शैली के बारे में भी दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। नाटक का उद्देश्य है दर्शकों का चित्तानुरंजन करना। इसी चित्तानुरंजन के साथ-साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि नाटक में जीवन का संदेश भी हो। वह साहित्य जो समाज में कुरुचि उत्पन्न करता है, कभी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही जो केवल उपदेश ही है, उसे साहित्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इन दोनों का मंजुल समन्वय ही साहित्य का इष्ट है। मैं यथार्थ का विरीधी नहीं हूँ, यथार्थ चित्रण में ग्राह्य है, किन्तु वह यथार्थ जिसमें जीवन की कुत्सा, घृणा आदि ही लक्षित हों, समाज को नव-जीवन के प्रभात की ओर कभी प्रेषित नहीं कर सकता। 'कला और कृपाण' में हिंसा पर अहिंसा की विजय चित्रित की गई है। गौतम बुद्ध की अहिंसा आज भी भारत की महान् विभूति बनकर देश-देशान्तर में व्याप्त हो रही है। पूज्य बापू ने इस युग में पथभ्रान्त मानव को अहिंसा

का संदेश दिया था। इस दृष्टि से ऐतिहासिक होते हुए भी यह नाटक वर्तमान का सन्देशवाहक है। इससे दर्शक के मन पर यह विश्वास स्थायी हो जाता है कि एक न एक दिन पाशविक प्रवृत्तियों पर करुणा, दया, ममता आदि मानवीय वृत्तियाँ अवश्य ही विजयी होंगी।

नाटक की परिणति करुण रस में हुई है। अन्य रसों की अपेक्षा करुण रस का प्रभाव अधिक स्थायी होता है, शृंगार, हास्य, वीर आदि रस करुण रस के सहायक ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार नाटक में करुण रस के साथ अन्य रस भी आ गए हैं। सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिकता से सम्बद्ध करने का प्रयास भी मैंने किया है।

भाषा में समरसता है। केवल मंजुघोषा ही ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। उसने भी नगर में रहकर शुद्ध भाषा में बोलना सीख लिया है। इसलिए भाषा अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। मेरे कुछ आलोचक मित्र मेरी भाषा की काव्यात्मकता से सहमत नहीं हैं। संवेदनशील पात्रों की विचाराभिव्यक्ति में काव्यात्मकता अपने आप उभर आती है। शेक्सपीयर के मेकबेथ, हेमलेट, ओथेलो जैसे पात्रों के संवाद ही देखे जाएँ। वे तो स्पष्टतः काव्य हैं। तीव्र अनुभूति चाहे जिस माध्यम में व्यक्त हो, उसमें कविता का सौन्दर्य झाँकने लगता है। कवि को फूलों का मुकुलित होना मुस्कान जैसा लगता है, किन्तु वही वैज्ञानिक के लिए एक नैसर्गिक प्रक्रिया मात्र है। वैसे कहीं पर भी अभिव्यक्ति उलझी हुई नहीं है, इसका मैंने ध्यान रखा है।

यह नाटक 'आकाशवाणी' से प्रसारित हो चुका है और श्रोताओं ने इसे पसन्द भी किया है। पिछले वर्ष ही यह प्रेस में चला गया था, किन्तु मेरे रूस-प्रवास के कारण इसके प्रकाशन में कुछ विलम्ब हुआ है, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने तथा प्रूफ-संशोधन में मुझे सदैव की भाँति अपने प्रिय शिष्य श्री सुरेश अग्निहोत्री एम० ए० से विशेष रूप से सहायता मिली है और प्रकाशन-व्यवस्था में मेरे अन्य शिष्य श्री प्रह्लाददास अग्रवाल एम० ए० थे।

आशा है मेरी अन्य कृतियों की ही भाँति पाठकगण इस कृति को भी अपनाएँगे।

—लेखक

पात्र-सूची

पुरुष

सम्राट् उदयन	:	कौशाम्बी के अधिपति
यौगंधरायण	:	अमात्य
रुमण्वान	:	सेनाध्यक्ष
शेखरक शंखचूड़	:	राज-सेवक
तथागत	:	महात्मा बुद्ध

स्त्री

वासवदत्ता	:	महादेवी
सामावती	:	देवी, श्रेष्ठिकन्या
मंजुघोषा	:	किरात-कन्या
सुहासिनी	:	सेविका

अन्य

कंचुकी, परिचारिका, प्रतिहारी, संघ के कुछ भिक्षु।

प्रथम अंक

स्थान : विन्ध्य-भूमि का वन प्रान्त, कौशाम्बी के निकट।

समय : सन्ध्याकाल।

[पक्षियों का कलरव और निर्झर की कल-कल ध्वनि। समस्त वातावरण में प्रकृति का एकान्त सौन्दर्य। दो सेवकों का वार्तालाप। वे सम्राट् उदयन के मार्ग के अग्रदूत हैं।]

पहला स्वर : शेखरक! कितना भयानक वन है! यहाँ का मार्ग राजनीति के वाक्यों की भाँति कितना टेढ़ा और घूमा हुआ है! कहीं-कहीं तो इसका चिह्न भी नहीं दीख पड़ता। और मन को उलझाने के लिए किसी मधुर सूक्ति की भाँति यह निर्झर कल-कल करता हुआ न जाने कहाँ से आता है और कहाँ चला जाता है।

शेखरक : बड़ा सुन्दर निर्झर है! महाराज उदयन की वीणा की भाँति इसका नाद कानों को कितना मादक और मोहक लगता है, शंखचूड़! जिस प्रकार महाराज उदयन की कला अपनी गति में थकती नहीं है, उसी प्रकार निर्झर की यह धारा भी कभी थकती नहीं होगी। आओ, थोड़ी देर बैठकर यहाँ विश्राम करें और इस निर्झर के शीतल जल में दिन भर की थकावट बहा दें। कुछ देर के लिए समझ लेंगे कि महाराज उदयन की कला से हम लोग पवित्र हो रहे हैं।

शंखचूड़ : और महाराज के कृपाण की भाँति खिंचा हुआ यह समय कितनी गति से चला जा रहा है, यह नहीं जानते? महाराज पीछे आ रहे हैं। जो कार्य हमें सौंपा गया है, उसे हम प्रकृति के इस सौन्दर्य में नहीं बहा सकते।

शेखरक : महाराज की कला और उनका कृपाण! कितना विचित्र संयोग है। कहना कठिन है कि कौन किससे अधिक प्रखर है! एक गुप्त बात पूछूँ?

शंखचूड़ : देखो शेखरक! हमारा उत्तरदायित्व किसी गुप्त बात के पूछे जाने का अवकाश नहीं रखता। राजनीति की प्रत्येक बात गुप्त है और कर्त्तव्य की पवित्रता गुप्त बातों के विलास में कलुषित नहीं की जा सकती। तुम सम्भवतः अमात्य यौगंधरायण के सम्पर्क में नहीं आए?

शेखरक : यदि अमात्य यौगंधरायण यहाँ होते, तो वे प्रकृति के इस सौन्दर्य में ही किसी राजनीति की कल्पना कर लेते। महादेवी वासवदत्ता···

[वृक्षों की खड़खड़ाहट]

शंखचूड़ : चुप ! कोई आ रहा है।

शेखरक : तुम एक शृगाल के आने से ही चौंक उठते हो, शृगाल ! (**हँस कर**) सम्भवतः वह भी तुम्हारी राजनीति में रुचि रखता है। आओ बैठो, शंखचूड़ ! राजनीति की बातों से तुम्हारा मन भारी हो गया है। इस निर्झर में अपने पैर धोकर अपने मन को कुछ हल्का कर लो। (**गहरी साँस लेकर निर्झर के जल से क्रीड़ा करता हुआ बैठता है**) कितना शीतल जल है ? इसे पीने के बाद सम्भवतः जीवन भर प्यास न लगे ! ओ हो ! इस जल में तो मछलियाँ भी हैं। देखो, देखो, शंखचूड़ ! कितनी सुन्दर मछली है, तुम्हारी राजनीति की भाँति यह मुँह खोलती है, किन्तु कोई ध्वनि नहीं सुन पड़ती।

शंखचूड़ : (**जैसे कुछ आगे बढ़ गया हो**) शेखरक ! मैं अमात्य यौगंधरायण से निवेदन करूँगा कि तुम विश्वस्त दूत के पद के योग्य नहीं हो। मैं जाता हूँ, तुम यहीं बैठे रहो।

शेखरक : सुनो, शंखचूड़ ! एक क्षण के लिए रुक जाओ। तुमने महाराज के कृपाण के आदर्श को तो समझा है, किन्तु कला के आदर्श को तुम नहीं समझ सके। वह देखो ! पूर्व क्षितिज की ओर उठता हुआ धुआँ। क्यों शंखचूड़ ! तुम्हारे न्याय के अनुसार जहाँ धुआँ होगा, वहाँ अग्नि होगी, जहाँ अग्नि होगी, वहाँ मनुष्य होगा। इस भीषण वन में भी कोई निवास कर रहा है क्या ? अरे, रुको शंखचूड़ ! मेरी गुप्त बात का समाधान तो रह ही गया !

शंखचूड़ : (**बात काटता हुआ**) तुम अपनी गुप्त बात इसी वन में रहने वाले किसी व्यक्ति से पूछो। मैं आज ही अमात्य यौगंधरायण से···

शेखरक : (**बात काटता हुआ**) तुम यौगंध की सौगंध कितनी बार खाओगे, शंखचूड़ ? मैं समझ लेता हूँ कि पूर्व की यह धूम-राशि तुम्हारी किसी प्रेयसी की बिखरी हुई केशराशि है, जिसे छोड़कर तुम राजनीति के पथ पर आगे बढ़ गये हो। अच्छा, ठहरो, ठहरो ! मैं अभी आता हूँ। (**आगे बढ़कर**) मैं नहीं जानता था कि तुम महाराज उदयन के सेवक होकर सौन्दर्य का इस प्रकार तिरस्कार कर सकते हो।

[शंखचूड़ कुछ नहीं बोलता]

शेखरक : (**शंखचूड़ के निकट आकर**) बुरा मान गए, शंखचूड़ ! अच्छा, अब किसी प्रकार का परिहास नहीं करूँगा। मैं राजनीति के दर्पण में ही अपना

मुख देखूँगा। पर यह तो बताओ कि विन्ध्यभूमि को जीतने के लिए हमारे सेनापति विजयसेन को गए आज सात दिन बीत गए, और अभी तक विजय प्राप्त नहीं हुई। किस ज्योतिषी ने उनका नाम विजयसेन रक्खा था ?

शंखचूड़ : राजनीति का ज्योतिष से कोई सम्बन्ध नहीं है, शेखरक ! ज्योतिष कल्पना है और राजनीति सत्य। इसी सत्य को जानने के लिए तो हमें शीघ्र ही आगे बढ़ना है। (**जिज्ञासा के स्वरों में**) कोई स्त्री ! यह कौन है जो इतनी शीघ्रता से हमारा अनुसरण कर रही है ? इसे ही तो तुम कहीं शृगाल नहीं समझ बैठे थे ?

[पग-ध्वनि के साथ पत्तों का 'चरमर' स्वर बढ़ता जाता है]

शेखरक : (**हँसकर**) तुम कदाचित् अपनी स्त्री को शृगाल ही समझते होगे ! (**हल्की हँसी**) तुम नहीं समझते शंखचूड़ ! इसीलिए तो मैं निर्झर के समीप बैठना चाहता था कि उस स्त्री से दो क्षण कुछ बातें होतीं। निर्झर की बहती हुई लहरों में उसका प्रतिबिम्ब सौगुना सुन्दर होता। जलराशि में तरंगित होता हुआ उसका रूप ऐसा लगता कि पृथ्वी में स्वर्ग निवास कर रहा है। निर्झर की शोभा में उसका सौन्दर्य ! जैसे निर्झर की काँपती हुई ग्रीवा में स्वर्ण का कंठहार हो। (**फिर गहराई से देखकर**) उसके हाथ में कृपाण भी है।

शंखचूड़ : (**व्यंग्य से**) तुम अपनी कला की रक्षा करो, शेखरक ! किन्तु इस भीषण वन में यह कौन स्त्री है ? इसे भयानक जन्तुओं का भय नहीं है ?

शेखरक : तुम्हें देख लेने के बाद उसे किसी भयानक वस्तु का भय नहीं हो सकता, शंखचूड़ ! तुम्हारी राजनीति के नख किसी भी सिंह के नखों से अधिक गहरे चुभने वाले हैं !

शंखचूड़ : व्यंग्य का अवसर नहीं है, शेखरक ! देखो, वह स्त्री पास आ गई है।

स्त्रीकंठ : (**दूर से निकट आते हुए**) क्रूर ! हिंसक !! पशु !!! वहीं खड़े रहो। यदि एक पग भी आगे उठा तो मेरा यह कृपाण तुम दोनों के मस्तकों को शरीर से अलग कर देगा।

शंखचूड़ : (**काँपते हुए, धीरे से**) अब ले जाओ इसे निर्झर के समीप, शेखरक !

स्त्री : (**निकट आकर**) क्या कहा ?

शेखरक : यह कह रहे हैं देवि !···ये यही कह रहे हैं कि हम लोगों का रक्त निर्झर की भाँति प्रवाहित होगा। किन्तु अपने कृपाण का प्रयोग करने के पूर्व हमें अपने निर्दोष वाक्यों के प्रयोग का अवसर तो दीजिए।

स्त्री : तुम लोग निर्दोष हो ? तुमने अपने धनुष-बाण कहाँ छिपा रक्खे हैं ? मेरी निरीह सारिका के कोमल प्राणों में आग लगाकर तुम अपने वाक्यों का

शीतल जल प्रयोग करना चाहते हो ? कहाँ है तुम्हारा धनुष ? कहाँ है तुम्हारे बाण ? देखूँ, तुम्हारे बाणों में अधिक तीक्ष्णता है या मेरे इस कृपाण में।

शंखचूड़ : क्षमा हो, देवि ! हम लोगों की राजनीति में तुम्हारी सारिका का कोई स्थान नहीं है।

स्त्री : मूर्ख ! राजनीति का बेचारी सारिका से क्या सम्बन्ध ?

शेखरक : देवि ! क्षमा करें। आर्य शंखचूड़···इनका नाम शंखचूड़ है, देवि ! ये अपने प्रत्येक कार्य में अमात्य यौगंधरायण का अनुसरण करते हैं। इसलिए इनके हँसने और बोलने में भी राजनीति है। मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। आपकी सारिका···आप सारिका के सम्बन्ध में कुछ कह रही थीं ?

स्त्री : उस सारिका को नहीं जानते, जिसके फूल-से प्राण में तुम्हारे बाण ने आग लगा दी है ? किस प्रकार एक क्षण में उसका अन्त हो गया ! उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? प्रातः-सायं कितने मधुर स्वर से गान करती थी। संगीत की सारी कला उसके कलरव में अमृत होकर बरसती थी। क्रूर ! निर्दयी ! ! यदि प्राण लेने का आग्रह था तो किसी हिंसक व्याघ्र के प्राण लिए होते। यदि उससे भय लगता तो तुम मेरे प्राण ले सकते थे, आखेटक ! किन्तु तुम कायर हो। बाण-विद्या का अपमान करने वाले ! कहाँ हैं तुम्हारे बाण ? एक-दूसरे के निर्मम हृदयों में मार कर आत्महत्या करो। आज उस सारिका का रक्त पीकर उन्मत्त बने हुए राक्षसो ! मैं प्रतिशोध लेने आई हूँ। कहाँ हैं तुम्हारे धनुष-बाण ? प्रयोग करो।

शंखचूड़ : शान्त हो, देवि ! प्रतिशोध लेने में भी शान्ति की आवश्यकता होती है···

स्त्री : राजनीति के कीड़े ! मेरे परिवार के पुष्प को खाकर अपने को कोमलता के आवरण में लपेटना चाहता है ?

शेखरक : देवि ! हम लोग अमात्य यौगंधरायण के दूत हैं। हम लोग संदेश-वहन करते हैं, निरीह जीवों के प्राणों का अपहरण नहीं। हमारे पास धनुष-बाण नहीं हैं। और यदि हमारे पास धनुष-बाण होते तो आखेट के अनन्तर हमें किसका भय हो सकता था ?

स्त्री : तो तुम लोगों ने बाण नहीं चलाया ?

शंखचूड़ : नहीं। हमारे पास धनुष-बाण ही नहीं हैं। यदि हम लोगों में से किसी के पास धनुष-बाण हैं, तो देवि ! वे तुम्हारे पास हैं। तुम्हारी जिह्वा धनुष बनकर वाक्य-बाणों का संधान कर रही है। अमात्य यौगंधरायण कहते थे कि स्त्री जब क्रोधित होती है···

स्त्री : तो वह ज्वालामुखी बन जाती है। किसी के परिवार का व्यक्ति उसके सामने तड़पकर मरे, और उसकी भावनाएँ ज्वालामुखी न बन जाएँ ! इस वन में कौन दूसरा व्यक्ति है, जो मेरी सारिका के प्राणों को अपने बाण के साथ ले जा सकता है ? मैं तुम्हारे अमात्य की सेवा में अभियोग उपस्थित करूँगी। क्या नाम है तुम्हारा ?

शंखचूड़ : इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है। मेरा नाम शंखचूड़ है, जो तुम सुन ही चुकी हो।

शेखरक : और मेरा नाम? मेरा नाम शेखरक है, देवि ! बहुत दुःख है कि आपकी सारिका इस प्रकार निहत हो गई। देखो, यह निर्झर बह रहा है। उसके किनारे थोड़ी देर बैठकर विश्राम करें, इससे आपका उदग्र हृदय शान्त होगा। आपका आश्रम कहाँ है ? यदि मेरी आवश्यकता हो तो मैं आपका अंगरक्षक बनकर आपके कृपाण का बोझ वहन करूँ यदि उचित समझें तो अमात्य तक आपको पहुँचा दूँगा। और देवि ! उस अपराधी का पता लगा दूँगा, जिसने आपकी सारिका का वध किया है। कितनी अच्छी होगी आपकी सारिका। देवि ! मुझे बहुत दुःख है। मैं आपका शुभ नाम जान सकता हूँ ?

स्त्री : चुप रहो, पुरुष ! मैं तुम्हारा प्रलाप नहीं सुनना चाहती। उलझन में डालने वाली बातों को मैं कृपाण से ही सुलझाती हूँ, छद्मवेशी पुरुष, यदि तुम वास्तव में अमात्य यौगंधरायण के दूत हो, तो स्पष्ट बात कहो। इस वन-प्रान्त में इस निर्झर की भाँति रक्तधारा का दूसरा निर्झर प्रवाहित होने दो। वह चाहे मेरे रक्त का हो, चाहे तुम दोनों के रक्त का।

शंखचूड़ : हमें रक्त का निर्झर बहाने या बहाये जाने का अवकाश नहीं है। अपने अभियुक्त को अन्यत्र खोजो। हमें विलम्ब हो रहा है। यदि हम लोगों के कार्य में असफलता हुई तो मैं तुम्हारे विरुद्ध अभियोग लगा दूँगा। तुम राजनीतिक कार्यों में बाधा डालती हो। चलो शेखरक ! बहुत विलम्ब हो गया। अमात्य आते ही होंगे।

स्त्री : अमात्य यौगंधरायण ? इस ओर आ रहे हैं ? एक बार मैंने उनके दर्शन किए हैं। तब इसी समय यह अभियोग उपस्थित होगा। उनके आने तक तुम्हें रुकना होगा।

शंखचूड़ : जब हम लोग अपराधी ही नहीं हैं तो हमें भय किस बात का ? किन्तु यह ध्यान रखो, देवि ! तुम्हारे आवेश से राजनीतिक कार्यों की दिशा नहीं बदल सकती। अमात्य के मार्ग में हम लोगों को अग्रसर होकर ही चलना होता है।

स्त्री : अमात्य के सेवको ! तुम लोग अन्याय करते हुए उनका पथ प्रशस्त नहीं कर सकते। तुम लोगों के रुकने पर ही अमात्य की गति रुकेगी और तब मेरा

अभियोग और भी अधिक स्पष्ट होगा।

शेखरक : यों तो आपके समीप जितनी अधिक देर ठहरें, उतना ही अच्छा होगा। किन्तु इस समय क्षमा करें। आपका अभियोग यदि प्रामाणिक होगा, तो महाराज उदयन की शक्ति, नाम और व्यक्ति को पहचानती है। हम लोग चाहे जहाँ रहें, दण्ड से मुक्त नहीं हो सकते।

शंखचूड़ : और तुम्हें हम लोगों का नाम तो स्मरण होगा ही ?

स्त्री : शंखचूड़ और······ (**स्मरण करते हुए**) शेखरक ! जाओ, इस क्षण मुक्त करती हूँ। मैं इसी समीप के वृक्ष के नीचे अमात्य का मार्ग देखूँगी। (**प्रस्थान**)

शेखरक : शंखचूड़ ! तुम्हारी राजनीति मेरे जीवन का अभिशाप है। मेरी अभिलाषाओं का कमलदल तुम्हारी राजनीति के तुषार से मुर्झाने के लिए ही खिलता है। क्यों शंखचूड़ ! तुम्हारे प्रेम के प्रसंग भी तो राजनीति के सूत्रों से संचालित होंगे।

शंखचूड़ : चुप रहो, शेखरक ! बहुत विलम्ब हो गया। इस भयानक स्त्री ने हमारे कार्य में कितनी बाधा पहुँचा दी।

शेखरक : ठीक है, शंखचूड़ ! मैं समझता हूँ कि अमात्य यौगंधरायण के पश्चात् तुम्हें अमात्य-पद प्राप्त होगा।

शंखचूड़ : क्या असम्भव है ? राजनीति व्यक्ति को नहीं देखती, अपनी सिद्धि को देखती है। शीघ्र चलो, शेखरक ! महाराज के आने का शब्द सुन पड़ रहा है।

शेखरक : चिन्ता की बात नहीं है शंखचूड़ ! वह स्त्री महाराज का मार्ग रोककर उनका यथेष्ट समय ले लेगी। तब तक हम लोग बहुत आगे बढ़ जाएँगे।··· स्त्री। कितनी भयानक है, शोभा उसकी ! शंखचूड़ ! यदि ऐसी स्त्री तुम्हें मिल जाए, तो तुम क्या करो ?

शंखचूड़ : मेरी स्त्री इससे भी अधिक भयानक है। कहाँ तक पूछोगे ? सर्प-दंशन पर वृश्चिक का डंक कष्टप्रद नहीं होता। राजनीति कहती है···

शेखरक : शंखचूड़ ! तुमने स्त्री के स्थान पर यदि राजनीति से विवाह किया होता, तो अच्छा होता। वार-बार राजनीति, राजनीति (**साँस लेकर**) आह ! उस स्त्री में अपना नाम भी नहीं बताया। किस नाम से उसका स्मरण किया जाएगा ?

शंखचूड़ : तुम जाकर उससे पूछ आओ। मैं तो आगे बढ़ता हूँ।

शेखरक : क्या, पूछ आऊँ ? मुझे तो तुम्हारे साथ चलना ही है। चलूँगा। अपना हृदय पीछे छोड़कर तुम्हारे साथ आगे बढ़ूँगा। (**धीरे से**) हाँ, मेरी गुप्त बात का उत्तर तो रह ही गया। हमारे महाराज ने यह छद्मवेश क्यों धारण

किया है ? तुम्हारी राजनीति तो यह जानती होगी ?

शंखचूड़ : इन्होंने इसलिए छद्मवेश धारण किया है (**सहसा**)······कहीं वह स्त्री न सुन ले। चलो, आगे बतलाऊँगा।

[शेखरक पीछे की ओर देखता है]

शंखचूड़ : पीछे की ओर देखते हुए आगे का मार्ग नहीं चला जा सकता। सामने देखो, शेखरक !

शेखरक : धैर्य रखो ! मैं सिंहावलोकन करता हुआ चलता हूँ। (**प्रस्थान**)

[दो क्षणों तक सन्नाटा। उसके बाद समीप आती हुई। पग-ध्वनि। यौगंधरायण के साथ छद्मवेश में सम्राट का प्रवेश)

यौगंधरायण : महाराज ! हम लोगों को इस वन-पथ पर चलते हुए यथेष्ट समय हो चुका है। आप थक गए होंगे।

उदयन : यौगंधरायण ! इस विशाल वट-वृक्ष को तुमने देखा ? यह किसी चक्रवर्ती नरेश जैसा ज्ञात होता है। अपनी अनन्त भुजाओं से इसने इस वसुन्धरा को कितनी शक्ति से बाँध रखा है। इसकी प्रत्येक भुजा स्वतन्त्र वृक्ष बनी जा रही है। यह शक्ति का सौन्दर्य, अचलता का प्रतीक, अपने विस्तार का यह आदर्श, किसी भी नरेश के लिए अनुकरणीय है।

यौगंधरायण : सत्य है महाराज ! आप इसी वृक्ष के नीचे विश्राम करें।

उदयन : और यौगंधरायण ! इस वृक्ष पर कितने पक्षी निवास करते हैं ! वायु-मण्डल की असंख्य प्रजा। कितने मधुर कण्ठ से कलरव करते हैं, जैसे मेरी हस्तिस्कंध वीणा एक-एक पक्षी के कण्ठ में निवास कर रही है। इस विशाल परिवार के जीवन में कितनी स्वच्छन्दता है। ऊपर मुक्त आकाश है, जो स्वयं वट-वृक्ष सा है, जिस पर सन्ध्या समय राशि-राशि तारक-समूह अपना नीड़ बनाकर विश्राम करते हैं। मैं भी इन्हीं पक्षियों में से कोई पक्षी होता। किसी भी शाखा पर नीड़ बनाकर रहता। कण्ठ की वीणा पर हृदय का आनन्द गुंजरित करता और मुक्त आकाश के हृदय में आकाश-गंगा की भाँति अपनी स्वरलहरी प्रवाहित कर देता।

यौगंधरायण : आपका संगीत अद्वितीय है।

उदयन : यह संगीत मेरा नहीं है, यौगंधरायण ! यह संगीत मानवता के अनन्त विकास का स्वर है, जिसे मुखरित करने के लिए मेरी वीणा का एक-एक तार सजीव हो उठता है।

यौगंधरायण : यह आपकी कला है महाराज ! जिससे जड़ भी चेतन हो जाता है।

उदयन : कौन कहता है कि वह जड़ चेतन नहीं है ? हमने अपनी अहंमन्यता में प्रकृति को जड़ मान लिया है। जिस निर्झर को हम अभी पार करके आ रहे हैं, वह निर्झर किस प्रेम-प्रवाह से कम है ? क्या उसके प्रवाह पर सौन्दर्य का इतिहास लिखने वाली लहरें प्रेम की स्मृतियों से कम आकर्षक हैं ?

यौगंधरायण : महाराज ! आपकी कला-दृष्टि न जाने कितने चित्रों में रंग भरती है।

उदयन : ऋतुओं का रंग उससे भी अधिक मोहक है, यौगंधरायण ! इस वन-प्रान्त में सभी ऋतुएँ आती हैं। प्रत्येक ऋतु आकर इस वन को इच्छानुसार अपने रूप में उतार लेती है ?

यौगंधरायण : जिस प्रकार आपने इस साम्राज्य को ऋतुओं के अनुरूप अपनी कला और कृपाण में उतार लिया है ?

उदयन : और मेरा यह धनुष-बाण।

यौगंधरायण : यह आपके कृपाण से कम नहीं है। शब्द-बेधी बाण की कला आपके समीप आकर दिशाओं की गहराई नापने में समर्थ हो सकी।

उदयन : बहुत दिनों के अनन्तर मैंने अपने हाथों में धनुष-बाण लिया। परीक्षा के लिए दूर से आते हुए किसी पक्षी के शब्द पर मैंने बाण का प्रयोग किया। कह नहीं सकता कि बाण अपने लक्ष्य पर पहुँचा या नहीं।

यौगंधरायण : अवश्य पहुँचा, महाराज ! कदाचित् महाराज ने ध्यान नहीं दिया। आपका बाण छूटने के दो क्षण अनन्तर क्या उस पक्षी का स्वर विकृत नहीं हो गया था, जो धीरे-धीरे शून्य में विलीन हो गया।

उदयन : मैं उस समय अपने बाण की गति पर विचार कर रहा था। मुझे उसका प्रयोग पक्षी पर नहीं करना था।

यौगंधरायण : समीप की दिशाओं में अब शत्रु ही कहाँ हैं, जिनके लक्ष्य पर आपका शब्द-बेधी बाण अग्रसर होता ? और सामान्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए विजयसेन जैसे सेनापति पर्याप्त हैं।

उदयन : वे पर्याप्त हैं या नहीं, इसी का परीक्षण करने के लिए तो हमें भयानक वनों के मध्य से छद्मवेश में जाना पड़ता और ये वृक्ष, ये लताएँ जैसे हमारा मार्गदर्शन करने के लिए···

[स्त्री का शीघ्रता से प्रवेश]

स्त्री : तुम्हारे जीवन का मार्गदर्शन मुझे कराना है, आखेटक ? (**यौगंधरायण की ओर देखकर**) महाराज उदयन के महामात्य हैं ? प्रणाम करती हूँ। मेरा न्याय कीजिए, महामात्य ! मेरा न्याय कीजिए ! (**करुण स्वर में**) मेरा न्याय कीजिए। यही···यही···यही वह क्रूर बधिक है, जिसने मेरी सारिका

को अपने बाण से बेध दिया है।

यौगंधरायण : सावधान, नारी ! तुम्हें बोलने में मर्यादा हो।

स्त्री : मैं मर्यादा में ही हूँ, महामात्य ! मेरी करुणा जिस सीमा तक पहुँची है, उसका अनुमान क्या इस आखेटक को होगा ? यदि मेरे हाथ में धनुष-बाण होता और इस आखेटक के हाथ में इसके प्राणों से भी प्रिय सारिका होती, और जब वह मेरे बाण से क्षत-विक्षत होकर धराशयी होती, तब क्या इसका हृदय मेरे हृदय से अधिक विचलित न होता ? मैं आपसे न्याय की प्रार्थना कर रही हूँ। आप क्यों इस व्यक्ति का पक्षपात कर रहे हैं ? यह कौन है ? इसने हत्या की है। हत्या की है, मेरी प्रिय सारिका की।

यौगंधरायण : हत्या की है ? कैसी हत्या ?

स्त्री : इस वन-प्रान्त के पूर्व में मेरी एक छोटी-सी कुटी है। उसके द्वार पर एक काष्ठ-खंड पर बैठी हुई मेरी सारिका। वही सारिका। जो प्रतिक्षण अपने संगीत से मेरी कुटी को स्वर्ग बनाती थी, बैठी हुई मधुर स्वर में बोल रही थी। उसी क्षण यह बाण आकर उसके कंठ में लगा, जिसे मैं उसके शरीर से निकाल कर यहाँ ले आई हूँ। वह सारिका रक्त का निर्झर बहाती हुई धराशायी हो गई।

उदयन : तुम्हारी सारिका को मेरा बाण लगा है ? यह तुम कैसे कह सकती हो कि तुम्हारी सारिका को मेरा ही बाण लगा है ?

स्त्री : मेरा घर जलाकर मुझसे पूछता है कि किस चिनगारी से मेरे घर में आग लगी है ? तू अपने बाणों की ओर दृष्टि डाल। देख, तेरे पास के बाणों से यह बाण क्या किसी प्रकार भिन्न है ? तू अपने बाणों का प्रयोग मुझ पर कर। यदि तेरे बाणों की प्यास मेरी सारिका के रक्त से न बुझी हो, तो मेरे रक्त से बुझा ले।

यौगंधरायण : दूर हट जा, नारी ! तू नहीं जानती कि तू किसके सम्बन्ध में बात कर रही है।

स्त्री : क्रूर, निर्दयी इसी आखेटक के सम्बन्ध में जो अमात्य की कृपा का बल पाकर क्रूर काल की भाँति इस वन के निरीह प्राणियों को खा लेना चाहता है। मेरा न्याय कीजिए, महामात्य ! मेरा न्याय कीजिए, अन्यथा मैं कृपाण का प्रयोग करूँगी।

उदयन : शान्त देवि ! तुम्हारे अमात्य तो तुम्हारा न्याय करेंगे ही, किन्तु यदि मैं स्वयं अपने अपराध का न्याय करूँ तो तुम्हें स्वीकार होगा ?

स्त्री : अत्याचारी भी न्याय कर सकता है ? यदि न्याय का ध्यान होता तो तू बाण का प्रयोग ही क्यों करता ?

उदयन : बाण का प्रयोग बुरा नहीं है, देवि ! उस बाण का प्रयोग बुरा है, जो

अपने लक्ष्य पर नहीं जाता। उस बाण का प्रयोग भी बुरा है जिसका लक्ष्य अज्ञात है।

स्त्री : बातों का इन्द्रजाल रचने वाले, आखेटक! मैं तुमसे बात नहीं करना चाहती, मैं महामात्य के सामने अपना अभियोग रख रही हूँ।

यौगंधरायण : विचित्र अभियोग है। इस अभियोग का निर्णय तो महाराज उदयन ही कर सकते हैं। मैं महाराज की सहायता अवश्य कर सकता हूँ।

स्त्री : अब मुझे विश्वास हो गया कि महामात्य इस आखेटक का पक्ष ले रहे हैं।

यौगंधरायण : अपनी वाणी पर नियन्त्रण रक्खो, नारी! नहीं तो राजद्रोह के अपराध में तुम कारागार में डाल दी जाओगी।

स्त्री : कारागार क्या? मेरी हत्या कर दो! तुम्हारे न्याय में प्राणों का मूल्य ही क्या है? मेरी सारिका की हत्या की गई, अब मेरी हत्या कर दो।

यौगंधरायण : हत्या सामान्य अपराध नहीं है, नारी! जो भी हत्या करेगा, न्याय उसे मुक्त नहीं कर सकता।

स्त्री : तब तो पहले मेरा न्याय हो। यदि आपको मेरा न्याय करने से आपत्ति हो, तो मैं महाराज उदयन के समक्ष अपना अभियोग उपस्थित करूँगी। महाराज उदयन का न्याय सबसे श्रेष्ठ न्याय है। पर वे इतने महान् हैं कि मुझ अभागिनी की करुण गाथा सुनने के लिए उनके पास समय कहाँ होगा।

उदयन : मैं जानता हूँ, देवि! वे सब कार्यों के लिए समय निकाल लेते हैं।

स्त्री : तुम उन्हें जानते हो? उनके भी कृपा-पात्र ज्ञात होते हो तुम? तब मेरा न्याय नहीं हो सकेगा, किसी प्रकार भी नहीं हो सकेगा।

उदयन : न्याय तो अवश्य होगा, देवि! तुम अपना अभियोग महाराज उदयन के समीप अवश्य ले जाओ। किन्तु यदि यह अपराधी तुम्हारी आज्ञा को ही महाराज की आज्ञा मानकर दण्ड स्वीकार कर ले, तो तुम्हें कुछ आपत्ति होगी? आज्ञा दो, तुम्हारा दण्ड मुझे किस प्रकार स्वीकार करना है।

स्त्री : मैं तुम्हें दण्ड दूँ? **(सोचते हुए)** क्या दण्ड दूँ।

यौगंधरायण : तुम्हारा नाम क्या है, देवि?

स्त्री : मेरा नाम? न्याय करने में नाम की क्या आवश्यकता है? किन्तु मेरा नाम···मेरा नाम मंजुघोषा है।

यौगंधरायण : मंजुघोषा! तुम्हारा नाम बड़ा सुन्दर है। कितना अच्छा होता कि तुम्हारा अभियोग तुम्हारे नाम के ही अनुरूप होता।

मंजुघोषा : इसका उत्तर इस बाण से पूछिए, जिसका विष इतना भयानक है कि उसने क्षणमात्र में मेरी सारिका के प्राण ले लिए। यदि मुझे न्याय की आशा करनी है तो मेरा अभियोग इस बाण की नोक से प्रखर होना चाहिए।

उदयन : यदि यह अभियोग वाणी से न भी कहा जाए तो भी इसकी प्रखरता में किसी प्रकार की कमी नहीं आ सकती। तुम स्वयं निर्णय करो, देवि कि मेरे बाण से सारिका की मृत्यु होने पर मुझे क्या दण्ड सहन करना होगा ?

मंजुघोषा : तुम्हारे बाण तीक्ष्ण हैं, किन्तु तुम्हारी वाणी कोमल है। और···और तुम्हारे मस्तक का यह चिह्न सूचित करता है कि तुम भी कभी क्षत-विक्षत हुए होगे। इसीलिए तुम्हारी वाणी में कोमलता और सहानुभूति है। यदि यह सत्य हो, तो बोलो, मेरा न्याय कर सकोगे ? मेरा न्याय ? मेरी सारिका को पुन: जीवित करो। कर सकते हो ? (**व्यंग्य**)

उदयन : यह न्याय तो महाराज उदयन भी नहीं कर सकते। गए हुए प्राण किस प्रकार लौटाए जा सकते हैं, देवि ?

मंजुघोषा : तो न्याय का दम्भ मत करो। सामान्य आखेटक होकर न्यायकर्ता का महत्त्व धारण करना चाहते हो ?

उदयन : आत्म-समर्पण सबसे बड़ा न्याय है देवि ! मैं सारिका के प्राण नहीं लौटा सकता, किन्तु उसके स्थान पर अपने प्राण तो दे सकता हूँ।

मंजुघोषा : (**व्यंग्य से**) निरीह प्राणियों का वध करने वाला आखेटक अपने प्राण दे सकता है ! ये छद्मवेशी शब्द व्यर्थ हैं।

उदयन : (**कृत्रिम रोष से**) अविश्वासिनी नारी ! सारिका के प्राणों के समक्ष मनुष्य के प्राणों को तुच्छ समझती है ? तुझे मेरे आत्म-समर्पण में विश्वास नहीं है। तब जा, महाराज उदयन से न्याय की भिक्षा माँग। मैं वचन देता हूँ कि कल प्रातः महाराज उदयन के न्याय-कक्ष में उपस्थित होऊँगा और मैं भी एक अभियोग उपस्थित करूँगा।

मंजुघोषा : आ गए न अपने वास्तविक रूप में आखेटक ! मैं जानती थी कि प्राण-समर्पण की वाणी छद्मवेशी वाणी थी। मैं भी सुनूँ, तुम महाराज उदयन के न्याय-कक्ष में कौन-सा अभियोग लेकर जाओगे ?

उदयन : तब सुनो, नारी ! मैं यह अभियोग ले जाऊँगा कि जिस प्रकार किसी बधिक के तीर से सारिका के प्राण नष्ट हो सकते हैं; नारियों की दृष्टि पर भी प्रतिबन्ध होना चाहिए।

मंजुघोषा : अपनी सीमा में रहो। तुम नारी का अपमान नहीं कर सकते।

उदयन : तो तुम भी किसी आखेटक का अपमान नहीं कर सकती। धनुष उसका पौरुष है, बाण उसकी शक्ति है।

मंजुघोषा : महामात्य ! आप इस आखेटक की अशिष्टता पर भी मौन हैं ? यह आखेटक विचित्र है। यह पक्षियों का ही नहीं, नारियों का भी आखेट करता है। और, यह मेरा दूसरा अभियोग होगा। मैं कल महाराज उदयन की सेवा

में अवश्य ही जाऊँगी। मेरी एक प्रार्थना मानेंगे, महामात्य ! जब तक न्याय न हो जाए, तब तक आप इस आखेटक को अपने निरीक्षण में रखें।

यौगंधरायण : यदि चाहो तो तुम्हीं इन्हें अपने निरीक्षण में रख सकती हो, मंजुघोषे !

उदयन : सुनो, नारी ! जब तुम्हें अमात्य पर पक्षपाती होने का सन्देह है, तो मुझे नियन्त्रण में रखने की प्रार्थना उनसे क्यों कर रही हो ? मैं तुम्हें वचन दे चुका हूँ कि कल न्याय-कक्ष में उपस्थित होऊँगा। मैं नहीं जानता था कि नारी विश्वास करना नहीं जानती।

मंजुघोषा : तुम सामान्य आखेटक नहीं ज्ञात होते। देखूँगी कि तुम्हारे शब्दों का यह कौशल महाराज उदयन के समक्ष कहाँ तक सफल होता है। जाओ, कल मैं महाराज की सेवा में अभियोग लेकर जाऊँगी। कल यदि तुम उपस्थित हो गए, तो समझूँगी कि पुरुष भी अपनी बात का धनी होता है। जाओ, अन्य सारिकाएँ तुम्हारे बाणों की प्रतीक्षा कर रही होंगी। (**धीमे स्वर में**) क्रूर ! हिंसक ! आखेटक ! कल न्याय की विजय होगी। (**प्रस्थान**)

यौगंधरायण : चलिए, महाराज। आपने आखेटक का अभिनय अत्यन्त कुशलता से किया। (**हल्की हँसी**)

उदयन : (**नारी के जाने की दिशा में देखते हुए**) तीव्रगति से जा रही है। अमात्य ! किन्तु तुमने मेरा पक्ष ग्रहण कर ठीक नहीं किया। तुम पक्षपाती घोषित कर दिए गए।

यौगंधरायण : महाराज ! मैंने जान-बूझकर ऐसा किया। यदि ऐसा न करता, तो उसे आपसे बातें करने का अवसर कैसे मिलता ! यदि मैं पक्षपाती न होता, तो वह मुझे इसी समय न्याय करने को बाध्य करती और तब मेरा न्याय महाराज की मर्यादा का स्पर्श नहीं कर सकता था।

उदयन : तुम अत्यन्त कुशल नीतिज्ञ हो, यौगंधरायण ! किन्तु यह नारी भी सच्चे अर्थों में नारी है।

यौगंधरायण : कल तो आप उसका न्याय करेंगे ही। यह एक कौतुक होगा कि किस प्रकार आपकी नीति से उसकी वाणी का कृपाण कुंठित होगा।

उदयन : न नीति कुंठित होगी, न कृपाण। सम्भव है दोनों का योग हो।

यौगंधरायण : महाराज नीति और कृपाण की गति जानते हैं।

[शंखचूड़ और शेखरक का प्रवेश]

शंखचूड़ : महाराज की जय हो ! अभी सूचना प्राप्त हुई है कि सेनापति विजयसेन विन्ध्यभूमि पर विजय प्राप्त कर शीघ्र ही महाराज की सेवा में उपस्थित होंगे।

उदयन : साधु ! अमात्य ! इस विजय पर मैं तुम्हें बधाई देता हूँ ।

यौगंधरायण : महाराज के कृपाण का ही बल है कि एक सप्ताह में ही समस्त विन्ध्यभूमि विजित हुई । शंखचूड़ और शेखरक ! तुम आज इसी वन-प्रान्त में विश्राम करोगे । इस स्थान के पूर्व में एक कुटी है । उसमें एक नारी निवास करती है । कल वह महाराज की सेवा में एक अभियोग लेकर उपस्थित होगी । तुम्हें उसकी गतिविधियों पर दृष्टि रखनी है ।

शेखरक : एक व्यक्ति को अग्रदूत का कार्य भी करना है । इसलिए शंखचूड़ की आपको आवश्यकता होगी, श्रीमन् ! यह सेवक ही उस अभियोग की गति-विधि पर दृष्टि रखने के लिए पर्याप्त है ।

यौगंधरायण : तुम सत्य कहते हो ! एक ही व्यक्ति पर्याप्त होगा । किन्तु शंखचूड़ निरीक्षण के कार्य पर नियुक्त होगा और तुम हमारे अग्रदूत बनोगे ।

शेखरक : (**ठण्डी साँस लेकर**) जैसी आज्ञा, श्रीमन् ! (**प्रस्थान**)

[यवनिका पतन]

द्वितीय अंक

समय : प्रातः

[शुक और सारिकाओं के शब्द, जो स्वर्ण-पिंजरों में निवास कर रहे हैं । महादेवी वासवदत्ता सुघोषवती वीणा के तारों में क्षण-क्षण पर कुछ नये सरगमों का विन्यास कर रही हैं । दो क्षण रुक कर तारों में नया सरगम, फिर रुक कर दूसरा राग निकालने का यत्न करती हैं । सेविका सुहासिनी का प्रवेश]

सुहासिनी : महादेवी की जय हो । महाराज कक्ष में आ रहे हैं ।

वासवदत्ता : सुहासिनी, तू है ! इस स्वर-लहरी में तो ऐसी लीन हो गयी थी कि तुझे देख ही नहीं सकी । क्या कहा ? आर्य आ रहे हैं ? मैं तो बहुत देर से उनकी प्रतीक्षा कर रही हूँ । मैं तो उनके आगमन की ध्वनि अपनी वीणा के तारों से निकालने की चेष्टा कर रही थी ।

सुहासिनी : महादेवी की जय हो ! महाराज यहाँ शीघ्र ही आ जाते । किन्तु वे कक्ष-द्वार के स्वर्ण-पिंजर में बैठी हुई सारिका को देखकर न जाने क्यों कुछ देर के लिए रुक गए । अनिमेष नेत्रों से वे सारिका को देखते रहे, फिर उन्होंने

एक ठण्डी साँस लेकर दूर क्षितिज की ओर देखा और सिर झुकाकर न जाने किन विचारों में लीन हो गए।

वासवदत्ता : सारिका की ओर अनिमेष दृष्टि से देखते रहे ? क्यों ? इस कक्ष में आते समय पहले कभी तो सारिका पर इतना ध्यान नहीं दिया।

सुहासिनी : आपकी सतर्क दृष्टि महाराज को किसी की ओर देखने का अवसर नहीं देती। शंका न करें, देवि ! वह तो निरीह पक्षिणी है किन्तु क्या जानूँ, महादेवी ! कि आज ही सारिका के प्रति उनके हृदय में इतनी करुणा कैसे उत्पन्न हो गयी ! महाराज का हृदय इतना संवेदनशील है, कि घटना का छोटा-सा अंकुर उनके हृदय में विशाल वट वृक्ष बन जाता है।

वासवदत्ता : मैं जानती हूँ सुहासिनी ! मेरे पिताश्री के यहाँ जब बन्दी होकर आए थे, उस अवस्था में भी उनके हृदय में कितनी विशालता थी। उनसे वीणा-वादन की शिक्षा ग्रहण करते समय मैं तो उनकी ओर अनिमेष दृष्टि से देखती ही रह जाती थी। (**ठण्डी साँस लेकर**) जाने दे वह बात। आज बड़ी पुरानी स्मृति हृदय में उभर आई !

सुहासिनी : मैं समझ गयी, महादेवी ! महाराज की अनिमेष दृष्टि का रहस्य। सम्भव है, उस सारिका के कण्ठ में उन्होंने आपकी वीणा के स्वर सुन लिए हों।

वासवदत्ता : क्या तुम नहीं जानती कि एक सारिका कक्ष के बाहर है, दूसरी भीतर। द्वार की सारिका सुखी है, क्योंकि आर्य उसके समक्ष हैं। किन्तु कक्ष की सारिका दु:खी है कि आर्य ने अभी तक कक्ष में प्रवेश नहीं किया। और वे यह भी जानते हैं कि इस सारिका के हृदय में उनके अनुराग का क्षण प्रति-क्षण कसकता रहता है। मेरी वीणा के ये तार (**उँगली से दो-तीन तारों को बजाती है।**)

[नेपथ्य में महाराज के आने की ध्वनि]

सुहासिनी : महाराज आ गए। मुझे आज्ञा दीजिए। महाराज की जय ! (**प्रस्थान**)

[उदयन का प्रवेश]

वासवदत्ता : (**खड़ी होकर**) स्वागत, आर्य ! विन्ध्यभूमि की विजय पर आपको बधाई।

उदयन : इस विजय की कल्पना तो तभी साकार हो उठी थी, जब अमात्य यौगंध-रायण की राजनीति में तुमने अपने को कल्पना की अग्नि में समर्पित कर दिया था। तुम्हारे आत्म-त्याग ने ही वत्स-राज्य को इतना विशाल बना दिया है।

वासवदत्ता : यदि मैं यह निवेदन करूँ, आर्य ! कि जिस मात्रा में यह वत्स-राज्य

विशाल होता जा रहा है, उसी मात्रा में मैं लघु होती जा रही हूँ ?

उदयन : महादेवी ! तुम लघु होती जा रही हो ? कैसे ? जिसकी सुघोषवती वीणा के स्वरों के लिए संसार की सीमाएँ छोटी हो गई हैं, जिसके नाम वासवदत्ता में इन्द्र का समस्त ऐश्वर्य बिखर गया है, जिसकी कीर्ति-गाथा के सूत्र में उज्जयिनी और वत्स एक हो गए हैं, वह लघु कैसे हो सकती है, महा-देवी ? सूर्य के उदय की सूचना देने वाली उषा तो समस्त आकाश को राग-रंजित कर देती है, और उदय होता हुआ सूर्य, एक छोटी-सी परिधि में ही सीमित रहता है।

वासवदत्ता : आर्य कलाकार हैं। वे न जाने कितने चित्रों का निर्माण कर सकते हैं ! किन्तु मैं यह अनुभव कर रही हूँ, आर्य ! कि अब कलाकार के हृदय ने महादेवियों से नहीं, सारिकाओं से प्रेम करना आरम्भ कर दिया है।

उदयन : सारिकाओं से ?

वासवदत्ता : हाँ, महाराज ! सारिकाएँ वन में निवास करती हैं और महादेवियाँ सीमित कक्ष में। कलाकार सीमाओं से प्रेम नहीं करता, इसीलिए वह राज-कक्ष से दूर रहकर वन-प्रान्त में विचरण करता है। यहाँ नाना प्रकार की सारिकाओं को देखता है और तब, उन सारिकाओं के समक्ष 'महादेवी' लघु हो जाती है, यह कितनी बड़ी विडम्बना है। लघु महादेवी (**'महा' शब्द पर जोर देकर**)।

उदयन : किसी दूत ने तुमसे मेरे आखेट की वार्ता कही है ?

वासवदत्ता : महाराज की वार्ता तो धरित्री का कण-कण कहता है।

उदयन : व्यर्थ की शंकाओं से हृदय को क्षुब्ध न करो, महादेवी ! आखेट में एक दुर्घटना घटित हो गयी !

वासवदत्ता : दुर्घटना ! दुर्घटना भी महाराज के लिए सुन्दर घटना हो जाया करती है। आप ही कहें, किस बन्दी को राजपुत्री प्राप्त हुई है ?

उदयन : देवि ! तुम्हारा व्यंग्य पर्याप्त है। इस आखेट की दुर्घटना, दुर्घटना ही है। तुम्हें तो सारा वृत्त ज्ञात ही हो गया होगा, तुम्हारे समक्ष उसे दोहराने की क्या आवश्यकता !

वासवदत्ता : किन्तु मैं आर्य के ही मुख से सुनना चाहती हूँ।

उदयन : महादेवी ! मेरे शब्द-बेधी बाण से एक सारिका धराशायी हो गयी।

वासवदत्ता : यह कोई नई बात नहीं है, आर्य ! न जाने कितनी सारिकाएँ आपके मधुर शब्दों के बाण से धराशायी हो चुकी हैं। (**मुस्कान**)

उदयन : देवि ! इस परिस्थिति में व्यंग्य के लिए स्थान नहीं है। यह घटना ही ऐसी घटित हो गई। अमात्य यौगंधरायण ने शब्द-बेधी बाण चलाने को कहा। मेरे कृपाण ने बाणों को विश्राम दे ही दिया था, इसलिए इच्छा हुई

कि आखेट में बाणों का प्रयोग करूँ। संध्या का समय था । वन-प्रान्त में पक्षियों का कलरव स्पष्ट सुन पड़ रहा था। उस स्वर में एक तीव्र स्वर सुन पड़ा···उसी स्वर को लक्ष्य कर मैंने शब्द-वेधी बाण छोड़ दिया। कुछ क्षण पश्चात् ही मेरे बाण ने एक बेचारी सारिका के कण्ठ में प्रवेश किया।

वासवदत्ता : आर्य तो किसी पक्षी पर बाण का प्रयोग नहीं करते, उनका लक्ष्य दूसरा ही होता है।

उदयन : निस्सन्देह महादेवी ! मैं शत्रुओं को ही अपना लक्ष्य बनाता हूँ। किन्तु तुम्हारे ऐश्वर्य ने मेरे समीप किसी शत्रु को नहीं रहने दिया। शब्द-वेधी बाण चलाने का उन्माद विवेक से समर्थित नहीं हुआ।

वासवदत्ता : उन्माद भी विवेक से समर्थित हुआ है, आर्य ? तो आपके बाण ने सारिका के शब्द का ही अनुसरण किया ?

उदयन : हाँ, महादेवी ! एक क्षण में ही सारिका का अन्त हो गया।

वासवदत्ता : अनर्थ हुआ, आर्य ! उस सारिका की समाधि बननी चाहिए जो आपके बाण का लक्ष्य बन सकी।

उदयन : किन्तु मैं उस सारिका को देख नहीं सका।

वासवदत्ता : देख नहीं सके ? तो आपको ज्ञात कैसे हुआ कि सारिका ही धराशायी हुई है।

उदयन : उस सारिका की स्वामिनी, मंजुघोषा···

वासवदत्ता : ये मंजुघोषाएँ न जाने क्यों आपके मार्ग में आ जाया करती हैं।

उदयन : अपनी सुघोषवती वीणा से ही पूछो, देवि !

वासवदत्ता : वह भी आपकी कीर्ति के स्वरों को ही गुनगुनाया करती है। उसकी साँसों के तार उँगलियों का स्पर्श पाते ही कलरव कर उठते हैं। किन्तु यह मंजुघोषा मेरी सुघोषवती वीणा से भी महान् होगी। उसका परिचय दें, आर्य !

उदयन : मैं उसका परिचय स्वयं नहीं जानता, देवि ! केवल इतना ही जानता हूँ कि वह उस मृत सारिका की स्वामिनी है। उसने कटु शब्दों में मेरी निन्दा करते हुए मुझ पर अभियोग लगाया है।

वासवदत्ता : आर्य की निन्दा करने का साहस एक सामान्य नारी को हो ?

उदयन : नहीं, महादेवी ! मैं उस समय आखेटक के वेश में था। वह नहीं जान सकी कि मैं ही उदयन हूँ और आज वह आखेटक उदयन पर लगाया हुआ अभियोग महाराज उदयन के समक्ष प्रस्तुत करेगी ।

वासवदत्ता : अभियोग की विचित्र स्थिति है, आर्य ! महाराज उस आखेटक को किस प्रकार दण्ड देंगे ?

उदयन : दण्ड का निर्णय स्वयं महादेवी करेंगी।

वासवदत्ता : यह निर्णय तो अमात्य यौगंधरायण बहुत अच्छा करते !

उदयन : तुम सत्य कहती हो, महादेवी ! किन्तु उनके निर्णय बड़े भयानक होते हैं। वे उस वन-प्रान्त को कहीं मगध की श्रेणी में न रख दें।

वासवदत्ता : इस अन्तःपुर में अब अन्य कक्षों के लिए स्थान नहीं है, आर्य ! मेरा सुख और सौभाग्य, मेरे मन की सीमा से अधिक बढ़ता जा रहा है।

उदयन : स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं है, देवि ! आज जब तुम्हारे कक्ष में प्रवेश कर रहा था तो द्वार पर मधुर शब्द करती हुई सारिका को देखकर मुझे उस निरपराध सारिका का स्मरण हो आया और करुणा की एक छोटी-सी लहर ने मेरे मन की सारी शान्ति एक क्षण में बहा दी। तुम अपनी सुघोषवती वीणा के संगीत से मेरे अवसाद को दूर कर दो, देवि !

वासवदत्ता : वीणा बजाने का अवकाश कहाँ है, आर्य ! आपकी मंजुघोषा अपना न्याय माँगने के लिए आती होगी। मैं भी उस मंजुघोषा को देखना चाहती हूँ, जो एक तुच्छ सारिका पर आर्य का विराट् वैभव तोलना चाहती है।

उदयन : नहीं, महादेवी ! उसका अभियोग न्याय-संगत है। निर्दोष प्राणहानि कभी तुच्छ नहीं होती। वह चाहे सारिका की हो या मनुष्य की। लाओ, अपनी सुघोषवती वीणा। मैं ही उस पर स्वर-संधान करूँगा।

वासवदत्ता : शर-सन्धान के उपरान्त स्वर-सन्धान अनुचित नहीं है। सम्भव है, इस स्वर-सन्धान के समक्ष उस वनवासिनी के अभियोग का शर-सन्धान कुंठित हो जाए।

उदयन : ऐसी बात नहीं है, देवि !

[कुछ क्षणों तक वीणा पर मालकोश की ध्वनि। अचानक वीणा का एक तार टूट जाता है।]

उदयन : तार टूट गया ! जो कभी नहीं हुआ, वह आज कैसे ?

[सुहासिनी का प्रवेश]

सुहासिनी : महाराज की जय हो ! न्याय-कक्ष से सूचना मिली है कि मंजुघोषा नाम की एक स्त्री महाराज के समक्ष उपस्थित होकर एक अभियोग प्रस्तुत करना चाहती है।

वासवदत्ता : यह सारिका से सम्बन्धित अभियोग ही है।

उदयन : जिसका निर्णय तुम करोगी, देवि ! सुहासिनी ! उस स्त्री को इसी कक्ष में आने की आज्ञा दी जाए।

सुहासिनी : जैसी महाराज की आज्ञा। (**प्रस्थान**)

उदयन : बड़ी कठोर स्त्री है यह। निषाद स्वर की भाँति उसका तीक्ष्ण स्वर किसी शब्द-बेधी बाण-सा सीधा हृदय में प्रवेश करता है।

वासवदत्ता : कहीं वह हृदय का भाग न बन जाए !

उदयन : हृदय का भाग बनने के लिए वासवदत्ता की वाणी चाहिए। कितना शक्तिशाली है! रूप उसका विशाल नेत्र और मिली भौंहें। जैसे शक्ति के दो अक्षर जिन पर भौंह की मात्रा लगी हुई है। उठी हुई नासिका जैसे सौन्दर्य ने अपनी सीमा खींच दी हो। क्रोध से कसे हुए अधरोष्ठ जैसे प्रत्यंचा में किसी ने ग्रन्थि लगा दी हो।

वासवदत्ता : (**बीच ही में**) मुझे भय है, आर्य, कि उस प्रत्यंचा से किसी शर का सन्धान न किया गया हो।

उदयन : उसका एक-एक शब्द बाण था जो अभियोग की अग्नि लेकर समीप के वायुमण्डल में क्रोध की चिनगारियाँ फेंक रहा था।

वासवदत्ता : उस स्त्री की रूप-रेखा कहीं आपकी वाणी से साहित्य न बन जाए।

उदयन : इसका भी निर्णय तुम्हीं करना, देवि ! वह स्त्री आती ही होगी। उसका यथार्थ अभियोग जानने के लिए मुझे समीप के कक्ष में चले जाना चाहिए। देखो, सुहासिनी आ रही है। मैं जाता हूँ। (**प्रस्थान**)

[सुहासिनी का प्रवेश]

सुहासिनी : महाराज की···महादेवी की जय हो ! महाराज कहाँ हैं ?

वासवदत्ता : वे समीप के कक्ष में हैं। वह स्त्री आयी ? मैं ही उसका निर्णय करूँगी।

सुहासिनी : वह स्त्री द्वार पर है, महादेवी !

वासवदत्ता : उसे इस कक्ष में भेज दो।

सुहासिनी : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

वासवदत्ता : (**अपने आप**) आर्य का जीवन किसी अभिनय से कम नहीं है और इस अभिनय की विचित्रता यह है कि वह सदैव उनके लिए सुखान्त ही होता है। भले ही उसमें मेरी करुणा सम्मिलित हो।

[मंजुघोषा का प्रवेश]

मंजुघोषा : प्रणाम करती हूँ, महादेवी ! महाराज नहीं हैं ? तब मेरा यहाँ आना व्यर्थ हुआ।

वासवदत्ता : तुम्हारा नाम मंजुघोषा है ? तुम कोई अभियोग उपस्थित करना चाहती थी ?

मंजुघोषा : हाँ, देवि ! किन्तु मैंने द्वार पर सुना कि महादेवी ही महाराज का अधिकार ग्रहण कर रही हैं। ऐसी स्थिति में मुझे आपकी सेवा में उपस्थित ही नहीं होना चाहिए था।

वासवदत्ता : नारी ! शान्ति से बोलना सीखो। सम्भव है, तुम्हारा अभियोग

विश्वस्त होने पर मैं भी महाराज से प्रार्थना करूँ कि वे स्वयं इसका निर्णय करें।

मंजुघोषा : सहानुभूति के लिए अनेक धन्यवाद, महादेवी ! किन्तु मुझे इस नागरिक वातावरण में राजनीति की एक विचित्र दुर्गन्धि मिलती जा रही है।

वासवदत्ता : नारी ! क्या विश्वास करने की मंगल भावना ने तुम्हें सदैव के लिए छोड़ दिया है ? अविश्वास की अग्नि में तुम्हारा रोम-रोम जलता हुआ दीख पड़ता है।

मंजुघोषा : सत्य है, महादेवी ! और यह अविश्वास नागरिकता का अभिशाप है। मेरे वन-प्रान्त में रहने वाले व्यक्ति विश्वास पर अपने प्राणों का बलिदान करते हैं। किन्तु इस नगर के लोग अविश्वास को अपनी राजनीति समझते हैं।

वासवदत्ता : इस कथन का प्रमाण देना होगा तुम्हें।

मंजुघोषा : प्रमाण स्पष्ट है, महादेवी ! वह आखेटक जिसने बार-बार मुझे वचन दिया था कि वह इस समय अपना अपराध स्वीकार करने के लिए महाराज के न्यायकक्ष में उपस्थित रहेगा। मैंने वहाँ बड़ी देर तक उसकी प्रतीक्षा की, किन्तु वह कहीं दृष्टिगत न हुआ। अब मैं अपने अभियोग का आरोप किस व्यक्ति पर करूँ ? मैं कितना विश्वास लेकर आई थी कि महाराज से न्याय प्राप्त कर सकूँगी, किन्तु महाराज भी नहीं हैं।

वासवदत्ता : ऐसी बात नहीं है, नारी ! महाराज कुछ क्षण बाद इस कक्ष में आ ही रहे हैं और वह आखेटक, यदि उसने वचन दिया है, तो वह भी अवश्य उपस्थित होगा। तुम उसका नाम जानती हो ?

मंजुघोषा : उसका नाम ? (**स्मरण करते हुए**) शंखचूड़ और शेखरक। नहीं, नहीं, ये नाम तो दूतों के थे। महादेवी, उस आखेटक ने नम्रता और विश्वास की बातों का ऐसा जाल बिछा दिया कि मैं उसका नाम पूछना ही भूल गई। वह अमात्य यौगंधरायण के साथ था।

वासवदत्ता : अमात्य यौगन्धरायण के साथ ? तो उसकी रूपरेखा बतला सकती हो ? यदि वह इस नगर में होगा तो मैं उसे अवश्य ही उपस्थित होने का आदेश दूँगी।

मंजुघोषा : मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वह महाराज की सेवा में नियुक्त आखेटक होगा तभी तो वह अमात्य यौगन्धरायण के साथ था और वह महाराज की कृपा की बात भी कह रहा था। उसके व्यवहार में मर्यादा थी और उसकी मुख-मुद्रा में एक विशेष प्रकार का तेज था।

वासवदत्ता : (**मुस्कुराहट से**) किन्तु क्या किसी नारी के समक्ष पुरुष का तेज रह

सकता है ? और विशेषकर जब वह पुरुष तुम जैसी नारी के समक्ष अभियोगी के रूप में हो।

मंजुघोषा : नहीं, महादेवी ! मैंने अनुभव किया कि उसकी स्थिर मुखमुद्रा, हृदय में प्रवेश करने वाले उसके नेत्र, निर्झर की भाँति प्रवाहित होने वाली उसकी वाणी, उसके तेजस्वी व्यक्तित्व का समर्थन कर रहे थे। उसके वाण से मेरी सारिका बिद्ध हो चुकी थी, इसलिए अपनी सारिका की मृत्यु पर मेरे शब्द अंगारे बनकर उसके ऊपर बरस रहे थे। किन्तु वह समुद्र की भाँति गम्भीर था। मैं अनुभव कर रही थी कि जैसे मेरे क्रोध के शब्द मेरे कंठ से ही निकल रहे हों, हृदय से नहीं। जैसे देवि ! मेरा क्रोध वर्षा का भरा हुआ बादल हो। ज्ञात होता था कि उसके मुख पर तो विद्युत् की रेखा है, किन्तु भीतर सहानुभूति के जल का अपार कोष भरा हुआ है।

वासवदत्ता : तब तुम्हारा अभियोग यथार्थ नहीं है, स्त्री ! जिसके प्रति तुम्हारे हृदय में सहानुभूति हो जाती है, वह अभियोग का पात्र कैसे बन सकता है ?

मंजुघोषा : नहीं, महादेवी ! न्याय और सहानुभूति एक-दूसरे के समर्थक नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो कोई नरेश अन्याय करने पर अपनी प्रजा को दंडित नहीं कर सकता। मैं उस आखेटक के व्यक्तित्व से भले ही प्रभावित हो जाऊँ, किन्तु इससे अभियोग का पथ अवरुद्ध नहीं हो सकता।

वासवदत्ता : मैं प्रसन्न हूँ तुम्हारे अभियोग से। पहले मेरे समक्ष अपना अभियोग स्पष्ट करो। मैं तुम्हारे अभियोग को महाराज की सेवा में पहुँचाने में सहायता करूँगी।

मंजुघोषा : कृतज्ञ हूँ, महादेवी ! मैं एक किरात-कन्या हूँ। मेरे माता-पिता ने मेरे शैशव में ही यह संसार छोड़ दिया। मैं अपने मातुल के साथ कौशाम्बी के समीप के वन-प्रान्त के एक कोने में कुटीर बनाकर निवास करती हूँ। मेरे मातुल पक्षियों का व्यापार करते हैं। वे समय-समय पर पक्षियों का विक्रय करने के लिए समीपवर्ती जनपदों में चले जाते हैं और तब मैं अकेली रह जाती हूँ। इन दिनों भी मैं अकेली हूँ।

वासवदत्ता : उस घने वन-प्रान्त में तुम्हें अकेले भय नहीं लगता ?

मंजुघोषा : महादेवी ! किरात-कन्या को किसका भय ? अपने मातुल से सीखी बाण और कृपाण की कला ने ही उसे निर्भय बना दिया है।

वासवदत्ता : किरात-कन्या होकर तुमने इतनी सुन्दर भाषा कहाँ सीखी ?

मंजुघोषा : महादेवी ! मेरे मातुल महाराज के इस नगर कौशाबी में अनेक दिनों तक निवास कर चुके हैं।

वासवदत्ता : अब तुम्हें हमारी नागरिकता का अधिकार है। आगे का विवरण दो।

मंजुघोषा : आज से पाँच वर्ष पूर्व मैंने एक पक्षि-शावक को एक वृक्ष के कोटर में पड़ा पाया। ग्रीष्म की ऊष्मा से वह शिथिल होकर अपनी अन्तिम साँस ले रहा था। मैं उसे उठा लाई। बड़े प्रेम से उसका पालन किया और पाँच वर्षों में पक्षि-शावक ने एक सुन्दर सारिका का रूप ग्रहण कर लिया। वह सारिका मधुर संगीत से मेरी उस छोटी-सी कुटी में आनन्द का सागर लहरा देती थी। इतने वर्षों में वह मेरे परिवार का ही अंग बन गई। मातुल की अनुपस्थिति में वह मेरे एकाकी जीवन की एकमात्र सहचरी थी। कल सन्ध्या समय जब वह पुकार-पुकार कर मुझसे अपना दाना माँग रही थी उसी समय उस क्रूर आखेटक का तीक्ष्ण बाण उसके कंठ में लगा और वह धराशायी हो गई। करुणा और क्रोध से मैं पागल हो गई। मैं अपनी सारिका को उसके अन्तिम समय में दाना भी नहीं दे सकी। (**सिसकी**) मेरी सारिका भूखी ही चली गई। (**गहरी सिसकी**) उसके मरण-काल का चीत्कार इस समय भी मेरे कानों में गूँज रहा है, महादेवी! और निश्चेष्ट होती हुई उसकी करुण दृष्टि मेरे हृदय में चुभ रही है। जैसे ही मैंने उसके कंठ से वह बाण निकाला वैसे ही उसके प्राण उस आकाश में उड़ गए, जहाँ से वे फिर न लौट सके।

वासवदत्ता : तुम्हारी सारिका के इस करुण अन्त से मुझे भी कष्ट होता है, किरात-कन्या!

मंजुघोषा : महादेवी! उसकी ऐसी मृत्यु देखकर उस आखेटक के प्रति मेरे क्रोध की सीमा न रही। मैं अपना कृपाण लेकर उन्मादिनी की भाँति वन में उस आखेटक को खोजने लगी। सहसा मेरी दृष्टि अमात्य यौगन्धरायण के साथ उस आखेटक पर पड़ी और मैं उस पर आक्रमण करना चाहती थी, देवि! किन्तु उसकी शान्त मुद्रा ने मेरे क्रोध को कुंठित-सा कर दिया।

वासवदत्ता : किरात कन्ये, तुम्हारा अभियोग वास्तव में गम्भीर है। उसका न्याय होना चाहिए। अभियुक्त को दंडित होना ही पड़ेगा। मैं तुम्हारे न्याय के पक्ष में हूँ। तुम्हारा साथ दूँगी।

मंजुघोषा : किन्तु महादेवी! अभी तक अभियुक्त नहीं आया?

वासवदत्ता : (**नेपथ्य की ओर देखकर**) अरे, आर्य आ रहे हैं।

मंजुघोषा : (**विह्वल होकर**) महाराज आ रहे हैं? महाराज आ रहे हैं? महाराज की जय।

[उदयन का प्रवेश]

उदयन : स्वस्ति, देवि! तुम कौन हो?

वासवदत्ता : आर्य, यह मंजुघोषा नाम की किरात-कन्या है, समीप के वन-प्रान्त में एक कुटी बनाकर निवास करती है, मातुल के अतिरिक्त इसके परिवार

में कोई नहीं। केवल एक सारिका थी, जिसे किसी क्रूर आखेटक ने अपने शब्द-वेधी बाण का लक्ष्य बना दिया। व्यर्थ ही सारिका के प्राण लेने के कारण वह आखेटक दंड का पात्र है और यही अभियोग लेकर यह आपके समक्ष उपस्थित हुई है।

उदयन : वह आखेटक निश्चय ही दंड का अधिकारी है, उसके लिए किरात-कन्या जो दंड निर्धारित करना चाहती है, करे। मेरी राज-शक्ति उसका समर्थन करेगी।

वासवदत्ता : बोलो, किरात-कन्ये ! तुम किस दण्ड की व्यवस्था करना चाहती हो ? (**गहरी दृष्टि से देखकर**) तुम आर्य को इतनी गहरी दृष्टि से क्यों देख रही हो ! सावधान ! नारी ! न्याय की याचना नेत्रों से नहीं, शब्दों से होती है।

उदयन : बोलो, नारी ! तुम उस आखेटक के लिए किस दण्ड की व्यवस्था करती हो ?

मंजुघोषा : मैं···मैं···महाराज···।

वासवदत्ता : विद्युत् की वाणी तरल होकर बरसना चाहती है ? जिस उग्रता से तुम अपना अभियोग लाई थीं, उसी उग्रता से न्याय भी माँगो, और जब महाराज ने तुम्हें दण्ड निर्धारित करने का अधिकार दिया है तो इतनी विह्वलता किसलिए ?

मंजुघोषा : (**अधिक विह्वलता से**) महाराज ! (**क्षीण शब्दों में**) आखेटक···! आखेटक !

वासवदत्ता : कहाँ है तुम्हारा आखेटक, किरात-कन्या ?

मंजुघोषा : महादेवी ! (**रुककर**) आखेटक···! आखेटक···!

उदयन : कहाँ है तुम्हारा आखेटक ? तुम विस्मयभरी दृष्टि से मुझे क्यों देख रही हो, किरात-कन्ये ?

मंजुघोषा : महाराज ! क्षमा हो ! आपके मस्तक का चिह्न !

वासवदत्ता : आर्य के मस्तक का चिह्न तो इनके कृपाण-युद्ध का वरदान है। आखेटक के मस्तक का चिह्न किसी किरात-कन्या के प्रहार का चिह्न होगा।

मंजुघोषा : नहीं, महादेवी ! वैसा ही चिह्न···वही चिह्न है जो मैंने आखेटक के मस्तक पर देखा था। (**स्वप्नावस्था में कहती हुई-सी**) तिलक की भाँति दोनों भौंहों के मध्य में। कृपाण रेखा की भाँति, जो किसी भी छद्मवेश से नहीं छिपाया जा सकता।

उदयन : क्या तुम समझती हो कि मैं ही आखेटक हूँ ? अपने हृदय को संतुलित करो, नारी !

मंजुघोषा : महाराज ! क्षमा हो (**तीक्ष्ण दृष्टि से देखती हुई**) किरात-कन्या की दृष्टि भूल नहीं कर सकती। अब महाराज, मैं अपना अभियोग लौटाती हूँ। मेरा अभियोग मुझे लौटा दीजिए, महाराज ! मैं किसी प्रकार का न्याय नहीं चाहती। आपके चरणों पर मैं सहस्र सारिकाएँ निछावर कर सकती हूँ ! ओह ! न जाने मैंने कितने अपशब्दों का प्रयोग किया, देवि ! मैं आपसे क्षमा की भिक्षा माँगती हूँ। महाराज से मैंने न जाने कितने अपशब्द कहे होंगे। सारिका का रक्त आँखों में क्रोध बनकर समा गया था। मैं क्या जानती थी कि उस वन-खंड में मेरे समक्ष स्वयं महाराज खड़े हुए हैं। महादेवी ! मैं कितनी धन्य हूँ कि उस समय महाराज ने मुझे कितना आदर दिया था, और पापीयसी···पापीयसी (**कंठ अवरुद्ध हो जाता है और वह उदयन के चरणों पर गिर पड़ती है।**)

उदयन : उठो, उठो ! मंजुघोषे ! अपराध मेरा है, किन्तु जिस प्रकार तुम नहीं जानती थीं कि तुम अपने महाराज के समक्ष अपशब्दों का प्रयोग कर रही हो, उसी प्रकार मैं भी नहीं जानता था कि मेरा बाण तुम्हारी सारिका के कंठ की ओर जा रहा है, किन्तु मैं दोषी हूँ, दंड की व्यवस्था करो। यह लो मेरा कृपाण, जिस प्रकार मेरे बाण ने तुम्हारी सारिका के कंठ पर प्रहार किया उसी प्रकार मेरे कंठ पर इस कृपाण का प्रहार करो।

मंजुघोषा : नहीं, महाराज ! क्षमा···! क्षमा···! मैं लौट जाऊँगी, मैं अभियोग लेकर आई थी, अभियुक्ता बनकर जाऊँगी, आज्ञा दीजिए, महाराज !

उदयन : किरात-कन्ये ! तुमने अपने को अभियुक्त मान लिया है। तुम्हें स्मरण होगा, आखेटक उदयन का भी एक अभियोग था। उसका निर्णय भी तो महाराज उदयन को करना है। उस सम्बन्ध में तुम्हें कुछ कहना है ?

मंजुघोषा : मैं कुछ नहीं कहूँगी, महाराज !

उदयन : तो आखेटक उदयन का अभियोग सत्य है, और उसका न्याय इस प्रकार होगा कि आज से अभियुक्ता किरात-कन्या महादेवी वासवदत्ता की प्रमुख सहचरी होकर उदयन के राजकक्ष में निवास करेगी। महादेवी ! इसमें तुम्हारी स्वीकृति है ?

वासवदत्ता : आर्य की राजनीति को स्वीकार करने का सौभाग्य मुझे अनेक बार प्राप्त हो चुका है। यह सौभाग्य भी शिरोधार्य होगा ! क्यों, मंजुघोषे ! तुम्हें स्वीकार है ?

मंजुघोषा : मैं कृतार्थ हुई, महादेवी !

उदयन : महादेवी की स्वीकृति पर मैं अपनी हस्तिस्कन्ध वीणा में अपने हृदय का उल्लास मुखरित करना चाहता हूँ।

[सुहासिनी का प्रवेश]

सुहासिनी : महाराज की जय !

उदयन : सुहासिनी, मैं अपनी हस्तिस्कन्ध वीणा चाहता हूँ ।

सुहासिनी : जो आज्ञा, महाराज ! (**कुछ देर रुककर**) महाराज ! महाराज दर्शक की ओर से संदेश लेकर कंचुकी आपकी सेवा में उपस्थित होने के लिए अनुमति चाहता है ।

उदयन : महाराज दर्शक का सन्देश लेकर आया है ? सुहासिनी ! उसे शीघ्र भेजो ।

सुहासिनी : जो आज्ञा । (**प्रस्थान**)

वासवदत्ता : मगध से सन्देश आया है, तब तो वह आवश्यक सन्देश होगा ।

उदयन : तुम्हारा कथन सत्य है, महादेवी ।

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी : महाराज की जय ! सेवा में यह निवेदन प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि महाराज दर्शक ने आपसे आग्रहपूर्वक यह कहला भेजा है कि अरुणि पर आक्रमण करने के लिए सेनाध्यक्ष रुमण्वान् ने एक विशाल सेना एकत्र कर ली है । साथ में मेरी मगध की सेना भी सुसज्जित है । हमारे शत्रु परस्पर द्वेषाग्नि में दग्ध हो रहे हैं, 'उनमें फूट पड़ गई है । यही सबसे अधिक उपयुक्त समय है, जब उन पर आक्रमण किया जा सकता है ! हमारी सेनाएँ गंगा के उस पार पहुँच गई हैं, आपके नेतृत्व की प्रतीक्षा है । आप शीघ्र ही सैन्य-संचालन करें ।

उदयन : कंचुकी ! महाराज दर्शक की आज्ञा शिरोधार्य है । तुम शीघ्र ही उन्हें समाचार दो, कि मैं दुष्ट अरुणि पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हूँ, तुम जाओ, मैं शीघ्र ही आऊँगा ।

कंचुकी : जो आज्ञा, महाराज । (**प्रस्थान**)

उदयन : महादेवी ! इस समय हस्तिस्कन्ध वीणा नहीं, कृपाण मेरा आह्वान कर रहा है । मेरे जाने में तुम्हारी स्वीकृति है ?

वासवदत्ता : महाराज का कृपाण अमर हो !

[यवनिका]

वासवदत्ता : भूल तू करेगी, मंजु ! और दण्ड मुझे मिलेगा।

सामावती : बहिन······

वासवदत्ता : हाँ, दण्ड मुझे मिलेगा। सामा, तुझे मुझसे छीन लेगी और अपने समीप रख लेगी।

मंजुघोषा : ओहो ! मेरा तो लाभ ही होगा। दो चरणों के स्थान पर चार चरण मिलेंगे। (**सामा के समीप जाकर**) आप कष्ट न करें, स्वामिनी ! सिंहासन पर फूल मैं सजा दूँगी।

सामावती : तेरे कार्य में बाधा तो न होगी ?

मंजुघोषा : बाधा कैसी ! मैं भी तो फूल ही सजा रही थी। भगवान् तथागत के कण्ठ में सजाने के लिए माला तैयार कर रही थी।

सामावती : भगवान तथागत के कण्ठ में सजाने के लिए। तू धन्य है, मंजु। तेरा जीवन धन्य है।

मंजुघोषा : स्वामिनी ! जब से वे कौशाम्बी पधारे हैं, मैं उनकी सेवा में ही अधिक समय बिताती हूँ। स्वामिनी ने मुझे आज्ञा दे दी है कि जितनी मैं चाहूँ, तथागत की सेवा करूँ।

वासवदत्ता : हाँ, कपिलवस्तु में चौमासा बिताने के अनन्तर वे वैशाली, राजगृह और काशी होते हुए कौशाम्बी पधारे हैं। कौशाम्बी में उनकी जितनी अधिक सेवा हो, उतना ही अच्छा।

सामावती : मैं भी ऐसा ही सोचती हूँ, बहिन ! आप मेरे मन की बात कह रही हैं। मैंने तो इच्छा की है कि आज संध्या समय वे इसी प्रासाद के समीप जन-समूह को धर्म-उपदेश करें।

वासवदत्ता : तेरी प्रार्थना उन तक पहुँच गई। वे संध्या समय इस प्रासाद के समीप अवश्य आवेंगे।

सामावती : धन्य हैं, तथागत ! उनके उपदेश मैं जितनी बार सुनती हूँ, उतनी ही बार सुनने की इच्छा अधिक बलवती होती है। ओह ! तथागत। कितनी सौम्य मूर्ति है उनकी। कितनी मधुर वाणी। जैसे वे संसार का समस्त दुःख दूर करने के लिए ही अवतरित हुए हैं। दिव्य ललाट, उठी हुई नासिका, फैले हुए ओंठ, जैसे वाणी ने बार-बार निकलने के लिए अपना···

वासवदत्ता : ध्यान में डूब गई, सामा ! (**मंजु से**) देखा, मंजु ! मेरी सामा तथागत की बात पर अपने आप को भूल गई।

मंजुघोषा : तथागत का ध्यान ही ऐसा है, स्वामिनी !

वासवदत्ता : किन्तु एक बात जानती है ? तथागत को आर्य अच्छी दृष्टि से नहीं देखते।

मंजुघोषा : अच्छी दृष्टि से नहीं देखते, क्यों स्वामिनी ?

वासवदत्ता : आय कृपाण में विश्वास करते हैं, तथागत मधुर वाणी में, आर्य हिंसा से प्रसन्न होते हैं, तथागत अहिंसा को ही जीवन का अर्थ समझते हैं। आर्य दण्ड देते हैं, तथागत क्षमा करते हैं। दोनों एक-दूसरे से कितने भिन्न हैं। तथागत के प्रति श्रद्धा देखकर आर्य कुछ नहीं कहते, परन्तु उन्हें तथागत का धर्म अच्छा नहीं लगता।

सामावती : मैं जानती हूँ, बहिन ! तथागत के कौशाम्बी आगमन के पूर्व मेरे पिता घोषित भगवान के ठहरने के लिए एक संघाराम बनवाना चाहते थे। किन्तु आर्य ने इस संघाराम के बनवाने की स्वीकृति तभी प्रदान की जब··· उन्होंने मेरे पिता की सहमति प्राप्त कर ली कि मैं आर्य के अन्तःपुर में···

वासवदत्ता : उसी समय तो तुम राज-महिषी बनी थी।

सामावती : मैंने यह स्वीकार किया जिससे भगवान् का स्वागत कौशाम्बी में भली प्रकार से हो, तब से मैं बराबर यह प्रयत्न करती रही कि आर्य तथागत के उपदेशों से अपनी कला सुसज्जित करें किन्तु सदैव उनका कृपाण ही सम्मुख आता रहा।

मंजुघोषा : कृपाण ही नहीं, स्वामिनी ! बाण भी। मेरी बेचारी सारिका···

[नेपथ्य में : सम्राट् उययन की जय ! सम्राट् उदयन की जय !! सम्राट् उदयन की जय !!!]

वासवदत्ता : आर्य आ रहे हैं। उनकी आरती का प्रबन्ध हो, मंजु !

मंजुघोषा : जैसी आज्ञा ! मैं आरती अभी लायी। (**प्रस्थान**)

वासवदत्ता : सामा ! आर्य के कण्ठ के लिए मालाएँ ?

सामावती : मैंने अपने हाथ से गूँथी हैं। ये सिंहासन पर ही हैं।

[एक परिचारिका का प्रवेश]

परिचारिका : स्वामिनी की जय ! सम्राट् आ रहे हैं।

वासवदत्ता : हम सब स्वागत के लिए प्रस्तुत हैं।

सामावती : मंजु से कह दे, आरती-पात्र की शीघ्र आवश्यकता है।

परिचारिका : जैसी आज्ञा। (**प्रस्थान**)

वासवदत्ता : जयघोष समीप ही सुनाई दिया। सम्भवतः निकट ही हैं।

[मंजुघोषा का आरती-पात्र के साथ प्रवेश]

वासवदत्ता : आरती ले आई मंजु, मुझे दे।

मंजुघोषा : लीजिए ! (**आरती-पात्र देती है।**)

वासवदत्ता : तू यहाँ से जा ! आर्य आ रहे हैं।

मंजुघोषा : जैसी आज्ञा। एक प्रार्थना करूँ ?

वासवदत्ता : सुनूँगी। शीघ्र कह।

मंजुघोषा : भगवान् तथागत भी शीघ्र प्रासाद के समीप आने वाले होंगे। उनके स्वागत में मैंने फूलों की जो माला गूँथी है, यह मैं उन्हें पहिनाना चाहती हूँ।

वासवदत्त। : अवश्य पहिना दे।

मंजुघोषा : मैं कृतार्थ हुई। (**सामा से**) मैं जाऊँ, स्वामिनी ?

सामावती : अवश्य जा। मैं स्वयं तेरे साथ चलती किन्तु इसी समय आर्य आ रहे हैं। तू जा। भगवान् तथागत से मेरा प्रणाम कहना।

मंजुघोषा : जसी आज्ञा। (**प्रसन्नता से**) ओह, आप दोनों ही मेरी कितनी अच्छी···! कितनी अच्छी···! प्रणाम (**प्रस्थान**)

वासवदत्ता : बहुत भोली और सरल है मंजु।

[जयघोष के साथ उदयन का प्रवेश]

[गठा हुआ तेजोमय शरीर। उन्नत ललाट और बड़ी-बड़ी आँखें। सौन्दर्य उनके प्रत्येक अंग में साकार हुआ है। वे युद्ध के वस्त्र पहने हैं। उनके हाथ में कृपाण हैं। उनके प्रवेश करते ही वासवदत्ता उनकी आरती उतारती है और सामावती माला पहिनाती है।]

वासवदत्ता : आर्य की जय !

सामावती : आर्य की जय !

उदयन : आरती और माला ! मैं कृतार्थ हुआ वासव ! मैं सुखी हुआ, सामा ! तुम्हारी आरती और माला का रूप मेरा कृपाण जानता है, इसलिए यह अरुणि की सेना पर चक्राकार घूमा ! चक्राकार ! मेरा कृपाण तो तुम्हारी आरती और माला का ही अनुकरण करता है।

वासवदत्ता : आपके कृपाण में मेरी आरती की शिखा से अधिक अग्नि है, आर्य !

सामावती : और मेरी माला तो केवल कंठ ही में पड़ती है, आपका कृपाण कंठ के साथ शरीर के अन्य भागों पर भी पड़ता है।

उदयन : सत्य है, सामा ! मैंने अरुणि की अक्षौहिणी के आक्रमण को अपने कृपाण मात्र से रोक लिया। आरुणि ने जैसे ही मुझ पर आक्रमण किया, मैंने अपने गज को आगे बढ़ा दिया। उसके दाँतों की चोट से अरुणि की तलवार टूट गई। वह जैसे ही पीछे हटा, उसकी सेना बरसाती गँदले नाले की भाँति एक ओर को बह गई जैसे रुधिर से लाल और चिकनी भूमि पर वह फिसल पड़ी हो। फिर मैंने पाटल घोड़े पर बैठकर लौहपाश फेंका और सौ धनुष की दूरी अरुणि को पकड़ लिया।

वासवदत्ता : आपकी दृष्टि अपने लक्ष्य को पहचानती है, स्वामी !

सामावती : फिर क्या हुआ, आर्य ?

उदयन : बीस पदाति सैनिकों के साथ मैं आगे बढ़ा। अरुणि के पास पर्याप्त वीरों की संख्या थी, किन्तु मेरे कृपाण की ओर देखकर ही वे थक जाते थे। मेरे लौह-पाश से खिच कर अरुणि जैसे ही अस्त होते हुए सूर्य की भाँति नीचे आया, सारी सेना अस्तव्यस्त हो गई।

सामावती : साधु ! साधु ! !

वासवदत्ता : फिर तो विजय की भेरी बज उठी होगी।

उदयन : उसी समय ? क्योंकि वृक्ष को समूल उखाड़ चुकने पर उसकी शाखा काटने में क्या परिश्रम होता है ? शंख और भेरी-नाद ने हमारी विजय की घोषणा कर दी। किन्तु यह विजय अभी पूर्ण नहीं कही जा सकती।

वासवदत्ता : कारण ?

उदयन : मुझे इसी समय फिर युद्ध के लिए जाना है। जिस प्रकार रात्रि समाप्त होने पर आकाश में अंधकार की छाया रहती है, उसी प्रकार अरुणि की पराजय के बाद भी कनकवती में विद्रोह की अशान्ति शेष है। मैं इसी समय उसे भी समाप्त करना चाहता हूँ। जो सेना अरुणि को पराजित कर लौटी है, उसका मुझे इसी समय निरीक्षण करना है।

वासवदत्ता : इसी समय ? कुछ विश्राम कीजिए, आर्य !

उदयन : देवि ! सूर्य जब विश्राम करने चला जाता है तो आकाश में तारों की संख्या कितनी बढ़ जाती है। मैं अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ते हुए नहीं देख सकता।

सामावती : तो इस समय इस सिंहासन का सौभाग्य नहीं होगा कि···

उदयन : नहीं, सामा ! इस समय तो मेरा आसन अश्व की पीठ पर ही होगा। और सिंहासन यदि कहीं होगा तो वह कनकवती और कौशाम्बी की सीमा-सन्धि पर ही होगा। कनकवती पर मेरा आक्रमण इस समय मेरा प्रथम लक्ष्य है।

वासवदत्ता : जैसी इच्छा···

उदयन : पहले मैं अपनी सेना का निरीक्षण···

[नेपथ्य में सम्मिलित ध्वनि—धम्मं सरणं गच्छामि। संघं स्मरणं गच्छामि !]

उदयन : (**चौंककर**) यह कैसा कोलाहल ! वातायन से देखूँ।

[वातायन से देखते हुए अटकते हुए शब्दों में—त···था···ग···त !]

सामावती : भगवान तथागत कौशाम्बी पधारे हैं।

वासवदत्ता : वे इस राजप्रासाद के समीप आ गए।

उदयन : आ गए ? और इसी समय जब मैं कनकवती पर आक्रमण करने जा रहा हूँ। (**सिर पकड़कर**) ओह ! तथागत अहिंसा का उपदेश इसी समय करना था जब मैं नगरनिवासियों के समक्ष दिग्विजय का आदर्श रखने जा रहा हूँ ?

सामावती : वे भी दिग्विजय करने निकले हैं, आर्य !

उदयन : (**रूखे स्वर से**) सामा ! सावधान ! घोषित को मैंने तथागत का स्वागत करने की अनुमति दी थी, राजधानी की सीमा पर संघाराम बनवाने की स्वीकृति दी थी। इसका अर्थ यही था कि मैं तुम्हें प्राप्त कर सकूँ। यह नहीं कि तथागत मेरी राजधानी में निवास करने लगें। मेरे वीर नागरिकों को भिक्षुक बना दें। उनके हाथों में भिक्षा-पात्र दे दें। जहाँ कृपाण होना चाहिए वहाँ यह भिक्षा-पात्र नहीं होगा, सामा ! यह नहीं होगा।

वासवदत्ता : वे तो केवल धर्म का उपदेश देते हैं, किसी को अपना धर्म स्वीकार करने के लिए विवश नहीं करते।

सामावती : फिर भगवान तो कुछ दिनों के लिए ही पधारे हैं, आर्य ! वे एक स्थान में कितने दिनों रहते हैं ? वे भ्रमण करते हुए इस स्थान पर···

उदयन : इस स्थान पर वे एक दिन भी नहीं रह सकेंगे।

[नेपथ्य में फिर सम्मिलित ध्वनि से 'धम्मं सरणं गच्छामि'।]

उदयन : यह कोलाहल फिर हुआ। (**वातायन से देखते हुए**) मैं अभी तथागत के समक्ष स्पष्ट कर दूँगा कि कौशाम्बी उनके उपदेशों का बोझ सहन नहीं कर सकेगी। वे मगध, काशी, अंग, सौराष्ट्र, मिथिला, शूरसेन, कहीं भी जाएं, कौशाम्बी को मुक्त करें। वासव और सामा ! तुम भी अपने शान्तिगृहों में जाकर विश्राम लो ! मैं सैन्य निरीक्षण के साथ ही तथागत के संघ का भी निरीक्षण करूँगा।

वासवदत्ता : आर्य ! संघ का निरीक्षण आप अवश्य करें।

सामावती : और संभव हो, तो भगवान तथागत के दर्शन भी।

वासवदत्ता : चलो, बहिन ! स्वामी की जय हो !

सामावती : (**धीरे से**) आर्य की जय हो !

[दोनों का प्रस्थान]

उदयन : आर्या सामावती कहती है—सम्भव हो तो तथागत के दर्शन भी करें।···दर्शन··· (**व्यंग्य से**) भिक्षुओं के लिए उनके दर्शन ठीक हैं, सैनिकों और नरेशों के लिए नहीं। (**पुकार कर**) प्रतिहारी !

[नेपथ्य से]

उपस्थित हूँ, सम्राट्।

[प्रतिहारी का प्रवेश]

उदयन : सेनाध्यक्ष रुमण्वान से निवेदन करो कि मुझे उनकी आवश्यकता है।

प्रतिहारी : जैसी आज्ञा। (**प्रस्थान**)

उदयन : (**अपने आप**) तथागत···! शान्ति और अहिंसा का उपदेश करते हैं! सोती हुई निरपराध पत्नी को छोड़ कर जो कर्मयोग से भागे, वे किस अहिंसा का उपदेश देंगे! अपने अबोध शिशु पर भी जिन्हें दया नहीं आई, वे किस शान्ति का उपदेश करेंगे? भगवान राम वन में गए, वे अपनी पत्नी सीता को भी साथ ले गए। किन्तु भगवान् तथागत···वन में गए चोरी से और अपनी पत्नी सती यशोधरा को जीवन भर रोने के लिए छोड़ गए! यह कैसा धर्म है! यह कैसी शान्ति है! जिसे कर्मयोग में अनुरक्त रहना चाहिए, वह निर्वाण में अनुरक्त है। कायर शाक्य कुमार! तुम क्षत्रिय होकर युद्ध में आरूढ़ नहीं हो सके? धर्म! शान्ति! अहिंसा! इसका प्रचार तो यशोधरा को करना चाहिए, तुम्हें नहीं···। दुःख, रोग और मृत्यु को जो महान् समझते हैं, वे भगवान् कैसे हो सकते हैं? अनासक्ति के बाण से जीवन का लक्ष्य-वेध नहीं हो सकता।

[रुमण्वान का प्रवेश]

रुमण्वान : सम्राट की जय!

उदयन : कनकवती पर आक्रमण करने के लिए मैं सेना का निरीक्षण करूँगा।

रुमण्वान : सम्राट् की आज्ञा! किन्तु इस समय यह संभव नहीं हो सकेगा।

उदयन : (**तीव्रता से**) सम्भव नहीं हो सकेगा? कारण स्पष्ट हो।

रुमण्वान : सम्राट्! इसी प्रासाद के पूर्व में तथागत धर्म का उपदेश कर रहे हैं। समस्त संघ उनके चरणों के समीप है और जनता भारी संख्या में एकत्र है।

उदयन : मैं देख रहा हूँ! तथागत ही मेरे आक्रमण के मार्ग में हैं। रुमण्वान! रण से लौटते समय तुम पूर्व दिशा से अपनी सेना क्यों नहीं लाए? संघ को वहाँ एकत्र होने का अवसर ही न मिलता।

रुमण्वान : यदि सम्राट् पूर्व दिशा से आते तो संघ पश्चिम में एकत्र हो जाता। तथागत आपके लौटने का मार्ग देख रहे थे। वे तो आपके समक्ष ही धर्मोपदेश करने का व्रत लिए हुए हैं।

उदयन : मेरे समक्ष?

रुमण्वान : सम्राट्! मुझे सूचना मिली थी कि तथागत कौशाम्बी इसीलिए आए हैं। मैं उन्हें कौशाम्बी की सीमा पर ही रोक देता, किन्तु आपने

घोषिताराम बनवाने की स्वीकृति दे दी थी, इसलिए मैं उन्हें नहीं रोक सका।

उदयन : किन्तु कौशाम्बी नगर में आने से तुम उन्हें रोक सकते थे।

रुमण्वान : आपकी स्वीकृति से एक बार नगर में प्रवेश पा लेने पर समस्त जनता उनके चरणों में अपना मस्तक झुका रही है। नगर के किस-किस व्यक्ति को नियंत्रण में लिया जा सकता है, सम्राट् ! चारों ओर भगवान् तथागत की स्तुति हो रही है और सम्राट् के साथ आज ही हम सब रण से लौटे हैं।

उदयन : तो अब मेरा राजतंत्र संन्यासी के आदेशों का अनुकरण करेगा, क्यों ?

रुमण्वान : मैं क्या निवेदन करूँ, सम्राट ! नगर में भगवान् तथागत का संघ घूम रहा है। सुना है कि आज राजमहिषी सामावती आग्रह से ही···

उदयन : (**बीच में ही**) सावधान ! राजमहिषी का उल्लेख न हो। यह संघ आज प्रासाद के पूर्व में जिस कारण से एकत्र हुआ है, वह मैं नहीं जानना चाहता। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या मेरी सेना इस संघ का निवारण करेगी ? कर सकेगी, या नहीं ? इसी समय···

रुमण्वान : मैं इसी समय इसकी आज्ञा दूँगा किन्तु विद्रोह हो जाने की आशंका है।

उदयन : विद्रोह ! कैसा विद्रोह ?

रुमण्वान : सम्राट् के अनेक सैनिक तथागत के भक्त हैं।

उदयन : तो यह विष यहाँ तक फैल चुका है ? सारे वृक्ष पर तुषारपात हो गया। अमात्य यौगंधरायण अभी मगध से नहीं लौटे ?

रुमण्वान : अभी तक नहीं, सम्राट् ! निकट भविष्य में उनके लौटने की आशा भी नहीं है।

उदयन : तो राजनीति उपेक्षा भरी नींद में है।

रुमण्वान : कदापि नहीं सम्राट् ! आपने कलिंग और कौशल को पराजित किया है। बड़े-बड़े राज्य संघ आपके कृपाण से खंड-खंड हो गए। यह सामान्य भिक्षु-संघ उसके सामने क्या है। फिर सम्राट् स्वयं राजनीति के आचार्य हैं।

उदयन : विष को विष से नष्ट किया जा सकता है, किन्तु जिष विष ने अमृत का नाम धारण कर लिया है, उसका प्रतिकार किस नीति से होगा ?

रुमण्वान : कूटनीति से, सम्राट् !

उदयन : तुम अपनी ही निन्दा कर रहे हो, रुमण्वान ! जिस सम्राट् के पास अधिक वीर नहीं होते वही कूटनीति का आश्रय लेता है और जो वीर अपने स्वामी से अनुराग नहीं रखते, वे अनुरागहीन नारी की भाँति त्याज्य हैं।

रुमण्वान : सम्राट् के श्री-चरणों में वीरों का अनुराग है।

उदयन : यह मैं कैसे मानूँ जबकि तुम्हारे सैनिकों का अनुराग तथागत के चरणों

में है ? यह अनुराग भी सम्भवतः एक दर्पण है। जो उसके समक्ष आता है, उसी का रूप उसमें झलकने लगता है।

रुमण्वान : मैं स्वीकार करता हूँ, सम्राट्! भाषा पर मेरा अधिकार नहीं है, इसलिए मन की बातें स्पष्ट नहीं कर सकता। आप जो आज्ञा दें, उसकी पूर्ति मैं उसी क्षण कर सकता हूँ।

उदयन : भयानक से भयानक शत्रु को तुम पराजित कर सकते हो, किन्तु तथागत को···? उन्हें न तुम पराजित कर सकते हो, न तुम्हारे सैनिक।

रुमण्वान : सम्राट् की वाणी···

उदयन : व्यर्थ की बातों के लिए समय नहीं है, रुमण्वान! तथागत मेरी वाणी समझते और मैं भी तथागत की वाणी नहीं समझता। दो वाणियों में से एक ही वाणी कौशाम्बी में रहेगी।

[नेपथ्य में सम्मिलित ध्वनि से—'बुद्धं सरणं गच्छामी।']

उदयन : फिर यह ध्वनि उठी! क्या यही वाणी कौशाम्बी में निवास करेगी? (**वातायन से देखते हुए**) तथागत ऊँचे आसन पर बैठे कुछ कह रहे हैं। जन-समूह ध्यान में डूबा हुआ, उनके समीप बैठा हुआ है। चारों दिशाओं से जनवृन्द खिंचे-से चले आ रहे हैं। फूलों की मालाएँ उनके कण्ठ में पड़ रही हैं (**रुमण्वान से**) रुमण्वान! ज्ञात होता है कि आज कौशाम्बी में सम्राट् उदयन की सत्ता नहीं रह गई। तथागत ही यहाँ के सम्राट् हैं।

रुमण्वान : सेवक रुमण्वान के जीवित रहते यह नहीं हो सकता, सम्राट्!

उदयन : यही तो हो रहा है, नहीं तो आज युद्ध से लौटने पर तुम्हारी सेना का स्वागत होता, तथागत का नहीं। इसी से स्पष्ट है कि सम्राट् कौन है! रुमण्वान! सँभलो! समस्त कौशाम्बी भिक्षु बनने जा रहा है। हमारे बड़े-बड़े पोत जो ब्रह्मदेश और चम्पा से विद्रुम, पन्ना, पद्मराग मणि और मुक्ता लाते हैं, वे अब केवल मधुकरी ढोना आरम्भ करेंगे। हमारे राज-प्रासाद भी संघारामों में परिणत होंगे और सैनिकगण चीवर पहिन कर अहिंसा का उपदेश करेंगे।

रुमण्वान : तब क्या उपाय किया जाए, सम्राट्!

उदयन : सैनिकों का कर्त्तव्य नष्ट होने जा रहा है। जिन राज्यों को आज हमारी शक्ति से भय है, वे कल व्यंग्य की हँसी हँसकर दस्युओं की भाँति हम पर आक्रमण करेंगे। हम सिर झुकाकर कहेंगे—देखना, हमारे कंठ से कहीं तुम्हारा कृपाण कुंठित न हो जाए! हम स्वयं तुम्हारे चरणों में गिर कर मर जाएँगे।

[रुमण्वान चुप रहता है]

उदयन : तुम चुप हो, रुमण्वान ! बोलो, क्या ऐसी ही परिस्थिति नहीं आ जाएगी ? क्या क्षत्रियों की परम्परा सदैव के लिए नष्ट नहीं होगी और एक क्षत्रिय शाक्य कुमार जो तथागत के नाम से पूजे जा रहे हैं, क्या उन्हीं के द्वारा क्षत्रियों की मर्यादा का विनाश नहीं हो रहा है ? जिस क्षत्रिय ने अपनी क्षत्राणी और क्षत्रिय कुमार को भिक्षु बना दिया है, वह अन्य राज्य-वंशों में भी इसी विनाश के बीज नहीं बो रहा है ? क्या यह सहन किया जा सकता है ?

रुमण्वान : कदापि नहीं, सम्राट् !

उदयन : तो लाओ, मेरा धनुष-बाण ! आज मैं अपने वंश की परम्परा की रक्षा के लिए बाण का प्रयोग करूँगा ।

रुमण्वान : किस पर प्रयोग करेंगे ?

उदयन : इसी क्षत्रिय कुल के संन्यासी पर जिसकी वाणी पराजित हुए कायरों की छद्मवेशी वाणी है, जिसका युद्ध क्षेत्र उपदेशों का मरुस्थल बन गया है, जिसके शरीर का कवच आज चीवर बनकर पैरों से लिपट रहा है और जिसकी दृष्टि शत्रुओं को धराशायी बनाने के बदले स्वयं धराशायी बन गई है ।

रुमण्वान : (**सहमकर**) तथागत पर बाण का प्रयोग ।

उदयन : हाँ, तथागत पर बाण का प्रयोग ! मगध, अवन्ती और कौशल के नरेश भी प्रसन्न होंगे कि क्षत्रियों के पौरुष में अकर्मण्यता का विष भरने वाले ऐन्द्रजालिक के साथ उचित व्यवहार किया गया । जिस कंठ में उपदेश की शीतलता समा गई है, उस कंठ में मेरे बाणों की शक्ति-ज्वाला धधक उठे । रुमण्वान ! क्षत्रियों के कंठ को शीतलता नहीं चाहिए, उसमें अग्नि का निवास होना चाहिए । मेरा बाण बोधिसत्व को अगले जन्म में सच्चा क्षत्रियत्व प्रदान करेगा ।

रुमण्वान : सम्राट् ! तथागत के कंठ में बाण देखकर जनसमूह विद्रोह कर उठेगा ।

उदयन : तब उस विद्रोह का शमन करने के लिए तुम प्रस्तुत रहोगे और तुम्हारी सेना के वे सैनिक प्रस्तुत रहेंगे जिनका सच्चा अनुराग क्षत्रिय उदयन में है, क्षत्रियों की परम्परा मिटाने वाले तथागत में नहीं ।

रुमण्वान : फिर भी, सम्राट्...!

उदयन : क्या तुम भी तथागत के भक्त हो, रुमण्वान ? मेरे आदेश का पालन हो ! इस वातायन से मैं ऐसा शब्द-बेधी बाण चलाऊँगा कि एक क्षण में तथागत को निर्वाण प्राप्त होगा । भविष्य की साधना के बिना ही तथागत को सिद्धि प्राप्त होगी ।

रुमण्वान : जैसी आज्ञा, किंतु···

उदयन : सावधान, रुमण्वान ! मेरे आदेश में 'किंतु' को स्थान नहीं है ! भगवान् राम ने भी शब्द-वेधी बाण से बलि का बध किया था। वही परीक्षा मेरे समक्ष है। धनुष-बाण शीघ्र ही प्रस्तुत हो।

रुमण्वान : जैसी आज्ञा (**प्रस्थान**)।

उदयन : (**अव्यवस्थित होकर**) राज्य के लिए, मेरे राज्य के लिए जो अशुभ है, उसका विनाश करना ही होगा। (**स्वगत**) उदयन ! आज मेरी परीक्षा है, जिस सामावती को मैं प्राणों की भाँति प्रिय समझता हूँ, वही सामावती तथागत को प्राणों से अधिक मानती है। ऐसे तथागत को आज मैं बाणों का लक्ष्य बनाऊँगा। बाण तो तथागत के हृदय में लगेगा, किंतु पीड़ा सामावती को होगी। वह पीड़ा मैं सहन करूँगा। कौशाम्बी के भविष्य को सुधारने के लिए यदि उदयन को अन्तःपुर में शोक की अग्नि भी प्रज्वलित करनी पड़े तो वह प्रतिक्षण प्रस्तुत रहेगा। उदयन केवल अन्तःपुर का नायक न बने, वह कौशाम्बी का सैनिक भी बने···सैनिक···! कौशाम्बी का सैनिक !

[रुमण्वान का धनुष-बाण लेकर प्रवेश]

रुमण्वान : सम्राट् की सेवा में धनुष और बाण प्रस्तुत हैं।

उदयन : लाओ मेरा धनुष। तीक्ष्ण बाण है न ? (**देखकर**) हाँ, इस एक ही बाण में निर्वाण प्रदान करने की शक्ति है। देखो, रुमण्वान ! तुम जाओ और संघ के समीप ही रहो। तुम्हारे सैनिक बाहर होंगे, उन्हें भी साथ ले लो। जैसे ही मेरा बाण तथागत को लगे, वैसे ही तुम और तुम्हारे सैनिक संघ को घेर लेंगे। तथागत को बाण लगने की दुर्घटना में जो हलचल होगी, उसी में तुम वह बाण निकालकर किसी सैनिक के हाथ मेरे पास भेज दोगे ! (**नेपथ्य में सम्मिलित ध्वनि—'संघं सरणं गच्छामि'**) जाओ, शीघ्र जाओ। कहीं उपदेश समाप्त न हो जाए। मेरा बाण शीघ्र ही तथागत के हृदय के पास पहुँचेगा।

रुमण्वान : जो आज्ञा। सम्राट् की जय ! (**प्रस्थान**)

उदयन : (**जोर देकर**) रुमण्वान आदेश के अनुसार ही कार्य करेगा। फिर धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर मैं भी बाण का संधान करूँगा। (**धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते हैं। धनुष को देखते हुए**) यह धनुष···कितने युद्धों में इसने शत्रुओं को आतंकित किया है ! इसकी प्रत्यंचा ने प्रत्येक बाण छोड़ने की गूँज में हृदय को युद्ध के लिए उत्साहित किया है। आज इसकी गूँज केवल एक बार होगी, और उस गूँज में सामावती के हृदय का क्रंदन होगा। कहती थी—मैं तथागत के दर्शन करूँ। मैं नहीं, मेरा बाण तथागत के दर्शन करने जा रहा है।

मैं तो दृष्टि से ही उनके दर्शन करता, यह बाण हृदय में प्रवेश कर उनके अंत:करण के दर्शन करेगा ! जाओ, मेरे प्रिय बाण ! तुम सामावती के हृदय की ज्वाला लेकर···सामावती के हृदय की ज्वाला···ले···कर··· (**वातायन से दृष्टि डालकर**) तथागत की शान्तिमय मुद्रा ! अनेक स्त्रियाँ भी उपदेश सुन रही हैं। स्त्रियाँ···इन स्त्रियों के रूप में सामावती का हृदय भी···सामावती ···मेरी प्रेयसी ! मेरा बाण धनुष से गिर रहा है ! प्रत्यंचा भी हाथ से छूट रही है।···क्या मैं भयभीत हो रहा हूँ ? नहीं···नहीं···ऐसा नहीं हो सकता। सामावती का प्रेम और तथागत की शांत मुद्रा मुझे मेरे कर्त्तव्य से पीछे नहीं हटा सकती···नहीं हटा सकती ! तथागत के हृदय में बाण को प्रवेश करना ही होगा। (**फिर वातायन से देखकर**) रुमण्वान अपने सैनिकों के साथ तथागत के संघ के समीप पहुँच रहा है। अब मैं भी शब्द-बेधी लक्ष्य संधान करूँ। (**शब्द-बेध के लिए शब्द की प्रतीक्षा करते हुए**) शब्द हो··· शब्द हो···। शब्द हो···! (**रुककर**) शब्द···हो···!

[नेमथ्य में सम्मिलित ध्वनि से—'बुद्धं सरणं गच्छामि' तथागत का स्वर]

अब मैं चलता हूँ। भिक्खुओ, गृहपतियो !

प्रमोद-युक्त बयो···क्षेम की चाह करो।

उदयन : (**गहरी साँस भरकर धनुष पर बाण खींचते हुए**) जय महाकाल ! **धनुष से बाण छोड़ देते हैं। बाण की गूँज वातावरण में फैल जाती है।**)

उदयन : (**धीरे-धीरे दुहराते हुए**) जय महाकाल ! जय महाकाल ! जय महा-काल ! (**नेपथ्य में कोलाहल होता है। दूसरे ही क्षण एक नारी का चीत्कार सुन पड़ता है। उसके बाद ही धम्मं सरणं गच्छामि की सम्मिलित ध्वनि**)

उदयन : (**विह्वल होकर**) यह किस नारी का चीत्कार है। (**वातायन से देखते हुए**) तथागत सौम्य मुद्रा में बैठे हैं। उनके समक्ष एक नारी का शरीर ! किसका ? किसका यह शरीर है ? चारों ओर से सैनिक ! नागरिकों की हलचल ! कुछ भिक्षु शरीर को देख रहे हैं। तथागत उस नारी के मस्तक पर हाथ फेरते हैं। यह कैसा कौतुक है ? क्या मेरा बाण अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचा ? किंतु यह कैसे हो सकता है ? फिर मेरा बाण किसे लगा ? उस नारी को ? नहीं··· नहीं···यह कैसे सम्भव हो सकता है ? मेरा बाण अपना लक्ष्य पहिचानता है ! यह कैसी घटना है ! (**पुकारकर**) प्रतिहारी ! (**नेपथ्य से**) उपस्थित हूँ, सम्राट् ! (**प्रतिहारी का प्रवेश**)

उदयन : प्रतिहारी ! यह बाण···बाहर कैसी हलचल हो रही है ? तथागत को बाण···मैं अभी बाहर जाऊँगा···मैं अभी···

[रुमण्वान का प्रवेश]

रुमण्वान : सम्राट् की जय ! (**प्रतिहारी से**) प्रतिहारी ! तुम बाहर जाओ।

प्रतिहारी : जो आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

रुमण्वान : बड़ी विचित्र बात हो गई, सम्राट् !

उदयन : क्या हुआ, शीघ्र बतलाओ।

रुमण्वान : सम्राट् ! आपकी आज्ञानुसार हम लोग चुपचाप संघ के समीप पहुँच गए। सब लोग तथागत का उपदेश सुन रहे थे। किसी का ध्यान हमारी ओर नहीं था।

उदयन : शीघ्र कहो, शीघ्र कहो, रुमण्वान !

रुमण्वान : सम्राट् ! जैसे ही तथागत ने अपना उपदेश समाप्त किया, वैसे ही आपका बाण अपने लक्ष्य पर पहुँचा। ठीक उसी समय महादेवी की सहचरी मंजुघोषा तथागत के कंठ में फूलों की माला डालने के लिए उठ खड़ी हुई। यह बाण मंजुघोषा के कंठ में···।

उदयन : (**विह्वलता से**) मंजुघोषा के कंठ में···! आह ! !

रुमण्वान : मंजुघोषा के कंठ में वह बाण लगा। मंजुघोषा तथागत के चरणों में ही गिर पड़ी।

उदयन : (**करुण स्वर में**) आह, मेरी मंजुघोषा ! तूने तथागत को बचाया !

रुमण्वान : सचमुच, सम्राट्। मंजुघोषा ने तथागत को बचा लिया ! यदि ठीक उसी समय मंजुघोषा तथागत के समक्ष उठ खड़ी न होती तो तथागत के कंठ में वह बाण प्रवेश कर जाता !

उदयन : मंजुघोषा !···मंजुघोषा ठीक उसी समय तथागत के समक्ष क्यों उठ खड़ी हुई ! क्या वह जानती थी कि मैं तथागत पर बाण का प्रयोग करने जा रहा हूँ। मंजुघोषा ! तूने तथागत को क्यों बचाया ? क्यों बचाया ? अपने प्राणों की बलि देकर ! तब तेरे रक्त का अपराध भी तथागत पर है। मैं इसका प्रतिशोध लूँगा। अब दूने वेग से मेरे धनुष की प्रत्यंचा खिंचेगी और तथागत के कंठ और हृदय को बेधने के लिए एक साथ मैं दो बाणों का संधान करूँगा ! धनुष पर ये रहे मेरे दो बाण। रुमण्वान ! जाओ और देखो, इस बार कोई अन्य व्यक्ति तथागत के समक्ष उठकर खड़ा न हो। (**धनुष पर दो बाणों का संधान करते हैं।**)

रुमण्वान : खड़े होने की प्रेरणा अज्ञात होती है, सम्राट्। मंजुघोषा नहीं जानती थी कि उसी क्षण आपका बाण तथागत के समीप पहुँचेगा। घटना-चक्र ही ऐसा घूम गया कि मंजुघोषा ने खड़े होकर तथागत की ओर छोड़ा हुआ बाण अपने कंठ में ले लिया।

उदयन : तो तुम समझते हो कि दूसरी बार छोड़े हुए बाण भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचेंगे ? कोई दूसरा व्यक्ति बीच में उठ खड़ा होगा ?

रुमण्वान : मैं यह नहीं कहता, सम्राट् ! किंतु ज्ञात होता है कि तथागत में बड़ी दैवी शक्ति है । परिस्थितियाँ ही उनके लिए कवच बन जाती हैं ।

उदयन : मैं देखूँगा कि परिस्थितियाँ कैसे उनके लिए कवच बन जाती हैं । तुम जाओ । मैं बाण संधान करता हूँ ।

[नेपथ्य में फिर शब्द—'बुद्धं सरणं गच्छामि')

रुमण्वान : (**वातायन से देखकर**) तथागत इसी ओर आ रहे हैं ।

उदयन : इसी ओर आ रहे हैं ? क्या उन्हें ज्ञात हो गया कि इस घटना का संबंध मेरे कक्ष से है ?

रुमण्वान : ज्ञात हो गया, सम्राट् ! मंजुघोषा ने आपका बाण पहिचान लिया ।

उदयन : मंजुघोषा ने ?

रुमण्वान : हाँ, सम्राट् ! एक सैनिक ने उस बाण को निकालने का प्रयत्न किया । किन्तु मंजुघोषा ने उसका हाथ हटा दिया और आपके कक्ष की ओर संकेत किया ।

उदयन : संकेत दिशा की ओर भी हो सकता है, कक्ष की ओर नहीं ।

रुमण्वान : सम्राट् ! जनता उत्तेजित हो रही है । लोग अनेक प्रकार की बातें कर रहे हैं ।

उदयन : किस प्रकार की बातें कर रहे हैं ।

रुमण्वान : कुछ कहते हैं कि तथागत को ही यह बाण मारा गया है । उनकी हत्या की चेष्टा की गई है ।

उदयन : और तथागत क्या कहते हैं ?

रुमण्वान : तथागत शान्त हैं । वे अन्य लोगों को भी शान्त कर रहे हैं । कहते हैं कि धनुष-क्रीड़ा में यह बाण भूल से इधर आ गया होगा ।

उदयन : (**दुहराते हुए**) धनुष···क्रीड़ा में ही···यह बाण भूल से···इधर आ गया···होगा । तथागत···तो इसे वे मेरा कार्य···मेरा दोष नहीं मानते ?

रुमण्वान : नहीं, सम्राट् ! जो ऐसा मानते हैं उन्हें वे रोकते हैं । उनके हृदय में किसी प्रकार की भी हलचल नहीं है । वे तो जैसे परिस्थितियों पर शासन करते हैं ।

उदयन : तो क्या उनका शासन मेरे शासन से भी महान है ? (**वातायन की ओर देखते हुए**) तथागत···इसी ओर आ रहे हैं । उनके हाथों में मंजुघोषा का शरीर है । उनके पीछे जनता चली आ रही है । मुख-मुद्रा शान्त ! मंजुघोषा उनके हाथों में फूलों की राशि की भाँति निश्चेष्ट पड़ी है । किन्तु पीछे आने वाली जनता में कितनी उग्रता है ।

रुमण्वान : सम्राट् ! क्या मैं तथागत और इस उग्र जनता को द्वार पर ही रोकूँ ?

उदयन : रोकोगे ?···नहीं। रोकने की आवश्यकता नहीं है। तथागत को आने दो। देखूँगा कि तथागत इस काण्ड के सम्बन्ध में मुझसे क्या कहते हैं और जनता मेरे समक्ष कितनी उग्र हो सकती है।

रुमण्वान : जैसी आज्ञा। (**पुकार कर**) प्रतिहारी !

[नेपथ्य से]

उपस्थित हूँ, श्रीमन् !

[प्रतिहारी का प्रवेश]

रुमण्वान : प्रतिहारी ! तथागत तथा अन्य व्यक्ति जो इस कक्ष में प्रवेश करना चाहें, उन्हें रोकने की आवश्यकता नहीं, ऐसी सम्राट् की आज्ञा है।

प्रतिहारी : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

उदयन : (**सोचते हुए**) तो तथागत इस ससय भी शांत हैं।

रुमण्वान : सम्राट् ! तथागत में अवश्य कोई दैवी शक्ति है।

उदयन : (**सोचते हुए**) दैवी शक्ति···!

रुमण्वान : ऐसी परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति शान्त नहीं रह सकता। जन-समुदाय को ही देखिए, वह कितना उग्र हो रहा है।

उदयन : क्या जन-समुदाय तथागत का अनुकरण नहीं करेगा ?

रुमण्वान : सम्राट् ! आपसे एक प्रार्थना है।

उदयन : कौन-सी ?

रुमण्वान : अपने हाथ से धनुष अलग कर दें।

उदयन : सेनापति ! कायरता की बातें मत करो ! क्या मैं अपना कार्य छिपाने के लिए असत्य व्यवहार करूँ ? यह धनुष मेरे हाथों ही में रहेगा। घटनाओं की विचित्रता से मैं अपने-आपको नहीं भूल सकता। मैं वही रहना चाहता हूँ जो मैं वास्तव में हूँ। तुम तथागत का स्वागत करो।

[द्वार पर कोलाहल। तथागत का प्रवेश। उनकी मुखमुद्रा अत्यन्त शान्त है। उनके दोनों हाथों में मंजुघोषा का शरीर है। वे कक्ष के द्वार के समीप ही खड़े रहते हैं। कोलाहल कुछ शान्त होता है।]

रुमण्वान : तथागत की जय !

उदयन : (**अपने आप**) तथागत आ गए। (**प्रकट**) तथागत ने मेरे समीप आने का कष्ट कैसे उठाया ?

तथागत : आयुष्मन् ! बहुत जनों के सुख के लिए, बहुत जनों के हित के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए विहार करता हूँ। जो कोई भय उत्पन्न होता है, वह सभी अनजान से उत्पन्न होना है, पंडित से नहीं। जो कोई उपद्रव

उत्पन्न होते हैं, वे सभी अनजान से ही उत्पन्न होते हैं, पंडित से नहीं, जिस तरह तृण के घर से निकली हुई आग सुन्दर वातायनों वाले महलों को जला देती है।

एक स्वर : वास्तव में सुन्दर वातायनों वाले महल को जल जाना चाहिए।

तथागत : भिक्षुओ ! तुम सब इस कक्ष में प्रवेश मत करो। शान्त रहो। इस कक्ष में कोई न रहे।

[रमण्वान के साथ सभी चले जाते हैं। हलका कोलाहल भी शान्त हो जाता है।]

तथागत : (**मंजुघोषा को पृथ्वी पर** लिटाकर) मंजुघोषा ! तू पृथ्वी पर शयन कर पुण्य उत्पन्न कर। (**उदयन से**) आयुष्मन्। तुम महाप्रज्ञ हो, नानाप्रज्ञ हो, भास्वरप्रज्ञ हो। सुख, चित्त की एकाग्रता, स्पर्श, वेदना, छन्द, अभि-मोक्ष, ये तुमको विदित होकर उत्पन्न होते हैं, विदित होकर स्थित होते हैं। जिस प्रकार धनुष पर तुम्हारा बाण प्रेरणा से आसन लेता है, भावना से स्थित होता है और फल-प्राप्ति पर अस्त होता है।

उदयन : तथागत ! निग्रंथ जैन साधु कहते हैं कि श्रमण गौतम मायावी हैं, मति फेरने वाली माया जानते हैं, आवर्तनी माया जानते हैं, क्या यह सत्य नहीं है ?

तथागत : सत्य में स्थिर हो, आयुष्मन् ! यह स्थान नहीं है, यह अवकाश नहीं है कि तुमसे कुछ कथा-संलाप करूँ। जैसे बलवान पुरुष लम्बे बाल वाली भेड़ को बालों से पकड़ कर घुमाए, उसी प्रकार तुम परिस्थितियों को मत घुमाओ। जैसे साठ वर्ष का हाथी गहरी पुष्करिणी में घुस कर कमलिनी को झकझोर दे, उस प्रकार वाणी को नहीं झकझोनना चाहिए। आयुष्मन् ! प्रश्न करता है कि कर्म का विधान करना उचित है, या दण्ड का विधान करना उचित है ?

उदयन : राजा के लिए दोनों का विधान करना उचित है।

तथागत : आयुष्मन् ! 'दण्ड' 'दण्ड' कहना तथागत का धर्म नहीं है, 'कर्म' 'कर्म' कहना ही तथागत का धर्म है ! काम-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म। काम-कर्म और वचन-कर्म से मन-कर्म श्रेष्ठ है।

उदयन : संभव है।

तथागत : आयुष्मन् ! यदि एक वीर धनुष-बाण उठा कर आए और कहे कि कौशाम्बी में जितने प्राणी हैं, मैं उन्हें एक क्षण में—एक मुहूर्त में—मांस का ढेर कर दूँगा, तो क्या आयुष्मन् ! वह पुरुष कौशाम्बी में जितने प्राणी हैं, उन्हें एक क्षण में—एक मुहूर्त में—मांस का ढेर कर सकता है ?

उदयन : सम्भव नहीं है।

तथागत : आयुष्मन् ! यदि एक वीर पुरुष अपने चित्त को वश में करके मन-कर्म से एकनिष्ठ होकर आए और कहे कि इस कौशाम्बी को एक ही मन के क्रोध से भस्म कर दूँगा तो क्या आयुष्मन् ! वह पुरुष कौशाम्बी को एक मुहूर्त में ही मन के क्रोध से भस्म कर सकता है ?

उदयन : सम्भव नहीं है।

तथागत : मन में सोचकर कहो, आयुष्मन् !

उदयन : सोचकर कह रहा हूँ, सम्भव नहीं है ।

तथागत : तो आयुष्मन् ! क्या तुमने दण्डकारण्य, कलिंगारण्य आदि का अरण्य होना सुना है ।

उदयन : हाँ, तथागत, मैंने सुना है ।

तथागत : तो आयुष्मन् ! तुमने सुना है कि कैसे दण्डकारण्य, कलिंगारण्य, अरण्य हुआ ?

उदयन : तथागत ! मैंने सुना है, ऋषियों के मन के कोप से दण्डकारण्य, कलिंगारण्य, अरण्य हुआ ।

तथागत : तो आयुष्मन् ! मन में सोचकर कहो। तुम्हारा पूर्व से पश्चिम नहीं मिलता, पश्चिम से पूर्व नहीं मिलता। और तुम व्यर्थ 'आवर्तनी माया' की बात कहते हो ! तब बाण की शक्ति से एकनिष्ठ हुए मन की शक्ति तो अधिक है ?

उदयन : भन्ते ! (**सोचते हुए**) आप ठीक कहते हैं, भन्ते ! बाण की शक्ति से एकनिष्ठ हुए मन की शक्ति अधिक है। तब मन ही सुसज्जित होना चाहिए, बाण नहीं। (**धनुष हाथों से अलग कर पृथ्वी पर एक ओर फेंक देते हैं**) मैंने अपनी शक्ति का उपहास किया। तथागत ! मैंने कला तो समझी किन्तु उसका उपयोग मैंने कृपाण से किया। क्षमा करें। मन ही यदि धनुष-बाण बन जाए तो शब्द-बेध की अपेक्षा वह हृदय-बेध कर सकता है। शक्ति का वास्तविक रहस्य आज नवीन ढंग से प्रकट हुआ।

तथागत : आयुष्मन् ! पूर्णरीति से विचार कर कार्य करो। तुम्हारे जैसे महापुरुषों का सोच-समझ कर कार्य करना ही अच्छा होता है।··· (**नीचे देखकर, धीरे से**) ओह ! मंजुघोषा की मूर्छा टूट रही है ।

उदयन : (**व्यग्रता से**) मंजुघोषे !

मंजुघोषा : (**काँपते हुए स्वर में**) मैं कहाँ हूँ, तथागत !

तथागत : उत्तम यश प्राप्त सम्राट् उदयन के समक्ष !

मंजुघोषा : (**दुःखित स्वरों में**) सम्राट् की जय ! बहुत पुरानी बात···स्मृति में··· आ रही है !···सम्राट्···मेरी सारिका के कंठ में···तीर लगा···था··· आज मेरे···कंठ में भी···तीर···तीर लगा है ! हम दोनों···हम दोनों एक

ही परिवार···की थीं। हम दोनों···एक ही प्रकार से···मृत्यु···मृत्यु···

उदयन : मृत्यु नहीं होगी, मंजुघोषे ! तुम भगवान् तथागत की शरण में हो। वाण इतना घातक नहीं है कि उससे···

मंजुघोषा : सारिका के कंठ में लगने वाला···वाण भी···इतना घातक न था। किन्तु उससे···उससे मेरी···सारिका···भूखी ही चली गई···! मैं भी··· भूखी ही जा रही हूँ···तथागत का उपदेश···सुने बिना ही···भूखी···जा रही हूँ। किन्तु···किन्तु कृतज्ञ हूँ···कि आपके वाण ने···मुझे भगवान् के··· भगवान् के चरणों में···मरने का अवसर दिया ! (**अटकते शब्दों में प्रसन्नता के उद्‌गार में**) ओह···मैं कितनी···कितनी सौभाग्यशालिनी हूँ कि··· तथागत के···भगवान् के हाथों में···शयन कर आपके द्वार···द्वार तक आई हूँ···तथागत के पवित्र हाथों में···शयन कर···(**तथागत से**) भगवन् ! मुझे अपने हाथों से···चिता पर सुलाना···अपने हाथों···अग्नि की ज्वाला ···चन्दन के समान···शीतल है।

उदयन : मंजुघोषा ! मेरे हृदय में अग्नि की ज्वाला जला पर तू नहीं मरेगी। महावैद्य जीवक को बुलाकर तेरे प्राणों की रक्षा करूँगा। अपने प्राणों की शक्ति से तुझे जीवित रखूँगा। भगवान तथागत का वचन है कि एकनिष्ठ मन की शक्ति से अरण्य भी दग्ध हो जाता है। उसी से तेरा मृत्यु-कष्ट दूर करूँगा। मृत्यु को दग्ध करूँगा।

तथागत : आयुष्मन् ! ज्ञातव्य को जान लो। मानवीय की भावना करो। परि-त्याज्य को छोड़ दो।

उदयन : किन्तु मंजुघोषा की रक्षा का भार मुझ पर है, भगवन् !

तथागत : मैं सुखी हुआ, आयुष्मन् ! नदियों का मुख सागर है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है, तपने वालों का मुख सूर्य है, इच्छितों का मुख पुण्य है और मनुष्यों के मुख की रक्षा का भार मुझ पर रहना उचित है !

उदयन : (**करुण स्वर में**) मेरे अपराधों को क्षमा करें, भगवन् ! मैं प्रभु की शरण हूँ। (**रुमण्वान को पुकार कर**) रुमण्वान ! राजमहिषियों को मेरी ओर से सूचना दो कि भगवान् पधारे हैं। उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करो। शंखों और भेरियों से भगवान् के दिग्विजय की सूचना दो।

रुमण्वान : (**प्रवेश कर**) जैसी आज्ञा। (**प्रथान**)

तथागत : तथास्तु, आयुष्मन् ! इस धर्म-चक्र के प्रवर्तन में ही मानव का कल्याण हो !

[नेपथ्य में शंख और भेरी-नाद]

जौहर की ज्योति

भूमिका

इसमें सन्देह नहीं कि समस्त देश में राष्ट्रीयता की प्रेरणा राजस्थान में सबसे अधिक रही है। पश्चिमी सीमा से लगा हुआ रहने के कारण विदेशी आक्रमणकारियों ने उस पर निरन्तर आक्रमण किए हैं और दक्षिण का द्वार समझ कर उन्होंने उसे अपनी विजय का राजमार्ग समझा है। इसका परिणाम यह हुआ कि आक्रमण को रोकने के लिए तथा विदेशियों से संघर्ष लेने के लिए वहाँ एक ऐसे वर्ग की परम्परा स्थापित हुई जो रण-क्षेत्र को अपने जीवन की प्रगति में एक आवश्यक अंग मानने लगा और उसके लिए निरन्तर सन्नद्ध और कटिबद्ध रहने लगा। भौगोलिक परिस्थितियों ने भी संघर्ष लेने में सहायता पहुँचाई। ऊँचे-ऊँचे पर्वत खण्ड, घाटियों और वनों ने अनेक दुर्ग, रक्षा-स्थल और आक्रमण करने के गुप्त स्थानों की पूर्ति की और राजस्थान जहाँ एक ओर अनेकानेक राजवंशों का केन्द्र रहा वहाँ प्रत्येक समय युद्धों और संघर्षों की रक्त-रंजित भूमि भी रहा।

राजवंशों के गौरव की सुरक्षा में अनेक वीरों ने युद्धों में लड़कर विजय प्राप्त की और यदि विजय प्राप्त करने में कठिनाई हुई तो उन्होंने युद्ध में अपनी बलि देने में स्वयं को सौभाग्यशाली समझा। इस भाँति राजस्थान में क्षत्रियों की इस जाति की ऐसी परम्परा चल निकली जो अपने को राजपूत कहते हुए अपने राज्य की स्वतंत्रता के लिए अपने मरण को एक पर्व समझने लगे।

राजस्थान में अनेक राजवंश हुए जिनकी कीर्ति-गाथा से हमारे देश का इतिहास स्वर्णाक्षरों से लिखा जा सकता है। न केवल राजपूत वीरों ने अपितु राजपूत नारियों ने या तो कृपाण लेकर युद्धों में शत्रुओं से लोहा लिया या अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए अपने को अग्नि की लपटों में समर्पित कर दिया। अग्नि में समर्पित हो जाने के 'जौहर' पर्व से राजस्थान का इतिहास अनन्त काल तक गौरव की कान्ति से देदीप्यमान रहेगा।

प्रस्तुत नाटक सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ होता है जब मुग़ल वंश के अन्तिम शक्तिशाली सम्राट् आलमगीर औरंज़ेब ने अपनी शक्ति मारवाड़ के

तेज से तौलनी चाही। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने तो राजपूत वीरों को अपनी सेना में महत्त्वपूर्ण पद देकर उनकी शक्ति से मुग़ल साम्राज्य को जैसे एक कवच पहिना दिया था, किन्तु औरंगज़ेब ने उस कवच को तोड़कर जैसे अपने एकाकी बाहुबल से विरोधी तत्त्वों पर विजय पाने की चेष्टा की थी। मेवाड़ और मारवाड़ जैसे शक्तिशाली और निर्भीक राज्यों को तो औरंगज़ेब ने अपना शत्रु बना ही लिया था, सामान्य हिन्दू जनता पर जजिया 'कर' लगाकर उनके विद्वेष और अविश्वास की आग भी भड़का दी थी।

इतिहासकारों ने यह स्पष्ट ही लिखा है कि औरंगज़ेब किसी भी व्यक्ति पर विश्वास नहीं करता था। इसलिए उसने अपने पुत्रों को सुदूर प्रदेशों का प्रबन्ध करने के लिए अपने से अलग हटा दिया था। इस्लाम का प्रचार करने के लिए उसने अन्य धर्मों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करने का व्रत ही ले लिया था, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हो सका। और दो शताब्दियों में सुदृढ़ मुग़ल साम्राज्य ध्वस्त हो गया।

मारवाड़ के शक्तिशाली नरेश थे महाराणा जसवन्तसिंह जिनसे औरंगज़ेब को सदैव शंका बनी रहती थी कि उनके नेतृत्व में कहीं ऐसा विद्रोह न उठ खड़ा हो जो शक्तिशाली मुग़ल फौज से भी दबाया न जा सके, इसलिए जब पश्चिमोत्तर प्रदेश में विद्रोह हुआ तो औरंगज़ेब ने महाराणा जसवन्तसिंह को काबुल भेज दिया। अभिप्राय यह था कि या तो महाराणा जसवन्तसिंह उस विद्रोह को दबा न सकेंगे और सन्धि करने पर उन्हें दोषी ठहराया जा सकता था या वे विद्रोहियों द्वारा मार डाले जाएँगे और इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य का काँटा सदैव के लिए दूर हो जाएगा। किन्तु महाराणा जसवन्तसिंह ने विद्रोह बुरी तरह कुचल दिया। औरंगज़ेब इस असाधारण शक्ति और शौर्य से चकित रह गया, किन्तु उसके विद्वेष की ज्वाला बुरी तरह भड़क उठी।

अजमेर में भी एक छोटा-सा विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसे शान्त करने के लिए औरंगज़ेब ने महाराणा जसवन्तसिंह के बड़े पुत्र को उस कार्य के लिए भेजा। बड़े पुत्र पृथ्वीसिंह ने भी उस विद्रोह का शमन कर दिया। औरंगज़ेब मन ही मन तो बहुत दुःखी हुआ, किन्तु ऊपर से प्रसन्नता प्रकट करने के लिए उसने राजकुमार पृथ्वीसिंह को दिल्ली बुला भेजा और पुरस्कार स्वरूप उसे राजसी वेशभूषा पहिनने के लिए प्रदान की। वह राजसी वेशभूषा विष से सींचकर सुखा ली गई थी। उसके पहिनने से राजकुमार की मृत्यु कुछ ही क्षणों में हो गई।

यह समाचार काबुल पहुँचा। सुनकर महाराणा जसवन्तसिंह को अपने पुत्र-शोक में जो मानसिक आघात लगा उससे वे अस्वस्थ हो गए। कहा जाता है कि उस अस्वस्थता से वे फिर नहीं उठ सके। उस समय उनकी रानी गर्भवती थी,

अत: उसकी रक्षा के लिए उन्हें विशेष सावधानी और व्यवस्था करनी थी। उन्होंने उसकी रक्षा का भार अपने सरदारों को सौंपा। उन्हीं सरदारों में सबसे अधिक बुद्धिमान और शक्तिशाली सरदार दुर्गादास था।

दुर्गादास ने जिस प्रकार मारवाड़ वंश की रक्षा के लिए उपाय रचे और अपनी बुद्धि और शक्ति का परिचय दिया, वही इस नाटक का मुख्य विषय है। प्रकारान्तर से इस नाटक को दुर्गादास के शौर्य और विक्रम की एक रक्तरंजित रूपरेखा ही कह सकते हैं। उनके वीरत्व की पूर्णता में एक मुसलमान राजकुमारी ने योग दिया, जिस प्रकार विस्तीर्ण नीले आकाश में एक उज्ज्वल तारिका निकल आए और उस तारिका से आकाश की शोभा दर्शनीय हो उठे।

यों तो दुर्गादास ने राजस्थान के इतिहास में जो शौर्य और विक्रम के कार्य किए हैं वे हमें महाराणा प्रताप का स्मरण दिलाते हैं। महाराणा प्रताप ने जिस प्रकार मेवाड़ की रक्षा की, उसी प्रकार दुर्गादास ने मारवाड़ की। महाराणा प्रताप एक नरेश थे और दुर्गादास मात्र एक सरदार ही थे इसलिए महाराणा प्रताप ने जहाँ आत्म-सम्मान और कष्ट सहन करने की कसौटी पर कसकर अपनी राष्ट्रीयता की पताका उठाई थी, वहाँ राठौर सरदार दुर्गादास ने आत्मविश्वास और साहस की अग्नि की लपटों में अपने स्वातंत्र्य-प्रेम की ध्वजा ऊँची की। अन्तर यह भी था कि अकबर राजपूतों के प्रति किसी सीमा तक सहिष्णु था, किन्तु औरंगज़ेब 'काफ़िरों' के लिए क्रूर और कष्टदायी था। ऐसी परिस्थिति में दुर्गादास को शाही फ़ौजों के युद्धों में अधिक शक्ति और वेग की क्षमता रखनी आवश्यक थी।

कथानक की दृष्टि से मारवाड़ के इतिहास का उतना ही भाग लेना समीचीन ज्ञात हुआ जिससे राठौड़ वीर दुर्गादास के वास्तविक व्यक्तित्व का निरूपण हो सके। इससे परोक्षत: औरंगज़ेब की नीति का भी परिचय प्राप्त हो जाता है।

चरित्रांकन में चरित्रों के वंशगत संस्कार और परिस्थितियों के प्रभावों से ही अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थितियों के प्रसंग आ गए हैं। इनके द्वारा दुर्गादास, श्री माया, कुमार अजीतसिंह और सफ़ीयत-उन्-निसा बानू के चरित्र विशेष रूप से उभर सके हैं। सफ़ीयत-उन्-निसा बानू में भी हिन्दू माता से उत्पन्न होने के कारण हिन्दू-संस्कार ही थे। उसके पिता अकबर को विलासिता और विद्रोह के झुटपुटे में अवकाश ही कहाँ था कि वह अपनी पुत्री के स्वभाव और मानसिक वृत्तियों को ओर ध्यान दे सके। राठौर सरदार को अपनी इच्छा दुर्गादास के निरीक्षण में सफ़ीयत अंकुर की भाँति बढ़ सकी और उसमें त्याग और संयम का ही सुमन प्रस्फुटित हो सका। संवादों तथा उनको स्पष्ट करने वाली भाषा ने चरित्रों के स्वभाव की छोटी-छोटी भंगिमाओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

मैं आशा करता हूँ कि प्रस्तुत नाटक से जहाँ सत्रहवीं शताब्दी के भारतीय

इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ सामने आ सकेगा, वहाँ भारतीय चरित्रों की ऐसी सुदृढ़ रूपरेखा भी प्राप्त हो सकेगी जो पाठकों के हृदय में आत्म-सम्मान, चरित्रनिष्ठा और राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत कर सके। आज के युग में यदि इन चरित्रों की झलक हृदय में बिम्बित हो जाए तो जीवन की अनेकानेक समस्याएँ सहज ही में हल हो सकती हैं।

—लेखक

पात्र

राठौर वीर दुर्गादास

विजयसिंह

अहमद बेग

रज्जब अली

महारानी श्रीमाया

राजसिंह

एक सामन्त

दूसरा सामन्त

तीसरा सामन्त

चौथा सामन्त

प्रहरी

करुणा

शाहज़ादा अकबर

बेगम तेज कुँअरि

सफ़ीयत-उन्-निसा बा॰

अजीतसिंह

आयशा

प्रथम अंक

[दिल्ली में मारवाड़ राज्य का महल विद्युत् के मन्द प्रकाश में दूर दिखाई देता है। प्रकाश शनैः-शनैः अन्धकार में बदलता है और पुनः प्रकाश फैलते-फैलते पर्दा उठता है। महल का एक कक्ष है। उसमें दीवारों पर राजस्थानी वीरता के दो-तीन चित्र लगे हैं। कक्ष में साधारण सजावट है। वातावरण में स्तब्धता है। दुर्गादास और विजयसिंह दोनों की मुद्राएँ गम्भीर हैं। दुर्गादास बार-बार अपनी भुजाओं को कसकर दबाते हुए और कभी-कभी तलवार पर हाथ रखकर बेचैनी से टहलता है और विजयसिंह से वार्तालाप करता जाता है। कक्ष में दाहिनी और बाईं ओर दो पृथक् द्वार हैं।]

दुर्गादास : वीरवर विजयसिंह ! आज शक्ति की परीक्षा है। मुग़ल सेना के महासागर में राजपूतों को बड़वानल की भाँति कार्य करना है। क्या यह कर सकोगे ?

विजय : सेनापति ! राजपूत बचपन से ही खिलौनों से नहीं, कृपाणों से खेलता है और रक्त से भीगी शैया पर ही शयन करता है।

दुर्गादास : यह सत्य है, किन्तु मुग़ल शासकों ने अपनी राजनीति की तेज़ धार से जैसे राजपूतों की शक्ति के पंख काट दिए हैं और वे अपने-अपने राज्यों में निश्चेष्ट पड़े हुए हैं।

विजय : किन्तु सेनापति ! धार चाहे कितनी ही तीखी हो, हमारी शक्ति के पंख नहीं काट सकती, उन्हें जर्जर भले ही कर दे। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि वे जर्जर पंख आपके उत्साह के झंझावात से जैसे गतिशील होने के लिए आतुर हो उठे हैं।

दुर्गादास : मैं तुमसे यही बात सुनना चाहता था, विजयसिंह ! यदि तुम्हारा कथन सही है कि मेरा उत्साह एक झंझावात है, तो क्या तुम और तुम्हारे साथी मेरे साथ गतिशील होने के लिए प्रस्तुत हो ?

विजय : आज्ञा दीजिए, सेनापति !

दुर्गादास : आज संघर्ष की भूमिका तैयार हो गई। आलमगीर औरंगज़ेब ने हमारी महारानी और कुमार अजीतसिंह को अपने अधिकार में लेने की

बात कही। कहा कि मैं महारानी और कुमार को सम्मानपूर्वक अपने साथ रखना चाहता हूँ।

विजय : सम्मानपूर्वक ?

दुर्गादास : हाँ, कहा तो यही। लेकिन मैं जानता हूँ कि वे कैसा सम्मान करते हैं। काबुल में हमारे महाराणा जसवन्तसिंह को विद्रोही काबुल के सैनिकों को दबाने के लिए भेजा और जब उन्होंने उस विद्रोह को दबा दिया तो पुरस्कार-स्वरूप विष देकर उनका बहुत बड़ा सम्मान किया।

विजय : विष देकर ?

दुर्गादास : हाँ, विष देकर। उन्हें भोजन में विष दिलवाया गया। आलमगीर औरंगज़ेब डरता था कि महाराणा जसवन्तसिंह भले ही केवल जोधपुर के नरेश हैं, किन्तु उनका प्रताप इतना प्रबल है कि सारा राजस्थान उनकी भौंहों के संकेत से मुग़ल साम्राज्य पर प्रलय की अग्निवर्षा कर सकता है। इसलिए उन्होंने विष देकर हमारे महाराणा का जीवन समाप्त कर दिया।

विजय : अब कदाचित् वैसा ही सम्मान वह महारानी और कुमार का करता !

दुर्गादास : इसमें क्या सन्देह है ? वह जानता है कि महाराणा जसवन्तसिंह के बाद कुमार अजीतसिंह ही जोधपुर के महाराणा होंगे और राजपूत अपने नए महाराणा को आगे कर अपनी क्रोधाग्नि से मुग़ल साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे।

विजय : इसीलिए वह महारानी और कुमार को अपने अधिकार में लेकर उन्हें भी अपने रास्ते से अलग कर देता।

दुर्गादास : मैं यह जानता हूँ, इसीलिए मैंने कह दिया कि यह असम्भव है। सम्राट् ! हमें आपके सम्मान की आवश्यकता नहीं है। आप जैसा सम्मान करते हैं, उसे हम जानते हैं।

विजय : आप साहसी हैं, सेनापति !

दुर्गादास : साहस कैसा ! यह तो प्रत्येक राजपूत का स्वाभिमान है। वह इतना निर्बल नहीं है कि अपने स्वर्गवासी महाराणा के सम्मान की रक्षा न कर सके। आज हमारे सम्मान का स्वर्ण अग्नि-शिखाओं से घिरा हुआ है। प्रत्येक कण अग्नि से विगलित हो रहा है, किन्तु इस अग्नि से हमारे दोष ही नष्ट होंगे, हमारे सम्मान का स्वर्ण और भी अधिक शुद्ध हो जाएगा।

विजय : इसमें सन्देह नहीं है, सेनापति !

दुर्गादास : तो आज आलमगीर औरंगज़ेब से वाग्युद्ध हो गया ! वह कूटनीतिज्ञ तो है ही, इसलिए उसने मेरे कठोर वाक्य के कृपाण को म्यान में रखने की चेष्टा भी की।

विजय : म्यान में रखने की ?

दुर्गादास : हाँ, उसने मुझे लालच भी दिया। तुम्हें मनसब दूँगा, जागीर दूँगा, प्रधान सेनापति बनाऊँगा···लेकिन यह सब ऐसा लगा जैसे वह हमारे मारवाड़ को कंकर-पत्थरों से तौलना चाहता है। मैंने कहा—सम्राट् ! नक्षत्रों को मोती की माला बनाकर नहीं पहना जा सकता ! सुगन्धि शीशी में बन्द नहीं की जा सकती और चाँदनी पात्रों में नहीं समेटी जा सकती। आप महारानी और कुमार को किसी तरह भी नहीं पा सकेंगे।

विजय : जब तक एक भी राजपूत जीवित है, आलमगीर औरंगज़ेब की नीति, राजनीति उनकी छाया भी नहीं छू सकती।

दुर्गादास : मुझे इसका विश्वास है, तभी मैंने कहा, किन्तु हमें इस बात के लिए तैयार रहना है कि किसी भी समय मुग़ल साम्राज्य की सारी शक्ति हमारे अस्तित्व को नष्ट करने के लिए मुक्त की जा सकती है।

विजय : उसका हमें भय नहीं है, सेनापति !

दुर्गादास : तो हमारा महल घेरने के लिए मुग़ल सेना आती ही होगी। पूर्व योजना के अनुसार क्या हम सब तैयार हैं ?

विजय : बिलकुल तैयार हैं, यद्यपि हमारे साथ केवल दो सौ राजपूत हैं। किन्तु वे सब युद्ध के लिए अपने शस्त्र सम्हाले हुए हैं, हम सब महारानी की रक्षा करेंगे।

दुर्गादास : मैं स्वयं महारानी और कुमार की रक्षा के लिए तैयार रहूँगा। ऐसी व्यवस्था की जाए कि हम लोग मुग़ल सेना के सबसे कमज़ोर भाग पर टूट पड़ें और बड़े वेग से महारानी और कुमार को लेकर शत्रुओं को मारते-काटते निकल जाएँ। हम लोगों को युद्ध में मरने का संकल्प अपनी भुजाओं पर धारण करना होगा। विजयश्री के बाजे और नगाड़े बजेंगे।

विजय : ऐसा ही होगा।

दुर्गादास : जिस तरह वर्षाकाल में घने बादलों के समूह चारों ओर से घिरे रहते हैं, घोर गर्जन-तर्जन की ध्वनि दिशाओं को दहलाती रहती है, किन्तु बिजली बादलों को चीरकर पृथ्वी की ओर तड़प उठती है, उसी प्रकार असंख्य मुग़ल सिपाहियों की सेना चीरकर हमें वेग से दिल्ली की सीमा से बाहर निकल जाना है। जिस प्रकार बिजली पर बादलों का काला दाग़ नहीं लगता, उसी तरह महारानी और कुमार को शत्रुओं का एक भी प्रहार नहीं लगना चाहिए।

विजय : नहीं लगेगा, सेनापति ! इसका विश्वास रखिए। जब महारानी और कुमार के घोड़ों के एक ओर आप और दूसरी ओर मैं दस-दस राजपूत सैनिकों के साथ रहेंगे तब किसकी तलवार महारानी की छाया को छ सकेगी ?

दुर्गादास : कुछ ऐसा ही प्रबन्ध करना होगा। जाओ, हम लोग अगले जन्म में फिर मिलेंगे। (**नेपथ्य की ओर देखकर**) यह कौन आ रहा है?

विजय : तो मैं प्रबन्ध करने की आज्ञा चाहता हूँ। समय बहुत कम है।

दुर्गादास : ठीक है, तुम जाओ और सबको शीघ्र ही तैयार करो।

[अहमदबेग का प्रवेश]

दुर्गादास : तुम कौन?

अहमदबेग : बन्दगी अर्ज़ करता हूँ, सरदार साहब ! आप मुझे जानते होंगे, मेरा नाम अहमदबेग है।

दुर्गादास : अहमदबेग ?

अहमदबेग : जी, हुज़ूर के पास ही तो था जब हुज़ूर जहाँपनाह से बातें कर रहे थे।

दुर्गादास : हाँ, मैंने बादशाह के दरबार में आपको देखा था।

अहमदबेग : ज़हे किस्मत ! आपने मुझे पहचाना। और मैं तो वहाँ हुज़ूर को देखता ही रह गया। वल्लाह ! क्या रौनक़ थी हुज़ूर के चेहरे पर और तेवर भी क्या लाजवाब थे ! सरदार साहब ! मैं कुराने पाक की क़सम खाकर कह सकता हूँ कि आज तक ख़ुदावन्द आलमगीर जहाँपनाह से बेख़ौफ़ बात करने की हिम्मत मैंने किसी शख़्स में देखी ही नहीं। यह आपका जोश-ए-जलाल था कि इस कदर साफ़गोई की मिसाल आपने सारे ज़माने में क़ायम कर दी ! हुज़ूर ! मैं कुर्बान हूँ आपकी हिम्मत पर और हैरान हूँ आपकी दिलेरी पर ! वल्लाह ! ख़ुदा की ज़ात तो बेमिसाल है ही, उसकी सिफ़त भी आपकी रूह में इस क़दर रौशन हो उठी है, हुज़ूर ! यह मैं नहीं जानता था। लिल्लाह ! (**आदाब बजाता है**) नहीं जानता था।···

दुर्गादास : अहमदबेग साहब ! आपकी इस प्रशंसा के लिए धन्यवाद ! आपको और कुछ कहना है?

अहमदबेग : कहना क्या है, हुज़ूर ! आफ़ताब से कोई क्या कहे जिसकी एक किरन से सारा आसमान रौशन हो जाता है ! चाँद की कोई क्या तारीफ़ करे जो हज़ार बार घटता है लेकिन फिर दोबाला होकर सारी कायनात के जिस्म में रूह फूँक देता है। और फिर ज़बान की क्या तारीफ़ हो जो बेख़ौफ़ इस क़दर मौजों में लहराती है कि उसके आगे गंगोजमन भी शरमा जाएँ !

दुर्गादास : देखिए, अहमद साहब ! काम की बात कहें। मेरे पास ज़्यादा वक्त नहीं है।

अहमदबेग : हुज़ूर, वक्त की बात न पूछिए। यह तो हम लोग हैं कि वक्त के पीछे परेशान रहते हैं, लेकिन आप जैसी हस्तियों के ज़ेरसाए तो वक्त भी

गुलाम की तरह परवरिश पाता है। वक्त तो हुज़ूर ! इन्तज़ार करता है कि कब आप कोई बात अपनी ज़बाने-मुबारक से फ़रमाएँ और वक्त उसे पूरा करे।

दुर्गादास : अच्छा ! अब आप यहाँ से तशरीफ़ ले जाएँ।

अहमदबेग : जितनी देर हुज़ूर से गुफ्तगू करने का मौक़ा मिले उतनी देर ज़िन्दगी भी जैसे रुककर हुज़ूर को देखने लगती है। मैं तो यही अर्ज़ करने आया था कि हुज़ूर के बाद बादशाह सलामत ने उस जलसे में आपकी ऐसी तारीफ़ की कि उसे बयान करने में मेरे अलफ़ाज़ भी ओछे साबित होते हैं।

दुर्गादास : उसकी ज़रूरत भी नहीं है।

अहमदबेग : तो हुज़ूर बादशाह सलामत ने फ़रमाया कि अगर दुर्गादास अपने इरादों पर फिर एक बार ग़ौर फ़रमाते···

दुर्गादास : अहमद साहब ! दुर्गादास कभी कोई ऐसी बात नहीं कहता जिस पर उसने पूरी तरह विचार न कर लिया हो। मैं तुम्हारे बादशाह के इरादों को अच्छी तरह जानता हूँ। उन्होंने जैसा व्यवहार राजपूतों के साथ किया है, वह उनकी सारी सल्तनत की बुनियाद को उखाड़ने के लिए काफ़ी है। यह तो अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का नाम है जो औरंगज़ेब की बिखरती हुई शक्तियों को सँभाले है, नहीं तो राजपूतों ने यह मुग़ल बादशाहत खोदकर फेंक दी होती ! अच्छा, अब आप जा सकते हैं।

अहमदबेग : आपके रूबरू कभी हाज़िर होने का फ़ख्र हासिल कर सकता हूँ ?

दुर्गादास : अवश्य ! आप मुग़ल सेना के साथ आइए। युद्ध के क्षेत्र में हम लोग मिल सकते हैं।

अहमदबेग : जंग में तो मैं हुज़ूर के क़दमों में गिर पड़ूँगा जिससे या तो हुज़ूर मुझे गले लगा लें या हुज़ूर की तलवार से मेरा गला लग जाए। जैसी हुज़ूर की मर्ज़ी हो ! बन्दा तो हुज़ूर की दिलेरी का दीवाना है। हुज़ूर का का शार्गिद बनने के लिए बहुत-सी बातें करने आया था—अगर वक्त मिलता तो···

दुर्गादास : आप युद्ध-भूमि में मेरे शागिर्द बनें। अच्छा, सलाम।

अहमदबेग : अच्छा हुज़ूर, खुदा आपकी दिलेरी महफूज़ रखे! आदाब ! (**प्रस्थान**)

दुर्गादास : यह भी आलमगीर का एक षड्यन्त्र है कि अहमद खाँ मुझे बातों में उलझाए रखे, और मुग़ल सेना हमारा महल घेर ले। (**पुकारकर**) रज्जब अली !

[नेपथ्य से]

सेनापतिजी !

[रज्जब अली का प्रवेश ! वह आकर सलाम करता है।]

रज्जब : हुक्म हो, सेनापतिजी !

दुर्गादास : यहाँ से जल्दी ही चलने का प्रवन्ध करना है।

रज्जब : सब प्रबन्ध हो गया है सेनापतिजी ! और नहीं तो शाही फ़ौज का मुक़ाबला करने के लिए मेरे हाथ में भाला तो है ही।

दुर्गादास : ठीक, महारानी इस समय कहाँ हैं ?

रज्जब : विजयसिंहजी से बातें कर रही हैं। उन्होंने घोड़ों को तैयार करने का हुक्म दे दिया है। (**भीतर से कुछ खटपट की आवाज़ आती है। रज्जब उस ओर देखता है**) महारानीजी इधर ही आ रही हैं। मैं द्वार पर जाता हूँ। (**प्रस्थान**)

[महारानी श्रीमाया का प्रवेश]

दुर्गादास : महारानी की जय !

श्रीमाया : दुर्गादास ! विजयसिंह ने रक्षा का सब प्रवन्ध कर लिया है। हमारे सैनिक सुसज्जित तो हैं ही।

दुर्गादास : बादशाह औरंगज़ेब के पास जाने के पहले ही मैंने उन्हें आज्ञा दे दी थी कि वे शस्त्रों से सुसज्जित रहें और किसी क्षण किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहें। कुमार कहाँ हैं ?

श्रीमाया : वे भी अपनी छोटी-सी तलवार लिए शत्रु की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

दुर्गादास : (**हँसकर**) उनकी छोटी-सी तलवार में अभी से इतनी शक्ति है ! आपके और आपके और महाराणा जसवन्तसिंह के कुमार की तलवार की यह विशेषता होनी ही चाहिए, किन्तु महारानी ! कुमार को शत्रु की प्रतीक्षा इस समय नहीं करनी है।

श्रीमाया : यदि अवसर आ जाए तो शत्रु की प्रतीक्षा ही नहीं, युद्ध भी करना होगा। क्या सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु ने अपनी छोटी अवस्था में युद्ध नहीं किया था।

दुर्गादास : महारानी ! अभिमन्यु बालक अवश्य था, किन्तु उसके पिता···जाने दीजिए महारानी जी ! कुमार अजीतसिंह जोधपुर के उत्तराधिकारी हैं। राजवंश के एकमात्र दीपक ! किसी भी आँधी या तूफ़ान से उस दीपक को बचाना है, जब तक कि वह दीपक सूर्य न बन जाए। आपकी और कुमार की रक्षा तो करनी ही होगी।

श्रीमाया : कुमार की रक्षा की चिन्ता आप अवश्य करें। मेरी चिन्ता क्या ? मैं क्षत्राणी हूँ। समर-भूमि में मेरी कृपाण मेरी रक्षा कर सकती है।

दुर्गादास : आपकी वीरता की गाथा तो प्रसिद्ध ही है। काबुल से चलते समय आपकी कृपाण ने जितने विद्रोहियों के सिर काटे थे, वह तो प्रत्येक सैनिक जानता है, किन्तु कुमार की रक्षा के साथ आपकी रक्षा करना हम सब सैनिकों का कर्त्तव्य है। आपके बिना कुमार सुखी नहीं रहेंगे।

श्रीमाया : आपके संरक्षण में कुमार के जीवन में कोई बाधा नहीं आएगी, मेरा विश्वास है।

दुर्गादास : आपका विश्वास ही मेरा बल है, महारारी ! इसी बल के प्रयोग का अवसर शीघ्र ही आने को है। आप जानती हैं कि बादशाह औरंगज़ेब आपको अपने अधिकार में रखना चाहता है। कहता है कि हम महारानी को सब प्रकार की सुविधाएँ देकर सुखी रखना चाहते हैं, जैसे अब राजपूतों में शक्ति नहीं रही कि वे अपनी महारानी की सेवा कर सकें। मैंने औरंगज़ेब से स्पष्ट कह दिया कि मारवाड़ के एक भी सैनिक के जीते-जी महारानी आपको नहीं सौंपी जा सकतीं।

श्रीमाया : औरंगज़ेब का फौलादी पंजा यदि सामने होता भी तो क्षत्राणी अपनी रक्षा स्वयं कर सकती है। मेरे महाराणा तो बादशाह से नहीं लड़ सकते थे। मैं अपनी कटार का प्रयोग करना जानती हूँ।

दुर्गादास : मैं भी यह जानता हूँ महारानी ! किन्तु उसकी क्रूर दृष्टि कुमार पर थी। वह मारवाड़ के उत्तराधिकारी को भी विष देता और मारवाड़ को मुग़ल सल्तनत में मिला लेता। आप तो औरंगज़ेब की कूटनीति जानती हैं।

श्रीमाया : उसे देश का प्रत्येक व्यक्ति जानता है।

दुर्गादास : और जैसे ही मैं उसके प्रस्ताव को ठुकराकर आया, वैसे ही उसने अपना एक आदमी जो मेरी भेजा प्रशंसा कर मुझे बातों में उलझाए रखे और इसी बीच शाही फ़ौज हमारे महल को घेर ले और हमें जोधपुर न जाने दे।

श्रीमाया : तो मैं भी अपनी बातों से विलम्ब कर रही हूँ। दुर्भाग्य से हमारा आत्मविश्वास इतना प्रबल है कि उससे कभी-कभी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। अच्छा, हम सब तैयार हैं। हमें यहाँ से शीघ्र चलने का प्रबन्ध करना चाहिए।

दुर्गादास : अच्छा हो, यदि आप अपने घोड़े पर कुमार को भी बिठा लें।

श्रीमाया : मैं चाहती तो यही हूँ, किन्तु वह स्वयं दूसरे घोड़े पर बैठना चाहता है।

दुर्गादास : दूसरे घोड़े पर बैठने का अवसर आगे आएगा, लेकिन अभी नहीं। यदि शाही सेना ने हमें घेर लिया तो आक्रमण करते हुए हमें तीव्र गति से अपने राज्य की ओर जाना होगा। ऐसी स्थिति में यदि कुमार का घोड़ा तेज़ न भाग सके और कुमार शत्रु के हाथों में पड़ जाएँ तो ठोक नहीं होगा। इसलिए अभी कुमार को आपके ही घोड़े बैठना होगा।

श्रीमाया : तुम ठीक कहते हो दुर्गादास ! ऐसा ही होगा।

दुर्गादास : अच्छा तो आप तैयार रहें। मैं भी अपने कक्ष में जाकर अपने शस्त्र सँभाल लूँ।

[दोनों विपरीत दिशाओं में जाते हैं।]

[यवनिका]

द्वितीय अंक

मेवाड़ का राजमहल

[मेवाड़ नरेश महाराणा जयसिंह का दरबार। सामन्तगण यथास्थान बैठे हैं। दुर्गादास हाथ में कृपाण लिए उपस्थित हैं।]

दुर्गादास : महाराणा ! हम लोग आज ही प्रातःकाल यहाँ आये। दिल्ली में बादशाह औरंगज़ेब ने हमारा महल घिरवा लिया और पाँच हज़ार सिपाहियों की फ़ौज हमारा रास्ता रोके हुए थी। किन्तु हमारे राजपूत वीरों ने महारानी और कुमार को एक तेज़ घोड़े पर बिठाकर इस वेग से धावा बोला कि सारी फ़ौज के बीच में हमारे वेग की एक लकीर-सी बन गई थी और हम लोग मुग़ल सिपाहियों को काटते-मारते हुए निकल आए। हमारे डेढ़ सौ वीर काम आए और हम आपके राज्य की सीमा में पहुँच गए।

राजसिंह : वीर दुर्गादास ! तुमने महारानी और कुमार की रक्षा कर राजस्थान के इतिहास में स्वर्ण-पृष्ठ जोड़ दिए हैं। जोधपुर के सिंहासन को तुमने औरंगज़ेब की क्रूरता के महासागर से निकाल लिया है। इसके लिए मैं तुम्हें यह कृपाण भेंट करता हूँ।

[आदर से दुर्गादास कृपाण ग्रहण करते हैं।]

दुर्गादास : महाराणा ! काबुल में कुमार पृथ्वीसिंह को जो राजसी पोशाक औरंगज़ेब ने प्रदान की थी वह विष से सींची गई थी। उसको धारण करते ही कुमार पृथ्वीसिंह भूमि पर गिर पड़े और थोड़ी देर में ही स्वर्ग चले गए। इस सूचना से हमारे महाराणा जसवन्तसिंह को ऐसा आघात लगा कि वे अस्वस्थ हो गए। उनकी अस्वस्थता में ही बादशाह ने उनके भोजन में विष मिलवा कर उनके प्राणों का अन्त कर दिया। उनके मरने से पूर्व मैंने उनकी शैया के निकट ही शपथ ली कि मैं अपने जीवन-पर्यन्त महारानी और कुमार की

रक्षा करूँगा। मैंने प्रशंसा का कोई कार्य नहीं किया।

राजसिंह : मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब की कूटनीति का विघटन तुमने किया, दुर्गादास ! शत्रु-सेना के घिराव को तोड़कर महारानी की रक्षा तुमने की, दुर्गादास ! आतंक के विष को शौर्य और शक्ति के अमृत से तुमने दूर किया। जिस स्वामी के तुम सेवक हो, वह स्वामी वास्तव में सौभाग्यशाली है।

एक सामन्त : हम सबके लिए तुमने एक महान आदर्श उपस्थित किया है। हम सब तुम्हारा अनुकरण करेंगे, दुर्गादास !

दुर्गादास : आपके स्नेह से मैं कृतार्थ हुआ। किन्तु अब आगे के कार्य पर विचार करना है। महाराणा ! आपने महारानी और कुमार को शरण दी है। बादशाह औरंगज़ेब यह अवश्य जान जाएगा कि महारानी और कुमार जयपुर-नरेश के संरक्षण में हैं। उन्हें पाने के लिए वह मेवाड़ पर शीघ्र ही आक्रमण करेगा।

राजसिंह : उस आक्रमण की हमें चिन्ता नहीं है। हमारे पास ऐसी शक्तिशालिनी सेना है कि वह औरंगज़ेब की फ़ौज के दाँत खट्टे कर सकती है। हमारे सामने महाराणा प्रताप की परम्परा है। अपनी सारी शक्ति लगाकर भी सम्राट् अकबर उन्हें बस में नहीं कर सका। इसी तरह वह भयानक-से-भयानक फ़ौज भेजकर भी न तो मेवाड़ का कुछ बिगाड़ सकता है और न महारानी और कुमार को अपने अधिकार में कर सकता है।

दुर्गादास : धन्य हो, महाराणा ! हमारी सेना भी पूर्ण रूप से आपका साथ देगी। जब हमारे तीन सौ राजपूतों ने बादशाह की पाँच हज़ार सिपाहियों की सेना के छक्के छुड़ा दिए तो आपके पास तो बहुत बड़ी सेना है, जिसका एक-एक राजपूत सैनिक सौ-सौ मुग़ल सैनिकों के बराबर है।

दूसरा सामन्त : हमारे महाराणा की प्रचण्ड शक्ति देखकर ही बादशाह ने अपना रुख हमारी ओर नहीं किया। नहीं तो अब तक न जाने कितनी बार हमारी पवित्र भूमि मुग़ल सेना से पददलित हो जाती।

तीसरा सामन्त : और वीर दुर्गादास ! हमारी भूमि पर आने से शत्रु भी काँपता है। अरावली पहाड़ों पर आज भी कुछ भील सैनिक हैं। न जाने किस दिशा से कैसा बाण आकर उसके शरीर में विष का प्रवेश कर दे।

चौथा सामन्त : हमारी मातृभूमि जैसे कण-कण में जीवित है। वह जैसे भैरवी बनकर शत्रु के रक्त से अपनी प्यास बुझाती रही है। हमारी मातृभूमि बहुत दिनों से प्यासी है। अच्छा है, यदि औरंगज़ेब हम पर आक्रमण कर दे। उससे हमारी भूमि की प्यास बुझेगी।

दुर्गादास : सामन्तगण ! यह तो सत्य है, किन्तु जिस नीति से औरंगज़ेब अपना

शासन चला रहा है, उससे कोई भी राज्य सुरक्षित नहीं समझना चाहिए। महारानी और कुमार के कारण आपके राज्य पर विपत्ति आए, यह तो न महारानी चाहती हैं और न मैं। हम लोग थोड़ा विश्राम करने का ही समय चाहते हैं। उसके बाद हम लोग मारवाड़ चले जाएँगे।

राजसिंह : आप महारानी से कह दें, वीरवर दुर्गादास ! कि जब तक उनकी इच्छा हो वे निश्चिन्त होकर मेवाड़ के राज्य में रहें। उन्हें किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी। उनकी तथा कुमार की सुरक्षा के लिए हम सब सतर्क और जागरूक रहेंगे ही। फिर मेरे दो राजकुमार हैं, भीमसिंह और जयसिंह। भीमसिंह तो अपने विक्रम में इतना महान् है कि वह महाभारत-काल के पाण्डु-पुत्र भीम का ही अवतार ज्ञात होता है।

पहला सामन्त : जब भीमसिंह युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं तो ऐसा लगता है कि पर्वत के पंख निकल आए हैं और वह उड़कर शत्रु की सेना को दबाकर उसके ऊपर बैठना चाहता है।

दूसरा सामन्त : इससे पहले भी हम लोगों ने कुमार भीमसिंह का विक्रम देखा है। वे बाण चलाने में इतने निपुण हैं कि शत्रु देख ही नहीं सकता कि कब कुमार ने बाण संधान किया और वह अपने लक्ष्य पर पहुँचा।

दुर्गादास : मैंने भी कुमार भीमसिंह के बाण चलाने की प्रशंसा सुनी है।

तीसरा सामन्त : इसके साथ ही वे तलवार का प्रहार भी इतनी शीघ्रता से करते हैं कि शत्रु यह भी नहीं समझ पाता कि कुमार के प्रहार से कौन-सा अंग शरीर से कब कट गया।

चौथा सामन्त : कुमार भीमसिंह इस समय आपके ही राज्य जोधपुर गए हुए हैं। वे आपका आगमन सुनकर शीघ्र ही यहाँ आयेंगे।

[नेपथ्य में एक स्त्री का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है।]

राजसिंह : यह किस स्त्री का चीत्कार सुन रहा हूँ ?

[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी : महाराणा की जय हो ! एक स्त्री क्रन्दन करती हुई द्वार पर खड़ी है। वह सेवा में उपस्थित होना चाहती है।

राजसिंह : (**प्रथम सामन्त से**) देखिए, कौन स्त्री है ? यदि वह यहाँ उपस्थित होना चाहती है तो उसे आने दीजिए।

प्रथम सामन्त : जो आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

राजसिंह : आज अशान्ति के बादल चारों ओर छाए हुए हैं। ज्ञात ही नहीं होता कि किस बादल से बिजली गिरकर हरे-भरे संसार को ध्वस्त कर देगी।

दुर्गादास : मुझे आज्ञा दीजिए, महाराणा ! यदि मैं आपकी कुछ सेवा कर सकूँ।

[सामन्त के साथ एक स्त्री का प्रवेश]

सामन्त : महाराणा ? यह स्त्री आपसे कुछ निवेदन करना चाहती है।

राजसिंह : कहो देवि ! तुम पर कौनसी विपत्ति आ गई ?

स्त्री : (**सिसकियाँ लेती हुई**) महाराणा की जय हो ! मेरी रक्षा कीजिए।

राजसिंह : हाँ, निस्संकोच कहो कि तुम्हें क्या कष्ट है ?

स्त्री : महाराणा ! आज प्रातःकाल दो मुग़ल सिपाही आए और कहने लगे कि तुम हिन्दू हो। बादशाह सलामत के हुक्म से तुम पर जज़िया लगाया गया है।

राजसिंह : मुसलमानी बादशाहत में हिन्दू होना भी एक अपराध है, देवि ! सम्राट् अकबर भी मुलमान थे, किन्तु उन्होंने जज़िया कर नहीं लिया। यह औरंगज़ेब की बादशाहत ही है जिसमें सभी प्रकार का कष्ट हिन्दुओं को दिया जाता है।

स्त्री : हम बहुत निर्धन हैं, महाराणा ! हमारे पास खाने-पीने के अतिरिक्त कोई सम्पत्ति नहीं है, तो उन सिपाहियों ने हमारे बर्तन तोड़कर फेंक दिए और मेरे स्वामी को पकड़कर ले गए। अब मैं कैसे जिऊँगी, महाराणा ? (**सिसकियाँ लेती है।**)

राजसिंह : तुम्हारा नाम क्या है देवि ?

स्त्री : मुझे करुणा कहते हैं।

राजसिंह : और तुम्हारे पति का नाम ?···कोई बात नहीं। (**सामन्त से**) विक्रमसिंह ! तुम इस देवी के पति का पता लगाकर उसे बन्धन-मुक्त कराओ और जज़िया कर राज्य की ओर से जमा कर दो।

विक्रमसिंह : जैसी आज्ञा !··· (**करुणा से**) चलो देवि ! चिन्ता मत करो। तुम्हारे पति शीघ्र ही बन्धन से मुक्त होंगे।

करुणा : महाराणा ! मैं आपकी कृपा का बदला कैसे चुकाऊँगी। आप धन्य हैं। आपकी विजय हो ! हिन्दुओं के प्राणाधार, आपकी जय हो !

[प्रणाम कर विक्रमसिंह के साथ प्रस्थान]

राजसिंह : यह एक स्त्री की कहानी है। इस प्रकार की परिस्थिति से कितनी स्त्रियों की दुर्दशा होगी।

दुर्गादास : बादशाह औरंगज़ेब पर किसी का अंकुश नहीं है। उसका अत्याचार दिनो-दिन असह्य हो रहा है।

दूसरा सामन्त : इस अत्याचार से बचने का कोई उपाय भी तो नहीं है ! हिन्दू

प्रजा क्या कर सकती है ?

तीसरा सामन्त : हम विद्रोह तो कर सकते हैं, किन्तु मुगल सेना की शक्ति अपनी नृशंसता से कितने हिन्दुओं के प्राण न ले लेगी ।

चौथा सामन्त : किन्तु यदि इसका प्रतिकार न किया गया तो यह नृशंसता अन्त में हमारा जीना भी कठिन कर देगी।

राजसिंह : नहीं, इसका प्रतिकार होगा । मैं बादशाह औरंगज़ेब को एक पत्र लिखूँगा जिससे इस प्रकार की घटनाएँ भविष्य में न हों।

दुर्गादास : किन्तु क्या आप समझते हैं, महाराणा ! कि उस पत्र का कुछ प्रभाव बादशाह के मन पर पड़ सकेगा ? उसके अत्याचार की जो दावाग्नि लगी हुई है क्या वह चाँदनी से कभी बुझ सकेगी ?

राजसिंह : बादशाह मेवाड़ की शक्ति जानता है। सहसा वह हमारे निवेदन की उपेक्षा नहीं कर सकेगा।

दुर्गादास : महाराणा ! आप पत्र लिखना चाहते हैं तो अवश्य लिखें, किन्तु उसमें किसी प्रकार का निवेदन या प्रार्थना न हो । यदि पत्र में एक बात भी विनम्रता से लिखी गई तो बादशाह औरंगज़ेब वह पत्र समस्त देश में प्रचारित कर हमारी हँसी उड़ा सकता है। बादशाह निर्दय और निर्मम है। सूखे पेड़ में हरीतिमा की छाया भी नहीं है। अनुनय-विनय के स्थान पर मुग़ल बादशाह को चुनौती देने की आवश्यकता है।

दूसरा सामन्त : और यदि उसने उस चुनौती को अपने सम्मान के विपरीत समझा तो रक्त की कितनी नदियाँ बहेंगी ?

दुर्गादास : क्या बिना चुनौती के ही वह रक्त की नदियाँ नहीं बहाता ?

तीसरा सामन्त : फिर भी यदि रक्त की नदियाँ बहती हैं, तो हमें उसका भी उपाय सोचना होगा ।

चौथा सामन्त : किन्तु आप जानते हैं कि मुग़ल साम्राज्य एक विशाल अजगर की भाँति फैला है । उसकी हलकी-सी साँस में हज़ारों छोटे-मोटे जीव खिंचकर उसके मुख में चले जाते हैं।

राजसिंह : उस अजगर का मुँह हमें बन्द करना है। दुर्गादास ! यदि मेरे पत्र से बादशाह औरंगज़ेब की नृशंसता कम हो जाती है तो पहले उसी का प्रयोग करना चाहिए ।

दुर्गादास : आप यह प्रयोग अवश्य कर लीजिए, किन्तु मुझे आशा नहीं है कि औरंगज़ेब कभी जज़िया बन्द कर सकेगा।

राजसिंह : शत्रु से संघर्ष प्रत्येक दिशा से होना चाहिए। चलो !

(प्रस्थान)

[यवनिका]

तृतीय अंक

[मारवाड़ में दुर्गादास का शिविर। दूर के पर्दों पर और शिविर होने का संकेत। दुर्गादास के शिविर में श्रीमाया ऊँचे आसन पर बैठी हैं। दुर्गादास कृपाण लिए हुए टहल रहे हैं।]

दुर्गादास : (**टहलते हुए**) महारानी औरंगज़ेब मारवाड़ का दीपक बुझाने के लिए शलभ की भाँति चारों दिशाओं में चक्कर लगा रहा है। बेचारा औरंगज़ेब ! इस बार उसने जो उछालें लीं तो दीपक तो नहीं बुझा, किन्तु उसके पंख बुरी तरह जल गए। उसने मारवाड़ पर आक्रमण किया और बुरी तरह पराजित हुआ। शाही सेना इस प्रकार भागी जैसे कोई चिउँटियों की पंक्ति पर उबला हुआ पानी डाल दे और चिउँटियाँ तितर-बितर होकर भाग जाएँ, किन्तु···

श्रीमाया : किन्तु···क्या दुर्गादास ?

दुर्गादास : हमारी भी एक बहुत बड़ी हानि हुई। भीषण युद्ध करते हुए मेवाड़ के राणा जयसिंह के पुत्र भीमसिंह की मृत्यु हुई···

श्रीमाया : मृत्यु हो गई ? हाय ! यह वास्तव में बहुत बड़ी हानि हुई, दुर्गादास ! भीमसिंह बहुत बड़े वीर थे, योद्धा थे।

दुर्गादास : उससे भी बड़ी हानियाँ और भी हुईं, महारानी ! कुमार भीमसिंह की मृत्यु से राणा जयसिंह को इतना बड़ा आघात लगा कि वे संज्ञाहीन हो गए और फिर शैया से उठ नहीं सके। मैं राणा का समाचार लेने उदयपुर गया हुआ था। इसी बीच एक और भी दु:खद घटना हो गई।

श्रीमाया : वह क्या ?

दुर्गादास : आप जानती हैं कि मैंने शाहज़ादे अकबर को आश्वासन दिया था कि यदि वे राजपूतों से मिलकर अपनी सेना के साथ औरंगज़ेब की शाही फ़ौज से युद्ध करेंगे तो हमारी विजय निश्चित है। इसके बदले हम उन्हें दिल्ली का बादशाह घोषित करते। उन्होंने इसे स्वीकार भी कर लिया था और वे अपनी सेना-सहित हमसे मिल गए थे।

श्रीमाया : यह तो जानती हूँ।

दुर्गादास : लेकिन ज्ञात होता है कि अकबर का दिल साफ़ नहीं था। उनकी मित्रता दिखावटी थी, क्योंकि युद्ध होने के पूर्व ही औरंगज़ेब ने अकबर के नाम यह पत्र लिखा (**पत्र दिखलाते हैं**) कि 'शाहज़ादे अकबर ! खुश रहो। तुम्हारी यह राय माकूल है कि राजपूतों की सेना जब शाही फ़ौज पर हमला करे तब तुम पीछे से उन्हें हलाक़ कर देना।' एक सिपाही के हाथ अकबर के पास यह पत्र भेजा गया, किन्तु संयोग से वह विजयसिंह के हाथ

में पड़ गया। राजपूत उस पत्र से सचेत हो गए। शाहज़ादा अकबर वास्तव में बादशाह के पक्ष में ही है। अवसर आने पर वे हमें धोखा दे देंगे। इसलिए वे शीघ्र ही शाहज़ादे अकबर की फ़ौज छोड़कर पीछे हट गए।

श्रीमाया : अकबर राजपूतों को इस तरह धोखा देंगे, इसकी कल्पना नहीं थी और विजयसिंह को पुरस्कार मिलना चाहिए कि उन्होंने वह गुप्त पत्र पकड़ लिया और राजपूती सेना को नष्ट होने से बचा लिया।

दुर्गादास : हाँ, विजयसिंह ने प्रशंसनीय कार्य किया, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि राजपूतों की सेना के हटते ही शाही फ़ौज ने अकबर की अकेली सेना पर आक्रमण किया और उसे बुरी तरह पराजित कर दिया। जब बादशाह औरंगज़ेब शाहज़ादे की इस धोखे-भरी चाल से प्रसन्न था तो उसकी सेना पर आक्रमण करने का क्या अर्थ हो सकता था ?

श्रीमाया : हो सकता है कि औरंगज़ेब को अकबर के बादशाह बनने की बात ही पसन्द न आई हो। उसे अकबर के साथ हमारी शर्त का पता चल गया होगा।

दुर्गादास : लेकिन अकबर के साथ हमारी शर्त तो पूरी नहीं हुई। वह बादशाह तो नहीं बना। औरंगज़ेब के रहते वह बादशाह बन ही कैसे सकता है ? और जब औरंगज़ेब जानता था कि यह खेल सिर्फ़ राजपूतों को धोखा देने के लिए ही है तब अकबर के बादशाह बनने में सचाई ही कहाँ है ?

श्रीमाया : तब क्या बात हो सकती है ?

दुर्गादास : इसमें बादशाह की कोई कूटनीति हो सकती है।

श्रीमाया : वह क्या हो सकती है ? **(सोचती है)** वह गुप्त पत्र जाली तो नहीं था ?

दुर्गादास : विजयसिंह ने वह पत्र मुझे दिया है। वह पत्र यह है। **(पत्र खोलकर दिखलाते हैं)** इस पर खुद औरंगज़ेब की अपनी मुहर है। यह जाली कैसे हो सकता है ?

श्रीमाया : और विजयसिंह ने अकबर से इस सम्बन्ध में बात नहीं की ?

दुर्गादास : विजयसिंह कहते थे कि यह समझकर कि शाहज़ादा अकबर इस तरह दगाबाज़ है, मैंने उनसे बात करने में भी अपना अपमान समझा। मैंने तुरन्त अपनी सेनाएँ हटा लीं और उन्हें छावनी में ले आया।

श्रीमाया : इस समय शाहज़ादा अकबर कहाँ हैं ?

दुर्गादास : सुना है, वे पराजित होकर स्थान-स्थान पर अपना आश्रय खोजते फिरते हैं।

श्रीमाया : वे बादशाह औरंगज़ेब के पास नहीं गए ?

दुर्गादास : यदि बादशाह औरंगज़ेब उन्हें पत्र लिखकर शाबाशी दे सकता है तो उनकी फ़ौज पर आक्रमण नहीं कर सकता। यदि आक्रमण कर सकता है

तो अकबर को दण्ड भी दे सकता है। ऐसी स्थिति में बादशाह औरंगज़ेब के पास जाकर अकबर दण्ड का भागी क्यों बनता ?

श्रीमाया : यह दुर्भाग्य है कि वीरता भी छल और कपट से लांछित होती है। राजपूत वीर हैं। वीरता से वे किसी भी परिस्थिति में संघर्ष ले सकते हैं, किन्तु उनके लिए भाँति-भाँति के षड्यन्त्र रचे जाते हैं जिनसे उनकी शक्ति ही कुण्ठित हो जाती है।

दुर्गादास : अपनी शक्ति के कुण्ठित होने का अवसर मैं किसी भाँति भी नहीं आने दूँगा।

[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी : सेनापति की जय ! शाहज़ादे अकबर साहब अपनी बेगम और बच्ची के साथ द्वार पर उपस्थित हैं।

श्रीमाया : शाहज़ादा अकबर यहाँ आए हैं ?

दुर्गादास : मैं उन्हीं के विषय में सोच रहा था।

श्रीमाया : क्या फिर किसी विपत्ति के बादल मारवाड़ को घेरेंगे ?

दुर्गादास : ऐसा नहीं होगा, महारानी ! आप भीतर जाएँ। मैं शाहज़ादे से बातें करूँगा।

श्रीमाया : सहसा किसी बात पर विश्वास न कर लेना, दुर्गादास !

दुर्गादास : आप निश्चिन्त रहें, महारानी ! मैं वास्तविक स्थिति जानने की चेष्टा करूँगा।

श्रीमाया : मुझे तुम्हारी कार्य-कुशलता पर विश्वास है। मैं जाती हूँ। (**प्रस्थान**)

दुर्गादास : (**प्रहरी से**) उन्हें भीतर आने दो।

प्रहरी : जो आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

दुर्गादास : (**सोचते हुए**) शाहज़ादा अकबर बेगम और बच्ची के साथ ? वे अपने परिवार को अपने साथ क्यों लाए हैं ? विचित्र स्थिति ज्ञात होती है। (**टहलते हुए**) विचित्र स्थिति ! सूचना कहती है कि वे स्थान-स्थान पर अपना आश्रय खोजते फिरते हैं।···तो क्या वे यहाँ आश्रय खोजने आए हैं ?

[शाहज़ादा अकबर का बेगम और पुत्री सफ़ीयत के साथ प्रवेश]

दुर्गादास : (**पत्र पढ़ने की मुद्रा में**) शाहज़ादे अकबर ! खुश रहो। तुम्हारी राय माकूल है कि राजपूतों की सेना जब शाही फ़ौज पर हमला करे तब तुम पीछे से उन्हें हलाक़ कर देना···हलाक़ कर देना···हलाक़ कर देना। (**दृष्टि उठाकर**) शाहज़ादा अकबर ! बादशाह औरंगज़ेब के सच्चे हितैषी ! कूट-नीतिज्ञ पिता के पुत्र !

अकबर : राठौर सेनापति ! यह तुम कहते हो ? राठौर आज्ञाकारी दुर्गादास ! मैं समझता था कि राजपूत अपने क़ौल पर साबित क़दम होते हैं, लेकिन शाहज़ादे को बादशाह का बाग़ी बनाकर उसे जंग में ज़लील कर देना क्या राजपूतों को ज़ेब देता है ?

दुर्गादास : और राजपूतों के मित्र बनकर अपने-आपको बादशाह बना देने का वचन लेकर, उनकी सेना में अपनी सेना मिलाकर युद्ध के समय पीछे से उन्हीं पर आक्रमण करने की योजना बना लेना क्या शाहज़ादे साहब का विश्वास-घात नहीं है ?

अकबर : विश्वासघात ! कैसा विश्वासघात ? विश्वासघात तो आपने किया राठौर सरदार ! समझा कि अब्बा हुज़ूर मुझसे नाराज़ हैं, मैं शाहज़ादों में सबसे बड़ा हूँ, मुझे बादशाहत मिल सकती है, इसलिए बादशाहत देने का सब्ज़बाग़ दिखलाकर मुझे बग़ावत करने पर मजबूर किया, मेरी फ़ौज को साथ ले लिया और जब जंग शुरू होने को हुई तो अपनी फ़ौज हटाकर मुझे मैदाने-जंग में इस क़दर छोड़ दिया गोया मैंने कोई गुनाह किया है। शाही फ़ौज मुझे कुत्ते की मौत मार सकती थी, लेकिन खुशकिस्मती से मैं अपने को बचाकर खेमे में चला गया। मेरी फ़ौज शाही फ़ौज का निवाला बनकर रह गई। अपना फ़ौज आपने इसलिए हटा ली कि दुश्मनों से मैं कत्ल कर दिया जाऊँ और मेरी बेगम और बच्ची मासूमियत की मिसाल बनकर दर-दर की ठोकरें खाएँ या अब्बा हुज़ूर के क़ैदखाने की फ़िज़ा को आँसुओं और आहों से भर दें ?

बेगम : सेनापति दुर्गादास ! मैं हाड़ावत वंश की राजकुमारी हूँ। कम-से-कम मेरे सम्मान के लिए तो आपको ऐसा व्यवहार नहीं करना था। यह छोटी-सी बच्ची सफ़ीयत उदय होते हुए सूर्य में ही लाल रंग देखती है, आप अभी से इसकी पहचान रक्त से कराना चाहते हैं ?

सफ़ीयत : माँ, क्या इन्हीं सरदार का नाम दुर्गादास है ?

दुर्गादास : हाँ, बेटी ! मेरा नाम ही दुर्गादास है। लेकिन तुम्हारे पिता और माता जो मुझ पर दोष लगाना चाहते हैं, वह ठीक नहीं है। (**अकबर से**) शाहज़ादा साहब ! राजपूतों ने आपका सहायक होना स्वीकार किया, आपको बादशाह बनाने का आश्वासन दिया। हम दोनों की सम्मिलित फ़ौजों ने शाही फ़ौज से मुक़ाबला करने का संकल्प किया, किन्तु पीछे से हमारी ही सेना पर आक्रमण करने की योजना जो आपने अपने अब्बा हुज़ूर की ख़िदमत में भेजी क्या यह हमसे विश्वासघात नहीं है ?

अकबर : यह सरासर झूठ है। मैं जब बादशाह का बाग़ी बन गया तब उनसे मेरा क्या सरोकार होता ?

बेगम : राठौर दुर्गादास ! शाहज़ादा साहब ने कोई पत्र या योजना बादशाह सलामत के पास नहीं भेजी। वे युद्ध के सम्बन्ध की सभी मन्त्रणाएँ मुझसे करते हैं। यदि कोई योजना भेजते तो उसकी सूचना मुझे अवश्य देते।

सफ़ीयत : और सरदार साहब ! माँ तो बहुत प्रसन्न थीं कि अब हमारी सुलह राजपूतों से हो गई।

दुर्गादास : राजपूतों से जो सन्धि की जाती है, वह न मिटने वाले अक्षरों में की जाती है। किन्तु यदि उनसे छल किया जाता है तो···

अकबर : आप बार-बार छल और विश्वासघात करने की बात कहते हैं। इसका आपके पास सबूत है ?

दुर्गादास : बहुत बड़ा। वह सबूत जो आपके अब्बा हुज़ूर बादशाह सलामत ने ख़ुद दिया है। मैं नहीं चाहता था कि आपको अपमानित करने के लिए वह सबूत आपके सामने रखूँ, लेकिन जब आपकी बेगम और आप राजपूतों को ही दोषी मान रहे हैं तो वह सबूत स्वयं अपनी आँखों से पढ़िए—लीजिए, पढ़िए यह पत्र···

[पत्र अकबर के हाथों में देते हैं।]

अकबर : (**पत्र पढ़ते हुए सिर पकड़कर**) आह ! धोखा ! अजीबोग़रीब धोखा! हम दोनों में फूट डालने के मक़सद से ही अब्बा हुज़ूर ने यह निहायत हैरत-अंगेज़ चाल चली है। अगर अब्बा हुज़ूर ने यह ख़त मेरे लिए लिखा होता तो यह मेरे हाथों में होता, आपके हाथों में नहीं।

बेगम : अब्बा हुज़ूर ने क्या लिखा है ?

अकबर : यही लिखा है कि मेरा मक़सद यही है कि जब राजपूतों की सेना शाही फ़ौज पर हमला करे, तब मैं पीछे से राजपूत सेना को हलाक़ कर दूँ।

बेगम : यह पत्र बिलकुल झूठ है। इसका एक-एक अक्षर झूठ है।

दुर्गादास : लेकिन इस पर बादशाह सलामत की मुहर है।

अकबर : मुहर सही है लेकिन इबारत बिलकुल ग़लत है। यह बादशाह सलामत की ज़लील कोशिश है ताकि हम दोनों मिलकर शाही तख़्त को न उलट सकें। उन्होंने जान-बूझकर इस ख़त को राजपूतों के हाथों में पड़ जाने दिया ताकि उनका भरोसा मुझसे हट जाए। और यही हुआ भी। अब्बा हुज़ूर की चाल काम कर गई। राजपूतों का भरोसा मुझसे उठ गया और उन्होंने अपनी फ़ौजें हटा लीं। मेरी फ़ौजें कट गईं और मैं कहीं का नहीं रहा। (**सिर पकड़कर बैठ जाता है।**)

बेगम : सरदार दुर्गादास ! आप ही सोचें कि अगर इस पत्र का मतलब सही होता तो क्या बादशाह सलामत उसे इस आसानी से भेजते कि वह शाहज़ादा

साहब को न मिल कर आपको मिल जाता। ऐसे पत्र को तो वे प्राणों से अधिक सुरक्षित करके भेजते।

सफ़ीयत : माँ ! प्राणों से अधिक सुरक्षित कैसे किया जाता है ? (**अकबर के तेवर देखकर**) मैं कुछ नहीं पूछती, माँ !

अकबर : भारी धोखा ! एक ही पत्र ने दोनों को धोखे में डाल दिया। अब मैं कहाँ जाऊँ ? मैं अब्बा हुज़ूर का बाग़ी हूँ, राजपूतों का भरोसा खो चुका हूँ। दुनिया में मेरे लिए अब कोई जगह नहीं है। अब सिर्फ़ ख़ुदकशी ही मुझे सुकून दे सकती है।

बेगम : ख़ुदकुशी ! आत्महत्या, नहीं-नहीं, यह नहीं हो सकता, यह नहीं हो सकता ! ऐसी नहीं हो सकता। राठौर दुर्गादास ! अपने मन से सब सन्देहों को निकाल दीजिए। शाहज़ादा साहब बिलकुल बेकुसूर हैं, इनके प्राणों की रक्षा कीजिए।

सफ़ीयत : चाहे हम लोगों के प्राणों की रक्षा न करें। जैसे मेरी माँ कह रही है—शाहज़ादा साहब के प्राणों की रक्षा अवश्य कीजिए।

दुर्गादास : नहीं, नहीं। किसी की आत्महत्या न होगी। (**अकबर से**) शाहज़ादा साहब ! आप इतने निराश न हों। क्या आप बादशाह सलामत के पास जाकर क्षमा नहीं माँग सकते ? पिता होकर वे आपके सारे अपराध भूल जाएँगे।

अकबर : भूल जाएँगे। सेनापति दुर्गादास ! जो आलमगीर अपने अब्बाजान को क़ैद में डालकर तड़पा-तड़पाकर मारना जानता है, वह अपने बेटे का गुनाह बख़्शेगा ? वह मेरे जिस्म के टुकड़े-टुकड़े करा देगा। वह मेरा सिर काटकर भाले से बेधकर शहरपनाह पर गड़वा देगा और ऐलान करा देगा कि बाग़ियों को ऐसी सज़ा दी जाती है। अब मेरा मुस्तकबिल पानी का ऐसा बुलबुला है जो बादशाह सलामत की नज़र की हलकी-सी ठोकर से फूट सकता है।

दुर्गादास : इतना निराश नहीं होना चाहिए, शाहज़ादा साहब !

अकबर : अब आशा और निराशा की बात ही बीत गई राठौर सरदार ! अब इस दुनिया में मेरी क़िस्मत की कहानी कहने भर को रह गई। अब्बा हुज़ूर के ख़त पर अगर अब भी तुम्हें ऐतबार है तो तुम्हीं मेरी जान ले सकते हो। अब मेरे पास क्या है, जिससे मैं कहूँ कि मुझ पर तुम भरोसा करो। जंग में शिकस्त पाया हुआ एक बाग़ी, जिसकी आहट होते ही एक अदने से सिपाही की तलवार मेरा सिर काटकर बादशाह सलामत से भारी इनाम की हकदार हो सकती है। तुम मेरी जान ले लो दुर्गादास ! और मुझे इस मायूसी से रिहा कर दो। मैं आसमान से टूटा हुआ एक सितारा हूँ जो हर लमहे नीचे गिरता जा रहा है और गिरते हुए, उसकी रोशनी बुझ रही है।

दुर्गादास : आप इतने दुखी न हों शाहज़ादे साहब ! कितना अच्छा होता अगर औरंगज़ेब हिन्दुस्तान का बादशाह ही न होता। बादशाह शाहजहाँ ने दारा को अपना उत्तराधिकारी बना ही दिया था और दारा समझता था कि हिन्दू और मुसलमान भारत-भूमि के दो बेटे हैं, किन्तु भारत का भाग्य ऐसा कहाँ है ! फिर भी हम निराश नहीं हैं। आशा बुझती नहीं है, आँखों से ओझल हो जाती है। अवसर आने पर फिर आशा का दीप जल सकता है ।

बेगम : आप वीर और साहसी हैं सरदार ! हम सब आपकी शरण में हैं। आपकी शरण में शाहज़ादा साहब का बाल भी बाँका नहीं हो सकता ।

दुर्गादास : इसका मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि औरंगज़ेब चाहे जितना शक्तिशाली हो, वह शाहज़ादा साहब को छू भी नहीं सकता। एक राजपूत शरणागत की रक्षा प्राण देकर भी करना जानता है।

अकबर : तो सरदार ! मैं तुमसे पनाह माँगता हूँ। (**घुटने टेकता हुआ सिर झुकाता है।**)

दुर्गादास : (**अकबर को उठाते हुए**) उठिए, उठिए, शाहज़ादा साहब ! आप एक बड़ी सल्तनत के उत्तराधिकारी हैं, घुटने टेकना आपको शोभा नहीं देता। मैं अवश्य ही आपकी रक्षा करूँगा। मैं इसकी सूचना महारानीजी को दूँगा। यदि बादशाह के इस पत्र से राजपूतों में भ्रम न फैलता तो हमारे युद्ध का इतिहास ही दूसरा होता। किन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं है। मैं अपने सभी राजपूत सरदारों का भ्रम दूर कर दूँगा ।

अकबर : मैं तो ज़िन्दगी-भर आपके इस अहसान को नहीं भूलूँगा।

बेगम : तुम धन्य हो दुर्गादास ! तुमने एक प्रतापी राजपूत की तरह ही शरणागत की रक्षा की।

सफ़ीयत : और दुर्गादास सेनापतिजी ! मुझे और मेरी माँ को तो अब्बा हुज़ूर आलमगीर के पास नहीं भेजेंगे ?

दुर्गादास : नहीं बेटी ! तेरी तो मैं प्राणों से अधिक रक्षा करूँगा।

सफ़ीयत : प्राणों से अधिक का क्या अर्थ होता है ? मेरे पिताजी··· (**भय से देखती है।**)

दुर्गादास : प्राणों से अधिक का अर्थ ? मनुष्य अपने प्राणों की रक्षा सब-कुछ देकर करता है। मैं अपने प्राणों को देकर तेरी रक्षा करूँगा ।

सफ़ीयत : ओहो ! तब तो आपकी सेवा में मैं भी अपने प्राण दे सकती हूँ।

दुर्गादास : तेरे प्राणों की रक्षा के लिए ही तो मेरे प्राण हैं। मैं तेरी रक्षा करूँगा।

अकबर : जीवन-भर इन दोनों की रक्षा करना दुर्गादास ! मैं तो अब ज़िन्दगी से ही मायूस हो चुका हूँ। अब्बा हुज़ूर का गुस्सा मैं जानता हूँ। अपनी बद-क़िस्मती से अगर उनके हाथ पड़ गया तो मेरे जिस्म में जितने रोएँ हैं, उतने

ही टुकड़े होंगे। अपने पीछे तुम्हें भी मुसीबत में डालूँगा। अच्छा है, मैं ईरान चला जाऊँ। वहाँ पर ही मैं अपनी बची हुई ज़िन्दगी काट दूँगा। तुम तो इन दोनों की हिफ़ाज़त कर ही लोगे।

दुर्गादास : यह मेरी बहन है, और यह मेरी बेटी।

[अजीतसिंह का प्रवेश]

अजीत : सेनापति काका ! आपको माँ बुला रही है। (**तीनों को देखकर**) ये···ये···कौन हैं ?

दुर्गादास : कुमार अजीत ! ये भी तुम्हारे काका हैं (**अकबर की ओर संकेत करते हुए**) और ये तुम्हारी काकी (**बेगम की ओर संकेत करके**) और इन्हें (**सफ़ीयत को देखकर**) तो देखकर तुम बड़े प्रसन्न होगे। ये हैं तुम्हारी बहन।

अजीत : (**सबको प्रणाम कर**) यह लड़की तो बहुत अच्छी है। मैं इसे बहुत प्यार करूँगा।

सफ़ीयत : मेरा नाम सफ़ीयत उन्निसा बानू है। तुम भी तो मुझे बहुत अच्छे लगते हो।

दुर्गादास : तुम दोनों एक ही साथ पढ़ना और खेलना। योगिराज बाबा तुम दोनों को साथ-ही-साथ पढ़ाएँगे।

अजीत : यह तो बहुत ही अच्छा होगा। मेरा नाम अजीतकुमार है। अजीत-कुमार और सफ़ी···सफ़ी।

सफ़ीयत : सफ़ी उन्नि···सा···बानू।

अजीत : मैं तुम्हें बानू ही पुकारूँगा।

सफ़ीयत : और मैं तुम्हें अजीत।

अजीत : हाँ चलो, हम दोनों अभी से साथ खेलेंगे। मैंने एक बाण छोड़ा, कहीं खो गया है। चलो हम लोग उसे ढूँढेंगे।

सफ़ीयत : (**माता-पिता को क्रम से देखकर**) जाऊँ···?

बेगम : जाओ न ?

अक़बर : अभी से ऐसा मेल हो गया ? (**दोनों जाते हैं।**)

दुर्गादास : बच्चे बहुत जल्दी अपने मित्र बना लेते हैं। बड़े लोग ही छोटी-छोटी बातों पर एक-दूसरे से शत्रुता मोल लेते हैं। अच्छा, चलिए। (**बेगम से**) आप महारानीजी से मिलें और मैं आपको (**अकबर से**) अपने राजपूत सरदारों से मिलाता हूँ।

बेगम : हम आपके बहुत ही अधिक कृतज्ञ हैं। (**हाथ जोड़ती है।**)

अकबर : मैं सेनापति दुर्गादास को जानता हूँ। मैं उनके अहसान रात के सितारों में भी नहीं गिन सकता।

दुर्गादास : अच्छा, अब हम चलेंगे। **(प्रस्थान)**

चतुर्थ अंक

[लूनी नदी के किनारे ध्रुवनगर के दुर्ग का एक सुरम्य कक्ष। चन्द्रिका के प्रकाश में लूनी नदी के तट पर वह प्रकाशित कक्ष दूर से इस प्रकार ज्ञात होता है जैसे आकाश-गंगा के किनारे एक उज्ज्वल नक्षत्र हो।

यह कक्ष राठौर वीर दुर्गादास के अधिकार में है। दुर्गादास ने इस दुर्ग में औरंगज़ेब के पुत्र अकबर की स्त्री और पुत्री के संरक्षण की व्यवस्था कर दी है। औरंगज़ेब की पहुँच से बाहर होने के लिए अकबर दुर्गादास की सम्मति से ईरान जा चुका है और अपना परिवार दुर्गादास को सौंप गया है। इस समय वह पूर्ण षोडशी है। सोलह वसन्तों का प्रतिनिधित्व करने वाले सोलह कुसुम उसकी कुंचित केश-राशि में सजे हुए हैं। परदा उठने पर सफ़ीयत अपने कक्ष में बैठी हुई तुलसी की पूजा कर रही होती है। कक्ष में सजावट अपनी चरम सीमा पर है। विशाल कमरे के कोने में एक कलामय श्वेत वेदिका में तुलसी का हरा-भरा पौधा लगा हुआ है जिसके चारों ओर फूलों की मालाओं का बन्दनवार है। कमरे के बीचो-बीच मख़मली क़ालीन बिछे हुए हैं और दाहिने-बाएँ दरवाज़े पर रेशमी परदे हैं, जिन पर नाचते हुए मयूर की बड़ी आकृति काढ़ी गई है। कमरे के बीच में पीछे पश्चिम की ओर एक बड़ी खिड़की है जिससे लूनी नदी की उज्ज्वल धारा दिखलाई दे रही है। कमरे में दोनों ओर दो बड़े दर्पण लगे हुए हैं। दर्पण के पार्श्व में कुछ तैलचित्र हैं जिनमें राठौर दुर्गादास, अकबर, तेजकुँअरि (सफ़ीयत की माँ) और सफ़ीयत की आकृति अंकित है।

पूजा करने के अनन्तर सफ़ीयत हाथ जोड़कर आँखें बन्द कर लेती है। समीप ही उसकी सहचरी आयशा बैठी है। सफ़ीयत एक हाथ से घंटिका बजाती हुई श्रद्धा-भाव से आरती करती है, फिर हाथ जोड़कर प्रणाम करने के अनन्तर आयशा से कहती है—]

सफ़ीयत : आयशा ! तुलसी की पूजा करने में मुझे बहुत आनन्द आता है। तुझे भी आता है न ?

आयशा : जी, मुझे भी आता है ।

सफ़ीयत : मुसलमान होने से क्या हुआ, दिल तो नहीं बदल जाता ?

आयशा : वह कैसे बदल सकता है, बानू ?

सफ़ीयत : और आयशा ! जब मैं तुलसी की पूजा करती हूँ तो मुझे मालूम होता है कि तुलसी मुझ पर प्रसन्न हैं । मंजरियों में रोमांच की तरह उठे हुए छोटे-छोटे फूल जैसे अशीर्वाद देने के लिए डंठल से सिर निकालकर बाहर झुक आए हैं । तूने इन्हें देखा ?

आयशा : देखा, बानू !

सफ़ीयत : आयशा ! कोई देखे कि सफ़ीयत-उन्-निसा बानू तुलसी की पूजा करती है, तो क्या कहे ? (**दबी हुई हँसी**)

आयशा : कहेगा बानू, कि शाहंशाह आलमगीर औरंगज़ेब की पोती और शाहज़ादा अकबर की लड़की सफ़ीयत-उन्-निसा बानू इस्लाम और हिन्दू धर्म में कोई भेद नहीं मानती और उसके सामने दुनिया के दो बड़े मज़हब अपना भेद भूलकर दो सितारों की तरह एक-दूसरे को देख रहे हैं ।

सफ़ीयत : दो सितारों की तरह ?

आयशा : और क्या ! दोनों इतने पास हैं कि दोनों की किरनें आपस में मिल रही हैं ।

सफ़ीयत : या दो फल हैं जो इतने पास खिले हुए हैं कि दोनों की ख़ुशबू एक-दूसरे को मस्त बना रही है ।

आयशा : यह और भी सही है, बानू ! लेकिन···

सफ़ीयत : लेकिन क्या ?

आयशा : लेकिन···लेकिन···बानू··· (**रुक-रुककर**) आलमगीर औरंगज़ेब के खानदान में···

सफ़ीयत : (**बीच में ही**) आलमगीर औरंगज़ेब का खानदान क्यों कहती है ? जलालुद्दीन अकबर का खानदान कह । शाहंशाह अकबर ने पहचाना था कि इंसान धर्म से ऊँचा है । हिन्दू और मुसलमान इंसानियत के लिबास हैं, इंसानियत के टुकड़े नहीं ।

आयशा : बात तो आपकी बहुत अच्छी मालूम देती है ।

सफ़ीयत : आयशा ! अगर पिताजी अकबर जान पाते कि सफ़ीयत हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करती है तो वे शायद मुझे अपने साथ ईरान ले जाते ।

आयशा : क्यों ले जाते बानू ? आपकी माँ भी पूजा करती हैं । उन्हें तो वे अपने साथ ले नहीं गए । जल्दी में वे कुछ कर ही नहीं सके । लेकिन बानू ! वे ईरान क्यों चले गए ?

सफ़ीयत : अब मैं क्या बतलाऊँ कि वे ईरान क्यों चले गए ! उस वक़्त तो मैं

बहुत छोटी थी। कुछ समझ नहीं सकती थी। लेकिन योगिराजजी, जो मुझे पढ़ाते हैं न, उन्होंने मुझे बहुत-कुछ बतला दिया है।

आयशा : मैं वह बात सुन सकती हूँ, बानू ?

सफ़ीयत : तू जानती तो सब-कुछ है, मुझसे कहलाना चाहती है।

आयशा : नहीं बानू, मैं सचमुच कुछ नहीं जानती। मैं तो पिछले साल ही सेनापति दुर्गादास के हुक्म से यहाँ आई। मैं क्या जानूँ ? फिर मुझे बतलाएगा ही कौन ? और···फिर···एक बाँदी की हस्ती ही क्या ?

सफ़ीयत : आयशा ! तू मेरे सामने बनने की आदत छोड़ दे। तू मेरी बाँदी है ? मैं तो तुझे अपनी सखी समझती हूँ और तू बाँदी बनी चली जा रही है !

आयशा : यह मेरी खुशक़िस्मती है, बानू ! ऐसी खुशक़िस्मती किसे नसीब होती है ?

सफ़ीयत : (हँसकर) तुझे। अच्छा सुन। पिताजी अकबर सच्चे अर्थ में जलालुद्दीन अकबर के ख़ानदान के हैं। उन्होंने नाडोल की लड़ाई में देख लिया कि राजपूत कितने सच्चे हैं, कितने बहादुर हैं, अपने देश की रक्षा के लिए सिर अपनी हथेली पर लेकर लड़ना जानते हैं। इनके सामने मुग़ल सिपाही क्या लड़ेंगे ? मुग़ल सिपाहियों के पीछे शाहंशाह आलमगीर की ताक़त है, शाही ख़ज़ाना है, लेकिन बेचारे राजपूतों के पीछे क्या है ? वे हैं कितने ? मुट्ठी-भर ! लेकिन उनमें सचाई है, आत्म-गौरव है, देश की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान करने की शक्ति है। अगर आज राजपूत मुग़ल सल्तनत के साथ होते तो दुनिया की कोई ताक़त मुग़ल सल्तनत को हिला भी न सकती। लेकिन आलमगीर ने इन सच्चे हिन्दुओं पर अत्याचार करके उन्हें अपना शत्रु बना लिया। मेरे पिता शाहज़ादे अकबर ने इस सचाई को समझा और उन्होंने अपने पिता आलमगीर को सच्चे रास्ते पर लाने के लिए समझाया। जब वे नहीं समझे तो तहव्वर ख़ाँ को भेजकर चाचा दुर्गादास से सन्धि कर ली।

आयशा : तो सन्धि से क्या बुराई हुई ?

सफ़ीयत : चाचा दुर्गादास ने शाहज़ादे अकबर को ही दिल्ली का बादशाह घोषित किया। लेकिन आलमगीर ने चाचा दुर्गादास और मेरे पिताजी में भेद की कपट-नीति से उन्हें अजमेर की लड़ाई में हरा दिया।

आयशा : यह तो बुरा हुआ।

सफ़ीयत : पिताजी हम लोगों को लेकर जंगल-जंगल भटकते रहे। वे समझते थे कि अगर आलमगीर के हाथों में पड़ गए तो पूरी दुर्गति होगी, इसलिए जल्दी में मुझे और मेरी माँ को चाचा दुर्गादास के पास छोड़कर जहाज़ से ईरान चले गए।

आयशा : तो आप लोगों को अपने साथ क्यों नहीं ले गए ?

सफ़ीयत : (**हँसकर**) अब यह मैं क्या जानूँ ! लेकिन मैं तो समझती हूँ कि अगर ले जाते तो चाचा दुर्गादास का प्रेम···यह संस्कृत और हिन्दी का ज्ञान, यह दर्शन, मुझे कैसे मिलता ?

आयशा : यह तो ठीक है, लेकिन अगर शाहज़ादा अकबर यहाँ रहते तो आपको क़ुरान तो ज़रूर ही पढ़ाते।

सफ़ीयत : तो क्या चाचा दुर्गादास ने मुझे क़ुरान पढ़ने से रोक दिया है ? वे तो यही चाहते हैं कि मैं हदीस और क़ुरान पढ़ूँ, लेकिन मेरा मन ही नहीं लगता क़ुरान पढ़ने में। मैं तो संस्कृत पढ़ती हूँ और देवी-देवताओं को मानती हूँ। लेकिन यह सच है कि अगर मैं शाहंशाह आलमगीर के पास रहती तो वे अपनी पोती को क़ुरान ज़रूर पढ़ाते और···

आयशा : और···और क्या ?

सफ़ीयत : (**हँसकर**) और शायद मुझसे टोपियाँ सिलवाते। सुनती हूँ, आलमगीर शरीयत के ख़याल से टोपियाँ सिया करते हैं, और इस तरह सच्चे मुसलमान बनकर अपनी रोज़ी कमाते हैं। फिर क्या वे मुझसे भी टोपियाँ न सिलवाते ?

आयशा : (**हँसकर**) बानू ! अगर आलमगीर को मालूम हो कि आप उनके बारे में ऐसी हँसी की बात करती हैं तो वे शाहज़ादे से ज़्यादा आपको सज़ा देते।

सफ़ीयत : मुझे सज़ा देते ? तो फिर मुग़लों के इतिहास में यह भी लिखा जाता कि शाहंशाह अपनी पोती को महज़ हँसने पर सज़ा देते हैं। लेकिन···ख़ैर ···मुझे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। मैं तो जैसे चाहूँगी वैसे रहूँगी। क़ुरान की तबीयत होगी तो क़ुरान पढ़ूँगी, नहीं तो भगवद्गीता और रामायण तो मेरी आत्मा के निकट हैं ही। तुर्की और फ़ारसी की जगह संस्कृत पढ़ती हूँ और पढ़ूँगी।

आयशा : आप ज़रूर पढ़ती जाइए। आपके साथ रहते-रहते मैं संस्कृत के बहुत-से शब्द बोलने और समझने लगी हूँ। लेकिन बानू, वजह क्या है कि आपका मन क़ुरान पढ़ने में नहीं लगता ?

सफ़ीयत : इतनी-सी बात नहीं समझती ? मेरी माँ को जानती है, वे कौन हैं ?

आयशा : कोटा के हाड़ावत वंश की राजकुमारी।

सफ़ीयत : इसीलिए मेरा रक्त मुझे हिन्दू देवी-देवताओं और तुलसी के पास खींच लाता है। (**रुककर**) ओह ! मैंने तुलसी की आरती तो की ही नहीं, तेरी बातों में ऐसी उलझ गई !

आयशा : माफ़ कीजिए, बानू ! आरती तो मैं इसी थाली में सजाकर लाई थी।

···यह है··· (**आरती-पात्र सामने बढ़ाती है।**)

सफ़ीयत : यह तो बुझने जा रही है। इतनी जल्दी बुझेगी यह ? (**आरती से**) अरे ! अभी तुझे बहुत देर तक जलना है, मेरी ही तरह। ले, अपना सिर उठा। (**बत्ती को सींक से ऊपर उठाती है**) हाँ ! इसी तरह जल। (**आयशा से**) आयशा ! यह आरती कितनी पवित्र वस्तु है, लेकिन इसे भी जलना पड़ता है। क्यों आयशा, क्या पवित्र वस्तुएँ जलने के लिए ही होती हैं ?

आयशा : यह बात तो आप ही समझ सकती हैं, बानू ! इतनी ऊँची बात मैं कैसे समझ सकती हूँ ?

सफ़ीयत : अच्छा, बतला, तू कभी जली है ?

आयशा : चिराग़ गुल करते वक़्त कई बार जली हूँ।

सफ़ीयत : छिः ! तू बात नहीं समझती। जाने दे। मैं तो तुलसी को ही अपना सब-कुछ मानती हूँ। उसी का ध्यान रखती हूँ।

आयशा : और बानू ! तुलसी के सिवाय···

सफ़ीयत : तुलसी के सिवाय ? तुलसी के सिवाय क्या···?

[आयशा मौन रहती है।]

बोलती क्यों नहीं ? तुलसी के सिवाय मैं किसका ध्यान करती हूँ ?

आयशा : (**हिचकते हुए**) ···कुमार अजीत···

सफ़ीयत : (**बीच ही में तीव्र स्वर में**) आयशा···

आयशा : (**घबराकर**) जी, बानू !

सफ़ीयत : क्या कहा ? कुमार अजीतसिंह ?···तूने यह कैसे समझा कि मैं कुमार अजीतसिंह का ध्यान करती हूँ ?

आयशा : (**घबराकर**) तो···तो ध्यान करना बुरी बात तो नहीं है···बानू ! मन को अच्छे लगने वाले आदमियों···यानी···चीज़ों का सभी ध्यान करते हैं। (**अटकते हुए शब्दों में**) हाँ, ध्यान ही तो करते हैं।

सफ़ीयत : तेरे मन को अच्छी लगने वाली चीज़ें कौन-सी हैं ?

[आयशा कुछ नहीं बोलती।]

मैंने पूछा तेरे मन को अच्छी लगने वाली चीज़ें कौन-सी हैं, जिनका तू ध्यान करती है ?

आयशा : मैं किसी का ध्यान नहीं करती।

सफ़ीयत : अपनी आँखों से कभी पूछा है तूने ?

आयशा : अभी तक नहीं पूछा, बानू !

सफ़ीयत : क्यों पूछेगी, वे स्वयं तुझसे कह देंगी। तो तू अभी किसी का ध्यान नहीं करती ?

आयशा : आप कहती हैं, तो स्वीकार करती हूँ।

सफ़ीयत : मेरे सामने तो सच बात स्वीकार करनी ही होगी। अब बतला, किसका ध्यान करती है ?

आयशा : आपका।

सफ़ीयत : मेरा ? (**मुस्कराकर**) मेरा ध्यान करने की आवश्यकता नहीं।···यह सौभाग्य किसी और के लिए रहने दे। मैं पूछना चाहती थी···(**रुककर**) कुछ नहीं पूछना चाहती।

आयशा : अगर आपको कष्ट हुआ, तो मुझे माफ़ करें। मैं समझी नहीं।

सफ़ीयत : क्या नहीं समझी ?

आयशा : (**भय और संकोच-मिश्रित स्वर**) मैं क्या बतलाऊँ ?

सफ़ीयत : तो इस तरह पहेलियाँ क्यों बुझा रही है ?

आयशा : मैं पहेलियाँ क्यों बुझाऊँगी, बानू ? मुमकिन है आप उनका ध्यान न करती हों, लेकिन मैं कुछ समझी नहीं, बानू ! इस ध्रुवनगर के क़िले में आप पहले बिलकुल गुमसुम रहा करती थीं, लेकिन जब कुमार अजीतसिंह आए थे तो आप···

सफ़ीयत : हाँ, तो मैं क्या हो गई ?

आयशा : आप हरएक कमरे की सजावट खुद अपने हाथों से किया करती थीं।

सफ़ीयत : (**स्मिति-संयुक्त जिज्ञासा के साथ**) कैसी सजावट ?

आयशा : यही कि फूलदानों में फूल सजाना, रंगीन शमादानों में बत्तियों की कलियाँ खिलाना, चौकियों पर अगरबत्तियों के हलके बादल उठाना···और ···और दरवाज़ों के परदों में अन्दाज़ से सलवटें डालना···और···फिर··· और फिर···

सफ़ीयत : और···फिर···और फिर क्या ?

आयशा : मैं कैसे कहूँ ! डरती हूँ···आप नाराज़ न हो जाएँ।

सफ़ीयत : (**किंचित् हँसकर**) अच्छा, नाराज़ नहीं होऊँगी।

आयशा : अच्छा तो कहती हूँ। लेकिन क्या कहूँ···कहते नहीं बनता।

सफ़ीयत : (**तीव्र स्वर में**) और अभी तक क्या कह रही थी ? पहले छेड़ देती है, बाद में चुप हो जाती है।

आयशा : तो कहूँ ?

सफ़ीयत : (**उसी स्वर में**) हाँ, हाँ, कहती क्यों नहीं ?

आयशा : देखिए, परदे की सलवटें ठीक करना तो हम लोगों का काम है; जब कुमार अजीतसिंह आए थे तो आप खुद अपने हाथों से करने लगीं।

सफ़ीयत : तो क्या हुआ, मेहमान की सेवा करनी ही चाहिए। वे आएँ तो देखें कि हम उनक कमरे की सजावट नहीं करते, लापरवाही से परदे टेढ़े-सीधे पड़े रहते हैं। वे क्या कहेंगे, तू ही बतला।

आयशा : मैं बतलाती हूँ। आपने नाराज़ न होने का वचन दिया है, तो बतलाती हूँ। परदों की सलवटें ठीक करने का मतलब यह था कि आप···आप परदे के पास···

सफ़ीयत : परदे के पास ? तो इससे क्या हुआ ?

आयशा : हुआ तो बहुत-कुछ, बानू ! उस रोज़ रंगमहल के परदे की सलवटें ठीक कर आप परदे के पीछे खड़ी थीं। कुमार अजीतसिंह वहाँ से निकले। आप···आपने···आपने परदे की रेशमी डोरी···उनके हाथों में उलझा दी। वे हँसे और उन्होंने···

सफ़ीयत : (**तीव्रता से**) चुप आयशा ! यह क्या कहती है···?

आयशा : (**घबराकर**) बानू ! मुझे माफ़ करें। मुमकिन है, मैंने ख़्वाब देखा हो।

सफ़ीयत : (**दुहराकर**) ख़्वाब देखा हो ? (**कुछ हँसकर**) तू बहुत शैतान है। उस वक़्त तू कहाँ थी ?

आयशा : मैं आप ही के कहने से तो कुमार अजीतसिंह को उसी कमरे से ला रही थी।

सफ़ीयत : (**हाथों से माथा पकड़कर**) ओह···तो तूने देख लिया ! (**दरवाज़े की ओर देखती हुई**) कोई यहाँ है तो नहीं ?

आयशा : कोई नहीं है, बानू ! दो बाँदियाँ योगिराज के पास भोजन का सामान लेकर गई हैं।

सफ़ीयत : क्या रात के बारह बज गए ?

आयशा : बानू ! इस समय तो रात के तीन बज रहे होंगे।

सफ़ीयत : तीन ? इसीलिए इतना सन्नाटा है। हवा भी रुकी हुई है, जैसे वह किसी की प्रतीक्षा कर रही है। ये तारों के संकेत···ओह, मैं क्या कहने लगी ! तो ये दासियाँ योगिराज के पास भोजन का सामान पहुँचाकर अभी नहीं लौटीं ?

आयशा : जी नहीं। आपने ही तो···

सफ़ीयत : तो तूने शाम को दासियों से कह दिया था कि आज रात वे योगिराज के संरक्षण में रहने वाली स्त्रियों की सुविधाओं की जाँच करेंगी ?

आयशा : जी, मैंने उनसे कह दिया था कि वे वही रहेंगी और रात में भीतरी कमरों पर पहरा देने के लिए नहीं आएँगी।

सफ़ीयत : ठीक है, माताजी कहाँ हैं ?

आयशा : वे शीशमहल में हैं, सो रही होंगी ।

सफ़ीयत : सिर्फ़ मैं ही जाग रही हूँ और साथ-साथ तू भी। लेकिन तू मेरे साथ कब तक जागेगी ? तू भी सो जा।

आयशा : आप जब तक न सो जाएँगी तब तक मैं कैसे सो सकूँगी, बानू ! लेकिन क्या आप रात-भर जागेंगी ? **(सँभलकर)** यानी···पूजा···करेंगी···यानी ···ध्यान···करेंगी ?

सफ़ीयत : (रूखेपन से) तुझे इस तरह प्रश्न करने का कोई अधिकार नहीं है।

आयशा : माफ़ी चाहती हूँ ।

सफ़ीयत : (चिढ़ाकर) माफ़ी चाहती हूँ । **(और फिर चिढ़ाकर)** लेकिन क्या आप रात-भर जागेंगी···यानी पूजा करेंगी···यानी ध्यान करेंगी ? देख आयशा ! ये बातें इस तरह से कहने की नहीं हैं । इन बातों से राज्य उजड़ जाते हैं, तलवारें म्यान छोड़ देती हैं और रूप और सौन्दर्य आग की लपटों में तड़पने लगता है । अगर चाचा दुर्गादास को यह बात मालूम हो···

आयशा : (सँभलकर) कैसे मालूम होगी ? मैंने आज तक यह बात किसी से नहीं कही बानू ! मेरे और आपके सिवाय और जानता ही कौन है यह बात ? ख्वाब में भी यह बात मेरे मुँह तक नहीं आएगी।

सफ़ीयत : मुझे तुझसे ऐसी ही आशा है । भूल जा इन बातों को । दीवारें भी बातों की चोरी कर लेती हैं । तू समझती है कि मैं कुमार अजीतसिंह की पूजा करती हूँ, लेकिन मेरे किसी काम से भूलकर भी तो यह नहीं मालूम होता।

आयशा : सचमुच नहीं मालूम होता, कभी नहीं मालूम होता, लेकिन पूजा कह-कर नहीं की जाती, बानू ! पलकों के उठने और गिरने में पूजा हो जाती है । साँसों के जाने की हलकी आवाज़ में पूजा हो जाती है । लेकिन यह मैं तभी से समझने लगी हूँ जब से मैंने कुमार अजीतसिंह के हाथों में रेशम की रस्सी···

सफ़ीयत : तू चुप न रहेगी, आयशा ! यदि यह बात तूने ज़बान से बाहर निकाली तो तुझे इसी लूनी नदी में डुबा दूँगी···चाचा दुर्गादास से कहकर।

आयशा : सेनापतिजी को तकलीफ़ देने की ज़रूरत ही क्या है ? अगर आप कहें तो मैं अभी जाकर डूब जाऊँ ।

सफ़ीयत : अच्छा जा, डूब जा । तुझसे पीछा छूटे।

आयशा : बड़ी ख़ुशी से जाऊँगी···डूब जाऊँगी। किसी तरह आपको ख़ुश तो कर सकूँगी। अच्छा, मैं जाती हूँ । जितने भी क़ुसूर मुझसे हुए हों, उन्हें माफ़ कीजिएगा । जाती हूँ, प्रणाम । **(जाने को उद्यत होती है ।)**

सफ़ीयत : अच्छा, सुन। **(खिड़की के पास जाते हुए)** यह लूनी नदी कितनी गहरी होगी।

आयशा : (**लौटते हुए**) चाहे जितनी गहरी हो, मेरे डूबने के लिए काफ़ी है।

सफ़ीयत : और अगर तू नहीं डूबी तो? चाचा दुर्गादास कल पूछ सकते हैं कि यह आधी रात को लूनी नदी के किनारे क्यों गई थी।

आयशा : कह दूँगी कि बानू ने ही मुझे भेजा था।

सफ़ीयत : क्यों भेजा था?

आयशा : ऐसे ही···मैं क्या कहूँगी? कुछ नहीं कहूँगी।···कह दूँगी कि बानू का हार किनारे पर छूट गया था, उसी को खोजने के लिए···

सफ़ीयत : आधी रात को? तेरी आँखें क्या अँधेरे में ख़ूब देख सकती हैं?

आयशा : (**हँसकर**) तो आप ही बतला दीजिए, क्या कहूँगी?

सफ़ीयत : कुछ न कहेगी। मैं तुझे डूबने के लिए भेजूँगी ही क्यों? अपनी प्यारी सखी आयशा को! तू हँसी भी नहीं समझती?

आयशा : मैं आपके हुक्म के सिवाय कुछ नहीं समझती।

सफ़ीयत : तो मैं हुक्म देती हूँ कि तू नहीं डूबेगी।

आयशा : बहुत अच्छा, नहीं डूबूँगी।

सफ़ीयत : आयशा! मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ। एक तू ही तो है जिससे मैं अपने मन की बातें कह-सुन सकती हूँ। अपनी प्यारी आयशा को मैं सचमुच डूबने को कहूँगी? मैं ख़ुद डूब जाऊँगी।

आयशा : तब आपके पीछे और लोगों को भी डूबना पड़ेगा।

सफ़ीयत : अच्छा, तब कोई भी न डूबे। आयशा, बात यह है कि मुझे नींद नहीं आ रही है। बतला, क्या करूँ? कैसे समय काटूँ? तुझे कोई कहानी आती है?

आयशा : आती है।

सफ़ीयत : कह सकती है?

आयशा : आपकी आज्ञा भी टाल सकती हूँ?

सफ़ीयत : अच्छा, तो सिर्फ़ घड़ी-भर की कहानी हो।

आयशा : अच्छा तो सुनिए··· (**कहानी कहने के ढंग से**) बात पुरानी नहीं है, एक बहुत बड़ा राज्य था। उसके राजा एक बहुत बड़े महापुरुष थे। उन्होंने अपनी वीरता से सारे राजपूताने में उत्साह की लहर दौड़ा दी थी। उन्होंने बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं। वे काबुल गए और एक लड़ाई में विजय प्राप्त करने के बाद एक बुरे समाचार से उनका हृदय टूट गया। जिस समय वे मरे उस समय उनकी रानी माँ होने जा रही थीं। कुछ दिनों के बाद एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया, कुमार अजीतसिंह।

सफ़ीयत : फिर वही बात? तुझे इसके सिवाय कोई दूसरी कहानी नहीं आती? रहने दे अपनी···कुछ नहीं आता-जाता तुझे। अगर कभी मन ऊबने लगे तो

तू बहला भी नहीं सकती। (**कमरे में इधर-उधर घूमने लगती है**) अच्छा, तू कोई गीत सुना सकती है ?

आयशा : जो आज्ञा। कौन-सी रागिनी सुनाऊँ ? विहाग ?

सफ़ीयत : अच्छा···विहाग ही सही···नहीं रहने दे। कुछ मत गा। सुनने की तबीयत नहीं हो रही है। (**टहलती है**) (**दीवार पर टँगे हुए चित्र को देखकर**) इस चित्र का चित्रकार कौन है ?

आयशा : चित्रकार ? दिलीपराय।

सफ़ीयत : उससे कह दो कि मेरा चित्र उसने अच्छा नहीं बनाया।

आयशा : बनाया तो बहुत सुन्दर है, बानू ! आँखें तो ऐसी हैं कि उनसे सुन्दरता और प्रेम की रागिनी निकल रही है। हाँ, एक बात की कमी है। इस समय आपके केशों में सोलह वर्षों के सोलह फूल सज रहे हैं जो इस चित्र में नहीं हैं।

सफ़ीयत : बस, रहने दे। यह चित्र कल मेरे कमरे से हट जाए। समझी ?

आयशा : जो आज्ञा।

सफ़ीयत : तू किसी तरह मेरा मन स्थिर नहीं कर सकती। तू संस्कृत जानती है ? नहीं जानती। तू कुछ नहीं जानती। अच्छा जा, मेरी वीणा ले आ। वीणा बजाऊँगी। यहीं पास के कमरे में रखी है।

आयशा : जो आज्ञा। (**जाती है।**)

[खिड़की के समीप जाकर लूनी नदी की ओर देखती है।]

सफ़ीयत : यह नदी इसी तरह बह रही है···और वे अभी तक नहीं आए···अभी तक नहीं आए···

[आयशा का वीणा लेकर प्रवेश]

आयशा : यह वीणा उपस्थित है।

सफ़ीयत : ला। (**लापरवाही से**) क्या बजाऊँ ? (**तारों पर उँगलियाँ फेरती है। इतने में ही दूर से घोड़े की टापों की आवाज आती है। सफ़ीयत प्रसन्नता मिली चंचलता से खिड़की के पास जाती है और ध्यान से देखती है। उसके मुख से अनायास निकल पड़ता है—**)···ओह ! आ गए···आ गए···

[वीणा को शीघ्रता से कोने में रख देती है।]

आयशा : बानू ! कौन आ गए ?

सफ़ीयत : क्या तूने सुन लिया ? तू क्या समझे, कौन आ गए !

आयशा : मैं बाहर जाकर देखूँ ?

सफ़ीयत : तू क्या करेगी बाहर देखकर ? अच्छा जा, आरती सजा ला।
आयशा : अभी तो आप तुलसी की आरती कर चुकी हैं।
सफ़ीयत : तू मुझसे प्रश्न क्यों पूछती है ? जा, आरती सजा ला।
आयशा : जो आज्ञा। (**शीघ्रता से प्रस्थान**)
सफ़ीयत : (**आनन्द से विह्वल होकर**) आज रात-भर आरती उतारूँगी।

[प्रसन्नता में वीणा के तार झनझना देती है। फिर नाचने लगती है। आरती का थाल लिए आयशा का प्रवेश]

आयशा : यह आरती का थाल।
सफ़ीयत : (**आयशा से लिपटकर**) आयशा ! तू बहुत अच्छी है। ओह ! तू बहुत अच्छी है। तू इतनी अच्छी है कि मैं तुझे इस दुर्ग की दीवार से गिरा दूँगी।
आयशा : मैं आपकी बात समझी नहीं, बानू !
सफ़ीयत : तूने कभी कोई बात समझी भी है ? तू कुछ मत समझ, सिर्फ़ मुझे ही समझने दे। मैं समझूँ और कोई न समझे।
आयशा : यह आरती कहाँ रख दूँ ?
सफ़ीयत : यहाँ, वहाँ, प्राणों में···हृदय में···सब जगह। कहीं भी रख दे।
आयशा : कहाँ आपका मन नहीं लग रहा था, और अब आप इतनी ख़ुश हैं !
सफ़ीयत : तू पूछेगी, कौन आ गया ? बड़ी शैतान है न ? फिर पूजा वाली बात कहेगी ? अब कहेगी तो सचमुच ही···
आयशा : (**गहरी साँस लेकर**) ओह ! बानू, तो यह बात है ! इसीलिए आप इतनी खुश हैं। तो यह रही आरती। अब मुझे नींद आ रही है। मैं अब जाने की आज्ञा चाहती हूँ। (**आरती रखकर जाना चाहती है।**)
सफ़ीयत : सुन, सुन, आयशा !
आयशा : (**जाती हुई**) बानू ! मुझे नींद आ रही है। जाने की आज्ञा दे दीजिए। (**जाना चाहती है।**)
सफ़ीयत : सुन, सुन, आयशा !
आयशा : (**जाती हुई**) बानू ! मुझे नींद आ रही है। जाने की आज्ञा दे दीजिए।
सफ़ीयत : अच्छा तो जा···इसी समय चली जा !···चली गई ! मैं भी स्वागत के लिए प्रस्तुत होती हूँ। (**प्रस्थान**)

[यवनिका]

पंचम अंक

स्थान : सफ़ीयत का वही कक्ष

[सफ़ीयत उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही है। दूसरे दरवाज़े से अजीतसिंह का प्रवेश।

अजीतसिंह लगभग अठारह वर्ष का नवयुवक है। केश घुँघराले और आँखें बड़ी; प्रशस्त वक्षस्थल, जिस पर मोतियों की एक बड़ी माला झूल रही है। वह हलके पीले रंग का एक अंगरखा और हलके गुलाबी रंग का चूड़ीदार पाजामा पहने हुए है। कमर के वस्त्र में तलवार बँधी है जिसे वह एक हाथ से सँभाले हुए है। पैर में जयपुरी जूते।

राजस्थान का ऐश्वर्य उसके विस्तीर्ण ललाट पर अंकित है। अपने पिता महाराणा जसवन्तसिंह की वीरता उसके भुजदण्डों में सीमित है। सफ़ीयत को देखते ही वह हाथ उठा देता है।]

अजीत : जय राजस्थान ! तुम अब तक जाग रही हो, सफ़ीयत ?

सफ़ीयत : (**लज्जित स्वर में**) आपके स्वागत में जीवन-भर जागूँगी।

अजीत : और अगर मैं तुम्हारी आँखों में नींद बनकर समा गया तो ? (**हँसी**) नहीं, राजपूत की गति नींद में नहीं समा सकती। उसे भी ज़िन्दगी-भर जागना पड़ता है।...ओह ! थक गया। कुछ शीतल जल मिलेगा ?

सफ़ीयत : क्या प्रे...म के सरोवर का ?

अजीत : उससे तो कभी प्यास न बुझेगी। (**हँसी**) लाओ, अपने हाथों से जल को अमृत बनाकर पिला दो।

[सफ़ीयत पात्र में शीतल जल भरकर देती है।]

अजीत : ओह ! शरीर ही नहीं, मन, चेतना, प्राण सब शीतल हुए। यह क्या करती हो ? आरती ? इन हाथों को विश्राम दो, सफ़ीयत ! इन हाथों से तुम्हें मारवाड़ की राजनीति सँभालनी है। और जिसे तुम्हारे नेत्रों की आरती मिल चुकी है, उसे इस आरती की आवश्यकता नहीं। लाओ, इसे अलग रख दूँ। हमारे और तुम्हारे बीच में यह जलने वाली चीज़ क्यों रहे ?

सफ़ीयत : जलने में ही प्रकाश होता है, राजकुमार !

अजीत : प्रकाश नहीं, आलोक। (**आरती-पात्र अलग रखता है**) मेरे चारों ओर तो तुम्हारी स्मृतियाँ ही आरती बनकर घूमा करती हैं। मैं उन्हीं आरतियों के आलोक में तुम्हारा रूप देखता हूँ। जानती हो, वह रूप कैसा है !

सफ़ीयत : मैं कैसे जानूँ ?

अजीत : मेवाड़ की लक्ष्मी, जिसके मस्तक पर जौहर का पुनीत व्रत मंगल तारे की ज्योति लेकर चमक रहा है, जिसके नेत्रों में गंगा की पवित्रता है, जिसकी वाणी में सरस्वती की कल्याणकारिणी वीणा है, जिसकी मुस्कान युद्ध में विजय प्राप्त करने की प्रेरणा है, ऐसा तुम्हारा रूप है, सफ़ीयत ! और उस रूप की मैं पूजा करता हूँ ।

सफ़ीयत : मैं इस योग्य नहीं हूँ, राजकुमार !

अजीत : क्या इसलिए कि तुम मुसलमान वंश में उत्पन्न हुई हो? लेकिन सफ़ीयत ! सत्य और सौन्दर्य की कोई जाति नहीं होती । प्रेम और अनुराग किसी के वंश की सम्पत्ति नहीं हैं । मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम छोटे-बड़े उन नक्षत्रों की भाँति है जो एक-दूसरे के स्वाभाविक आकर्षण में घूमते रहते हैं और कभी थकते नहीं हैं। राजकुमारी ! हम और तुम उस अमर ग्रन्थि में बँधेंगे जो क्षितिज-रेखा की भाँति चारों ओर घूमकर सदैव के लिए आकाश और पृथ्वी को जोड़ देती है ।

सफ़ीयत : मैं कृतार्थ हुई। आप विश्राम कीजिए, थक गए होंगे।

अजीत : राजकुमारी ! कल ही अजमेर का युद्ध समाप्त हुआ है । शफ़ीखां ने सन्धि कर ली। युद्ध का अवसर रहते हुए भी युद्ध नहीं हुआ । इस समय मारवाड़ के लोगों से शीघ्र मिलना है। मैंने सोचा, तुमसे भी मिलता चलूँ । मैंने चाचा दुर्गादास से प्रार्थना की थी, हम लोग मार्ग में ध्रुवनगर होते हुए चलें। चाचा ने यह बात मान ली। और राजकुमारी ! मैंने तुम्हें चुपके से पत्र भेज दिया । मेरा पत्र तो तुम्हें मिल गया होगा ?

सफ़ीयत : हाँ, मिल गया था, राजकुमार ! तभी तो आज इतनी रात तक प्रतीक्षा करती रही। किन्तु आपका इतने शीघ्र चले जाना मुझे बहुत कष्ट पहुँचाता है।

अजीत : परिस्थितियों को देखते हुए कष्ट सहन कर लो राजकुमारी ! फिर तो तुम मारवाड की सम्राज्ञी बनोगी। जब तुम और हम मारवाड़ के सिंहासन पर बैठेंगे तो जैसे वसन्त में भ्रमरों के गुंजार से कलियाँ फूल बन जाएँगी, मलयाचल से समीर अपना रास्ता भूलकर मारवाड़ तक चला आएगा।

सफ़ीयत : (**गद्गद होकर**) तब तो भाग्य की लक्ष्मी बन जाऊँगी।

अजीत : लक्ष्मी ही नहीं, सरस्वती भी । तुम्हारे प्रेम-संगीत से मेवाड़ की दिशाएँ गूँजकर कहेंगी कि हम भी सम्राज्ञी सफ़ीयत के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर प्रेम-संगीत का स्वर भरेंगे । मेवाड़ की सरस्वती ! कहाँ है तुम्हारी वीणा ? अभी से मंगलाचरण का प्रारम्भ हो !

सफ़ीयत : वीणा सुनेंगे आप ? इस समय ?

अजीत : अवश्य। तुम्हारी वीणा सुनने का सौभाग्य जीवन की स्मरणीय घटना है। फिर इस मिलन के मंगलमय अवसर पर ! मैं अवश्य सुनना चाहूँगा। दूँ तुम्हारे हाथों में वीणा ? वह तो यहीं है। (**संकेत करता है।**)

सफ़ीयत : नहीं, मैं उठा लूँगी। आपके स्वागत में अभी से संगीत का वन्दनवार चारों ओर से लग जाए !

[वीणा हाथ में लेती है।]

अजीत : तुम कवि भी हो गई ज्ञात होती हो। संस्कृत पढ़ने का प्रभाव तुम्हारी वाणी में कविता लाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मुझ पर कविता लिख सकती हो ?

सफ़ीयत : जीवन-भर प्रयत्न करूँ तब भी न लिख सकूँ।

अजीत : क्यों ?

सफ़ीयत : (**मुस्कराकर**) क्योंकि जीवन छोटा है और आप बहुत बड़े हैं।

अजीत : (**हँसकर**) एक क्षण में मुझ पर कविता कह भी दी। मेवाड़ की सम्राज्ञी की यह प्रथम कविता है ! अच्छा, कविता के बाद संगीत हो।

सफ़ीयत : वीणा में किस राग के स्वरों का संघटन हो ?

अजीत : मेरे लिए तो तुम्हारे स्वर जीवन-संगीत के अमर माधुर्य से परिपूर्ण हैं। फिर भी आज प्रेम की जय में 'जयजयवन्ती' का संधान हो।

सफ़ीयत : (**उसी के स्वर सजाती हुई तारों को कसती हुई**) ये तार जब ढीले पड़े रहते हैं तो एक-दूसरे के समीप रहकर भी बेसुरे रहते हैं। किन्तु जब कस जाते हैं तो एक ही स्वर से गूँजते हैं, जैसे वे एक-दूसरे के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर गाते हैं।

अजीत : जब उनमें एक-सा आकर्षण रहता है तभी तो उनके कंपन से संगीत का संचार होता है।

सफ़ीयत : या यह कहिए कि इन तारों के परस्पर आत्म-समर्पण में ही संगीत है।

अजीत : और राजकुमारी ! इन्हीं तारों में से कोई तार अजीत के हृदय का कंपन लेकर गूँजेगा, और कोई तार सफ़ीयत के हृदय का कंपन लेकर नृत्य करेगा।

सफ़ीयत : आपके चरणों में समर्पित होने वाली यह रागिनी सुनिए।

[सफ़ीयत थोड़ी देर तक जयजयवन्ती रागिनी बजाती है। सहसा एक तार टूट जाता है। सफ़ीयत हलकी-सी चीख उठती है।]

अजीत : (**चौंककर**) क्यों, क्या हुआ ?

सफ़ीयत : (**हताश स्वर में**) यह तार टूट गया। मैंने तो उसे अधिक कसा नहीं

था, न जाने कैसे टूट गया !

अजीत : टूट भी जाने दो। इस तरह तो तार टूटा ही करते हैं।

सफ़ीयत : नहीं, मेरे हृदय में आशंका हो उठी है। कौन जाने यह तार किसके हृदय का कंपन लेकर टूटा है, मेरे हृदय का या आपके हृदय का।

अजीत : (**हँसकर**) अरे, यह तो एक कल्पना थी। कल्पना के पंखों से जीवन उड़ नहीं सकता।

सफ़ीयत : नहीं राजकुमार ! मेरे हृदय में अमंगल की भावना उठ गई। जय-जयवन्ती रागिनी पूरी नहीं बज सकी।

अजीत : (**उमंग से**) वाह राजकुमारी ! वीणा के तार के टूटने में कौन-सी अमंगल की बात है ? युद्ध में तलवार टूट जाती है, आकाश का कोई तारा टूट जाता है, इस लूनी नदी की कोई लहर टूट जाती है। इन बातों में अगर अमंगल हो तो संसार में अमंगल के सिवाय कुछ रह ही न जाए। रख दो वीणा को इस ओर। इतनी सुन्दर चाँदनी में अमंगल हो ही नहीं सकता, विशेषकर जब तुम मेरे सामने हो।

[सफ़ीयत अन्यमनस्कता से वीणा कोने में रख देती है। अजीत उसका हाथ पकड़कर वातायन की ओर ले जाता है।]

अजीत : चिन्ता की बात नहीं है। इधर आओ। देखो राजकुमारी ! कितनी सुन्दर चाँदनी है ! लूनी नदी की धारा पर यह चाँदनी ऐसी बिखर रही है जैसे हमारे-तुम्हारे जीवन पर प्रेम की ज्योति बरस रही है। और यह नदी संसार की उपेक्षा करती हुई अपने ही रास्ते चली जा रही है।

सफ़ीयत : (**सिर हिलाकर**) हूँ···

अजीत : और इन लहरों को देखो ! ये लहरें, जैसे हमारे और तुम्हारे मिलन की स्मृतियाँ हैं जो एक-दूसरे में अपना आत्मसमर्पण किए हुए हैं और भावावेश में टेढ़ी-तिरछी होकर अनन्त मिलन की पृष्ठभूमि पर बहती चली जा रही हैं।

सफ़ीयत : (**सोचती हुई**) हूँ···

अजीत : और तुम्हें याद है, राजकुमारी ! उस रात जब हम लोग इस नदी के किनारे ठण्डी हवा में झूमते हुए उस पेड़ की छाया के बीच कसमसाती हुई चाँदनी की चित्रशाला में बैठे हुए थे तो तुमने कहा था कि जब छाया और प्रकाश तक मिल सकते हैं तो क्या हम और तुम नहीं मिल सकते ?

सफ़ीयत : याद है, राजकुमार ! किन्तु आज वीणा का तार जो टूट गया !

अजीत : फिर वही वीणा का तार ? उसके टूटने का भला हमारे मिलन से क्या सम्बन्ध ? यह तो वैसी ही बात है कि किसी फूल के टूटकर गिर जाने से

वसन्त ऋतु ही न आए या किसी तारे के टूटने से पूर्णिमा की रात ही न हो। तुम अपने भाग्य में इतना सन्देह करती हो राजकुमारी ?

सफ़ीयत : जब आप मेरे पास हैं तो फिर कोई सन्देह नहीं है।

अजीत : मैं सुखी हुआ यह बात सुनकर। अच्छा, एक बात बतलाओ, इस ध्रुव-नगर में तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं है ?

सफ़ीयत : कष्ट ? चाचा दुर्गादासजी ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि इस किले की दीवारों तक को कोई कष्ट नहीं।

अजीत : ठीक, उन पर कोई भी आक्रमण नहीं कर सकता। अच्छा, राजकुमारी, अब मुझे विदा दो। चाचा दुर्गादास के जागने का समय हो गया। मैं चुपचाप अपने कक्ष से ही चला आया था।

सफ़ीयत : किस वाणी से कहूँ यह ? वर्ष में मेरे भाग्य की केवल एक ही पूर्णिमा होती है, वह भी इतने थोड़े समय के लिए ! ऐसा भाग्य अपनी स्मिति में दुर्भाग्य से भी अधिक कष्टकर है।

अजीत : ऐसा न कहो, राजकुमारी ! आगे चलकर तो हमारी रात्रि पूर्णिमा की रात्रि होगी।

सफ़ीयत : फिर आपके दर्शन कब होंगे ?

अजीत : कल तो मुझे चले ही जाना है। फिर कभी मिलेंगे।

सफ़ीयत : फिर कब ?

अजीत : इसे भाग्य-लक्ष्मी पर छोड़ो। आज तो तुमसे मिलने का कोई अवसर नहीं था, किन्तु भाग्य ने साथ दिया और आज मैं तुम्हारे साथ हूँ। राज-कुमारी, भाग्य छिपकर आता है और चुपके से कान में कह जाता है कि फूल की तरह खिलो और समुद्र की तरह आकाश तक चले जाओ।

सफ़ीयत : (**विचारमग्न**) हूँ...

अजीत : मैं तुमसे मिला और तुम मुझसे मिलीं, जैसे भाग्य ही दो लहरों की तरह उठा और फिर मिलकर एक हो गया। अजीत और सफ़ीयत, और सफ़ीयत और अजीत। बोलो, ठीक है न ?

सफ़ीयत : ठीक है राजकुमार !

अजीत : इस तरह नहीं, आँखें मिलाकर कहो सफ़ीयत कि ठीक है।

सफ़ीयत : (**आँखें नीचे कर इठलाते स्वर में**) मुझसे यह कुछ नहीं होता। यों तो कहे देती हूँ कि ठीक है।

अजीत : आँखें नीची करके कहने में इस बात की सचाई और भी अधिक स्पष्ट होती है। राजकुमारी ! कितना अच्छा होता कि कल दिन ही न होता। यह चन्द्रमा कल सूर्य से कह देता कि तुम्हारे चमकने की आवश्यकता नहीं है। कल दिन-भर मैं ध्रुवनगर में चमकूँगा, तो यह हमारी प्रेम की रात

दुगुनी हो जाती। हो जाती न ?

सफ़ीयत : लेकिन समय जितनी जल्दी बीतता है उसे देखते हुए तो वह रात आधी ही मालूम होती है।

अजीत : (**हँसकर**) तुम भी सच कहती हो, राजकुमारी ! तब तो विधाता को हमारे प्रेम-मिलन के लिए नई रात की सृष्टि करनी पड़ती। (**खिड़की की ओर देखकर**) प्रकृति कितनी शान्त है ! वृक्ष चुपचाप खड़े हैं, चाँदनी भी जैसे उनमें बसकर चुपचाप हम लोगों के प्रेम-मिलन को सन्तोष की आँखों से देख रही है। चारों ओर सुनसान और यहाँ प्रेम के भावों का कितना आन्दोलन ! यह विषमता देखती हो, राजकुमारी ? (**इसी समय बाहर क़िले के घण्टे पर चार चोटें पड़ती हैं, साथ ही गजर सुनाई देता है। अजीत और सफ़ीयत चौंककर एक-दूसरे को देखते हैं।**)

ओह ! चार बज गए ! समय इतनी जल्दी बीत गया।

सफ़ीयत : दीवार पर टँगे हुए गजरे पर दृष्टि डालकर) समय प्रेम नहीं करता, इसीलिए उसे ठहरने का अवकाश नहीं है। वह भागता चला जाता है !

अजीत : हम लोगों का प्रेम देखकर शायद वह भी प्रेम करना सीख जाए।

सफ़ीयत : (**गजरे की ओर देखकर**) फूल सबसे अधिक प्रेम करना जानते हैं। वे अधिकतर रात ही में खिलना सीखते हैं।

अजीत : (**सफ़ीयत के दृष्टि-पथ पर देखकर**) ओह ! यह फूलों का गजरा ! अभी तक इसका उपयोग नहीं हुआ ? (**शीघ्रता से फूल का गजरा उतारता है। हाथ से फूल छूकर**) कितने कोमल फूल हैं ये ! (**सूँघकर**) कितनी मनोहर सुगन्धि है इनमें ! मालूम होता है कि राजकुमारी सफ़ीयत-उन्-निसा के कमरे में पहुँचकर ये भी राजकुमारी के गुण सीख गए।

सफ़ीयत : यह मेरी प्रेम की माला है। इसे मैंने ही न जाने कितनी बातों के साथ ···न जाने कितने आँसुओं के साथ गूँथा है। लाइए, इसे मैं आपके गले में पहना दूँ।

[फूलों का गजरा अजीत के हाथ से ले लेती है।]

अजीत : ईश्वर करे, तुम्हारी माला ही क्षितिज-रेखा बनकर मेरे समस्त भाव-संसार को अपने में समेट ले। राजकुमारी ! तुम इस समय माला लिए हुए ऐसी ज्ञात होती हो जैसे स्वयंवरा हो। ठीक है, आज की रात ही हम लोगों के गन्धर्व-विवाह से धन्य बने। मेरे पास तो फूलों की माला नहीं है। (**गले से मोतियों की माला उतारकर**) यह मोतियों की माला है जो मेरे स्वर्गीय पिता महाराज जसवन्तसिंह के कण्ठ को सुशोभित कर चुकी है। उनका भी आशीर्वाद इस माला के साथ है। मेरी मोतियों की माला ही तुम्हारी फूलों

की माला का प्रतिदान बने ।

[बाहर फिर गजर बजता है।]

अजीत : हम लोगों के गन्धर्व-विवाह के इस पवित्र संस्कार में यह मंगल-वाद्य भी बज रहा है। ब्राह्म मुहूर्त में यह मंगल कार्य सम्पन्न हो। किन्तु शीघ्रता करो राजकुमारी ! चाचा दुर्गादास जाग उठे होंगे। उनके कक्ष के बाहर निकलने से पहले ही मैं लौट जाना चाहता हूँ। बढ़ो राजकुमारी ! तुम्हारी फूलों की माला मेरे हृदय में हो और मेरी मोतियों की माला तुम्हारे हृदय में भाग्य-शालिनी बने, साथ-ही-साथ। शीघ्रता करो राजकुमारी ! **(सफ़ीयत एक कदम आगे बढ़कर रुक जाती है)** यह रहस्य अभी किसी पर प्रकट नहीं है। चाचा दुर्गादास भी इसे अभी नहीं जानते। हमारे-तुम्हारे प्रेम को एक-मात्र जानने वाली ये दो मालाएँ ही हों जैसे दो आत्माएँ। आओ, ये मालाएँ साथ-साथ ही हमारे गलों में पड़ें ।

[दोनों ही एक साथ मालाएँ उठाते हैं और एक-दूसरे के गले में डालना ही चाहते हैं कि नेपथ्य से एक तलवार उठकर दोनों मालाओं के बीच से होकर उन्हें ऊपर ही सँभाल लेती है।

सफ़ीयत और अजीतसिंह चौंककर ऊपर देखते हैं। राठौर दुर्गादासजी का प्रवेश।

दुर्गादास गम्भीर व्यक्तित्व के सेनापति हैं—तेजस्वी नेत्र और निश्चयात्मक मुख-मुद्रा। 'पुरुष-सिंह' शब्द से ही उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो सकती है। उभरा हुआ वक्षस्थल और सशक्त भुजदण्ड। इस समय वे केवल एक ढीला कुरता और चुस्त पाजामा पहने हुए हैं। पैरों में जयपुरी जूते हैं। कुंचित केशराशि उनके कंधों पर फैल रही है। माथे पर त्रिपुण्ड है जिसकी रेखाएँ कुछ हलकी पड़ गई हैं। उनकी कमर में छुरी कसी हुई है और हाथ में तलवार है।]

दुर्गादास : (तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए गम्भीर स्वर में) मेवाड़ के उत्तराधिकारी राजकुमार अजीतसिंह··· **(एक क्षण बाद सफ़ीयत को देखकर)** अकबर की शाहज़ादी सफ़ीयत-उन्-निसा !

[दोनों ही सिर झुकाए अपराधी की भाँति दुर्गादास के सामने खड़े हैं। दुर्गादास रोषपूर्ण नेत्रों से अजीत को देखते हैं।]

दुर्गादास : मेवाड़ के उत्तराधिकारी राजकुमार अजीतसिंह ! देश की परतन्त्रता में तुम्हें प्रेम करने का अधिकार नहीं है और **(सफ़ीयत से)** सफ़ीयत ! युद्ध के दिनों में वीरों की पूजा होती है, प्रेमियों की नहीं।

अजीत : (**नीचा सिर किए हुए**) चाचा दुर्गादास ! आपको इस स्थान पर नहीं आना चाहिए था ।

दुर्गादास : राजकुमार ! सैनिक दुर्गादास की गति सर्वत्र है। मैं यहाँ क्यों न आता ? अपने मित्र अकबर के परिवार की रक्षा का मुझे वैसा ही ध्यान है जैसा तुम्हारी रक्षा का, और तुम उस विश्वास में··· यशस्वी राजपूती रक्त में···अपनी वासना का विष घोल दो, फिर भी मुझे यहाँ नहीं आना चाहिए था ?

अजीत : चाचा दुर्गादास ! आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

दुर्गादास : अपमान नहीं, राजकुमार ! राजपूती परम्परा का स्मरण दिला रहा हूँ। बेटी सफ़ीयत ! तुम दूसरे कक्ष में जाओ। राजकुमार अपने अपमान का अनुभव कर रहे हैं। जब बुलाऊँ, तब आना ।

[सफ़ीयत चुपचाप चली जाती है।]

दुर्गादास : मैंने तुम्हारा अपमान नहीं किया, राजकुमार ! तुमने मेरा अपमान किया है और इस पवित्र मोती की माला का भी। यह माला, महाराणा जसवन्तसिंह की स्वतन्त्र साँसों से आन्दोलित होने वाली यह माला, आज प्रेम का उपहार बन रही है ! मेवाड़ की स्वच्छन्द विजय-लक्ष्मी अप्सरा की भाँति वासना के कुंजों में···

अजीत : (**तड़पकर**) सेनापति ! अपने अधिकार की सीमा का ज्ञान हो ।

दुर्गादास : अच्छा ! चाचा दुर्गादास से अब मैं केवल सेनापति ही रह गया ? ठीक है राजकुमार ! इस सेनापति को अपने अधिकारों की सीमा का ज्ञान है। जिस समय तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ था, तब से दुर्गादास के अधिकारों को रक्त का अभिषेक मिला है। घटनाओं ने भैरवी नृत्य करके मेरे अधिकारों की सीमाएँ निर्धारित की हैं। राजकुमार ! स्वर्गीय महाराणा जसवन्त सिंह की मृत्यु-शैया के समीप मैंने तलवार लेकर उनके सामने प्रतिज्ञा की थी कि मारवाड़ को मर्यादा और स्वतन्त्रता मेरे जीवन की प्रथम आकांक्षाएँ होंगी और तब से हज़ारों वीरों की बलि देकर युद्ध में मृत्यु को पराजित कर, जौहर व्रतों में अपनी माताओं, बहनों और पुत्रियों को चिताओं पर चढ़ाकर इस मारवाड़ के सेवक ने मारवाड़ की रक्षा की है। यही मेरा अधिकार है, यही मेरे अधिकार की सीमा है। मैंने आज तक अपने अधिकार माँगे नहीं हैं, बलपूर्वक लिए हैं। अधिकार भिक्षा-पात्रों में नहीं लिए जाते ।

अजीत : किन्तु सेनापति दुर्गादास ! मारवाड़ की स्वतन्त्रता की रक्षा करनेवाला मारवाड़ के राजकुमार की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता, यह तुम जानते हो ?

दुर्गादास : जानता हूँ, और यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे बड़े भाई कुमार पृथ्वी सिंह को अजमेर का विद्रोह शान्त करने पर औरंगज़ेब से विष-भरी शाही खिलअत के रूप में मृत्यु का पुरस्कार मिला था। यह भी जानता हूँ कि उस मृत्यु से तुम्हारे पिता महाराणा जसवन्तसिंह अधिक दिनों जीवित नहीं रहे। यह भी जानता हूँ कि उनकी मृत्यु-शैया आँसुओं से भीग उठी थी यह सोच-कर कि मारवाड़ का क्या भविष्य होगा। तुम उस समय महारानी के गर्भ में थे। तब मैंने तुम्हारे संरक्षण की प्रतिज्ञा कर मारवाड़ की रक्षा में रक्त-स्नान का व्रत लिया था। इसके अतिरिक्त और मुझे क्या जानना है, मैं जानना चाहता हूँ।

अजीत : यही कि राजनीति को जानने वाला चतुर सेनापति अपने प्राणों पर खेलकर युद्ध कर सकता है, नीति और कूटनीति की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ पहचान सकता है, किन्तु प्रेम और वासना में अन्तर नहीं पहचान सकता। महाराणा जसवन्तसिंह का पुत्र वासना का कीड़ा नहीं हो सकता। वह पवित्र प्रेम का समर्थक है, जिसमें जाति और वर्ग का भेद नहीं है। मानवता में ईर्ष्या-द्वेष की जो अग्नि लगी हुई है, वह इस भुवन-व्यापिनी प्रेम की मन्दा-किनी से शीतल हो जाएगी।

दुर्गादास : राजकुमार ! अभी थोड़ा और ज्ञानार्जन करो। जाति और वर्ग के भेद को मिटाने वाली प्रेम की यह मन्दाकिनी क्या गन्धर्व विवाह की लहरों में ही बह सकती है ? प्रेम के क्या अन्य रूप नहीं हो सकते ? और फिर यह मन्दाकिनी केवल रात में ही छिपकर क्यों बहा करती है, वह भी ध्रुव-नगर के दुर्ग के चरणों पर ? मेवाड़ के राजकुमार ! यह विश्वव्यापी प्रेम सूर्य बनकर दिन में समस्त वासनाओं को जला देता है और चन्द्र बनकर समस्त प्राणियों पर समान रूप से स्नेह, शीतलता और अमृत की वर्षा करता है और समस्त विश्व इस पर्व की पवित्रता में धन्य होता है। इस सूर्य के प्रकाश में और चन्द्र की ज्योत्स्ना में सभी को जाने का अधिकार है। वहाँ चाहे सेनापति हो या चाचा दुर्गादास हो, स्वतन्त्रता से जा सकता है। उसके जाने पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

अजीत : किन्तु राजपूती सिंह के पुत्र को आप उसकी क्रीड़ा से नहीं रोक सकते। यह मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है, यह मेरा स्वभाव-सिद्ध अधिकार है, और वह अक्षुण्ण है। क्रीड़ा अक्षुण्ण है, उसे आप नहीं रोक सकेंगे, कोई नहीं रोक सकेगा।

दुर्गादास : राजकुमार ! नहीं रोकूँगा। किन्तु राजपूती सिंह के पुत्र की यह क्रीड़ा युद्ध-भूमि में हो, लूनी नदी के किनारे न हो। वह राज-सिंहासन पर बैठे, ध्रुवनगर के दुर्ग में प्रेम के सोपान पर नहीं। वह अपने गले पर तलवार को

चक्राकार घूमने दे, फूलों की मालाओं को अपने गले में न पड़ने दे।

अजीत : किन्तु सेनापति ! सफ़ीयत-उन्-निसा से मेरा सम्बन्ध एक राजकुमार की व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न है। यह प्राकृतिक है, नैसर्गिक है। संसार में कोई शक्ति नहीं है जो मेरी व्यक्तिगत रुचि में बाधा ला सके।

दुर्गादास : किन्तु अजीतसिंह का, तुम्हारी व्यक्तिगत रुचि का सम्बन्ध समस्त राजस्थान से है, राजस्थान के राजवंशों से है। तुम्हें ज्ञात है अजीतसिंह, राजपूतों ने अपने रक्त की पवित्रता के लिए कितने भयानक युद्ध किए हैं ? कितनी बार जौहर की ज्वालाएँ जली हैं ? आज तुम कहते हो कि तुम्हारी व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न केवल तुम्हारे अधिकार की बात है। मारवाड़ के रक्त को तुम कलुषित नहीं कर सकते, राजकुमार !

अजीत : तब सुनो सेनापति ! आज से मैं समस्त राजस्थान को चुनौती देता हूँ कि वह मेरे अधिकार की ओर देखे और उस पर प्रश्न-चिह्न लगाने की धृष्टता करे। जो धृष्टता करेगा उसे मेरी तलवार की पैनी धार पर चलना होगा। तुम भी तैयारी करो सेनापति दुर्गादास ! देखूँगा, मारवाड़ किसका साथ देता है, मेरा या तुम्हारा।

दुर्गादास : तैयार हूँ, राजकुमार ! दुर्गादास ने युद्धों को सदैव महाशक्ति का वरदान माना है। अभी तक मैंने तुम्हारी रक्षा में युद्ध किए थे। अब महाराणा जसवन्तसिंह के तथा राजवंशों के आदर्शों के लिए युद्ध करूँगा। राजपूतों को निमन्त्रण दो राजकुमार, कि वे अपने आदर्श की विजय में आदर्श राजपूत वंश का विनाश देखें। राजस्थान-भर में प्रचार करो कि तुम्हारे गन्धर्व-विवाह की संध्या में मारवाड़ की परतन्त्रता की काली रात घिर आए और मारवाड़ के मर्यादा-रक्षण की जो प्रतिज्ञा मैंने स्वर्गीय महाराणा जसवन्तसिंह के सामने की है वह अब अपने ही रक्त से पूरी हो।

अजीत : (**क्रोध से**) मैं सबसे प्रथम तुम्हें द्वन्द्व-युद्ध का निमन्त्रण देता हूँ, सेनापति !

दुर्गादास : मैं राजपूतों के आदर्श से गिरे हुए व्यक्ति का निमन्त्रण अस्वीकार करता हूँ। मारवाड़ के सैनिक तुमसे युद्ध करेंगे।

अजीत : सेनापति ! तुम मारवाड़ से निर्वासित हुए।

दुर्गादास : मैं नहीं, राज्य-परिषद् तुम्हें निर्वासित करेगी राजकुमार ! मारवाड़ भूमि के रजकणों से निर्मित राज्यवंश के खिलौने ! तुम्हें इस राज्यवंश की मर्यादा का इतना भी ध्यान नहीं आया कि तुम इस प्रसंग पर मौन रह जाते ? क्या तुम्हारे लिए वीर राजपूतों का जो रक्त बहा है वह केवल बालकों की क्रीड़ा थी ? विदेशियों द्वारों मारमाड़ के विनाश का जो ताण्डव हुआ है क्या वह केवल अभिनय-मात्र था ? आज फिर राजस्थान में पारस्परिक विद्रोह

की ज्वाला धधके जिसमें सारी मर्यादा और समस्त गौरव फिर भस्म हो जाए !

सफ़ीयत : (**नेपथ्य से**) यह नहीं होगा, यह नहीं होगा, यह नहीं होगा। चाचा दुर्गादास ! तुम्हारे रहते भारतीय गौरव कभी नष्ट न होगा। (**प्रवेश कर**) यदि ऐसा होगा तो मैं संसार में नहीं रहूँगी। (**अश्रुपूर्ण नेत्र**)

दुर्गादास : सुखी रहो बेटी ! मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी। किन्तु राजकुमार यही देखना चाहते हैं। उठो राजकुमार ! तलवार लो और मुझ पर वार करो !

सफ़ीयत : नहीं चाचा ! यह वार पहले मुझ पर होगा। उठो राजकुमार ! मैंने समस्त बातें दूसरे कक्ष से सुनी हैं। मैं राजस्थान की रक्षा में अपना रक्त बहाऊँगी। तुम्हारी तलवार से मरने में मेरा सौभाग्य है। मेरे पिताजी ने चाचा दुर्गादास पर जो विश्वास किया था वह विश्वास संसार में अटल अटल रहेगा।

दुर्गादास : बेटी ! मैं सुखी हुआ। आज तुम्हारा चाचा बनने में मैं अपने गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। तो तुम मेरा साथ देने के लिए तैयार हो ?

सफ़ीयत : आप जो कहेंगे वही करूँगी। आप आज्ञा दीजिए।

दुर्गादास : राजपूती वंश के गौरव के लिए, देश के गौरव के लिए, मानवता के गौरव के लिए मैं चाहता हूँ कि तुम मेरा साथ दो।

सफ़ीयत : दूँगी। स्वतन्त्रता-प्रिय अकबर की पुत्री, मैं वचन देती हूँ।

दुर्गादास : खूब सोच-समझकर वचन दो, बेटी !

सफ़ीयत : आपको क्या मेरे वचन में विश्वास नहीं है ?

दुर्गादास : हृदय में आग लगानी पड़ेगी, बेटी ! राजस्थान में शरीर के जौहर अनेक बार हुए हैं, यह मन का जौहर होगा, प्राणों का जौहर होगा।

सफ़ीयत : आप मुझे आतंकित न कीजिए, चाचा दुर्गादास ! अपने प्राण भी दे सकती हूँ।

दुर्गादास : मुझे तुम्हारे प्राण नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आज से तुम्हारा और राजकुमार अजीतसिंह का सम्बन्ध भाई-बहन का हो।

[तीव्र वाद्य का स्वर]

सफ़ीयत : (**स्तब्ध रहकर**) भाई-बहन···भाई-बहन···ओह ! (**चीखकर**) सफ़ीयत ! तू कहाँ है ?

(**क्षण-भर सिसकती है, फिर सँभलकर**) राजस्थान की मर्यादा के लिए, राजवंश की पवित्रता के लिए, आपकी आज्ञा के लिए, (**अटकते हुए**

शब्दों में) मैं इन्हें भाई तो नहीं मान सकूँगी, किन्तु कुमार के मार्ग से हट जाऊँगी, चाचा !

दुर्गादास : (आनन्द-विह्वल होकर) सफ़ीयत की जय ! जय ! जय ! अनेक वर्षों तक तुम राजस्थान ही नहीं, देश के गौरव के लिए जीवित रहो। सफ़ीयत, तुम···तुम पर राजस्थान को गर्व होगा। तुम सदैव राजस्थान के क्षितिज पर ध्रुव-तारिका बनकर अटल रहो। राजकुमार ! तुम स्तब्ध होकर देख रहे हो ? नारी के जौहर की ज्योति देखो। राजपुत्र ! इस पूजा की शोभा देखो और इस शोभा की पूजा करो। वीर राजपूत ! महाराज जसवन्तसिंह के फ़ौलादी रक्त! इस पवित्रता के पुण्य पर्व में अपने मन से लड़ो और विजय प्राप्त करो। यह जौहर देखो ! ऐसा जौहर अभी तक राजस्थान में नहीं हुआ। मानवता में यह स्वर्गीय ज्योति देखो ! बोलो, सफ़ीयत की जय !

सफ़ीयत : नहीं, आप बोलिए, मेरे अजीतसिंह की जय !

अजीत : (सँभलते हुए शब्दों में) मेरी नहीं, (**ज़ोर से**) सफ़ीयत की जय !

दुर्गादास : (प्रचंड ध्वनि से) राजस्थान के जौहर की जय !

[वाद्य संगीत]

[यवनिका]

सत्य का स्वप्न

इस चित्र-रूपक के सम्बन्ध में

ललित कलाओं के क्षेत्र में जितनी हानि रंगमंच को सहनी पड़ी है, उतनी कला के अभिव्यंजन के किसी साधन को नहीं। अन्य साधनों की हानि तत्सम्बन्धी कला को ही नष्ट करती है किन्तु रंगमंच की हानि केवल उसी तक सीमित नहीं रहती, उससे अभिन्न नाट्य-साहित्य को भी आघात पहुँचाती है। इसलिए शासक की प्रवृत्ति यदि रंगमंच को नष्ट करती है तो वह अभिनेय नाटकों की परम्परा भी समाप्त कर देती है। हिन्दी साहित्य का आदि काल उस समय चल रहा था जब विदेशियों का आगमन इस देश में हुआ। विदेशियों को रंगमंच सह्य नहीं था, इसलिए हिन्दी साहित्य के आदि काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक हमें ऐसा एक भी उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता जिसका अभिनय किया जा सके। काव्य के क्षेत्र में हिन्दी भले ही गर्व करे किन्तु अभिनेय नाटकों के सम्बन्ध में वह रंक ही है। अन्य भाषाओं में नाट्य-रचना सम्भव हो सकी क्योंकि वे भाषाएँ केन्द्रवर्त्ती नहीं थीं और उन्हें विदेशियों की रुचि और प्रवृत्ति ने सीधे प्रभावित नहीं किया किन्तु हिन्दी केन्द्रवर्त्ती भाषा थी। शासकों की प्रगतिशील दृष्टि के कारण उसकी रंगमंच-सम्बन्धी परम्परा सुरक्षित नहीं रह सकी और इस कारण उसका नाट्य-साहित्य भी नहीं पनप सका।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने बंगला रंगमंच से प्रभावित होकर हिन्दी रंगमंच के विकास के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। उन्होंने अपने नाटकों की रचना में रंगमंच का पूरा ध्यान रक्खा। किन्तु यह रंगमंच केवल स्थानीय था। आगे चलकर रंगमंच व्यावसायिक दृष्टि से स्थान-स्थान पर घूमा पर साहित्य या राष्ट्र की सम्पत्ति के रूप में वह विकसित नहीं हुआ। अंग्रेजी राज्य से भी रंगमंच के निर्माण में देश को सुविधा नहीं मिली। सभ्यता और साहित्य-वितरण करने की घोषणा सुनाने वाले इस विदेशी राष्ट्र ने अपने अभिनय के लिए हृदयों को तो रंगमंच बनाया किन्तु नाटकों का रंगमंच पनपने भी दिया। इस भाँति रंगमंच के अभाव ने अच्छे नाटकों को भी जन्म नहीं दिया।

बीसवीं शताब्दी के क्रमशः सर्वश्री माधव शुक्ल, बदरीनाथ भट्ट, माखन लाल

चतुर्वेदी और जयशंकर प्रसाद ने साहित्य-शिल्प के साथ नाट्य-शिल्प के भी प्रयोग किए। आगे चलकर एकांकी नाटकों का सूत्रपात हुआ। रंगमंच के इन प्रयोगों के परिपक्व होने के पूर्व ही चित्रपट ने लोकप्रियता प्राप्त की और अपने कैमरे के कुटिल कटाक्षों के कारण कुतूहलमयी ललित कल्पनाओं की कमनीयता प्रदर्शित की। एक ही प्रसंग में कैमरे की अनेकानेक 'उलटवाँसियाँ' तथा क्षण में पृथ्वी से आकाश और नभ से भीषण वन के अन्तराल में पहुँच कर सिंह और हाथियों के आक्रमण से प्राण बचा लेने की साहसपूर्ण घटनावली दर्शकों के प्राणों में समा गई। किसे रंगमंच के स्थिर दृश्य में जीवन की विवेचना सुनने का अवकाश है जब दूसरी ओर चित्रपट अपने रसीले गानों और विचित्र कौतुकों के साथ सामान्य जन को अपनी ओर खींच रहा है? इस स्थिति में नाट्य-साहित्य की रक्षा के दो ही उपाय हो सकते हैं—

1. रंगमंच अत्यन्त सरल होकर जीवन में विप्लव मचाने वाले आकर्षक कथा-भाग से सम्पन्न हो।
2. साहित्य नाटकों और चित्रपटों में संधि हो।

पहला उपाय तो आधुनिक नाटक-लेखकों के हाथ में है। वे जीवन के गहन अध्ययन से रंगमंच के उपयुक्त सामग्री का संकलन कर नाटकीय कौशल से निर्मित कथा का निर्माण कर सकते हैं। अपने नाटकों का आरम्भ वे सरल रंगमंच से करें। धीरे-धीरे उनका नाट्य-कौशल रंगमंच को स्वयं समृद्ध कर देगा और तब उस पर अनेकानेक प्रयोग सम्भव हो सकेंगे।

दूसरा उपाय साहित्यकार और चित्रपट-निर्माता के परस्पर समझौते का है। यह समझौता कैसे होगा, यह समय और परिस्थिति का प्रश्न होगा। इसके लिए या तो राज्य-विधान साहित्य और चित्रपट के परस्पर सहयोग की प्रतियोगिताएँ रक्खें या साहित्यकार स्वयं ऐसा साहित्य दे कि चित्रपट-निर्माता उसके समक्ष मस्तक झुका दें। बंगला साहित्य के कथा-लेखक स्वर्गीय श्री शरत्चन्द्र ने ऐसा साहित्य दिया है जिसे बंगला के चित्रपट-निर्माताओं ने चित्रपट पर प्रस्तुत किया है। बंगाली निर्माता अपने साहित्यकार का सम्मान करना जानते हैं। हिन्दी के कथा-लेखक श्री प्रेमचन्द ने भी अमर साहित्य लिखा किन्तु चित्रपट-निर्माताओं ने प्रेमचन्द का मूल्य नहीं परखा और उनकी कृति या तो 'बाज़ारे-हुस्न' बनकर रह गई या तपस्विनी की भाँति साधना के तपोवन में ही बैठी रही।

हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हुई और अहिन्दी प्रान्तों से भी हिन्दी के चित्रपटों के निर्माण में राष्ट्रीय धन का व्यय हुआ। पहले भी होता था अब और अधिक हुआ। किन्तु इन चित्रपटों की कथा का निर्माण करने वाले अधिकांश में साहित्यकार नहीं, वे या तो 'मुन्शी जी' हैं या 'पंडित जी'। चित्रपट-निर्माताओं के लिए साहित्यकार 'फिजूल की चीज' है। बेचारा साहित्यकार अपनी प्रतिभा की श्री

प्राणों की वाणी में सजाकर यदि किसी चित्रपट-निर्माता के सामने पहुँच जाए तो निर्माता महोदय उससे यही प्रश्न करेंगे ।

1. आपकी कहानी 'हंटरवाली' टाइप की है या नहीं ?
2. आपकी कहानी में 'परेम' की 'उथल-पुथल' के गाने दस से पन्द्रह तक रखे जा सकते हैं या नहीं ?
3. कहानी में 'मजा' पैदा करने वाली 'चुलबुलाहट' है या नहीं ?
4. इस कहानी में हमारा पैसा तो न फँसेगा ?
5. सस्ते से सस्ते कितने दामों में कहानी बिक सकेगी ?
6. कहानी को अपनी मर्जी के माफिक हम बदलेंगे। यह शर्त मंजूर है ?
7. इस कहानी की हीरोइन क्या ऐसी है जो हमारे स्टूडियो की 'स्टार' से 'फिट' हो जाए ?

साहित्यकार यदि वास्तव में साहित्यकार है तो उसे एक से अधिक शर्तें नामंजूर होंगी । उसे वापस जाना होगा। चित्रपट-निर्माता सोचेगा 'कहाँ, की हत्या गले पड़ रही थी। अरे, अपने 'मुंशी जी' से जैसा चाहेंगे, वैसा लिखाएँगे। कहानी के लिए अलग से देना भी न पड़ेगा । महीने की तनख्वाह जो दी जाती है।"

यदि किसी साहित्यकार ने अपनी मर्यादा छोड़ कर कोई कहानी भेजी भी तो उत्तर मिलेगा कि 'अभी पहले की ली हुई दो कहानियों पर काम चल रहा है। इसलिए हमें हार्दिक दुःख है कि हम आपकी कहानी स्वीकार करने का यश प्राप्त न कर सकेंगे।'

चित्र-निर्माता यह प्रयोग कभी नहीं करेगा कि वह ऐसा चित्र बनाए जिससे भारतीय कथा-साहित्य द्वारा हमारी संस्कृति का प्रभाव सारे संसार में फैल जाए। साधारणत: दिलचस्प चित्रपटों में क्या होगा ?

1. दृष्टि पड़ते ही प्रेम हो जाना।
2. विरह में एक ही गीत गाना। नायक यदि गाने की एक कड़ी रेल के कम्पार्टमेंट में सिर निकाल कर गा रहा है तो नायिका उसी गाने की दूसरी कड़ी बैलों को भूसा डालते हुए गा रही है।
3. नाचनेवालियों से प्रेम ।
4. पाकेट काटना या चोरी करना।
5. जालसाजी करना।
6. पिस्तौल या बन्दूक से खून करना।
7. मोटर से कुचल जाना ।
8. अर्धनग्न नायिका का तालाब में स्नान करना।
9. अस्पताल और आपरेशन-टेबुल ।

10. जज का इजलास और 'माई लार्ड' कहते हुए वकीलों की जिरह और मुजरिम से सवाल-जवाब।
11. मौत का दृश्य।
12. पागल हो जाना या स्मृति खो जाना।
13. महफिल के नाच और शराब के दौर।

अधिकांश चित्रपटों में यही बातें हैं। घटनाओं की भिन्नता में इन्हें यथास्थान सजा दिया जाता है। वास्तविक समस्याओं को वास्तविक रूप से सुलझाने की सहज और मनोवैज्ञानिक विधि सौ चित्रपटों में से दस चित्रपटों में भी मिलना कठिन है। इससे यह स्पष्ट है कि चित्रपट निर्माण में नब्बे प्रतिशत राष्ट्रीय धन राष्ट्र के अस्वस्थ मनोविनोद तथा कुत्सित संस्कारों के उत्पन्न करने में व्यय होता है।

साहित्यिकों का यह कर्तव्य है कि वे ऐसे कथानकों की सृष्टि करें जो स्वस्थ मनोरंजन करते हुए देश के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को स्पष्ट कर सकें।

'सत्य का स्वप्न' वस्तुतः इसी दिशा में एक प्रयास है। इस रूपक की रचना में मेरा यह दृष्टिकोण भी रहा है कि नाटक को ऐसी घटनाओं के रूप में उपस्थित किया जाए कि वह चित्रपट के समीप तक पहुँच सके। इस भाँति साहित्यिक नाटक की रचना में मेरा यह नया प्रयोग ही समझा जाना चाहिए।

बारहवीं शताब्दी की सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन कर मैंने अपने प्राचीन 'सत्य' के 'स्वप्न' में कला, व्यक्ति और आत्मसम्मान की सूक्ष्म रेखाओं के परखने की चेष्टा की है। कला के लिए व्यक्ति आत्मसमर्पण कर सकता है किन्तु आत्मसम्मान के लिए वह कला और व्यक्तित्व को भी कुछ नहीं समझता। यही कारण है कि 'माधव' सामान्य नायकों की तरह 'कामकन्दला' के सौन्दर्य और कला-कौशल पर रीझ कर 'हाय-हाय' नहीं करता। वह आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा में कला और सौन्दर्य को गौण बना देता है। शौर्य प्रेम का शासक है, प्रेम शौर्य का शासक नहीं है।

इस रचना का शिल्प सामान्य नाटकों के शिल्प से भिन्न है। मैंने इस रचना को नाटकीयता प्रदान करते हुए उसे गतिशील बनाने का प्रयत्न किया है। इस भाँति इसके आधार पर सीनिरियो (प्रति न्यास) भी लिखा जा सकता है। यही कारण है कि एक प्रमुख घटना के बाद दृश्यान्तरों में विभाजन करना ही 'सीनिरियो' का कौशल है। चित्रपट घटनाओं की गति का ही दूसरा नाम है। घटना में क्रम अनिवार्य अंग है। इस क्रम को जितने कौशल, दृष्टिकोण, मनोभाव या प्रतीक से उपस्थित किया जाएगा उतने ही प्रकार से दृश्य हृदयंगम किया जा सकेगा। सीनिरियो चित्र-निर्माता, प्रकाश-व्यवस्थापक और कैमरामैन के लिए आदेश-पत्र है। वह छोटे से छोटे दृश्य की गति और कोण की व्यवस्था के लिए

एक नेत्र वाले शुक्राचार्य (कैमरा) को दस दिशाओं से देखने का आदेश देता है और इस एक नेत्र में सौन्दर्य को पकड़ने की अद्भुत क्षमता है। वह सूक्ष्म और संक्षिप्त सौन्दर्य को विस्तार भी दे सकता है। शुक्राचार्य के इसी कौशल ने सरस्वती को अधिक मुखर नहीं दिया, अर्थात् कैमरे की सौन्दर्य-ग्रहण की इस अद्भुत शक्ति के कारण ही चित्रपट अधिक संवादों की आवश्यकता नहीं समझता। उसे तो चित्र-समूह से ही कथा का निर्माण करना है। जहाँ चित्रों के पारस्परिक सम्बन्ध-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है, वहीं संवाद का सहयोग लिया जाता है, अन्यथा जल-तरंग की भाँति चित्रों का क्रम कलात्मक ढंग से चलता जाता है और इन चित्रों के पारस्परिक विलयन में कथा अग्रसर होती है।

प्रस्तुत रचना में घटना से सम्बन्धित दृश्यान्तर तो अनेक हैं किन्तु मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए तथा चरित्र के वास्तविक सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए मैंने संवादों को अपेक्षाकृत कम नहीं किया है। उससे मेरी नाटकीयता की रक्षा हो सकी है। यदि कभी इस कथानक का चित्र भी बना तो चरित्र-सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले संवादों की बलि मैं सहन नहीं कर सकूँगा।

घटना-क्रम और संवाद के सम्मिश्रण का सबसे बड़ा सौन्दर्य 'कुतूहल' है। यह कुतूहल जितनी स्वाभाविकता से अंत तक सुरक्षित किया जा सकता है, उतनी ही सफल कथा की नाटकीयता होगी। इस नाटकीयता को सशक्त बनाने के लिए विशिष्ट घटनाओं पर बल (emphasis) देने की आवश्यकता होगी। प्रस्तुत कथानक का सौन्दर्य उचित बल देने में ही है। माधव की कला और चरित्र की महानता इसी पर आधारित है।

पुस्तक को रुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिए मैं अपने अभिन्न मित्र श्रीनिवास जी का आभारी हूँ।

—लेखक

कथा का संकेत

इतिहास के विशेषज्ञ डॉ० राजेश अपने अध्ययन-कक्ष में कामकन्दला के इतिहास पर खोज कर रहे हैं। उनकी लड़की लता चाय लेकर आती है और उनकी खोज के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट करती है। डॉ० राजेश लता से कहते हैं कि कामकन्दला का इतिहास भारतीय कला और संस्कृति का इतिहास है, इसे तुम अपनी कल्पना के नेत्रों से देखो—

"श्रीकृष्ण गोकुल में सर्वप्रिय हैं। वे गोपों के साथ खेलते हैं और गोपियों के साथ रास रचाते हैं। कंस के निमन्त्रण पर उन्हें मथुरा जाना पड़ता है। उनके वियोग में राधा तथा अन्य गोपियाँ बहुत दुःखित होती हैं। वे यमुना के किनारे श्रीकृष्ण की स्मृति में बहुत व्याकुल हैं। कदम्ब वृक्ष और लताओं से कृष्ण का पता पूछती हैं। उसी समय कामदेव रतिसहित नृत्य करता हुआ आता है और राधा पर पुष्प-बाण का संधान करता है। राधा उससे लौट जाने के लिए प्रार्थना करती हैं किन्तु जब कामदेव पुष्प का बाण-प्रहार करना ही चाहता है तो श्री राधा कामदेव और रति को शाप देती हैं—

'जिस प्रकार मैं अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग में दुःखी हूँ उसी प्रकार तुम दोनों भी संसार में जाकर अपने प्रिय के वियोग में दुःखी बनो। नृत्य और वीणा ही तुम्हारे वियोग का कारण बने।'

कामदेव पुष्पावती नगरी में, ब्राह्मण वंश में जन्म लेकर माधव नाम धारण करता है और रति प्रभावती नगरी में राजा रुक्मराय की पुत्री रूप में उत्पन्न होती है। राजा रुक्मराय अपने राज्य-ज्योतिषी से नवजात राजकुमारी का भविष्य जानना चाहते हैं। ज्योतिषी राजकुमारी के शुभ लक्षणों के साथ यह भी बतलाता है कि राजकुमारी की अपेक्षा उसमें राजनर्तकी के गुण अधिक होंगे। राजा दुःखी होकर वंश-मर्यादा नष्ट होने के भय से नवजात पुत्री को चन्दन के सन्दूक में रखवा कर नर्मदा नदी में प्रवाहित करवा देते हैं। रानी बिलखती रह जाती है।

चन्दन का वह सन्दूक बहता हुआ हीरापुर ग्राम में आता है जहाँ नट बाँसों

पर तरह-तरह के खेल दिखला रहे हैं और उनका मुखिया प्रमथ शिव जी की पूजा कर रहा है। नट लोग उस चन्दन के सन्दूक को किनारे लाते हैं और प्रमथ उस नवजात बालिका को पाकर बहुत प्रसन्न होता है। उसके कोई सन्तान नहीं है, इसलिए वह उसे अपनी पुत्री की तरह पालता है और उसे नृत्य और संगीत की इतनी उत्कृष्ट शिक्षा देता है कि कामावती नगरी का राजा कामसेन उसे अपनी सभा की राजनर्त्तकी बनाता है। वह राजनर्त्तकी कामकन्दला नाम से प्रसिद्ध होती है।

इधर चन्देल राजा गोविन्दचन्द्र के राज्य में पुष्पावती नगरी का सुन्दर ब्राह्मण-कुमार माधव शस्त्र चलाने और वीणा बजाने में दक्ष होता है। वह इतनी मधुर वीणा बजाता है कि नारियाँ उसकी ओर अनायास ही आकर्षित होती हैं। अपने इस गुण के कारण वह राज्य से निर्वासित होता है। वह घूमता हुआ कामावती नगरी में पहुँचता है जहाँ राजा कामसेन के यहाँ अत्यंत रूपवती राज-नर्त्तकी कामकन्दला है, जो अत्यन्त कुशल और शास्त्रीय नृत्य करती है।

माधव जिस समय कामावती नगरी में पहुँचता है उस समय राजकक्ष में कामकन्दला का नृत्य हो रहा है। द्वारपाल माधव को भीतर प्रवेश नहीं करने देता। माधव सभा-भवन की सीढ़ियों पर बैठ कर संगीत और नृत्य की ध्वनि सुनता है। सुनकर वह द्वारपाल से कहता है कि इस सभा में दो सितार, चार वीणाएँ और बारह मृदंग बज रहे हैं। पूर्व दिशा की ओर बैठने वाले मृदंगी के दाहिने हाथ का अँगूठा कटा है और राजनर्तकी के बाएँ पैर के नूपुर में नौ से तेरह के बीच के घूँघरों में दाने नहीं हैं। द्वारपाल यह बात राजा कामसेन से निवेदन करता है और महाराज माधव को भीतर बुलाते हैं। माधव राजनर्त्तकी काम-कन्दला का नृत्य देखता है। जिस समय कामकन्दला नृत्य कर रही है उसी समय भ्रमर उड़ता हुआ आता है और उसके हृदय पर बैठ कर दंशन करने लगता है। नृत्य और ताल भंग होने के भय से कामकन्दला अपने शरीर पर प्राणवायु एकत्र कर हृदय के मार्ग से ही प्रवाहित कर देती है। उस वायु के झोंके से हृदय के स्थान का वस्त्र उड़ता है और वस्त्र के उड़ने से भ्रमर भी उड़ जाता है। सब सभा मूर्ख बनी बैठी रहती है, केवल संगीत का विशेषज्ञ माधव ही इस कला को समझता है। वह राजनर्त्तकी की कला पर प्रसन्न होकर महाराज कामसेन से पाया हुआ उपहार उसे प्रदान कर देता है। महाराज कुछ अप्रसन्न हो जाते हैं और माधव के संगीत की परीक्षा लेते हैं। माधव जैसे ही वीणा बजाता है, सारी सभा भाव-विह्वल हो जाती है। कामकन्दला भी माधव पर मोहित होकर नृत्य करते हुए मूर्छित हो जाती है। महाराज कामसेन क्रुद्ध होकर माधव को राज्य से निर्वासित कर देते हैं।

'वीणा ही मेरा अभिशाप है' कहकर माधव फिर भटकने लगता है। अन्त में

वह उज्जयिनी के महाराज यशोवर्मन विक्रमादित्य के राज्य में पहुँचता है। इधर कामावती नगरी में कामकन्दला माधव के वियोग में अत्यन्त व्यथित रहती है।

महाराज यशोवर्मन विक्रमादित्य प्रात:काल श्री महाकालेश्वर का पूजन करने के लिए मन्दिर में आते हैं। उनके आने के पूर्व ही माधव मन्दिर की दीवाल पर अपनी वियोग-व्यथा का संकेत लिखता है। महाराज विक्रमादित्य उसका उत्तर लिखकर परिचय पूछते हैं। दूसरे दिन माधव उसी मन्दिर की दीवाल पर अपनी वियोग-व्यथा और अपमान की बात लिखता है। महाराज विक्रमादित्य उसे खोजने की व्यवस्था करते हैं और श्री महाकालेश्वर के मन्दिर में चन्द्रकान्ता नामी गायिका के विरह-गान से सहानुमति का आग्रह मानकर माधव प्रकट होता है। महाराज विक्रमादित्य माधव को समझाते हैं किन्तु माधव में कला, संगीत और रूप का आकर्षण आत्मा की पुकार बन गया है। वह कामकन्दला को नहीं भूल सकता। महाराज विक्रमादित्य, महाराज कामसेन को पत्र भेज कर कामकन्दला को माँगते हैं। महाराज कामसेन के प्रतिकूल उत्तर से युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न होती है। एक दिन के युद्ध में दोनों दलों की भयानकता और उसका परिणाम अनिश्चित और दूर ज्ञात होता है। निर्णय यह होता है कि दोनों दलों से एक-एक वीर चुना जाए और दोनों में द्वन्द्व हो। जिसकी जीत हो उसी का दल विजयी समझा जाए। महाराज कामसेन की ओर से मेढ़ामल और महाराज विक्रमादित्य की ओर से माधव द्वन्द्व के लिए प्रस्तुत होते हैं।

पहले त्रिशूल से युद्ध होता है, कुछ निर्णय नहीं होता। फिर कटार से युद्ध होता है, उससे भी कुछ निर्णय नहीं होता। अन्त में तलवार से युद्ध होता है जिसमें माधव मेढ़ामल के वक्ष में तलवार भोंक देता है।

विक्रमादित्य की विजय मनाई जाती है। 'जय श्री महाकालेश्वर' का घोष होता है। महाराज कामसेन कामकन्दला माधव को भेंट करते हैं। अन्त में पुष्पावती नगरी के महाराज गोविन्दचन्द्र माधव और श्री विक्रमादित्य का स्वागत करते हुए माधव के राज्य-निर्वासन की आज्ञा लौटाते हैं।

पुष्पावती नगरी में माधव और कामकन्दला वीणा और नृत्य की साधना में चन्द्र-कला की भाँति बढ़ते हैं और राधा का अभिशाप समाप्त होता है।"

विस्मित और हर्षित बनी हुई लता के सामने डॉ० राजेश की खोज स्पष्ट होती है।

तलवार वीणा और आत्म-सम्मान

यही भारतीय कला और संस्कृति का सौन्दर्य है। हमारी यही कला देश की आरती बनकर सदैव प्रज्वलित रहे।

जय भारत

जय भारती

पात्र-सूची

माधव	:	शस्त्र और वीणा बजाने में कुशल ब्राह्मण-कुमार नायक
कामकन्दला	:	नृत्य और रूप में अद्वितीय राजनर्त्तकी नायिका

प्रवेशानुसार

राजेश	:	इतिहास के विशेषज्ञ
लता	:	राजेश की पुत्री
श्रीकृष्ण	:	भारतीय जनता के आराध्य
श्रीराधा	:	भारतीय जनता की आराध्या
नन्द, यशोदा, बलराम, अक्रूर, गोप और गोपियाँ	:	गोकुल के अन्य पात्र
कामदेव	:	शृंगार के देवता
रति	:	कामदेव की स्त्री
महाराज रुक्मराय	:	प्रभावती नगरी के महाराज
जीवक	:	राज्य-ज्योतिषी
कंचनलता	:	महारानी
शिशु कामकंदला	:	नवजात राजपुत्री
राजा के दो सेवक, रानी की परिचारिकाएँ		
प्रथम	:	हीरापुर का गूजर
नट आदि		
महाराज कामसेन	:	कामावती नगरी के महाराज
काल	:	बारहवीं शताब्दी का आरम्भ
कथा-केन्द्र	:	1. चन्देल राजा गोविन्दचन्द्र के राज्य का विस्तार राजधानी पुष्पावती नगरी जो नर्मदा नदी के तट पर है । 2. गौंड राजा कामसेन का राज्य राजधानी कामावती नगरी 3. मालवपति यशोवर्मन विक्रमादित्य का राज्य राजधानी उज्जयिनी नगरी

नायिका : कामकन्दला

नायक : माधव

संवेदना : भारतीय कला और संस्कृति का वह तेजस्वी स्वरूप
जिसमें संगीत
नृत्य
प्रेम
आत्म-सम्मान
वीरता और
युद्ध में
मानव के व्यक्तित्व का विकास होता है।

अनेक सभासद्

कामकन्दला : युवती राजनर्त्तकी नायिका

मन्त्री

माधव : शस्त्र चलाने और वीणा बजाने में कुशल ब्राह्मण कुमार नायक

अनेक स्त्रियाँ, उनके पति

महाराज गोविन्दचन्द्र : पुष्पावती नगरी के महाराज

विदूषक और मन्त्री

चन्द्रभागा : महाराज की ताम्बूलवाहिनी

सुजाता : माधव की माता

महाराज कामसेन का द्वारपाल, मृदंगी, सभासद्, कामकन्दला की दासी वृन्दा, वैद्य

उज्जयिनि के मार्ग में ग्रामीण

उज्जयिनि नगरी में राज्य-उपवन का माली

महाराज यशोवर्मन

विक्रमादित्य : उज्जयिनी के महाराज

पुरोहित, सभासद, मन्त्री, अनेक व्यक्ति, चन्द्रकान्ता गायिका, दूत, महाराज विक्रमादित्य और महाराज

कामसेन की सेनाएँ

मेढ़ामल : महाराज कामसेन की सेना का प्रतिनिधि वीर

घटनाओं के मुख्य स्थल

1. डा० राजेश का कक्ष
2. गोकुल
3. यमुना-तट, कदम्ब का पेड़
4. प्रभावती नगरी में राज-कक्ष
5. प्रभावती नगरी में रेवा-तट और उसके समीपवर्ती महल और झरोखे
6. हीरापुर ग्राम
7. प्रथम गूजर का नृत्य-कक्ष
8. कामावती नगरी में महाराज कामसेन का राज-कक्ष
9. नदी-तट पर सीढ़ियाँ और शिवालय
10. चौराहा
11. पुष्पावती नगरी में महाराज गोविन्दचन्द्र का राज-कक्ष और नृत्य-कक्ष
12. माधव का गृह
13. पहाड़, ऊँचे-नीचे रास्ते
14. कामावती नगरी में महाराज कामसेन का राज-कक्ष
15. राज-कक्ष की सीढ़ियाँ
16. राजपथ
17. कामकन्दला का उपवन
18. उज्जयिनी का मार्ग
19. उज्जयिनी का राज-उपवन
20. महाकालेश्वर का मन्दिर
21. महाराज विक्रमादित्य की सभा
22. उज्जयिनी का राज-पथ
23. रण-क्षेत्र
24. महाराज कामसेन का युद्ध-शिविर
25. महाराज विक्रमादित्य का युद्ध-शिविर
26. द्वन्द्व-स्थल

[कमरे में घड़ी लगी है जिसमें संध्या के सात बजे हैं। इतिहास के अध्यापक का कक्ष जिसमें भारत की शिल्प-कला और चित्र कला की अनेक प्रतिमाएँ दृष्टिगत होती हैं। इनमें अजंता के नारी-पुरुष के चित्र हैं तथा दीवाल पर महात्मा बुद्ध, महाराणा प्रताप, अकबर, शिवाजी, महारानी लक्ष्मीबाई, महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र हैं। अलमारियों में पुस्तकें सजी हैं।

वृद्ध अध्यापक डा० राजेश अपनी कुर्सी पर बैठे हुए एक पुस्तक का अध्ययन कर रहे हैं। सफेद बाल और दाढ़ी जो छाती तक लहरा रही है। आँखों में विशेष चमक है, जब वे पुस्तक से ध्यान हटाकर किसी चित्र की ओर देखने लगते हैं। वे चश्मा लगाए हुए हैं। कुंचित भौंहें और प्रशस्त ललाट। चिन्तन-मुद्रा। सफेद लंबा कुरता और ढीला पायजामा पहने हुए हैं। वे पुस्तक से सिर उठा कर चिन्तन-मुद्रा में हो जाते हैं और घड़ी के पेंडुलम की ओर देखने लगते हैं। उनकी दृष्टि पेंडुलम की गति के साथ चल रही है।

बाईं ओर से उनकी पुत्री लता चाय की ट्रे लेकर आ रही है। वह बड़ी चंचल और विनोदिनी है। वह अपने पिता के नेत्रों को पेंडुलम की गति के साथ दाएँ-बाएँ होते देखती है। भौंहें उठा कर परिहासमयी मुद्रा में वह भी पेंडुलम की गति के अनुसार ट्रे को दाएँ-बाएँ झुलाती है। एक क्षण में पिता और पुत्री की आँखें मिलती हैं। लता खिलखिलाकर हँस पड़ती है। वृद्ध अध्यापक डा० राजेश के होंठों पर मुस्कुराहट फूट पड़ती है।]

राजेश : **(कुर्सी से उठते हुए)** तो तेरी चाय मेरी नजरों के इशारों पर झूल रही है?

लता : **(ट्रे को टेबुल पर रखते हुए अपने हाथ फैला कर अभिनय के ढंग से)** इतने-इतने बड़े पहाड़, इतनी बड़ी-बड़ी नदियाँ जब आपकी नजरों पर झूल रही हैं तो चाय बेचारी की हस्ती ही क्या? वह तो एक छोटे से प्याले में समा जाती है। **(हँसी)** देखिए, समा गई। **(प्याले में चाय उलटती है।)**

राजेश : **(प्याले की चाय को बड़े ध्यान से देखते हैं। उसमें उन्हें कामकन्दला का सुन्दर मुख दिखलाई पड़ता है)** जो चीजें छोटे से स्थान में समा जाती हैं

वे इतनी बड़ी हो जाती हैं कि इतिहास भी उनके लिए छोटा हो जाता है।

[चाय की टेबल के समीप बैठते हैं।]

लता : (**मचल कर**) पिता जी ! आप फिर गंभीर हो गए ! चाय पीजिए न ! रात-दिन पढ़ना, रात-दिन खोज ! नई-नई बातों को आप खोज निकालते हैं; लेकिन खुद खो जाते हैं। (**हँसती है**)

[राजेश मुस्कुरा कर चाय का प्याला ओंठों तक ले जाते हैं।]

राजेश : (**गंभीरता से शून्य में देखते हुए**) खोज तभी हो सकती है, लता ! जब आदमी अपने को खो दे।

लता : तो आप अपने को खो कर किसकी खोज कर रहे हैं ?

राजेश : (**सोचते हुए**) कामकन्दला के इतिहास की···

लता : (**शीघ्रता से**) जिसके महल का पत्थर···

राजेश : (**बीच में ही**) तूने खो दिया है।

लता : नहीं पिताजी ! वह पत्थर मैंने खोज लिया है। मैं लाऊँ ?

[चलने के लिए उद्यत होती है।]

राजेश : हाँ, अपने देश के प्राचीन गौरव की स्मृति ! कहाँ मिला ?

लता : आपने ही उसे इतनी सावधानी से अपनी पुस्तकों के पीछे रख दिया था कि वह खो गया था और दोष आप मुझे लगा रहे थे।

[लता शीघ्रता से जाती है। राजेश चाय का एक घूँट पीते हुए शून्य दृष्टि से दीवाल पर लगे हुए भारत के मानचित्र की ओर देखते हैं। पुष्पावती (आधुनिक जबलपुर के समीप) पर उनकी दृष्टि रुकती है। वह स्थान उनकी दृष्टि से बृहत् आकार धारण करते हुए एक महल में परिवर्तित होता है। वे उसे गहरी दृष्टि से देखते हैं। इतने में ही लता का शीघ्रता से अपने हाथ में एक पत्थर लिए हुए प्रवेश। उसमें चौकोर तराशी की गई है।]

राजेश : (**उठकर उल्लास से**) ओह ! तूने खोज लिया।

[हाथ में पत्थर लेते हैं। उसे ध्यान से देखते हैं। उसमें फिर कामकन्दला का रूप उन्हें दिखलाई पड़ता है।]

लता : आप फिर गम्भीर हो गए, पिता जी !

राजेश : (**चौंककर**) नहीं तो···हाँ तो तूने खोज लिया ? कहाँ मिला यह ?

लता : आपने ही तो पुस्तकों के पीछे रख दिया था इसे ।

राजेश : हाँ, हाँ, मैंने ही रख दिया था इसे। पुस्तकों के पीछे मैंने ही रखा था। अब अपने साथ मैं अपनी चीजों को भी खोने लगा।

लता : जाने दीजिए। चाय तो पीजिए। (**हँसकर**) कहीं यह न खो जाए !

राजेश : नहीं ! मैं चाय पी चुका। (**ध्यान से पत्थर की ओर देखते हैं।**)

लता : (**राजेश की दृष्टि देखते हुए**) अच्छा, तो यह कामकन्दला कौन थी ?

राजेश : कामकन्दला ? कामकन्दला का इतिहास बड़ा मनोरंजक है, लता ! वह हमारे देश की ललित कलाओं की देवी थी ! अत्यन्त सुन्दर !

लता : (**परिहास से**) मुझसे भी अधिक सुन्दर ?

राजेश : (**हँसकर**) तुझसे ? तुझसे अधिक सुन्दर मेरी दृष्टि में संसार में कोई लड़की नहीं हो सकती। (**हँसते हैं**)

लता : तो फिर यह कौन थी ?

राजेश : हमारी लोक-कथाओं में विश्वास है कि वह कामदेव की स्त्री रति ही थी।

लता : रति ?

राजेश : हाँ, मैंने कामकन्दला की काफी खोज की है। तुम सुनोगी ? तुम देखोगी ? अपनी कल्पना के नेत्र खोलो।

[धूमिल अन्धकार में पर्दे पर छाया अभिनय]

1. श्रीकृष्ण के साथ गोपियों का रास-नृत्य। दो-दो गोपियों के बीच में एक-एक कृष्ण। अनेक आकारों और व्यूहों में रास की लहर आन्दोलित होती है।
2. नन्द का गृह। अक्रूर का रथ आता है। वह नन्दभवन के सामने रुकता है। नन्द और यशोदा स्वागत करते हैं। कृष्ण और बलराम भी आते हैं। अक्रूर कंस के यज्ञ-निमन्त्रण की बातें करते हैं। वे नन्द, कृष्ण और बलराम को साथ ले चलने का आग्रह करते हैं। तैयारियाँ होती हैं। यशोदा रुदन करती है। धीरे-धीरे राधा, गोप और गोपियाँ आती हैं। वे अक्रूर से कृष्ण को न ले जाने की प्रार्थना करती हैं। अक्रूर समझा-बुझाकर कृष्ण को बलराम और नन्द के साथ रथ पर चढ़ाते हैं। रथ आगे बढ़ता है। यशोदा, राधा तथा गोपियाँ रथ को नहीं जाने देतीं। कोई रथ रोकती है, कोई लगाम खींचती है, कोई पहिया थाम लेती है। अन्त में रथ चला ही जाता है। यशोदा, राधा तथा अन्य गोपिकाएँ बिसूरती हुई कृष्ण के रथ के जाने की दिशा में देखती हैं। धीरे-धीरे रथ दूर होता जाता है। दुखी होकर कोई बैठ

जाती है, कोई पेड़ के सहारे टिक जाती है, कोई गाय के गले से लग जाती है। गायें भी कृष्ण के रथ की दिशा में देखती हैं।

3. यमुना के किनारे राधा एवं गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी होकर भटक रही हैं। वे लताओं, वृक्षों, पक्षियों और हरिणों से कृष्ण का पता पूछती हैं। उसी समय कामदेव का पुष्प-धनुष लेकर प्रवेश। उसके साथ में रति भी पुष्पों का शृंगार किए हुए है। उसके हाथ में वीणा है। वसन्त का आविर्भाव होता है। वे दोनों नृत्य करते हैं। अन्त में राधा को लक्ष्य कर कामदेव अपने पुष्प-धनुष का संधान करता है। वह अपनी लक्ष्य को गहरी दृष्टि से देखते हुए भृकुटि कुंचित कर पुष्प की प्रत्यंचा कानों तक खींचकर अपने पुष्प-बाण का कठिन प्रहार करता है।

[राधा चौंक उठती हैं। वे चारों ओर देखती हैं। उन्हें कुंज में पुष्प-धनुष लिए हुए कामदेव और रति दिखलाई पड़ते हैं। वे हाथ जोड़कर उन्हें वापस चले जाने का संकेत करती हैं किंतु कामदेव और रति की ओर से उपेक्षा का भाव दर्शित होता है। वे मुस्करा कर पुनः शर-संधान करते हैं।

पुष्प खिल उठते हैं। उन पर भ्रमर झूलने लगते हैं। कोकिल कूजन करने लगती है। मृग और मृगी परस्पर मिलकर एक-दूसरे को सहलाते और मुग्ध करते हैं। पेड़ और लताएँ वायु के प्रवाह से एक-दूसरे से मिलने के लिए समीप झुकते हैं। बार-बार राधा के सामने कोकिल आकर कूजन करती है। जहाँ वे दृष्टि डालती हैं पुष्पों पर भ्रमरों के समूह विहार करते हैं। काम-देव पुनः राधा को अपने पुष्प-बाण का लक्ष्य बनाते हैं। राधा के मस्तक पर क्रोध की रेखाएँ उभर आती हैं। रति जो कामदेव के साथ है, राधा के क्रोध का परिहास करती है, व्यंग्य से उनकी नकल करती है। राधा अति क्रोध से रति और कामदेव को शाप देती है—

जिस प्रकार मैं अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी हूँ उसी प्रकार तुम दोनों भी संसार में जाकर अपने प्रिय के वियोग में दुखी बनो। नृत्य और वीणा ही तुम्हारे वियोग का कारण बने।

वन श्रीहीन हो जाता है। कामदेव और रति अपना नृत्य छोड़कर शिला पर बैठकर दुखी होते हैं। कामदेव का धनुष टूट जाता है और रति की शृंगार-मालाएँ अस्तव्यस्त हो जाती हैं।

राधा की क्रोध-दृष्टि उन पर अब भी पड़ रही है।

दृश्यान्तर

[प्रभावती नगर में रेवा-तट पर महाराज रुक्मराय का महल। वह राज-महल अत्यन्त वैभव-सम्पन्न है। महाराज के यहाँ पुत्री का जन्म हुआ है। चारों ओर चहल-पहल है। अनेक प्रकार के प्रकाश की व्यवस्था, तोरण, कलश, नृत्य और मंगलाचार हो रहे हैं। स्त्रियाँ गान करती हुई जा रही हैं। वेदपाठी वेदपाठ कर रहे हैं। बन्दी-वृन्द प्रशस्तियाँ गा रहे हैं। चारों ओर पुष्प-अक्षत और लावा की वृष्टि हो रही है। गायक-मंडलियाँ वाद्यों के साथ गान करती हुई नगर की परिक्रमा कर रही हैं।

राजकक्ष में भीड़ है। 'महाराज की जय', 'राजपुत्री चिरजीवी हो' आदि का घोष हो रहा है। राजप्रकोष्ठ में सिंहासन पर राजा रुक्मराय बैठे हुए हैं। प्रसन्न मुद्रा। उनके वाम पक्ष में महारानी अपनी परिचारिकाओं के साथ हैं। चँवर डुल रहे हैं। रानी की गोद में रेशमी वस्त्रों और आभूषणों से सम्पन्न नवजात बालिका है।

कुछ देर तक नृत्य होता है।]

दृश्यान्तर

[अन्तरंग कक्ष में महाराज रुक्मराय और महारानी। महारानी की गोद में नवजात बालिका है। सामने राज्य के प्रमुख ज्योतिषी जीवक बैठे हुए हैं। वे ग्रह-नक्षत्रों की गणना कर रहे हैं। जब वे बालिका की ओर दृष्टि डालते हैं तो उन्हें रति का नृत्य करता हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है।

सहसा ज्योतिषी की भौंहें कुंचित हो उठती हैं। उसकी मुद्रा देखकर रानी की भौंहों पर भी बल पड़ जाते हैं। राजा रानी को देखकर क्षुब्ध हो उठते हैं।]

राजा : ज्योतिषी जीवक! तुम स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि बालिका का भविष्य क्या है?

जीवक : महाराज की जय हो! राजकुमारी सब राज-लक्षणों से पूर्ण है। संगीत से उसे विशेष प्रेम होगा। वह अनेक कलाओं में पारंगत होगी।

रानी : (**प्रसन्नता से बालिका को हृदय से लगा कर**) मेरी बच्ची!

राजा : फिर चिंता की बात क्या है?

जीवक : महाराज और महारानी क्षमा करें। जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है। उसी भाँति लोगों का मन भी उसकी ओर आकर्षित होगा और अन्त में यह आकर्षण इतना अधिक होगा कि वह वियोग की प्रचंड ज्वाला में जलेगी।

राजा : (**तीव्र स्वर में**) ज्योतिषी···!

जीवक : (**सिर झुकाकर**) महाराज क्षमा करें। ऐसा ज्ञात होता है कि यह किसी के शाप से वशीभूत होकर दारुण वियोग-दुःख सहन करेगी।

राजा : शाप के वशीभूत होकर? यह किसका शाप है?

जीवक : महाराज, यह कहने में मैं असमर्थ हूँ, सम्भव है पूर्वजन्म में इसने किसी वियोगिनी नारी के दुःख का परिहास किया हो, अथवा उसे और भी अधिक दुःखी किया हो।

रानी : (**हल्की सिसकी लेकर**) यह नहीं हो सकता! यह नहीं हो सकता!

जीवक : इसका वियोग किसी कलाकार के गुणों पर रीझकर ही उसके विरह में हो सकता है।

राजा : राजकुमारी होकर इन बातों की सम्भावना कैसे हो सकती है, जीवक?

जीवक : मैं क्या निवेदन करूँ, महाराज! ललित कलाओं के साथ नटों की कलाओं का ज्ञान भी उसे विशेष रूप से होगा। वह नट की गेंद उछालने में प्रवीण होगी, वह अपूर्व नृत्य करेगी।

राजा : यह बात राजकुल के अनुरूप नहीं है, ज्योतिषी!

जीवक : जैसा विचार करें, महाराज! इस बालिका में राजकुमारी के गुणों की अपेक्षा राजनर्त्तकी के गुण अधिक होंगे।

रानी : (**चीखकर**) महाराज!

जीवक : इस सत्य कथन के लिए महारानी क्षमा करें।

राजा : (**विचार करते हुए**) राजकुमारी में राजनर्त्तकी के लक्षण हैं! भयानक बात है। इससे राजमर्यादा के नष्ट होने की आशंका है।

रानी : नहीं महाराज! यह हमारी बेटी है! ज्योतिषी की बात असत्य होगी। यह राजमर्यादा नष्ट नहीं करेगी। नहीं कर सकती। यह हमारी आँखों की ज्योति है।

राजा : ज्योति नहीं, चिनगारी है। और एक चिनगारी सारे राजमहल में आग लगा सकती है।

रानी : किंतु यह अबोध है, स्वामी! सुकुमार बेटी!

राजा : सुकुमार बेटी राजमर्यादा से बड़ी नहीं हो सकती। (**तीव्र दृष्टि**)

दृश्यान्तर

[राजमहल के झरोखे से दिखाई देने वाली नर्मदा नदी की धारा। चाँदनी का प्रकाश नर्मदा की धारा पर गिरकर तरंगों में रजत-प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर रहा है। एक ओर से राजा के दो सेवकों का प्रवेश। वे चारों ओर देखते हुए दबे पैरों से आ रहे हैं। उनके हाथों में चन्दन की लकड़ी का सुन्दर-सा

सन्दूक है। उसमें रेशमी वस्त्रों में सुसज्जित कर नवजात बालिका रख दी गई है। वह अपने हाथ-पैर उछाल रही है। वे दोनों व्यक्ति एक-दूसरे की ओर देखकर धीरे से वह सन्दूक नर्मदा की धारा में प्रवाहित कर देते हैं।

महल के झरोखे पर खड़े होकर राजा यह दृश्य गम्भीरता से देख रहे हैं।

दूसरे झरोखे पर रानी बिलख-बिलखकर रो रही हैं। उनकी सखियाँ उन्हें सम्हाल रही हैं।

पास ही वृक्ष से एक पक्षी-शावक नीड़ से नदी में गिरता है। पक्षिणी चीख उठती है। नदी की धारा में वह सन्दूक चन्द्र-प्रतिबिम्ब के साथ बह चलता है जैसे एक धारा पर चन्द्र के दो प्रतिबिम्ब डूबते-उतराते बहते चले जा रहे हैं।]

दृश्यान्तर

[प्रातःकाल हो रहा है। मुर्गे ने बाँग दी। पक्षियों का कलरव सुनाई पड़ने लगा ! सरोवर के कमलों पर भ्रमरों की अठखेलियाँ आरम्भ हो गईं। बैलों के साथ किसान हल लेकर खेतों पर जा रहे हैं। नर्मदा नदी के किनारे हीरापुर गाँव है। उसी ग्राम का प्रमथ नामक गूजर नर्मदा नदी के तट पर शिव जी की पूजा कर रहा है। जिस समय वह शिव जी की आरती कर रहा है उसी समय उसकी दृष्टि धारा में बहते हुए सन्दूक पर पड़ती है। वह आरती रखकर शीघ्रता से नदी के किनारे दौड़ता है। उस समय तक वह सन्दूक किनारे आ रहा है।

किनारे के समीप ही नटों की बस्ती है। कुछ नट रस्सी पर चढ़ कर अनेक प्रकार के खेल दिखला रहे हैं।

प्रमथ दौड़ते-दौड़ते रुक कर पीछे देखता है। नट लोग रस्सियों पर खेल दिखला रहे हैं। वह आवाज लगाता है :

देखो ! देखो ! नर्मदा जी में वह कैसा सन्दूक बह रहा है !

नट लोग फुर्ती से अपना खेल छोड़ कर नदी की धारा की ओर दौड़ते हैं। उनमें से दो-तीन नदी में कूद पड़ते हैं। सन्दूक में वे लोग एक नवजात बालिका देखते हैं।

बच्चा···राजकुमार···राजकुमारी···

वे लोग चीख उठते हैं। प्रयत्न और परिश्रम से वे लोग उसे किनारे लाते हैं और प्रमथ को बालिका उठा कर देते हैं।

बालिका प्रसन्न है। वह हँस रही है।

प्रमथ शीघ्रता से उसे लेकर अपने घर की ओर भागता है। गाँव भर में शोर मच जाता है। शोर सुन कर प्रमथ की स्त्री घर से बाहर निकल आती है। प्रमथ हाँफते हुए आकर उस नवजात बालिका को अपनी पत्नी के हाथों में रखता है। पत्नी खिल उठती है।]

पत्नी : यह किसकी है ?

प्रमथ : (विह्वल होकर बल खाते हुए) तुम्हारी···हँ हँ हँ हँ नर्मदा माई ने दी है।

स्त्री : (प्रफुल्लित होकर) नर्मदा माई बड़ी अच्छी हैं। सूने घर में फूल खिला दिया।

[हाथों में नवजात बालिका को दुलारती है।]

दृश्यान्तर

(दस वर्ष बाद)

[इस समय वह बालिका दस वर्ष की है। प्रमथ ने उसे नृत्य, गान और वाद्य की शिक्षा दी है। इस समय भी वह उसे वीणा की शिक्षा दे रहा है। गाती है। प्रमथ स्वर कहता है—]

(ईमन कल्याण)

दीम दीम तना रे दीम दीम तना तना नादर दरतन त्रोंम् त्रोंम्
तनना तन दरना दीम दीम तना तन दरना दीम दीम तना तन दरना
तन दरना तन दरना

नि नि तना तना त्रोंम् त्रोंम् तनना तन दरना ता दार तारे-
दानी नादर दरना त्रोंम् त्रोंम् तन ना तन दरना दीम तना

नारे नारे दिर दिर ता धीम तर रि तार तर तार नित नित
ना तन त्रोंम् त्रोंम् तन तन दरना तन दरना तारे त दार दानि

नादर दर तना त्रोंम् त्रोंम् तन नना तन दरना दीम दीम तना
बालिका तन्मय होकर वीणा बजा रही है।]

दृश्यान्तर

पाँच वर्ष बाद

[वह बालिका अब युवती हो गई है। वह नृत्य कर रही है।]

त्रगदं त्रगदं त्रगदं त्रगदं
कुकथौ कुकथौ कुकथौ धृगदं
घननं घननं घननं घननं
धिकतं धिकतं धिकतं तननं

[कथाकलि नृत्य के स्वर प्रमथ कह रहा है।]

दृश्यान्तर

[कामावती नगरी में महाराज कामसेन की सभा में वही नृत्य हो रहा है। राजकक्ष में कलाकृतियों की सुन्दर शोभा है। मयूरासन पर महाराज आसीन हैं। अन्य आसनों पर मन्त्रीगण आदि हैं। उनके समक्ष वह पन्द्रह वर्षीया युवती नृत्य कर रही है। बगल में प्रमथ गूजर आदि बजाने वाले अलग-अलग साजों के साथ हैं। वह युवती नट की गेंदों को हाथ से उछालती हुई इस प्रकार नृत्य कर रही है कि भूमि पर एक भी गेंद नहीं गिरती। सभी आकाश में बारी-बारी से ताल के साथ उछाली जाती हैं और नृत्य में कोई अन्तर नहीं आता। नृत्य देख-देख कर सारी सभा कभी-कभी नृत्य की विशेष गति पर 'वाह-वाह' कह देती है। नृत्य समाप्त होने पर वह युवती दोनों हाथ जोड़ कर महाराज को प्रणाम करती है।]

कामसेन : **(हाथ उठाकर)** बहुत सुन्दर ! यह लो अपना पुरस्कार !

[अपने गले से मोतियों की माला उतार कर देते हैं। युवती आगे बढ़कर स्वीकार करती है।]

कामसेन : तुम बहुत सुन्दर नृत्य करती हो ! तुम्हारा नाम क्या है नर्तकी ?

नर्तकी : महाराज ! दासी का नाम कामकन्दला है।

कामसेन : कामकन्दला ? नाम भी बड़ा सुन्दर है ! तुम्हारे पिता ?

[कामकन्दला प्रमथ की ओर संकेत करती है। वह हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है।]

प्रमथ : सेवक का नाम प्रथम है। इसी को इसका पिता समझ लीजिए।

कामसेन : **(भौंहों में बल डालकर)** समझ लीजिए ? इसका क्या मतलब ?

प्रमथ : महाराज ! मैंने ही इसका पोषण किया है और इसे नृत्य और गान की शिक्षा दी है।

कामसेन : शिक्षा तो बहुत अच्छी दी है !

प्रमथ : महाराज की कृपा जो इसकी सराहना करते हैं। महाराज ! हम लोग नट हैं, इसलिए नट-विद्या के नृत्य मैंने इसे सिखला दिए हैं। यह सारे नृत्य की अनेक कलाएँ जानती है।

कामसेन : अवश्य जानती होगी। देखने में राजकुमारी जैसी जान पड़ती है।

प्रमथ : हाँ, महाराज ! बड़े भाग्य से मुझे प्राप्त हुई है। आज से पन्द्रह वर्ष पहले की बात है। एक दिन मैं नर्मदा नदी के किनारे शिव-पूजन कर रहा था। **(उसके नेत्रों में पूर्ववर्ती सभी दृश्य झूलने लगते हैं)** मेरे अन्य साथी समीप ही नटों का खेल कर रहे थे। **(नटों के खेल का दृश्य)** उसी समय

मैंने देखा कि नर्मदा जी की धारा में काठ का एक सन्दूक बहता आ रहा है। **(सन्दूक बहने का दृश्य)** मैंने अपने साथियों को आवाज दी। वे सब दौड़ कर नदी के किनारे आ गए। मेरा छोटा भाई और दो साथी धारा में कूद पड़े। **(नदी की धारा में कूदने का दृश्य)** और उसी काठ के सन्दूक में इसी कन्या को पाया। मैंने इसे प्रेम से पाला। इसे अनेक राग-रागिनियों की शिक्षा दी और नृत्य-कला में प्रवीण बनाया।

कामसेन : बड़ी रहस्यमय कथा है। प्रमथ गूजर ! तुमने काम कन्दला को नृत्य और गान सिखला कर हमारे राज्य की बड़ी सेवा की है। हम तुमसे प्रसन्न हैं।

प्रमथ : यह महाराज की बड़ी कृपा है।

कामसेन : इसके लिए हम तुमको पुरस्कार देंगे। **(मन्त्री से)** महामन्त्री प्रमथ गूजर को एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार में दी जावें।

मन्त्री : जो आज्ञा, महाराज !

प्रमथ : महाराज गुणग्राही और उदार हैं। मैं जीवन भर आपकी कृपा नहीं भूलूँगा।

कामसेन : एक बात और है, प्रमथ गूजर ! तुम्हें अपने राजा के प्रति भक्ति है ?

प्रमथ : महाराज ! ऐसा कौन अभागा व्यक्ति है जो आप जैसे दयालु महाराज के प्रति भक्ति नहीं रखेगा ? आपने इस राज्य में विद्या और कला की जितनी उन्नति की है उतनी उन्नति किसी राजा ने नहीं की, महाराज !

कामसेन : तो तुम अपने राजा के दरबार में विद्या और कला का प्रकाश चाहते हो ?

प्रमथ : महाराज ! राज्य का हरएक आदमी यही चाहेगा।

कामसेन : तो फिर कामकन्दला का स्थान तुम्हारा भवन नहीं, यह राजभवन है।

[प्रमथ अवाक् रह जाता है। वह कामकन्दला की ओर देखता है और कामकन्दला उसकी ओर देखती है। कामकन्दला की बड़ी-बड़ी आँखों से आँसू के दो बड़े बूँद ढुलक पड़ते हैं।]

प्रथम : महाराज ! हम तुच्छ सेवकों को आप बहुत आदर दे रहे हैं। हमारा भाग्य बहुत छोटा है, उसमें आपकी कृपा का सागर नहीं समा सकेगा।

कामसेन : तुम बहुत अच्छी बातें करते हो प्रमथ गूजर ! हम तुम्हें तुम्हारी पुत्री से दूर नहीं करेंगे। तुम प्रति सप्ताह अपनी पुत्री से मिल सकोगे। तुम्हारी पुत्री के लिए इस महल के समीप ही एक नया महल बनेगा। आज से वह हमारे राज्य की राजनर्त्तकी होगी। उसे और तुम्हें राज्य की ओर से प्रति-मास वेतन मिलेगा। तुम दोनों हमारे राज्य के भूषण समझे जाओगे।

प्रमथ : यह महाराज की बड़ी कृपा है !

कामसेन : (कामकन्दला से) तुम्हें हमारे राज्य की राजनर्त्तकी बनना स्वीकार है, कामकन्दला ?

कामकन्दला : (हाथ जोड़कर) महाराज की आज्ञा के बाहर मेरा भाग्य नहीं है। यदि पिता को स्वीकार है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि पिता के दर्शनों से मैं वंचित न की जाऊँ।

कामसेन : नहीं, नहीं कभी नहीं। तुम दोनों ही हमारे राज्य की शोभा हो। तुम लोग एक दूसरे से हमेशा मिल सकोगे। **(मंत्री से)** महामंत्री ! आज से कामकन्दला हमारी राजसभा की राजनर्त्तकी है। यह घोषणा-पत्र प्रकाशित कर दो।

मंत्री : जैसी महाराज की आज्ञा।

कामसेन : (कामकन्दला से) कामकन्दला ! हमारी राजनर्त्तकी ! इस शुभ अवसर पर तुम्हारा फिर नृत्य हो।

कामकन्दला : जैसी आज्ञा महाराज !

[नृत्य करने के लिए आगे बढ़ती है।]

दृश्यान्तर

[कामकन्दला के नृत्य की गूँज में वीणा का स्वर झंकृत होता है। पुष्पावती नगरी में एक पेड़ के नीचे माधव तन्मय होकर वीणा बजा रहा है। वीणा बजती है। वह रूप धूमिल होकर कामदेव के नृत्य का रूप धारण करता है। उसके साथ रति का भी नृत्य होता है। कुछ देर तक नृत्य होने के बाद कामदेव अपने धनुष पर पुष्प-बाण संधान करता है। उसके बाण-संधान करते ही राधा का यह अभिशाप सुन पड़ता है—]

"जिस प्रकार मैं अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी हूँ उसी प्रकार तुम दोनों भी संसार में जाकर अपने प्रिय के वियोग में दुखी बनो। नृत्य और वीणा ही तुम्हारे वियोग का कारण बने।"

वन श्रीहीन हो जाता है। कामदेव और रति अपना नृत्य छोड़कर एक शिला पर बैठ कर दुखी होते हैं। कामदेव का धनुष टूट जाता है और रति की शृंगार-मालाएँ अस्तव्यस्त हो जाती हैं। राधा की क्रोध-दृष्टि उन पर अब भी पड़ रही है।

कामदेव का धनुष टूट कर वीणा का रूप धारण कर रहा है और पुष्प-बाण त्रिशूल का, कामदेव माधव के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मद भरे नेत्र, लंबी नासिका, माथे पर त्रिपुंड, भरे हुए कपोल और पतले ओष्ठ, कंधे

पर घुँघराले बाल, रेशमी कुर्ता और सेल्ही जिससे गला सुसज्जित है। कमर में पीत वस्त्र। गले में मोतियों की माला। कानों में कुण्डल। शिला के समीप एक पेड़ है, उससे उसका त्रिशूल टिका हुआ है। माधव तन्मय होकर वीणा बजा रहा है। उसके सामने उसका सखा सुलोचन बैठा हुआ वीणा सुन रहा है। उसके अधखुले नेत्र इस बात का संकेत कर रहे हैं कि वह वीणा की स्वर-लहरी में बिलकुल डूब गया है। माधव जैसे ही अपनी वीणा के उच्च स्वर-विन्यास पर पहुँचता है कि उसकी वीणा का एक तार 'कट्ट' की ध्वनि से से टूट जाता है। सुलोचन के मुँह से 'आह' निकल पड़ता है। माधव जैसे संगीत-निद्रा से झकझोर कर जगा दिया गया है। वह सँभल कर वीणा की ओर देखता हुआ कहता है।]

माधव : तुम भी टूट गए ? **(वीणा को सम्हाल कर रखते हुए)** मेरे भाग्य की तरह ?

सुलोचन : तुम्हारे संगीत का बोझ नहीं सम्हाल सका यह तार, माधव ? तुम वीणा बजाने में इतने कुशल हो कि···

माधव : **(बीच ही में)** तार भी तोड़ डालता हूँ ? सुलोचन, कितनी मधुरता से यह तार गूँज रहा था ? मेरी उँगली की चोट वज्र की चोट बन गई और वीणा के हृदय का तार टूट गया ?

सुलोचन : **(सोचता हुआ)** मधुरता पर चोट करने के लिए उँगली भी वज्र बन जाती है। अज की रानी इन्दुमती थीं न ? उनके प्राण लेने के लिए आकाश से गिरी हुई फूल की माला ही काफी थी।

माधव : **(गहरी साँस लेकर)** फूल की माला ? **(तार ठीक करता है।)**

सुलोचन : उसी तरह किसी की हल्की-सी मुस्कान वज्र की चोट बन जाती है।

[मुस्कुराता है।]

माधव : मैं तो केवल एक मुस्कान जानता हूँ।

सुलोचन : किसकी ?

माधव : **(मदभरे स्वर में नटखपन से)** तुम्हारी ?

[दोनों हँस पड़ते हैं।]

सुलोचन : अरे, यह मुस्कान तो किसी कमल की पंखुड़ी से निकलनी चाहिए।

माधव : **(सोचते हुए)** कमल की पंखुड़ी से ? पर मेरे भाग्य में सरोवर ही नहीं है।

सुलोचन : लहर तो है ?

माधव : मेरा भाग्य तो पत्थर है, सुलोचन ! कहीं पत्थर से भी लहरें उठी हैं ?

[उसी समय पेड़ पर पक्षियों का शोर होता है। वे दोनों पेड़ की उठी हुई शाख को देखते हैं। एक अजगर पक्षियों के घोंसलों में सिर डाल कर पक्षि-शावकों को खा रहा है।]

माधव : (**देखते हुए**) बलवान् निर्बलों को इसी तरह खाता है !

[माधव अपना त्रिशूल उठा कर लक्ष्य पर वेग से फेंकता है। त्रिशूल अजगर के शरीर में चुभ जाता है।]

सुलोचन : (**प्रशंसा के स्वरों में**) वीणा बजाने में तुम जितने कुशल हो माधव, उतने ही कुशल त्रिशूल चलाने में ! (**मुस्कुराते हुए**) यह लक्ष्य अजगर तक ही रहे, किसी और जगह न चल जाए !

[माधव उत्तर न देकर अजगर को ही देखता रहता है।]

दृश्यान्तर

[पुष्पावती नगरी के बीच से नदी की धारा बह रही है। दोनों ओर साफ-सुथरे मकान हैं ! नदी के किनारे घाट बना हुआ है। अनेक स्त्रियाँ घड़े लेकर आ-जा रही हैं। कोई घड़ा भर कर ले जा रही है, कोई खाली घड़ा लिए आ रही है। कहीं-कहीं दो-तीन स्त्रियाँ मिलकर हँसती हुई—परिहास करती हुई आ रही हैं। कोई स्त्री भरा घड़ा लेकर जा रही है। पैर फिसल कर गिरने से घड़ा नीचे गिरता है। सारी जल से भीग जाती है और वह गिरते ही खिलखिलाकर हँस पड़ती है क्योंकि उसे दो-तीन स्त्रियों ने गिरते देख लिया है। उनकी हँसी गूँज उठती है।

पास ही एक मन्दिर है। उसके पार्श्व में माधव और सुलोचन बैठे हैं। माधव के हाथ में वीणा है। हँसी की गूँज माधव और सुलोचन के पास तक पहुँच रही है।]

सुलोचन : (**स्त्रियों की ओर देखते हुए**) यहाँ तो अनेक वीणाएँ पानी भर रही हैं !

माधव : उन पवित्र वीणाओं को अपने लोचनों से मत छुओ, सुलोचन ! वे अपने परिवार की शोभा हैं। उनका संगीत उनके माता, पिता, पति और बच्चों का है, तुम्हारा नहीं।

सुलोचन : तुम कलाकार होकर भी सौन्दर्य को नहीं पहिचानते ?

माधव : पहिचानता हूँ, तभी तो मैं उसका आदर करता हूँ।

सुलोचन : तो इन सौन्दर्य के समारोह में अपनी वीणा बजाने क्यों आए हो ?

माधव : यह समारोह मेरे लिए नहीं है, सुलोचन ! मैं तो अपने शंकर की आराधना में वीणा बजाने आया हूँ।

सुलोचन : देखूँगा, दोनों मैं कौन आर्कषित होता है।

माधव : कोई हो ! लेकिन वीणा पवित्र है और उसके साथ मेरा मन जो वहाँ है—(**संकेत करता है**) भगवान शंकर के चरणों में।

[माधव वीणा पर स्वर छेड़ता है। वीणा पर राग की गति तीव्र होती है। नदी-तीर की नारियाँ वीणा का स्वर सुन कर आकृष्ट होती हैं। कोई स्त्री घड़े में पानी भरते-भरते माधव का स्वर सुन कर घड़े को पानी में ही छोड़ कर माधव की ओर बढ़ती है।

स्नान करती हुई स्त्री वस्त्र बदले बिना ही गीले वस्त्रों में माधव की ओर एक पग उठाती हुई वीणा की ध्वनि सुनती है।

कोई स्त्री भरे हुए घड़े को सिर से गिरा कर माधव की ओर बढ़ती है।

कोई स्त्री खाली घड़े को जल पर फेंक कर माधव की ओर आकृष्ट होती है।

कोई स्नानार्थ आई हुई स्त्री विभ्रम में स्वयं तो घाट पर बैठ जाती है और अपने वस्त्रों को जल में डाल देती है।

कुछ स्त्रियाँ माधव की वीणा पर ताल दे-देकर नाचने लगती हैं।

माधव भाव में लीन होकर वीणा बजा रहा है।

तट पर जो भवन बने हुए हैं उनमें भी नारियों की विचित्र दशा हो रही है। कोई स्त्री रोते हुए बालक को छोड़ कर झरोखे से माधव को झाँक रही है। एक स्त्री अंजन आँज रही है। वह एक नेत्र में ही अंजन आँज कर बिना दूसरे नेत्र में अंजन दिए माधव की ओर झरोखे से झाँक रही है।

एक स्त्री पुरुष के कपड़े पहिने माधव को देख रही है।

माधव भाव में लीन होकर वीणा बजा रहा है।

एक स्त्री एक पैर में ही महावर लगा कर बिना दूसरे में महावर दिए, दौड़ कर झरोखे से माधव को देख रही है।

एक स्त्री दही मथते-मथते मथानी लेकर माधव की ओर निहार रही है। एक स्त्री अपने पति को भोजन करा रही है। माधव की वीणा का स्वर उसके कानों में पहुँचा ही है कि वह खिड़की की ओर दृष्टि करती है और थाली के स्थान पर भूमि में ही भोजन परोस देती है। पति सशंकित होकर उसकी ओर देखता है।

एक स्त्री पति की मूँछों में काला रंग लगा रही है। वीणा का स्वर सुनते ही वह एक ओर की मूँछ में ही काला रंग लगा कर दूसरी ओर की मूछ को सफेद छोड़कर घर से बाहर भागती है।

माधव भाव में लीन होकर वीणा बजा रहा है।

गलियों में स्त्रियाँ एक-दूसरे से पूछती हैं—माधव कहाँ है ?

मन्दिरों में आरती करती हुई स्त्रियाँ आपस में पूछती हैं—माधव कहाँ है ?

रास्तों और चौराहों पर सामान खरीदती हुई स्त्रियाँ एक दूसरे से पूछती हैं—माधव कहाँ है ?

अनेक मुख पूछते हैं—माधव कहाँ है ?

माधव कहाँ है ?

माधव कहाँ है ?

माधव कहाँ है ?

माधव भाव में लीन होकर वीणा बजा रहा है ।]

दृश्यान्तर

[चौराहे पर क्रोध के आवेशों में वही व्यक्ति आता है जिसकी स्त्री भोजन परोसते हुए माधव की वीणा सुनने के लिए झरोखे पर चली गई थी । वह क्रोध में आकर कहता है :

भाइयो, यह हमारे लिए अपमान की बात है। हमारे घर की स्त्रियाँ अपना काम-काज छोड़ कर वीणा बजाने वाले उस निकम्मे ब्राह्मण माधव की ओर भागती हैं।

सड़क पर अन्य लोग भी एकत्र होने लगते हैं।]

हमारे घर के काम···हमारे घर के काम पड़े रहते हैं । और स्त्रियाँ माधव की वीणा से मतवाली होकर घर···घर छोड़ देती हैं। माधव ने हमारे घर की स्त्रियों को पागल बना दिया है···पागल बना दिया है। दूसरा व्यक्ति अजी, आज हमारे घर में दही नहीं मथा गया ! मथानी ही गायब हो गई ।

तीसरा व्यक्ति : हमारा बच्चा रोता रहा और स्त्री घर छोड़ कर चली गई ।

चौथा व्यक्ति : आज हमारे घर में पानी नहीं है। स्त्री ने पानी का घड़ा ही सिर से फेंक दिया ।

पाँचवा व्यक्ति : आज हमारा कुरता ही गायब है। स्त्री उसी को पहन कर माधव की ओर भागी है ।

पहला व्यक्ति : और सुनिए, आज मेरी स्त्री ने मेरा भोजन थाली में परोसने के बदले जमीन पर परोस दिया। मैंने जमीन पर बिखरी हुई दाल से रोटी खाई है।

छठा व्यक्ति : (जो बहुत मोटा है) ओर मेरी स्त्री ने मेरा एक पैर ही दबाया। दूसरा पैर अब तक उसकी बाट देख रहा है ।

सातवाँ व्यक्ति : **(जिसकी एक मूँछ काली है और दूसरी सफेद)** भाइयो, मेरी स्त्री मेरी मूँछों में काला रंग लगा रही थी। वह मेरी एक मूँछ में ही रंग लगा पाई थी कि माधव की वीणा बजी और वह दूसरी मूँछ ऐसी ही छोड़ कर भाग गई। **(अपनी मूँछों पर हाथ फेरता है।)**

पहला व्यक्ति : **(उच्च स्वर में)** भाइयो, हम और अधिक अपमानित नहीं हो सकते। माधव ने हम लोगों की स्त्रियों पर कोई जादू कर दिया है। हम सब लोग महाराज गोविन्दचन्द्र की सभा में जाकर फ़रियाद करेंगे और माधव को देश से निकलवा देंगे।

छठा व्यक्ति : जरूर करेंगे। अपनी स्त्री के हम अकेले पति हैं।

सातवाँ व्यक्ति : माधव हमारी मूँछों के साथ खेल करता है। मर्दों की मूँछ से कोई खिलवाड़ नहीं कर सकता। इन सफेद मूँछों को देखकर स्त्रियाँ मुझे 'बाबा' 'बाबा' कहेंगी?

सब : **(सम्मिलित स्वर में)** चलो, चलो, महाराज के दरबार में जल्द चलो।

दृश्यान्तर

[प्रभावती नगरी में महाराज गोविन्दचन्द्र की सभा। कर्मचारी यथास्थान बैठे हैं। दरबार में पूरी सजावट है। महाराज का आसन दो हस्ति-प्रतिमाओं के आधार पर रखा हुआ है। सभा की एक ओर माधवानल वीणा और त्रिशूल लिए खड़ा है। दूसरी ओर नगर के सात व्यक्ति जो पिछले दृश्य में अपनी दुःख-गाथा कह रहे थे, अभियोग लेकर उपस्थित हैं। सातों के मुख पर विचित्र-विचित्र मुद्राएँ हैं। माधव शान्त है।

महाराज गोविन्दचन्द्र सामने खड़े हुए हैं। उनकी दृष्टि क्रम-क्रम से अभियोग लाने वाले सातों व्यक्तियों के मुख पर ठहरती हुई जाती है जिन पर दबे हुए क्रोध और झुँझलाहट के चिह्न हैं। महाराज के मुख पर कभी सहानुभूति और कभी मुस्कुराहट व्यक्तियों की मुद्राओं के अनुसार दीख पड़ती है। फिर वे माधव की ओर दृष्टि डालते हैं।]

महाराज : तुम पहिचाने हुए से ज्ञात होते हो, युवक?

माधव : हाँ, महाराज! मेरा नाम माधव है। मैं श्रीमान् के स्वर्गीय पुरोहित श्री शंकरदास का पुत्र हूँ।

महाराज : जब स्वर्गीय पुरोहित श्री शंकरदास प्रातः मुझे आशीर्वाद देने के लिए आते थे, तब तुम उनके साथ रहा करते थे?

माधव : हाँ, महाराज!

महाराज : तुमने वीणा बजाना कहाँ सीखा, युवक?

माधव : महाराज, आपके ही राज्य में। बचपन से ही वीणा बजाने और त्रिशूल और तलवार चलाने की शिक्षा मैंने परिश्रम से प्राप्त की है।

महाराज : इसलिए वीणा और त्रिशूल तुम सदैव अपने साथ रखते हो ?

माधव : हाँ महाराज !

महाराज : और तलवार ? उसे साथ नहीं रखते युवक ?

माधव : महाराज, दो ही हाथ हैं तीसरा नहीं। उसे किस हाथ में रक्खूँ ?

महाराज : तलवार कमर में बाँधो, युवक ?

माधव : महाराज, मैं क्षत्रिय नहीं हूँ। ब्राह्मण को कमर में तलवार बाँधना शोभा नहीं देता।

महाराज : तुम सभा-चतुर भी हो, तुम पर अभियोग है युवक, कि तुमने अपनी वीणा से इन लोगों के घर की शान्ति नष्ट की है। इन लोगों में से प्रत्येक की स्त्री संगीत से प्रभावित होकर उनसे उदासीन हो गई। क्या यह सच है ?

माधव : प्रत्येक के घर के भीतर की बात मैं नहीं जानता, महाराज !

महाराज : क्या यह सच है कि तुम इतनी मधुर वीणा बजाते हो कि उसे सुनकर स्त्रियाँ अपनी मर्यादा छोड़ देती हैं ?

माधव : मेरी वीणा के स्वर कितने मधुर हैं, यह मैं कैसे निवेदन करूँ महाराज ! ये तो स्त्रियाँ ही बतला सकती हैं।

महाराज : स्त्रियों से पूछने की आवश्यकता नहीं है। यह तो उनके कार्य से ही स्पष्ट है कि तुमने उन्हें मोहित किया।

माधव : मैंने मोहित किया, महाराज ? नारी इस संसार की शक्ति है, विभूति है। मैं उसका अपमान नहीं कर सकता, उसे मर्यादा से विचलित नहीं कर सकता ! मेरी दृष्टि उनके चरणों तक भी नहीं जा पाती, वह वीणा के तारों के गुंजन में ही भाव-विभोर बनी रहती हैं।

महाराज : संभव है, तुम वशीकरण मंत्र जानते हो, जिसमें नेत्रों के संकेत ही काफी हों !

माधव : महाराज ! जिसके नेत्रों में कामदेव को भस्म करने वाले भगवान त्रिलोचन की मूर्ति विराजमान है उसे किस स्त्री का सौन्दर्य आकर्षित कर सकता है ? उसे तो केवल चन्द्र की तरह बढ़ती हुई संगीत की कला ही मोहित कर सकती है।

महाराज : तो इस अभियोग के सम्बन्ध में तुम क्या कह सकते हो ?

माधव : महाराज ! क्या निवेदन करूँ ! यदि दीपक के प्रकाश को देखकर पतंग उस पर गिर कर जल जाता है तो इसमें दीपक का क्या दोष हो सकता है ? महाराज ! वीणा मेरी साधना है, भगवान त्रिलोचन की पूजा है।

पहला व्यक्ति : महाराज ! जो छल-विद्या में कुशल होता है वही उत्तर देना अच्छी तरह से जानता है । नहीं तो बिना वशीकरण मंत्र जाने यह ब्राह्मण ऐसा अनर्थ नहीं कर सकता !

माधव : जो स्वयं अपने को वश में कर सकता है, महाराज ! उसे वशीकरण मंत्र की आवश्यकता नहीं है ।

महाराज : तुम सच कहते हो, युवक !

दूसरा व्यक्ति : ठीक है, महाराज ! तब इस ब्राह्मण पर ही आप अपनी छत्रछाया रक्खें । हम सब यह राज्य छोड़ कर चले जाएँगे ।

तीसरा व्यक्ति : हाँ, महाराज, हम सब यह राज्य छोड़ कर चले जाएँगे ।

छोटा-मोटा व्यक्ति (सातवें से) : सच है, भाई ! अपनी पतिव्रता स्त्री को कौन छोड़ सकता है ?

सातवाँ व्यक्ति : और ये मूँछें सफेद रहीं तो मैं तो जवानी में ही बाबा बन चुका !

महाराज : तुम लोग राज्य के एक गुणी व्यक्ति पर अन्याय करते हो । वह भी तो हमारा नागरिक है । उस निरपराध को किस प्रकार दण्ड दिया जा सकता है ?

पहला व्यक्ति : ठीक है, महाराज ! हम सब लोगों की स्त्रियाँ ही दोषी हैं । यह ब्राह्मण बिलकुल निर्दोष है । महाराज के निर्णय पर प्रजा का वश ही क्या है ?

दूसरा व्यक्ति : किन्तु महाराज जानते होंगे कि जब सिंह गर्जना करता है तो हाथी विवश होकर भागने की चेष्टा करता हुआ भी उसके सामने आ जाता है । जब कापालिक मसान जगाता है तो उसके मन्त्र से मुर्दे भी बोलने लगते हैं ।

महाराज : **(सोचते हुए)** अच्छा ! मैं स्वयं इसकी परीक्षा करूँगा । तुम लोग अपने-अपने घर जाओ । मैं विचार करूँगा और स्वयं परीक्षा लेकर न्याय करूँगा । इसकी सूचना तुम्हें शीघ्र ही मिलेगी ।

पहला व्यक्ति : महाराज ! आप धन्य हैं । आप स्वयं परीक्षा ले लीजिए । आपको विश्वास हो जाएगा ।

महाराज : तुम लोग जाओ ।

सब : महाराज की जय ।

[माधव को छोड़ कर अभियोक्ता चले जाते हैं ।]

महाराज : **(सोचते हुए मंत्री से)** महामन्त्री ! आज संध्या समय इस सभा-भवन के ऊपरी कक्ष में मेरी तांबूल-वाहिनी चन्द्रभागा स्थान ग्रहण करेगी । उससे

यह भी कह दो कि मैं उससे अप्रसन्न हूँ जिससे वह दुखी हो जाए। उस समय यह युवक अपनी वीणा बजाएगा। मैं देखना चाहता हूँ कि उदास हृदय पर भी इसकी वीणा का प्रभाव होता है या नहीं !

मंत्री : (**हाथ जोड़ कर**) जो आज्ञा, महाराज !

महाराज : (**माधव से**) युवक ! आज संध्या समय तुम्हारी वीणा इसी स्थान पर बजेगी। तुम अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए अशुद्ध राग नहीं बजा सकोगे।

माधव : महाराज ! वज्र-प्रहार के भय पपीहा अपना स्वर नहीं बदल सकता।

महाराज : यह सुनकर मैं प्रसन्न हूँ। ठीक समय पर उपस्थित होगे।

माधव : जैसी आज्ञा, महाराज।

दृश्यान्तर

[महाराज गोविन्दचन्द्र का सभा-भवन। ऊपर महाराज की तांबूलवाहिनी सुन्दरी चन्द्रभागा सुसज्जित होकर बैठी है। वह अत्यन्त उदास है क्योंकि उससे कह दिया गया है कि महाराज तुमसे अप्रसन्न हैं। उसके नेत्र गीले हैं। उनमें अश्रु झलक रहे हैं।

नीचे महाराज अपने आसन पर बैठे हुए हैं। उनके समीप ही मंत्री हैं। माधव सामने आसन पर बैठा हुआ है। दीवाल पर उसका त्रिशूल टिका हुआ है। उसके हाथों में वीणा है। वह ध्यान से अपनी वीणा को देख रहा है और कभी-कभी तार बजा देता है। उस तार की पतली और तीक्ष्ण ध्वनि काँप कर सभा-भवन में फैल जाती है। महाराज माधव की ओर ध्यान से देखते हैं। माधव ध्यान-मुद्रा में नेत्र नीचे किए है।]

महाराज : (**मंत्री से**) सब व्यवस्था ठीक है ?

मंत्री : (**ऊपर चन्द्रभागा को देखकर**) हाँ महाराज, सब व्यवस्था ठीक है।

महाराज : (**माधव से**) युवक ! तुम्हारी वीणा प्रस्तुत है ?

माधव : (**प्रणाम कर**) हाँ, महाराज !

महाराज : बजाना प्रारम्भ करो।

माधव : जैसी आज्ञा।

[माधव प्रणाम कर वीणा बजाना आरम्भ करता है। वीणा जैसे-जैसे अपनी संगीत-लहरों में आगे बढ़ती है, महाराज और मंत्री के मुख पर विह्वलता छानी आरम्भ हो जाती है। माधव भाव-विभोर होकर वीणा बजा रहा है। उसकी उँगली की गति तीव्रतर होती जा रही है।

सभा-भवन के ऊपर ही तांबूलवाहिनी चन्द्रभागा की आँखें मुँदते हुए कमल की पंखुड़ियों की भाँति झुक रही हैं। वह अस्थिर-चित्त होकर खड़ी

हो जाती है और सभा-भवन के ऊपर ही नृत्य करने लगती है। नृत्य करते-करते भाव-विभोर होकर वह नृत्य-मुद्रा में खड़ी हो जाती है ! उसके नेत्रों से अश्रु के दो बड़े बिन्दू ढुलक पड़ते हैं। धीरे-धीरे उसके नेत्र खुलते हैं और वह सभा-भवन के नीचे उतर कर माधव के सामने नृत्य करने लगती है। सभा-भवन में वीणा और नृत्य का समा बँध जाता है। महाराज अपने आसन से उठने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु संगीत से प्रभावित होने के कारण उनकी चेष्टा असफल-सी प्रतीत होती है।]

महाराज : **(प्रयत्नपूर्वक उठते हुए, तीव्र स्वर से)** वीणा बन्द करो, युवक !

[माधव वीणा बजाना बन्द करता है। वीणा बजना बन्द होते ही चन्द्रभागा चौंक कर ठिठक जाती है। सामने महाराज को देखकर भयभीत होकर सीढ़ियों से सभा-भवन के ऊपर चढ़ने लगती है। महाराज तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखते हैं।]

महाराज : **(तीव्र स्वर में)** चन्द्रभागा !

[चन्द्रभागा धीरे-धीरे फिर लौटती है। उसके पैरों के पतले नूपुर मन्द ध्वनि करते हैं मानो महाराज के क्रोध से कंपित हो उठे हैं। चन्द्रभागा महाराज के सामने सिर झुकाकर अपराधिनी की भाँति खड़ी हो जाती है।]

महाराज : **(कुछ कठिन स्वर में)** तुमने सभा-भवन में आने का साहस कैसे किया ?

चन्द्रभागा : **(अस्फुट स्वरों में)** महाराज··· **(कुछ कह नहीं पाती। उसके नेत्रों से अश्रु ढुलक पड़ते हैं)** ···महाराज···क्षमा···कीजिए !

महाराज : **(भौंहें संकुचित करते हुए)** क्षमा ! किसने तुम्हें नृत्य की आज्ञा दी ?

चन्द्रभागा : **(विह्वल स्वर में)** नहीं जानती, महाराज ? जैसे वायु के झोंके से··· वायु के झोंके से दीपक की लौ थरथराने लगती है महाराज, उसी भाँति न जाने किसने···मेरे मन को झकझोर दिया, महाराज ! मैं भूल गई···मैं सब कुछ भूल गई, महाराज ! मैं कौन हूँ···कहाँ हूँ, कहाँ जा रही हूँ···सब कुछ भूल गई, महाराज !

महाराज : **(तीव्र स्वर में)** सब कुछ भूल गई ?

चन्द्रभागा : हाँ, महाराज, जैसे पानी की लहर में फूल डूबता-उतराता, चक्कर खाता बहता चला जाता है, उसका कोई वश नहीं चलता, उसी तरह मेरा मन···मेरा मन किसी संगीत की लहर पर बेबस होकर बहता हुआ डूबने लगा।

महाराज : **(कड़ी दृष्टि से)** डूबने से अपने को बचाओ, चन्द्रभागा ! जाओ !

चन्द्रभागा : (**शिथिल स्वरों में**) जो आज्ञा।

[काँपते हुए पैरों से ऊपर चली जाती है।]

महाराज : (**लौटते हुए**) अभियोग सत्य है। युवक, तुम अपराधी हो। तुमने अपनी वीणा के तारों पर नहीं, नगर की नारियों के हृदयों पर चोट की है। तुमने राग नहीं, आग जगाने का प्रयत्न किया है। तुमने अपनी वीणा को ज्वालामुखी बना दिया है जिससे ऐसी लपटें और चिनगारियाँ निकलती हैं जिनसे सारा नगर आग की नदी बनकर बह सकता है।

माधव : महाराज, यह तो मेरी साधना है, इसमें मेरा दोष नहीं है।

महाराज : चढ़ी हुई नदी किनारे के पेड़ों को गिरा कर कहे कि इसमें मेरा दोष नहीं है? पवन का झोंका पक्षियों के घोंसलों को गिराकर कहे कि इसमें मेरा दोष नहीं है? भौंरा कमल की पंखुड़ियों को काटकर कहे कि इसमें मेरा दोष नहीं है?

माधव : महाराज, यज्ञ के धुएँ को कालिमा नहीं कहते, पृथ्वी के भीतर पेड़ की जड़ों का विस्तार अत्याचार नहीं कहा जा सकता। सागर की गहराई को दोष नहीं मान सकते।

महाराज : लेकिन यज्ञ से आकाश शुद्ध होता है, पेड़ों में मीठे फल लगते हैं और सागर में असंख्य रत्न उत्पन्न होते हैं।

माधव : इसी प्रकार संगीत से, महाराज! विश्व-मैत्री होती है। संसार की सभी आत्माओं में एक ही राग गूँजता है। संगीत उन रागों को मिलाकर समता उत्पन्न करता है जिसमें छोटे-बड़े, राजा-रंक मिलकर एक हो जाते हैं।

महाराज : किन्तु इससे समाज की व्यवस्था में बाधा उत्पन्न हो सकती है और यही बाधा अभियोग बनकर मेरे सामने उपस्थित है। अब दो में से केवल एक ही बात है। या तो तुम्हारी वीणा के तार छिन्न-भिन्न हों या प्रजा की रक्षा हो।

मन्त्री : हाँ महाराज! यदि इस ब्राह्मण-कुमार की वीणा बजती रही तो प्रजा राज्य छोड़कर चली जाएगी और यदि प्रजा राज्य में रहेगी तो इस ब्राह्मण-कुमार को वीणा का त्याग करना होगा या नगर छोड़कर जाना होगा।

महाराज : मैं तुम्हीं से पूछता हूँ, युवक! कि क्या कला का सम्मान प्रजा की मर्यादा का मोल हो सकता है?

माधव : नहीं, महाराज!

महाराज : तो क्या तुम्हारी वीणा के स्वर मौन हो सकते हैं?

माधव : महाराज! यह मेरी आत्मा की पुकार है, यह मेरी साधना है। यदि मेरी वीणा के स्वर मौन होंगे तो मैं निष्प्राण हो जाऊँगा।

महाराज : तब प्रजा की मर्यादा कैसे रह सकती है ?

माधव : महाराज ! आप अपनी प्रजा की मर्यादा की रक्षा करें, मैं आपका राज्य छोड़ दूँगा ।

महाराज : मैं तुम्हारे विचारों से प्रसन्न हूँ, युवक ! तुम्हारा अपराध नहीं है किन्तु मैं विवश हूँ । ऊषा के रंगीन बादलों को, बढ़ते हुए दिन को जगह देने के लिए, हटना पड़ता है। मुझे एक ऊँचे कलाकार को खोने का दुःख होगा किन्तु मैं यह दुःख सहन करूँगा। तुम स्वयं राज्य छोड़ कर चले जाओ और राजाज्ञा पर यह कलंक न आने दो कि उसने एक कलाकार को देश से निकल जाने का आदेश दिया ।

माधव : महाराज ! मैं राजाज्ञा पर यह कलंक न आने दूँगा। यह राज्य फले और फूले । निर्बल को सदैव ही अपनी बलि देनी पड़ती है। अजगर निर्बल पक्षियों के बच्चों को खाता है। (**पिछला दृश्य उसकी आँखों में झूल उठता है**) देवता सिंह और हाथी की भी बलि ले सकते हैं किन्तु दुर्बल देख कर बकरे की ही बलि दी जाती है।

महाराज : मुझे दुःख है, युवक ! कि मेरा राज्य तुम जैसे कलाकार से सूना हो जाएगा, किन्तु राजनीति में अनेक के लिए एक की हानि सहनी ही पड़ती है।

माधव : विधाता ने मृग की नाभि में कस्तूरी भर दी जिससे शिकारी उसका शिकार कर ले और मुझे वीणा की कला दे दी जिससे मैं देश से निकाला जाऊँ।

महाराज : किन्तु मुझे इस बात का गर्व है, युवक ! कि मेरे राज्य ने तुम जैसा गुणी उत्पन्न किया। मेरी कामना है, भविष्य में तुम्हारी वीणा तुम्हारे लिए वरदान बने ।

माधव : इस समय तो अभिशाप है, महाराज !

[दोनों के नेत्र परस्पर मिलते हैं। महाराज के नेत्र तरल हो जाते हैं।]

माधव : (**हाथ उठा कर**) महाराज !आपका और आपकी प्रजा का कल्याण हो।

दृश्यान्तर

[माधव का घर। वह शिथिलता से बैठा हुआ अपनी वीणा के तारों को गहरी दृष्टि से देख रहा है। देखने के बाद एक गहरा उच्छ्वास लेता है। दूर से उसका मित्र सुलोचन आता है। वीणा के तारों पर माधव की गहरी दृष्टि देखकर मुस्कुराता है।]

सुलोचन : माधव !

[माधव मौन है।]

सुलोचन : माधव ! वीणा के तारों में ऐसे डूब गए ? अरे, ये आकाश के तारे नहीं हैं कि इन्हें देखते हुए सारी रात काट दो।

[माधव फिर भी मौन है।]

सुलोचन : फिर भी मौन ? अरे इन वीणा के तारों पर तो सारे नगर के लोग मोहित होते हैं। आज तुम्हीं मोहित हो गए ?

माधव : सुलोचन ! मैं इस राज्य को छोड़कर चला जाऊँगा, महाराज की ऐसी ही इच्छा है।

सुलोचन : क्या महाराज ने निर्णय कर दिया ?

माधव : नहीं, उन्होंने अपना कर्त्तव्य किया और वही मेरा निर्णय है। कर्त्तव्य स्वर है और निर्णय उसकी लय है।

सुलोचन : और राग ?

माधव : मेरा निर्वासन।

सुलोचन : यह तो ठीक नहीं हुआ, माधव !

माधव : आज की दृष्टि से जो ठीक नहीं है, कल की दृष्टि से वह ठीक होगा। मुझे यहाँ से जाना ही चाहिए।

सुलोचन : तुम्हारी माता को कितना दुःख होगा ?

माधव : मुझे भी होगा, किन्तु दुःख ही तो कर्त्तव्य का सोपान है। आशा और पुरुषार्थ के पैरों से ही उस पर चढ़ना होगा।

सुलोचन : तुम गुणी हो, माधव ! जहाँ जाओगे, वहीं तुम्हारा सम्मान होगा।

माधव : (**व्यंग्य से मुस्कुरा कर**) जैसा यहाँ हुआ ?

सुलोचन : नहीं माधव ! सब राज्य एक-से नहीं होते। पक्षियों को आश्रय देने के लिए अनेक वृक्ष हैं। वृक्षों का भार धारण करने के लिए अनेक पहाड़ हैं। रत्नों से अपना शृंगार करने के लिए अनेक राजे-महाराजे हैं। तुम्हारे पास गुण है तो उसके हजारों ग्राहक मिलेंगे।

माधव : ठीक है, सुलोचन ! तुम माता को धीरज देते रहना। उन्हें मेरे जाने के बाद कष्ट न हो। मैं कल प्रातः यहाँ से चला जाऊँगा।

[दोनों एक-दूसरे को देखते हैं। माधव की आँखों में कर्त्तव्य की दृढ़ता है और सुलोचन की आँखों में प्रेम की ममता।]

दृश्यान्तर

[माधव अपनी माता से विदा ले रहा है। माता के नेत्रों से अश्रु की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं।]

माता : कहाँ जाओगे मेरे लाल ?

माधव : तुम्हारे आशीर्वाद के राज्य में माँ, जहाँ कभी देश-निकाला नहीं होता।

माता : (**सिसकते हुए**) क्या मैं इसीलिए जीती रही कि अपने लाल को घर से जाते हुए देखूँ ? कैसे देखूँगी ? कैसे देखूँगी मैं, कि मेरा लाल मुझसे दूर हो रहा है !

माधव : (**संतोष देते हुए**) मैं तुमसे दूर रह कर भी तुम्हारे पास हूँ माँ ! लहरों के समूह चाहे जितनी दूर उठें, रहते तो वे जल ही में हैं। जल से बाहर तो नहीं जाते। उसी तरह मैं चाहे जहाँ रहूँ, अपने को तुम्हारी गोद में ही मानूँगा। तुम शान्त रहो। चुप हो जाओ, माँ !

माता : हाय, क्या होनहार लड़के की माँ को दुखी ही होना पड़ता है ?

माधव : नहीं माँ ! सुखी होना पड़ता है। वह देखती है कि उसका लड़का कितनी विपत्तियों को पैरों से कुचलता है। उसका दूध गंगाजल बन कर सारे संसार को पवित्र करता है। क्रोध और ईर्ष्या आँसू बन कर उसके पैरों को धोते हैं। मुझे आशीर्वाद दो माँ, कि मैं ऐसे काम करूँ कि महाराज को मेरा स्वागत करना पड़े। और तुम्हारे चरणों की सेवा मैं अधिक शक्तिशाली हाथों से कर सकूँ। आज का दुःख कल का सुख बन जाएगा, माँ !

माता : यह तो ठीक है, बेटा ! किन्तु मैं अपने मन को कहाँ ले जाऊँ ! जिस लाल पर मेरे गिरते हुए दिनों की आशा थी वही जा रही है। (**सिसकती है।**)

माधव : इन आँसुओं के सागर में मुझे मत डूबने दो, माँ !

माता : अच्छी बात है, तू जा। मैं धीरज धरूँगी। आँसुओं को रोक लूँगी।

माधव : माँ, तुम कितनी अच्छी हो !

माता : मैं धीरज रखूँगी। आँसू मेरी आँखों से नहीं बहेंगे।

[पर सहसा माधव से लिपट कर सिसकने लगती है।]

माधव : बस, बस, माँ ! ममता की दीवाल मेरे रास्ते में मत खड़ी करो। महाराज की इच्छा से मुझे प्रजा के कल्याण के लिए जाना है।

माता : प्रजा के कल्याण के लिए ? तो जा। माता को रोने दे। प्रजा के कल्याण में माँ का कल्याण भी होगा। तू जा। कहाँ है तेरी वीणा ? कहाँ है तेरा त्रिशूल ? (**कोने से उठाकर हाथों में देती है। फिर सिसकते हुए**) कितने दिनों में आएगा, मेरा लाल ?

माधव : मैं चाहे चारों दिशाओं में घूमूँ पर चार महीनों में मैं तेरे चरणों के दर्शन (**समीप की वेदिका पर चार लकीरें खींचता है**) करने का प्रयत्न करूँगा, माँ !

माता : मेरा आशीर्वाद है, लाल ! (**रेखाओं को देखती हुई**) तू चार महीनों में

ही लौट आए। तब तक यह वेदिका सूनी रहेगी।

माधव : अच्छा माँ, अब विलम्ब हो रहा है। मुझे अपने चरणों की धूल दो।

[चरण स्पर्श करता है]

माता : सुखी रह, लाल ! तेरे रास्ते के काँटे फूल बन जाएँ। तू चार महीनों बाद (**वेदिका पर खिची हुई रेखाओं को देखती है**) फिर लौट कर आ। इसी वेदिका पर बैठ कर तू वीणा बजाया करता था, अब कौन बजाएगा।

माधव : माँ, धैर्य रक्खो ! भगवान् त्रिलोचन तुम्हारी रक्षा करें।

[जाता है। माता माधव को जाते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखती है, फिर वेदिका से लिपट कर सिसकने लगती है]

दृश्यान्तर

[घना जंगल। मार्ग में माधव हाथों में वीणा और त्रिशूल लिए हुए। घुँघराले बाल। त्रिपुंड। काली घनी भौंहें। अरुण नेत्र ।]

सीधे-टेढ़े अनेक मार्गों पर माधव चला जा रहा है। कभी वह पहाड़ पर चढ़ता है, कभी उतरता है। कभी नदी के किनारे, कभी पहाड़ियों के बगल में चला जा रहा है। जंगली जानवरों की आवाजें आ रही हैं। माधव रुक कर उस ओर देखता है, फिर अपने मार्ग पर चलने लगता है।

कुछ दूर आगे बढ़ने पर एक सिंह दिखलाई पड़ता है। वह आक्रमण करता है। माधव अपना त्रिशूल उसे इतने वेग से फेंक कर मारता है कि सिंह वहीं लड़खड़ाकर गिरता है और तड़पकर मर जाता है। माधव त्रिशूल लेकर फिर आगे बढ़ता है।

वह एक सरोवर के किनारे आता है। किनारे अपनी वीणा और त्रिशूल रख कर स्नान के लिए उतरता है।

एक ग्रामीण आता है। वह किनारे वीणा और त्रिशूल देखकर चकित होता है। चारों ओर देखता है। फिर धीरे-धीरे वीणा के पास आता है और कौतूहलजनक नेत्रों से तूँबों को देखता हुआ एक तार बजा देता है। प्रसन्नता की मुद्रा से कि मैंने तार बजा दिया, फिर चारों तरफ देखता है और फिर दो-तीन तार बजा देता है।

माधव स्नान कर लौटता है। वह ग्रामीण को तार बजाते हुए देख कर मुस्कराता है। पूछता है—अच्छा बोलता है ?

ग्रामीण हँसते हुए सिर हिलाता है। जैसे उसने शक्कर खाई है, इस तरह मुँह बनाता है। माधव पूछता है—]

माधव : इसे जानते हो, क्या है ?

ग्रामीण : पहले तो देवता, मैं समझा कि ये काँवर फंगी है। दोनों तरफ पानी के कलसे भर कर ले जाते हैं, देवता। जब पास आ के देखा तो इस कोने में कपड़े टाँगने की खूंटी देखी। फिर बहुतेक तार खिंचा देखा—जैसे चिड़िया फँसाने का जाल है, देवता !

माधव : (**हँसकर**) अरे, ये जाल-वाल कुछ नहीं है।

ग्रामीण : हमें तो चिड़िया फँसाने का पक्का और चोखा जाल जान पड़ा। आगे जौन कुछ होय, देवता !

माधव : अरे, इसको वीणा कहते हैं, इसको बजाते हैं।

ग्रामीण : हम भी इसको बजाया। गुड़ में इसको पकाय के बनाया है। बहुत मीठा है। (**मुँह बनाता है**) तो सिंगा बजाते हैं (**सिंगा फूंकता है**)

दृश्यान्तर

[उसी नदी के किनारे माधव स्वच्छ कपड़े पहने हुए त्रिपुंड लगा रहा है। सामने वही ग्रामीण बैठा हुआ है।]

ग्रामीण : देवता, सेर मार के बड़ा भला किया। बहुत जिओं को खा गया था। काहे से मारा, देवता ?

[माधव त्रिपुंड लगाते हुए त्रिशूल की ओर संकेत करता है।]

ग्रामीण : बड़ा बाँका भाला है, देवता !

माधव : भाला नहीं, त्रिशूल है।

ग्रामीण : तिरशूल ?

माधव : (**त्रिपुंड लगाना समाप्त कर**) क्यों जी यहाँ जंगल ही है, कोई गाँव, नगर नहीं है ?

ग्रामीण : है न देवता ! कामावती। कामावती कहते हैं उसको।

माधव : कितनी दूर है यहाँ से ?

ग्रामीण (**मुँह बनाकर**) अब ये कैसे बताऊँ ! (**समझाता हुआ**) जान लो कि ये सिंगा है न, तो इसमें ददरिया बजाओ तो जितनी देर में देवता, ददरिया पूरी होय, उतनी देर में कामावती पहुँच जाव।

माधव : अरे तो ददरिया कितनी बड़ी होती है ?

ग्रामीण : तो बताऊँ देवता ?

[ददरिया गाता है। (ग्राम गीत) फिर सिंगा बजाता है]।

माधव : अब तो कामावती बिल्कुल पास है।

ग्रामीण : तो बस इतनी ही दूर है, देवता !

माधव : ददरिया तुम बहुत अच्छी गाते हो।

[ग्रामीण लज्जा और हँसी के मिश्रण से मुँह बनाता है ।]

दृश्यान्तर

[कामावती नगरी । राजा कामसेन की सभा । सुसज्जित आँगन पर राजा कामसेन बैठे हुए हैं । सभासद यथा स्थान हैं । कमरे में उत्कृष्ट कला-कृतियाँ एवं प्रस्तर प्रतिमाएँ सुसज्जित हैं ।

कक्ष के मध्य में कामकन्दना नृत्य कर रही है । वह मोतियों से भरी हुई थाली एक हाथ में रखकर दूसरे से लटों के छोर में मोती गूँथ रही है। साथ ही नृत्य की गति और स्वर दोनों ही सधे रहते हैं ।

महाराज प्रसन्नता-भरी दृष्टि से कामकन्दला के सौन्दर्य और नृत्य को निहारते हैं । सभा के सदस्य समय-समय पर वाह ! 'वाह !' 'धन्य है' आदि प्रशंसासूचक शब्द कहते हैं ।]

दृश्यान्तर

[कामावती नगरी में उसी राज्य-सभा के द्वार पर माधव पहुँचता है। सभा-भवन के नृत्य और वादन की ध्वनि बाहर सुनाई पड़ती है। द्वारपाल दरवाजे पर अपनी मूँछ ऐंठता हुआ कभी टहलता है और कभी खड़ा हो जाता है।

सभा-भवन की सीढ़ियों के समीप माधव अपनी वीणा और त्रिशूल लिए हुए पहुँचता है। सीढ़ियों के ऊपर द्वारपार खड़ा हुआ माधव को घूरकर देखता है । माधव द्वारपाल को प्रणाम करता है। द्वारपाल मुस्कराता हुआ अपनी मूँछें ऐंठता है, जैसे प्रणाम का उत्तर देना उसकी शान से नीचे है ।]

माधव : (**नम्रता से**) कामावती के महाराज कामसेन का दरबार यही है !

[द्वारपाल शान से सिर हिलाता है ।]

माधव : मैं महाराज के दर्शन करना चाहता हूँ ।

द्वारपाल : महाराज के दर्शन यों ही हो जाएँगे ? बहुत गाने-बजाने वाले आते हैं। (**भौंहें उचका कर**) दर्शन करेंगे ! महाराज न हुए तुम्हारे रिश्तेदार हुए ! राजसभा न हुई बनिये की दूकान हो गई !

माधव : न महाराज मेरे रिश्तेदार हैं, न राजसभा बनिये की दूकान। मैं तो···

द्वारपाल : कौन हो तुम ?

माधव : मैं माधव हूँ, वीणा बजाता हूँ ।

द्वारपाल : ऐसे बजाने वाले बहुत देखे हैं।

माधव : देखे होंगे। (**सिर झुका लेता है**)
द्वारपाल : कहाँ से आ रहे हो तुम ? परदेसी जान पड़ते हो।
माधव : हाँ, मैं पुष्पावती नगरी से आ रहा हूँ।
द्वारपाल : ये नगरी कहाँ है ? (**स्वयं उत्तर देते हुए**) होगी कहीं ! (**गर्दन उचकाते हुए फिर घूरकर**) मुझे क्या मिलेगा ?
माधव : आशीर्वाद ! और ब्राह्मण के पास क्या है ?
द्वारपाल : तो आशीर्वाद के बल पर ही महाराज के दर्शन करने चले हो ?
माधव : हमारी पुष्पावती के महाराज तो आशीर्वाद लेने के लिए सबसे मिलते हैं। क्या तुम्हारे महाराज…
द्वारपाल : देखो, ज्यादा बक-बक मत करो, नहीं तो यहाँ से निकाल दिए जाओगे। जानते नहीं, सभा में नाच और गाना हो रहा है !
माधव : मैं तुमसे विनती करता हूँ कि महाराज तक मुझे पहुँचा दो। मैं तो थोड़ा-सा संगीत जानता हूँ।
द्वारपाल : जानते होगे ! जितनी ऊँची विद्या महाराज की सभा में है उतनी ब्रह्माजी के माथे में भी न होगी ! (**सिर हिलाकर**) हाँ !
माधव : तभी तो उस सभा को देखना चाहता हूँ !
द्वारपाल : उसमें बाहरी आदमियों के लिए जगह नहीं है। महाराज की खास नाचने वाली कामकन्दला नाच रही है।
माधव : कामकन्दला ? तो मैं यहीं से सुन सकता हूँ ?
द्वारपाल : (**अट्टहास करके**) बड़े मूर्ख हो ! अरे नाच देखा जाता है कि सुना जाता है ? मालूम हो गया कितना संगीत जानते हो ! (**हँसता । है**)
माधव : फिर भी मैं सुनना चाहता हूँ।
द्वारपाल : तो सीढ़ियों के नीचे उस कोने में (**संकेत करता है**) बैठकर सुनो।

दृश्यान्तर

[महाराज कामसेन की सभा में नृत्य हो रहा है। कामकन्दला उमंग से नाच रही है।

धा धा धा धिक धिक धुकार धिंग् धिंग् सुर मंडित,
तंत्रिगिदं कम् कम् त्रिगिदं त्रग त्रगि रव छंडित,
था था था थृगदिक थृकंत थुंगी धुनि थुगिरट,
फम् फम् फम् फुगदिक फ्रकंत बोलत अंगी नट।

साथ में दो सितार, चार वीणाएँ और बारह मृदंग बज रहे हैं। सभा-सहित महाराज नृत्य की मुद्राओं पर 'वाह' 'वाह' कर उठता है।]

दृश्यान्तर

[सभा-भवन की सीढ़ियों पर माधव सभा का संगीत सुन रहा है। द्वारपाल टहलते हुए कभी-कभी उसकी ओर गहरी दृष्टि से घूर लेता है। कभी व्यंग्य से मुस्कुराता है कि यह संगीत जानने वाला नाच देखता नहीं, सुनता है।]

माधव : (**ध्यान से सुनते हुए अपने आप**) कमल के चारों ओर भौंरे उड़ रहे हैं। सुगन्धि मिल रही है। पर रस-पान कोई नहीं कर सकता। यह सभा ऐसी है।

[द्वारपाल माधव को घूरकर देखता है।]

माधव : (**फिर सुनते हुए अपने आप**) सभा में दो सितार, चार वीणाएँ और बारह मृदंग बज रहे हैं।

द्वारपाल : (**व्यंग्य से मुस्कुराते हुए**) यह तुम आँखों से देख रहे हो या कानों से?

माधव : (**द्वारपाल की ओर मुख कर**) कानों से। संगीत जानने वाले के कान आँख से अधिक तेज होते हैं।

[द्वारपाल परिहास की हँसी हँस देता है।]

माधव : (**फिर ध्यान से सुनते हुए अपने आप निश्चय की उँगली उठाते हुए**) मैं यह भी कह सकता हूँ कि बारह मृदंगियों में पूर्व की ओर मुख करके जो मृदंगी मृदंग बजा रहा है, उसके बाएँ हाथ का अँगूठा टूटा हुआ है। थाप सच्चा न पड़ने से ताल भंग हो जाती है। किन्तु इसे कोई नहीं समझ पा रहा है।

[द्वारपाल ध्यान से सुनता है।]

माधव : (**भूमि पर त्रिशूल से नृत्य गति का चित्र बनाते हुए**) और जो नाचने वाली है उसके दाहिने पैर के नूपुरों में नौ से तेरह के बीच के घूँघरों में दाने नहीं हैं, उनमें कोई ध्वनि नहीं निकलती। नाच की ध्वनि में जो बाधा पड़ रही है, उसे समझने वाला कोई नहीं है।

द्वारपाल : (**घूरते हुए**) यह तुम क्या बक रहे हो?

माधव : (**द्वारपाल की बात पर ध्यान न देते हुए अपने आप**) नर्तकी कुछ नहीं कह सकती, क्योंकि सभा ही नहीं, राजा भी मूर्ख है। वह संगीत का मर्म नहीं जान सकता।

[द्वारपाल क्रुद्ध होकर ये बातें सुनता है]

दृश्यान्तर

[राजा कामसेन की सभा। कामकन्दला का नृत्य समाप्त होता है। सब सभासदों की 'वाह' 'वाह' के बाद राजा कामसेन कहते हैं—]

कामसेन : (**अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में**) तुमने बहुत ही सुन्दर नृत्य किया, कामकन्दला ! ऐसा नृत्य देखना जीवन का एक पुण्य अवसर कहा जा सकता है। यह लो, अपना पुरस्कार !

[गले से मोतियों की माला उतार कर देते हैं। कामकन्दला पुरस्कार लेकर प्रणाम करती है और अलग हट जाती है।]

[द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल : (**हाथ जोड़ कर**) महाराज की जय हो !

कामसेन : क्या है, द्वारपाल ?

द्वारपाल : अन्नदाता ! द्वार पर एक ब्राह्मण आया है। वह हटाए नहीं हटता। बड़ा ढीठ है वह। सभा के संगीत की बुराई करता है।

[कामकन्दला ध्यान से द्वारपाल को देखती है।]

कामसेन : बुराई करता है ! कौन है वह ?

द्वारपाल : परदेशी मालूम पड़ता है, अन्नदाता ! एक हाथ में वीणा, दूसरे में तिरशूल है !

कामसेन : हाथ में वीणा है ?

द्वारपाल : हाँ, अन्नदाता ! कहता है, सभा में संगीत को समझने वाला एक भी आदमी नहीं है।

[कामकन्दला फिर ध्यान से द्वारपाल को देखती है।]

कामसेन : वह संगीत को समझता है ?

द्वारपाल : छिमा करें, अन्नदाता ! वह कहता है कि मैं नाच को कान से देखता हूँ !

[सब सभा हँस पड़ती है]

कामसेन : (**हँसते हुए**) नाच को कान से देखता है ? अजीब आदमी है ! बुलाओ उसे !

दृश्यान्तर

[सभा-भवन का द्वार। द्वारपाल गर्व की मुद्रा से आता है]

द्वारपाल : (**माधव से, जो अभी तक सीढ़ियों पर बैठा हुआ सोच रहा है**) ए सुनो ! तुम अन्दर जाना चाहते हो ?

माधव : अगर आप की दया हो !

द्वारपाल : हाँ, दया तो हुई है। नहीं तो महाराज से तुम्हारी सिफारिश न करता। कहते थे कि निकाल दो बाहर। मैंने कहा—अन्नदाता ! इतना गुस्सा नहीं। बेचारा गरीब ब्राह्मण है। संगीत बहुत अच्छा जानता है। थोड़ी देर के लिए दरशन दे दीजिए। उन्होंने सोचा—(**अभिनय करता है**) फिर कहा कि अच्छा डोंगरपति, तुम्हारे कहने से मैं उस गरीब ब्राह्मण को दर्शन दे सकता हूँ। और कोई कहता तो दरशन न देता। लोग हैरत में आ गए। कामकन्दला बैठी थी, मन्त्री बैठे थे, मुसाहिब बैठे थे। डोंगरपति की बात ही ऐसी है। सन्नाटा छा गया। (**आँखें फाड़ कर देखता है**)

माधव : तुम्हारी बात का क्या कहना है, भाई !

द्वारपाल : मैं तुम्हारा भाई नहीं हूँ ! सम्हल के बात करो। मैं हूँ महाराज कामसेन जी का सिपाही-सरदार। सिरी डोंगरपति।

माधव : अच्छा, सिपाही-सरदार जी ! आपकी बड़ी दया ! (**हाथ जोड़ता है**)

द्वारपाल : अच्छा ! देखो ! (**एक आँख बन्द कर**) महाराज के इनाम में आधा-आधा···

माधव : (**हँसकर**) आधा-आधा क्या, पूरा-पूरा !

दृश्यान्तर

[राजा कामसेन का सभा-भवन। सभासद और कामकन्दला यथास्थान बैठे हैं। राजा कामसेन सिंहासन पर हैं। उनके सामने माधव वीणा और त्रिशूल लिए खड़ा है। सब लोग माधव की वेशभूषा को कौतुक और विनोद से देखते हैं। परिहास के संकेत भी होते हैं। विशेष कर कामकन्दला माधव के रूप को ध्यान से देखकर आँखें झुका लेती है।]

कामसेन : तो तुम हमारी राजनर्तकी कामकन्दला का नृत्य कानों से देख सकते हो ? (**परिहास की मुद्रा। कामकन्दला भी मुस्कराकर माधव को देखती है**)

माधव : महाराज ! नृत्य का सौन्दर्य ध्वनि में है, रूप में नहीं। जो नृत्य के रूप को देखते हैं उनकी दृष्टि नर्तकी पर अधिक रहती है नृत्य पर नहीं, मैं नृत्य ध्वनि की को देखता हूँ रूप को नहीं, महाराज !

[सभा में गम्भीरता छा जाती है।]

कामसेन : तो तुम ध्वनि को देखते हो ?

माधव : महाराज, कान ध्वनि को इतनी गहराई से सुनता है कि उतनी गहराई से आँख रूप को नहीं देख सकती। गहराई से सुनने में ही ध्वनि का रूप स्पष्ट हो जाता है जो आँखों की अपेक्षा कानों से अधिक स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है।

कामसेन : इसका प्रमाण ?

माधव : इसका प्रमाण यही है महाराज कि मैं आपके मृदंग बजाने वालों को देखे बिना ही यह कह सकता हूँ कि पूर्व की ओर मुख करके बैठने वाले मृदंगी के बाएँ हाथ का अँगूठा टूटा हुआ है।

कामसेन : (**सभा में दृष्टि डालते हुए**) पूर्व की ओर मुख करके बैठने वाला कौन मृदंगी है ?

मृदंगी : (**उठकर**) गरीब-परवर, मैं हूँ बिलावज खाँ।

कामसेन : क्या तुम्हारे बाएँ हाथ का अँगूठा बेकाम है ?

मृदंगी : गरीब-परवर ! खता माफ हो, चार साल का अर्सा हुआ जबकि मेरा अँगूठा पटने की लड़ाई में कट गया था। तब से मैं ठीक तरह से तलवार भी नहीं पकड़ सकता। लाचार होकर मैंने मृदंग बजाने का ही पेशा अख्तियार कर लिया। गरीब-परवर ! माफी चाहता हूँ।

[बाएँ हाथ का कटा हुआ अँगूठा दिखलाता है। सारी सभा आश्चर्यचकित होकर परस्पर संकेत करती है। कामकन्दला माधव को प्रशंसात्मक दृष्टि से देखती है।]

कामसेन : (**प्रसन्न होकर**) तुम्हारा अनुमान सही है ब्राह्मणकुमार ! लेकिन सम्भव है तुम बिलावज खाँ को पहले से जानते हो।

माधव : महाराज, मैं आज ही पुष्पावती नगरी से आ रहा हूँ। बिलावज खाँ से मेरा कोई परिचय नहीं है। लेकिन अगर आपको विश्वास न हो तो मैं एक दूसरा प्रमाण भी दे सकता हूँ।

कामसेन : वह कौन-सा ?

माधव : महाराज ! आपकी राजनर्त्तकी के दाहिने पैर के नूपुरों में नौ से तेरह के बीच के घूँघरों में दाने नहीं हैं जिससे नूपुरों की झनकार में हानि होती है।

कामसेन : (**कामकन्दला से**) क्या यह बात सही है, कामकन्दला ? अपने दाहिने पैर का नूपुर उतार कर दिखलाओ।

कामकन्दला : जो आज्ञा।

[दाहिने पैर का नूपुर उतारती है, एक सभासद उसे लेता है।]

माधव : बाईं ओर से नौ से तेरह के बीच के घूँघर देखिए।

[सभासद गिन कर नौ से तेरह के बीच के घूँघर दिखलाता है। वे दानों से रहित हैं। राजा और सारी सभा चकित रह जाती है। कामकन्दला प्रेम से माधव की ओर देखती है।]

कामसेन : (**प्रसन्न होकर अपनी दूसरी माला माधव को पहिनाते हुए**) धन्य हो! ब्राह्मण-कुमार ! तुम सचमुच ही संगीत-पारखी हो। आसन ग्रहण करो। (**माधव प्रणाम कर आसन पर बैठता है**) यह सभा आज तुम्हें पाकर धन्य है। तुम हमारी सभा में रत्न बन कर रहोगे। तुम्हारा नाम क्या है, ब्राह्मण-कुमार ?

माधव : सेवक का नाम माधव है। पुष्पावती नगरी मेरी जन्म-भूमि है।

कामसेन : वह नगरी धन्य है जिसने तुम जैसा गुणी उत्पन्न किया। (**कामकन्दला से**) कामकन्दले ! आज तुम्हारे सामने संगीत कला के पारखी हैं। इन्हें अपने नृत्य और गान से प्रसन्न करो।

कामकन्दला : (**माधव को प्रेम-दृष्टि से देखकर**) जो आज्ञा।

[नृत्य करने के लिए उठती है। संगीत आरम्भ होता है।

1. कामकन्दला अपने शरीर पर जल से भरा हुआ पात्र रख कर नृत्य करती है। पल-पल में नृत्य की गति बढ़ती है पर जल का एक बूँद भी नहीं गिरता।
   सभासद 'वाह' 'वाह' करते हैं। माधव भी सराहना करता है।
2. कामकन्दला थाली पर नृत्य करती है। शरीर को दुहरा-तिहरा कर नाचती है। किन्तु न तो थाली से पैर ही अलग गिरता है और न थाली ही टूटती है। थाली से जो झनकार उत्पन्न होती है वह नृत्य के संगीत में माधुर्य लाती है। पुनः 'वाह' 'वाह' की ध्वनि।
3. कामकन्दला तलवार लेकर नृत्य करती है। उसकी गति तलवार के चक्र की भाँति ही बन जाती है। तलवार फेंक कर वह दोनों हाथों में चक्र लेती है। एक हाथ से दूसरे हाथ में चक्र बदलती है।

उसी समय एक भौंरा उड़ता हुआ आकर उसके हृदय पर दोनों वक्षस्थलों के बीच में आकर बैठ जाता है। उसके काटने की पीड़ा काम-कन्दला के मुख पर आती है। यदि वह हाथ से उड़ाती है तो हाथ से चक्र गिर पड़ते हैं। यदि मुख से फूँकती है तो गीत नष्ट होता है। नाचते हुए वह समस्त शरीर की वायु एकत्र कर उस स्थान से छोड़ती है जहाँ भौंरा बैठा हुआ है। वायु के प्रवाह से वस्त्र का उतना भाग जैसे ही उड़ता है वैसे ही भ्रमर उड़ जाता है। उसी समय माधव 'धन्य' 'धन्य' कह प्रसन्नता से उठ खड़ा होता है। नृत्य रुक जाता है।]

माधव : (**हर्षोल्लास से**) धन्य, धन्य, कामकन्दले ! तुम सचमुच ही नृत्य-कला की देवी हो, गन्धर्वणी हो, सरस्वती हो, रति हो ! (**कामसेन तथा अन्य सभासद अवाक् रह जाते हैं**)

माधव : तुमने ऐसी नृत्य-कला दिखलाई है कामकन्दले, जैसी इस संसार में किसी के द्वारा कभी नहीं दिखलायी गई। यह लो, अपना पुरस्कार !

[महाराज कामसेन की दी हुई माला कामकन्दला के गले में डाल देता है।]

कामसेन : ब्राह्मण-कुमार ! तुमने मेरे उपहार का अपमान किया है। जो माला मैंने तुम्हें दी, वह तुमने इतनी आसानी से उतार कर नर्त्तकी को दे दी ?

माधव : महाराज, अपराध क्षमा हो। कामकन्दला ने इस अवसर पर नृत्य में जो कला दिखलाई है, उस पर यदि मैं अपना सिर भी उतार कर देता तो अनुचित नहीं था। मैंने तो केवल आपकी माला ही उतार कर दे दी।

एक सभासद : ऐसी तो कोई कला कामकन्दला ने नहीं दिखलाई !

दूसरा सभासद : एक भौंरा अवश्य कामकन्दला के कपड़ों पर बैठकर उड़ गया।

तीसरा सभासद : तो इसमें कामकन्दला का क्या चातुर्य है ! भौंरा अपनी इच्छा से बैठा और उड़ गया।

चौथा सभासद : ऐसा नृत्य तो हम लोग कई बार देख चुके हैं।

माधव : इसीलिए तो मैंने कहा था कि कमल के चारों ओर भौंरे उड़ रहे हैं, सुगंधि मिल रही है पर रस का पान कोई नहीं कर सकता। जिस तरह वह बैठा हुआ भौंरा उड़ा दिया गया उसी तरह आप लोग भी उड़ा दिए जाते तो महाराज की मर्यादा भंग न होती।

कामसेन : (**कौतूहल से**) भौंरा उड़ा दिया गया ? कामकन्दला तो अपने हाथों में चक्र फिरा रही थी, भौंरा कैसे उड़ा दिया गया ?

माधव : महाराज, यही तो आपकी राजनर्त्तकी कामकन्दला की कला है जिसे सभा में किसी ने नहीं समझा। भौंरा उड़ते-उड़ते कामकन्दला के हृदय पर बैठ गया और उसने जोर से काटा। नृत्य में कामकन्दला यदि उसे हाथ से उड़ाती तो चक्र हाथ से गिर जाते। यदि फूँक से उड़ाती तो स्वर भंग होता। इसलिए उसने अपने शरीर की सारी वायु एकत्र कर हृदय की ओर से ही निकाल दी जिसके झोंके से उस स्थान का वस्त्र उड़ा और भ्रमर को भी उड़ जाना पड़ा।

कामसेन : (**आश्चर्यचकित होकर**) यह कला थी ! (**कामकन्दला से**) कामकन्दले, तुम सचमुच इस पृथ्वी पर उर्वशी हो ! यह अपूर्व कला तुमने पहली बार दिखलाई।

कामकन्दला : भ्रमर ने ही आकर ऐसा संयोग उपस्थित किया महाराज !

[माधव की ओर रहस्यमय नेत्रों से देखती है ।]

कामसेन : किन्तु तुमने कभी इसका संकेत भी नहीं किया।

कामकन्दला : महाराज, कला-मर्मज्ञ सामने हो तो कला का सौन्दर्य निखर उठता है ।

कामसेन : (**भौंहें वक्र कर**) अच्छा, यह बात है ! इस विचार से केवल माधव ही कला-मर्मज्ञ है और सब लोग मूर्ख हैं !

कामकन्दला : महाराज, इसका उत्तर देना मेरे अधिकार के बाहर है ।

कामसेन : ठीक है। तब यह सभा देखना चाहेगी कि माधव गाने-बजाने की कैसी कला जानता है।

कामकन्दला : (**विनम्रता से**) मेरी ब्राह्मण-कुमार से प्रार्थना है कि वे इस सभा को अपनी कला दिखलाने की कृपा करें।

माधव : जिस तरह तुम्हारी कला अपमानित हुई है, कामकन्दला ! क्या उसी प्रकार तुम मेरी कला का भी अपमान देखना चाहती हो ?

[राजा कामसेन क्रुद्ध दृष्टि से माधव की ओर देखते हैं।]

कामकन्दला : ब्राह्मण-कुमार, मोती केवल दो स्थानों पर उत्पन्न होते हैं। एक तो समुद्र में, दूसरे हाथियों के मस्तक में, किन्तु उनकी शोभा का स्थान राजाओं का मुकुट ही है । भले ही राजा उन मोतियों का मूल्य न समझे ।

[अनुराग की दृष्टि से देखती है ।]

माधव : तुम्हारी बात मोतियों के मूल्य की ही है। तुम्हारे कहने से मैं अवश्य ही अपनी कला दिखाऊँगा । (**राजा कामसेन से**) महाराज, आपकी इच्छा भी पूरी हो।

[माधव गान करता है। उसका गान जैसे-जैसे गति प्राप्त करता है, वायु जोर से बहने लगती है और जल बरसने लगता है। जैसे ही माधव का राग समाप्ति पर आता है वैसे ही कामकन्दला सारंग राग गाती है जिससे मेघ उड़ जाते हैं और पानी बरसना बन्द हो जाता है।

सभा में 'वाह' 'वाह' की ध्वनि होती है।

इसके अनन्तर कामकन्दला गाना आरम्भ करती है जिससे राजसभा के दीपक बुझने लगते हैं। उसके राग की समाप्ति पर माधव दीपक राग गाता है जिससे राजसभा के दीपक पुनः जल उठते हैं।

सभा में फिर 'वाह' 'वाह' की ध्वनि होती है।]

कामसेन : यह संगीत की प्रतियोगिता बहुत अच्छी रही ! पर यह वीणा (**माधव की वीणा की ओर संकेत कर**) क्यों चुप है ? इसे भी इस समारोह में भाग लेना चाहिए ।

माधव : यह वीणा मेरी शत्रु है, महाराज ! आनन्द-उत्सवों में शत्रुओं का क्या काम ?

कामसेन : यदि यह शत्रु है तो इसे अपने हृदय से क्यों लगाए हो ?

माधव : महाराज, शत्रु को हृदय से ही लगाना चाहिए । और इस शत्रु की विशेषता यह है कि इसके बिना मैं अपना जीवन अपूर्ण समझता हूँ ।

कामसेन : तो इस समारोह को भी अपूर्ण न रहने दो । आरम्भ करो अपनी वीणा ।

माधव : जो आज्ञा ।

[माधव वीणा को प्रणाम कर तार झंकृत करता है । जैसे ही वीणा का स्वर तीव्र होता है, सभासदों की मुखमुद्रा भाव-विभोर बनती जाती है । वीणा के संगीत की चरम स्थिति पर कामकन्दला अपने आप उठ कर नेत्र बन्द किए नृत्य करने लगती है । थोड़ी देर नृत्य करके ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है ।]

कामसेन : (**उठ कर उग्रता से**) रोक दो, यह वीणा । कामकन्दला को मूर्च्छित करने का दंड बहुत भयानक है, माधव !

माधव : कलाकार किसी भयानकता से नहीं डरता, महाराज !

कामसेन : (**कामकन्दला के साथियों से**) कामकन्दला को ले जाओ । इसे होश में लाओ ।

[कामकन्दला को उसके साथी ले जाते हैं ।]

कामसेन : (**क्रोध से माधव से**) और तुम्हें क्या दंड दिया जाए ?

माधव : जो महाराज की इच्छा । दंड पाना तो कलाकार का जन्म-सिद्ध अधिकार है ।

कामसेन : तुम कलाकार हो ? तुम कलाकार नहीं निरे ऐन्द्रजालिक हो ।

माधव : महाराज जिस तरह संगीत की कला नहीं जानते उसी तरह उन्हें मनुष्य की पहिचान भी नहीं है ।

कामसेन : (**क्रोध से**) माधव !

माधव : महाराज ! स्पष्ट कहने वाला वक्ता और चुप सुनने वाला श्रोता संसार में कम मिलता है ।

कामसेन : (**क्रोध से**) चुप रहो ! (**सेनापति से**) सेनापति, इसे बन्दी करो ।

इसे अपने गुण का इतना अभिमान है कि इसे राज्य-मर्यादा का भी ध्यान नहीं।

सेनापति : जो आज्ञा।

[माधव को बन्दी करता है।]

मन्त्री : महाराज, इसे देश से निकाल देना ठीक होगा। नहीं तो राज्य में रह कर यह और भी उत्पात मचा सकता है और महाराज (**रहस्यमय भाव-भंगिमा से**) इसकी दृष्टि···कामकन्दला···पर···भी···है !

कामसेन : (उग्रता से) मैंने भी इसकी दृष्टि देखी है। (**माधव से**) माधव ! तुम इस राज्य से निर्वासित हुए। यदि तुम कल के बाद राज्य में पाए गए तो तुम्हें प्राणदंड दिया जाएगा।

माधव : मेरी वीणा का यही प्रभाव है, महाराज !

कामसेन : वीणा का प्रभाव नहीं, यह तुम्हारी मूर्खता है।

माधव : हाँ, महाराज, जब भाग्य विपरीत होता है तब गुण भी अवगुण बन जाते हैं और बुद्धि भी मूर्खता बन जाती है। जो राजा प्रसन्न होकर सब कुछ देता है और अप्रसन्न होकर बन्दी कर लेता है, उस राजा की प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनों ही कष्टदायक हैं।

कामसेन : ब्राह्मण-कुमार ! तुम अपनी सीमा से बाहर जा रहे हो। तुम इसी समय यहाँ से चले जाओ।

माधव : जो आज्ञा, महाराज ! जिस तरह आया था, उसी तरह जा रहा हूँ। आपसे एक प्रार्थना है और वह यह कि आप कामकन्दला की कला की रक्षा करें और उसे समझने के योग्य बन सकें। आपका कल्याण हो !

[माधव शीघ्रता से चला जाता है। कामसेन तथा अन्य सभासद अवाक् और हतप्रभ होकर उसकी ओर देखते रह जाते हैं।]

दृश्यान्तर

[सभा-भवन का द्वार। द्वारपाल डोंगरपति शान से मूँछें ऐंठता हुआ टहल रहा है। कभी-कभी वह सभा-भवन के भीतर भी झाँकने का प्रयत्न करता है। थोड़ी देर बाद माधव निकलता है। उसके साथ चलता हुआ]

डोंगरपति : बड़े-बड़े हुनर दिखाए तुमने तो ? कभी हवा चलाई, कभी पानी बरसाया ! इधर भी कुछ बरसेगा ?

माधव : बहुत कुछ।

डोंगरपति : (प्रसन्नता से) अरे वाह मेरे मालिक, वाह मेरे देवता ! क्या नैवेद्य

लगाया है ! तो फिर आधा-आधा हो जाए !

माधव : पूरा-पूरा लो न !

डोंगरपति : अरे वाह, तेरी कुदरत ! समुन्दर हो तो ऐसा हो, सिकन्दर हो तो ऐसा हो ! (**पास आकर, मुँह में स्वाद लेते हुए**) अच्छा···तो क्या मिला ?

माधव : देशनिकाला ।

डोंगरपति : (**चौंक कर**) आँएँ ! (**दूर हटते हुए**) सब मुबारक, सब मुबारक ! ले जाओ तुम्हीं ! ये इनाम मेरे बाप से भी नहीं सँभलेगा ! जाओ, जाओ, अब कभी मत आना—

माधव : देशनिकाले से कभी कोई लौट कर आता है ।

[मुस्करा कर चला जाता है । डोंगरपति के मुँह पर सिरका पीने की मुद्रा ।]

दृश्यान्तर

[संध्या समय । सूर्य पश्चिमी क्षितिज पर पहुँच गया है, जैसे उसे भी देश-निकाला दिया गया हो । राजपथ पर उदास मुद्रा में माधव जा रहा है ।

जब वह कुछ दूर चला जाता है तो पीछे वृन्दा नामक कामकन्दला की दासी पुकारती हुई आती है ।

माधव···माधव···माधव···

माधव चला ही जा रहा है । दासी गिरते-पड़ते पीछे-पीछे दौड़ती हुई चली जा रही है ।]

दृश्यान्तर

[पुष्पावती नगरी में माधव का घर । माधव की माता सुजाता ने वेदिका पर शंकर की मूर्ति सुसज्जित कर रखी है । वह इस समय पूजा कर रही है ।

वेदिका पर खिंची हुई चार रेखाओं में से पहली रेखा पर फूलों की पंक्ति छाई हुई है और दूसरी रेखा के ऊपरी सिरे पर एक फूल रखा हुआ है, जिससे इस बात का संकेत होता है कि माधव को गए हुए एक महीना बीत गया, अब दूसरा महीना आरम्भ हुआ है । सुजाता आरती करके भगवान शंकर को प्रणाम करती है और फिर दूसरी रेखा को, जिस पर एक फूल रखा हुआ है, बड़े ध्यान से देखती है । उसकी आँखों से उस फूल के समान ही आँसू का एक बूँद गिर पड़ता है । उसी समय सुलोचन पुकारता हुआ आता है ।]

सुलोचन : माँ, माँ !

सुजाता : (**झट से आँसू पोंछ कर सम्हल जाती है**) आओ बेटा, सुलोचन ! कहो माधव की कोई खबर मिली ?

सुलोचन : बस, माँ ! खबर आती ही होगी (**आसन पर बैठता है**) अभी हुए ही कितने दिन हैं माधव को गए हुए ? एक महीना ही तो हुआ है। किसी राजा-महाराजा के यहाँ गया होगा, बैठा होगा, अपना परिचय दिया होगा। कुछ गाया होगा, कुछ बजाया होगा, उसका मान-सम्मान हो रहा होगा। अब हमेशा देशनिकाला थोड़े मिलता है !

सुजाता : बेटा, वह बड़ा गुणी है, लोग उसे जल्दी समझ नहीं पाते। मैं तो रोती हूँ बेटा, कि भगवान ने उसे इतना गुण ही क्यों दिया ! भोला-भाला लड़का है, भोले-भाले ढंग से रहता है !

सुलोचन : हाँ माँ, दुनिया में लोग गुण की कदर करना नहीं जानते। मुझी को देखो। इतने अच्छे ढंग से सीटी बजाता हूँ कि लोग दूर से सुनें तो मालूम हो कि नाच रहा है लेकिन दुनिया के लोग हैं कि हँसी उड़ाते हैं और कहते हैं कि किसी नाचने वाली ने इसके मुँह पर लात मारी है। अब तुम्हीं कहो।

सुजाता : (**मुस्कुरा कर**) बेटा, तू बड़ी वैसी बातें करता है।

सुलोचन : नहीं माँ, मैं सच कहता हूँ। तुम खुश भर रहो। मैं दुनिया को दिखला कर रहूँगा कि गुण की कदर कैसे की जाती है। मैं किसी राज-सभा में राज-नर्त्तक यानी···यानी नाचने वाला बनूँगा और बिना नाचे नाच का समाँ बाँध दूँगा (**गर्वमयी मुद्रा में**) हाँ !

सुजाता : (**मुस्कुरा कर**) ठीक है, बेटा !

सुलोचन : और माँ ! तीन महीने में माधव लौटता है तब तक मैं और भी राज-सभा की बातें सीख लेता हूँ। (**एकाएक चौंक कर**) माँ, मेरे मन में एक बात आ रही है !

सुजाता : क्या बेटा ?

सुलोचन : कि अब की माधव लौटेगा तो अपने साथ मेरी भाभी भी लाएगा।

सुजाता : (**हँस कर**) सचमुच ? बेटा, तेरे मुँह में घी-शक्कर !

सुलोचन : (**आँखें निकाल कर**) घी···शक्कर···

दृश्यान्तर

[माधव आगे बढ़ता चला जा रहा है। दासी वृन्दा गिरते-पड़ते पीछे-पीछे पुकारती हुई जा रही है। माधव के कानों में आवाज पड़ती है। वह पीछे देखता है—एक नवयुवती परिश्रम से हाँफती हुई दौड़ती-सी चली आ रहीहै। वह रुक जाता है। दासी हाँफते हुए समीप आती है।]

दासी : **(अस्फुट स्वरों में)**···मा···धव···मा···धव !

माधव : **(तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए)** तुम ? मैंने तुम्हें पहिचाना नहीं देवी ! तुम कौन हो ? इस अपरिचित देश में मेरा कोई नहीं है।

दासी : **(हाँफते हुए)** मैं···मैं···दासी हूँ, माधव ! वृन्दा।

माधव : दासी ? किसकी दासी ? मेरी कोई दासी नहीं है।

दासी : **(सहसा बैठकर)** उफ् ! काँटा लग गया···काँटा···बहुत दर्द है, उफ··· **(भौंहें सिकोड़ती है।)**

माधव : काँटा ! काँटा ! देखूँ ? **(बैठकर पैर देखने लगता है।)**

दासी : यहाँ नहीं।

माधव : यहाँ ?

दासी : यहाँ भी नहीं।

माधव : यहाँ ?

दासी : **(किंचित छिपी मुस्कुराहट से)** यहाँ भी नहीं !

माधव : देखो देवी, मैं देश से निर्वासित हूँ। मुझसे हँसी करना वैसा ही है जैसे किसी गिरे हुए मन्दिर में मूर्ति की स्थापना करना। **(उठ खड़ा होता है)**

दासी : नहीं कुमार, हँसी नहीं कर रही हूँ। मैं वृन्दा हूँ, कामकन्दला की दासी। आपने मुझे महाराज कामसेन के दरबार में स्वामिनी के साथ नहीं देखा ?

माधव : **(दूसरी ओर देखते हुए)** मुझे स्मरण नहीं है, देवी !

दासी : माधव : (मुस्कुराकर) मेरी स्वामिनी को देखा था ?

माधव : अपने हृदय की आँखों से।

दासी : पहिचाना ?

माधव : एक कलाकार दूसरे कलाकार को कब नहीं पहिचानता ?

दासी : प्रेम से या ईर्ष्या से ?

माधव : मेरे जीवन में ईर्ष्या नहीं है, देवी !

दासी : प्रेम है ?

माधव : हाँ, किन्तु वासना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

दासी : किन्तु हमारी स्वामिनी के हृदय में आपके लिए प्रेम भी है और···और बहुत कुछ है।

माधव : वह अनुचित है।

दासी : हमारी स्वामिनी को दर्शन दे सकेंगे ?

माधव : मैं उनके दर्शन कर चुका।

दासी : दर्शन तो बार-बार किए जाते हैं, कुमार !

माधव : किन्तु मैं निर्वासित हूँ, वृन्दा ! मैं वह फूल हूँ जो पेड़ से तोड़ कर फेंक दिया गया है।

दासी : मेरी स्वामिनी यह जानती हैं, कुमार ! इसीलिए उस फूल को वे अपनी वेणी में सजाना चाहती हैं।

माधव : उनकी वेणी का सौन्दर्य बिगड़ जाएगा।

दासी : उनका सौन्दर्य तो अभी बिगड़ गया है, कुमार ! जब से उन्होंने आपका रूप और आपकी कला देखी है तभी से वे आपके विरह में बहुत व्याकुल हैं।

माधव : विरह में व्याकुल ? मैं इस मार्ग से अपरिचित हूँ देवी, मैं स्त्री का रूप नहीं देखता।

दासी : कुमार ! वे स्त्री नहीं, देवी हैं।

माधव : उन्हें समझा दो वृन्दा ! कि मैं देवियों में केवल सरस्वती की उपासना करता हूँ।

दासी : (**मुस्कुरा कर**) और यदि वे कला में साक्षात् सरस्वती हों तो ?

माधव : हाँ, कला में वे साक्षात् सरस्वती हैं।

दासी : तो ऐसी सरस्वती को एक बार दर्शन दे दीजिए।

माधव : यदि ऐसा सम्भव न हो तो ?

दासी : तो···आप तो केवल इस देश से निर्वासित हैं, वे इस जीवन से निर्वासित हो जाएँगी।

माधव : क्या यह सत्य है ?

दासी : बिलकुल सत्य। मैं अपनी स्वामिनी के स्वभाव को जानती हूँ। कला और संगीत पर वे अपने प्राण न्यौछावर कर सकती हैं। और कुमार ! यदि उन्होंने अपना जीवन त्याग दिया तो संसार से उनके नृत्य की कला सदैव के लिए उठ जाएगी।

माधव : मुझे इसका दुःख होगा। उनकी कला मेरे प्राणों में निवास करती है। (**सोचते हुए**) किन्तु मैं अधिक देर तक नहीं ठहर सकूँगा।

दासी : कुछ क्षणों के लिए ही चलिए, स्वामी !

[दोनों लौटते हैं।]

दृश्यान्तर

[**समय** : रात्रि का प्रथम प्रहर। आकाश में तारे हैं और एक कोने में द्वितीया का चन्द्र। कामकन्दला का राजसी कक्ष। स्थान-स्थान पर सुन्दर चित्र और बड़े-बड़े आईने लगे हुए हैं। एक शीशे के सामने बैठकर कामकन्दला श्रृंगार कर रही है। वह माधव की प्रतीक्षा कर रही है। श्रृंगार करते-करते वह महाराज कामसेन की सभा में गाया गया माधव का गीत गुनगुना रही है।

खिड़की से वह देखती है कि वृन्दा और माधव आ रहे हैं। वह शीघ्रता से उठती है और माधव के आने के रास्ते में फूल बिछा देती है। नये-नये प्रकार के दीपक जला देती है और फूल का गुँथा हुआ गजरा शीशे के किनारे टाँग देती है।

फिर वह आरती सजाती है और द्वार के समीप उत्सुकता से खड़ी हो जाती है।]

[वृन्दा का प्रवेश]

कामकन्दला : (**उल्लास से**) तो तू उन्हें ले आई ?

वृन्दा : हाँ, स्वामिनी ! बड़ी कठिनाई से आ सके हैं। ओह ! कितने महान् हैं वे, उन्हें देखती हूँ तो मालूम होता है, कामदेव के सामने खड़ी हूँ।

कामकन्दला : और तू मुझे क्या समझती है ?

वृन्दा : आपको ? रति।

कामकन्दला : (**हँसकर**) तेरी कल्पना बहुत ऊँची है, वृन्दा !

वृन्दा : वे आ रहे हैं। कहते थे—कामकन्दला की कला मेरे प्राणों में निवास करती है। पर बड़ी कठिनाई से आए हैं।

कामकन्दला : तूने बड़ा काम किया, वृन्दा ! बतला मैं तुझे क्या दूँ !

वृन्दा : मैं आज्ञा चाहती हूँ।

कामकन्दला : किस बात की ?

वृन्दा : यहाँ से जाने की। मुझे जोर से नींद आ रही है। जाने क्यों मुझे आरती देख कर नींद आने लगती है !

कामकन्दला : तू बड़ी नटखट है।

वृन्दा : आने में भी नटखट, जाने में भी नटखट। अच्छा, मैं उन्हें भेज देती हूँ।

[हँसते हुए जाती है, कामकन्दला आरती-पात्र को हाथ में झुलाते हुए नृत्य की मुद्राएँ धारण करती है।]

[माधव का प्रवेश]

कामकन्दला : (**अस्फुट शब्दों में**) नमस्कार, आपने बड़ी कृपा की।

[आरती उतारती है।]

माधव : जो स्वयं जल रहा है, उसकी आरती कैसी !

कामकन्दला : सूर्य की आरती कौन नहीं उतारता। वह भी तो जलता है।

माधव : किन्तु मैं तो एक टूटा हुआ तारा हूँ, कामकन्दला। इसे रोकने का प्रयत्न न करो। यह कहाँ जाकर गिरेगा, इसे कौन जानता है।

कामकन्दला : (**आरती-पात्र रख कर**) मैं जानती हूँ। यह टूट कर गिरेगा मेरे

इसी कक्ष में। और टूट कर तारे से चन्द्रमा बन जाएगा।

[आसन पर बिठलाती है।]

माधव : वह चन्द्रमा जो कलंकी है ?

कामकन्दला : नहीं, वह चन्द्रमा जो शिव के मस्तक पर शोभायमान रहता है और उसमें कलंक नहीं है।

माधव : किन्तु सर्प उसके चारों ओर घूमते हैं, कामकन्दला। उनकी फुफकार का विष चन्द्रमा के चारों ओर लहरें लेता है।

कामकन्दला : किन्तु चन्द्रमा में अमृत है, माधव। विष का प्रभाव उस पर किसी प्रकार भी नहीं पड़ सकता। (**आकाश की ओर संकेत करते हुए**) देखो, वह दूज का चन्द्रमा। कितना निर्मल और कितना प्रशान्त है, जैसे आकाश ने तुम्हारा चित्र बना दिया है।

माधव : वह चन्द्र मेरा चित्र नहीं, वह तो तुम्हारा नूपुर है, कामकन्दला। जिसे मधुर ध्वनि के कारण आकाश तक ने अपने हृदय से लगा लिया है।

कामकन्दला : उसमें कितने घुँघरू कंकड़हीन हैं !

[दोनों ही मुस्करा उठते हैं।]

माधव : वह नूपुर निर्मल और निर्दोष है।

कामकन्दला : किन्तु माधव ! जब से मैं मूर्च्छित होकर सभा-भवन से आई हूँ तब से मैं स्वयं एक नूपुर बन गई हूँ। जिसमें एक भी कंकड़ शेष नहीं रह गया है।

माधव : और कामकन्दला ! तुम्हारी कला मेरे प्राणों में निवास करती है। ऐसी कला मैंने जीवन में आज तक नहीं देखी। मैं मन ही मन तुम्हारी कला की सराहना करता हूँ और किसी कल्पना-लोक में पहुँच जाता हूँ।

कामकन्दला : संसार में कल्पना के लिए काफी स्थान है, माधव !

माधव : अवश्य है, किन्तु मैं मर्यादा के बन्धन में हूँ।

कामकन्दला : कैसी मर्यादा ?

माधव : आज तक मैंने कुपंथ में पैर नहीं रक्खा। मैंने पर-नारी पर कभी दृष्टि नहीं डाली।

कामकन्दला : मैंने आज तक किसी पुरुष का ध्यान नहीं किया है, माधव !

माधव : तुम राजनर्त्तकी हो, कामकन्दला ! महाराज कामसेन की राजनर्त्तकी हो।

कामकन्दला : कला की साधना के लिए मैं राजनर्त्तकी बनी हूँ, माधव। आज तक मुझे कला को जानने वाले की खोज थी, आज वह मुझे मिल गया और इसलिए मैं राजनर्त्तकी-पद से मुक्ति चाहती हूँ।

माधव : क्या महाराज कामसेन इसे स्वीकार करेंगे ?

कामकन्दला : नहीं । इसीलिए माधव ! मैं तुम्हारी शरण में आई हूँ, मेरी रक्षा करो । कामसेन से मेरी रक्षा करो ।

माधव : जो स्वयं निर्वासित है वह किसी की क्या रक्षा कर सकता है ?

कामकन्दला : मुझे अपने साथ लेते चलो, माधव !

माधव : यह संभव नहीं है, कामकन्दला ! माधव किसी चोर की तरह किसी राजनर्त्तकी का अपहरण नहीं कर सकता ।

कामकन्दला : अपने त्रिशूल का उपयोग नहीं कर सकते ।

माधव : उसके लिए अभी समय नहीं है । किन्तु मैं वचन देता हूँ कि तुम्हारी रक्षा करूँगा, तुम्हारी कला की रक्षा करूँगा ।

कामकन्दला : तुम कितने अच्छे हो, माधव !

माधव : अच्छा, कामकन्दला ! अब मैं जाने की आज्ञा चाहता हूँ ।

कामकन्दला : किस आशा पर जाने को कहूँ ?

माधव : मैं फिर आऊँगा । जब इस देश-निकाले के दंड के विरोध में मैं अपना त्रिशूल उठा सकूँगा ।

कामकन्दला : यह तो ठीक है माधव, किन्तु तुम्हारे जाने की बात ही मुझे त्रिशूल की भाँति चुभ जाती है ।

माधव : मैं अपनी इच्छा से नहीं जा रहा हूँ, कामकन्दला !

कामकन्दला : तो तुम एक उपाय क्यों नहीं करते ? यह तो बड़ी सरलता से हो सकता है । तुम ऐसा राग गाओ कि महाराज के मन से देश निकाले की बात ही भूल जाए, फिर ऐसा राग गाओ कि वे तुम्हें इसी नगर में रहने का आग्रह करें । इसके बाद ऐसा राग गाओ कि वे तुम्हें···

[रुक जाती है ।]

माधव : **(सहारा देते हुए)** ···वे तुम्हें···?

कामकन्दला : वे तुम्हें मेरे पास रहने की आज्ञा दे दें ।

माधव : **(हँसकर)** और यदि उन्होंने ऐसी आज्ञा नहीं दी तो ?

कामकन्दला : तो मैं उस उड़ने वाले भौंरे को उनके ओंठों पर बिठला दूँगी ।

[दोनों हँस पड़ते हैं ।]

और महाराज उसे उड़ाने की कला नहीं जानते ।

माधव : तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं जानता, कामकन्दला !

[सोचने लगता है ।]

कामकन्दला : किन्तु तुम तो उस कला को पहिचानते हो !

माधव : (**सोचते हुए**) हाँ !

कामकन्दला : और उसका परिचय सारे संसार को दे सकते हो ?

माधव : (**सोचते हुए**) हाँ ।

कामकन्दला : तुम क्या सोच रहे हो, माधव !

माधव : कहूँ ?

कामकन्दला : हाँ, कहो !

माधव : मैं यह सोच रहा हूँ कामकन्दला ! कि आज तक मैंने किसी स्त्री की ओर दृष्टि नहीं डाली, मुझे अपने हृदय की दृढ़ता का पूरा विश्वास रहा है, किन्तु तुम्हें देखकर मेरे हृदय की दिशा में न जाने कौन अज्ञात प्रेरणा जाग रही है। तुम्हारी कला न जाने मुझे किस अतीत की स्मृति की ओर ले जा रही है।

कामकन्दला : यह मेरा सौभाग्य है, माधव !

माधव : भगवान त्रिलोचन की इच्छा !

कामकन्दला : भगवान त्रिलोचन की ?

माधव : हाँ, भगवान त्रिलोचन की। उनके तीसरे नेत्र ने कभी कामदेव को भस्म किया था। आज वही तीसरा नेत्र अनुराग के वसन्त-वैभव में ले जाना चाहता है।

कामकन्दला : तुम कवि भी हो, माधव ! मेरे हृदय के कवि ! मेरे हृदय में जो भावनाएँ उठती हैं, उन्हें तुम कितने मधुर शब्दों में कहते हो !

माधव : वे मधुर शब्द तुम्हारे हैं, कामकन्दला !

कामकन्दला : किन्तु तुम्हारी वीणा से मधुर नहीं हैं।

माधव : वह वीणा जो मेरे लिए अभिशाप बन चुकी है, जहाँ वह स्वर छेड़ती है वहीं से निर्वासित हो जाता हूँ !

कामकन्दला : किन्तु मेरे हृदय से निर्वासित नहीं हो सकते, माधव !

माधव : यदि तुम मेरी वीणा होती ! (**गहरी साँस लेता है।**)

कामकन्दला : (**मुस्कुराकर**) तो सदैव तुम्हारे हृदय में निवास करती ?

माधव : एक-एक भावना इस वीणा का तार बन कर गूँजती ! मेरा जीवन ही इस राग बनकर लताओं की तरह झूमता, स्वर फूलों की तरह खिलता !

कामकन्दला : और उसमें तुम्हारे प्रेम की सुगन्धि होती, माधव !

माधव : और तुम वायु बनकर उसे संसार के उपवन में ले जाती।

कामकन्दला : तो यह रहा उपवन। इस चाँदनी में इस उपवन को सुगंधि में भर दो न ?

माधव : जब तुम चाँदनी बनकर मेरे प्राणों को छू रही हो तो मेरा रोम-रोम उपवन बन गया है, कामकन्दले !

[दोनों उपवन में प्रवेश करते हैं। कामकन्दला गाती हुई फूल तोड़ती है। माधव उसे कामकन्दला के केशों में सुसज्जित करता है।]

दृश्यान्तर

[कक्ष में माधव और कामकन्दला]

माधव : अब मैं जाऊँगा, कामकन्दला ! प्रातः राजा के दूत मुझे देखेंगे तो तुम मेरे प्राणदंड का संवाद सुनोगी।

कामकन्दला : नहीं, वह प्राणदंड मैं ग्रहण करूँगी, क्योंकि मैंने तुम्हें आश्रय दिया है।

माधव : तब यह मेरे लिए दुहरा प्राणदंड होगा !

कामकन्दला : तो पहले यह दुहरी प्रेम की माला ग्रहण करो ! (**फूलों की माला शीशे के किनारे से उतारती है।**)

माधव : (**उठकर**) उसे उसी स्थान पर रहने दो, कामकन्दले ! यह माला तभी मेरे गले में पड़ेगी जब मैं तुम्हें अपने बाहुबल से जीत सकूँगा। संसार के सामने यह माला मेरे गले में पड़ेगी। मैं उपहार नहीं चाहता, मैं विजय-श्री चाहता हूँ।

[कामकन्दला माला वहीं टाँग देती है।]

कामकन्दला : तब यह माला यहीं रहेगी और आपकी विजय की प्रतीक्षा करेगी।

माधव : (**मुस्कुरा कर**) तब तक राजा कामसेन ने इसके धागे को काट दिया तो ?

कामकन्दला : माधव, सच्चे प्रेम की माला को भगवान् विष्णु का सुदर्शन चक्र भी नहीं काट सकेगा—भगवान् विष्णु का सुदर्शन चक्र भी।

[प्रेम और दृढ़ता की मुद्रा]

दृश्यान्तर

[कामकन्दला पुष्प-शैया पर लेटी है। सिरहाने माधव बैठा हुआ है। उसके हाथ में वीणा है। आकाश के तारे धूमिल पड़ रहे हैं।]

माधव : मेरी रागिनी सो गई ? (**वीणा अलग रखता है। उठ कर खिड़की से आकाश देखता है। तारे धूमिल हो कर अस्त हो रहे हैं**) प्रातःकाल हो रहा है··· (**सोचता हुआ**) अब मुझे चलना चाहिए···

[वीणा और त्रिशूल उठा कर चलना चाहता है। कामकन्दला की ओर प्रेम-दृष्टि से देखता है। सोचता है, रुक जाता है, वीणा और त्रिशूल कोने में रख कर कामकन्दला के कक्ष में दृष्टि डालता है। निराश दृष्टि लौट आती है। फिर अपने गले की सेल्ही से वस्त्र का एक टुकड़ा धीरे से फाड़ता है। फाड़ने की आवाज से वह स्वयं चौंक उठता है। फिर दीप-मंडल के ऊपर लगे हुए ढकने में अपना त्रिशूल लगाता है और उसकी कालिख से वस्त्र के टुकड़े पर लिखता है—

मेरे हृदय की रागिनी !

मैं जा रहा हूँ। तुम्हें सोता हुआ छोड़ कर जा रहा हूँ। क्षमा करना। मैं निर्वासित हूँ। यहाँ रह कर तुम्हें संकट में नहीं डाल सकूँगा। इस समय विदा लेता हूँ। अपने बाहुबल से ही तुम्हारी माला अपने गले में पहनूँगा। तीन महीने तक प्रतीक्षा करना। विदा !

—माधव

उठ कर आसन पर पत्र रखता है। फिर एकटक कामकन्दला की ओर देखता है। अपनी वीणा उठाता है। 'तून्'···एक तार धीरे से बज उठता है। वह चौंक कर तारों पर उँगली रख देता है। 'मेरा अभिशाप' झुँझला कर ओंठों में ही कहता है। फिर उसे अपने हृदय के समीप रख कर एक पग आगे बढ़ता है। दरवाजे से फिर लौटता है। पत्र आसन से उठा कर कामकन्दला के शिथिल हाथों में रखता है। फिर टकटकी बाँधकर उसके मुख की ओर देखता है। कामकन्दला गहरी निद्रा में सो रही है।

माधव धीरे से कह उठता है—मैंने ही रागिनी गा कर इसे सुला दिया। उसके नेत्रों से दो आँसू के बूँद टपक पड़ते हैं।

दरवाजे की ओर बढ़ता है। कभी धीरे, कभी तेजी से। फिर मुड़ कर कामकन्दला की ओर देखता है। तेजी से हृदय कड़ा कर दरवाजे से बाहर निकल जाता है।

कामकन्दला सोती रहती है। आकाश में एक तारा अस्त होता है। दीपक पर एक पतंगा गिरता है। वह जल कर तड़पता है। कामकन्दला सोते-सोते चौंक उठती है।]

दृश्यान्तर

[प्रातःकाल हो रहा है। माधव अपने मार्ग पर जा रहा है। अनेक प्रकार के दुर्गम मार्गों को वह पार कर रहा है। उसे पवन में ध्वनि आती सुनाई पड़ रही है—'कामकन्दला'। बादल गरजते हैं तो उसे ध्वनि मिलती है—'कामकन्दला'। हरिणों के झुंड उसे दीख पड़ते हैं—उनके भागने से उसे सुन

पड़ता है—'कामकन्दला'।

वह रुक जाता है। पेड़ के नीचे बैठता है। उसे पेड़ की अलग-अलग पत्तियों में कामकन्दला के नाम के अलग-अलग अक्षर दिखलाई पड़ते हैं: का-म-कन्द-ला·····का-म-कन्द-ला·····का-म-कन्द-ला।

वह चौंक उठता है। अशान्त होकर फिर मार्ग पर चलने लगता है।]

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का कक्ष। कामकन्दला चौंक कर उठती है। पुकारती है—]

कामकन्दला : माधव ? **(फिर दूसरी ओर देख कर)** माधव ? **(फिर तीसरी ओर देख कर)** माधव ?

[कोई उत्तर नहीं मिलता। सहसा अपने हाथ में पत्र देखती है। आकुलता से पढ़ती है।]

कामकन्दला : **(आह भर कर)** चले गए ! चले गए !

[गला रुद्ध हो जाता है।]

[पत्र पुनः ध्यान से पढ़ती है। उसका एक-एक अक्षर उसे छोटे-छोटे त्रिशूलों की भाँति दीख पड़ता है। उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं। पत्र के अक्षर धुँधले से जान पड़ते हैं। फिर प्रयत्न कर पढ़ने की चेष्टा करती है। अस्फुट शब्दों में धीरे-धीरे दुहराती है—

'यहाँ रह कर तुम्हें संकट में नहीं डाल सकूँगा'

और यह संकट मैं कहाँ ले जाऊँ ?

वस्त्र में सिरा छिपा कर सिसकने लगती है।]

दृश्यान्तर

[वन प्रांत। माधव झाड़ी-झंखाड़ पार कर आगे बढ़ रहा है। कभी वह पहाड़ों पर चढ़ता है, कभी उतरता है। कभी वह किसी पेड़ की छाया में विश्राम करता है। जिस समय वह पेड़ की छाया में विश्राम करता है तभी उस पर एक घुड़सवार डाकू आक्रमण करता है। बड़ी देर तक द्वंद्व होता है। अन्त में वह माधव के त्रिशूल से मारा जाता है। माधव उसके घोड़े की पीठ सहलाता है। फिर कूद कर चढ़ता है। घोड़े पर बैठ कर वेग से आगे बढ़ता है।]

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का कक्ष। कामकन्दला अपने आसन पर बैठी हुई शीशे के कोने में टँगे हुए हार को साश्रु देख रही है जिसके फूल मुरझाने लगे हैं।]

[वृन्दा का प्रवेश]

वृन्दा : स्वामिनी ! आपने शृंगार नहीं किया।

[कामकन्दला अपने ध्यान में डूबी है।]

वृन्दा : आपने शृंगार रहीं किया ? स्वामिनी !

कामकन्दला : (**चौंककर**) क्या कहा ?

वृन्दा : महाराज की सभा में जाना है, आपने शृंगार नहीं किया ?

कामकन्दला : मैं अव कहीं नहीं जाऊँगी, वृन्दा !

वृन्दा : स्वामिनी के बिना सभा सूनी हो जाएगी।

कामकन्दला : जिसका मन ही सूना हो गया है, वह किस सभा का शृंगार कर सकती है ?

वृन्दा : कुमार तो अभी होंगे।

कामकन्दला : वसन्त सब समय नहीं होता वृन्दा, वे आए और चले गए।

वृन्दा : आपने उन्हें रोका नहीं, स्वामिनी ?

कामकन्दला : यौवन भी कहीं रुकता है ? वे गए और उनके साथ मेरी कला भी चली गई !

वृन्दा : कला कहीं जाती नहीं है, स्वामिनी ! चन्द्रमा की कला घटते-घटते घट जाती है किन्तु वह फिर बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा तक पहुँच जाती है।

कामकन्दला : कौन कह सकता है, वह पूर्णिमा कभी होगी भी या नहीं !

वृन्दा : इतना निराश होने की बात नहीं है स्वामिनी ! यदि पूर्णिमा की बात न होती तो चन्द्र-दर्शन ही क्यों होता ?

कामकन्दला : मैं कितनी अभागिनी हूँ वृन्दा ! कि चन्द्र-दर्शन होते ही ग्रहण लग गया !

वृन्दा : किन्तु ग्रहण भी एक ही दिन रहता है, स्वामिनी !

कामकन्दला : यदि मेरी आयु भी उतने ही समय की रही तो ?

वृन्दा : ओह, स्वामिनी, यह आपको क्या हो गया ! मैं क्या समझती थी कि एक छोटा-सा काँटा ही त्रिशूल बन जाएगा, एक लहर से ही नदी में बाढ़ आ जाएगी ! हाय, मैं कुमार को पुकारने ही क्यों गई।

कामकन्दला : तूने बड़ा उपकार किया, वृन्दा ! किन्तु मैं क्या समझती थी कि मेरे सौभाग्य को ही देशनिकाले का दंड दिया जा रहा है। महाराज को भी

मैं जो अनुराग नहीं दे सकी वह एक अनजाने के हाथ मैंने लुटा दिया !

वृन्दा : अनुराग की यही तो विशेषता है, स्वामिनी ! उसके लिए अवसर और आदमी का बन्धन नहीं है।

कामकन्दला : किन्तु जिसे मैंने मुक्त किया, वृन्दा ! वही मुझे बन्धन में बाँध कर चला गया।

वृन्दा : तो आपने उन्हें जाने ही क्यों दिया ?

कामकन्दला : उन्होंने ऐसी रागिनी गाई कि मुझे निद्रा आ गई। वे मुझे सोती हुई छोड़ कर चले गए। हाय ! मुझे नींद क्यों आ गई ?

वृन्दा : इसमें आपका क्या वश, स्वामिनी !

कामकन्दला : (**सोचते हुए**) उन्होंने ऐसा दीपक राग गाया कि मैं स्वयं दीपक बनकर उनके विरह में रात-दिन जल रही हूँ !

वृन्दा : तो क्या लौट कर नहीं आएँगे !

कामकन्दला : जिसे देश-निर्वासन का दण्ड मिला है; वह कब और कैसे लौटेगा, यह कौन जान सकता है ! फिर भी उन्होंने वचन दिया है कि वे अवश्य लौटेंगे।

वृन्दा : महापुरुषों का वचन कभी झूठा नहीं होता, स्वामिनी !

कामकन्दला : वे महापुरुष हैं, वे महावीर हैं। उन्होंने मेरी माला स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा—यह माला तभी मेरे गले में पड़ेगी जब मैं तुम्हें अपने बाहुबल से जीत सकूँगा। संसार के सामने ही यह माला मेरे गले में पड़ेगी। मैं उपहार नहीं चाहता, मैं विजय-श्री चाहता हूँ।

वृन्दा : वे सचमुच ही महान् हैं स्वामिनी ! वे अवश्य ही आवेंगे, इसका मुझे विश्वास है। उनकी प्रतीक्षा कीजिए, स्वामिनी !

कामकन्दला : जिसे एक पल भी एक वर्ष के समान ज्ञात होता है, वह किस साहस से प्रतीक्षा करे !

वृन्दा : ऐसे महापुरुष की प्रतीक्षा करना भी बड़े सौभाग्य की बात है। वे अवश्य ही आवेंगे, स्वामिनी !

कामकन्दला : यदि उस समय तक मैं जीवित रही !

[शून्य दृष्टि से माला की ओर देखती है। इस माले की तरह मैं भी पल-पल में मुरझा रही हूँ ! नेत्रों से दो अश्रु]

दृश्यान्तर

[महाराज कामसेन की सभा। सब सभासद यथास्थान बैठे हैं।]

कामसेन : वह अभिमानी ब्राह्मण राज्य से निकल गया, महामन्त्री ?

महामन्त्री : हाँ महाराज ! गुप्तचरों से मुझे सूचना मिल गई कि वह राज्य के बाहर हो गया ।

कामसेन : वह गुणी अवश्य था किन्तु उसने कामकन्दला को अपने संगीत से मूर्च्छित कर दिया । वह अवश्य कोई जादू जानता था ।

महामन्त्री : महाराज, मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ ।

कामसेन : कामकन्दला कहाँ है ?

महामंत्री : वह अभी तक राजसभा में नहीं आई ।

कामसेन : क्या आज नृत्य नहीं होगा ?

महामंत्री : नहीं महाराज ! कामकन्दला की दासी वृन्दा आई थी । उसने यह पत्र दिया है ।

कामसेन : पत्र सुनाइए ।

महामन्त्री : (पत्र पढ़ते हुए—)

महाराज की सेवा में प्रणाम । दासी यह निवेदन करना चाहती है कि कल की मूर्च्छा का प्रभाव मुझ पर अभी तक है । रह-रह कर मुझे फिर मूर्च्छा आ जाती है । इसलिए राजसभा में आना मेरे लिए बहुत कठिन है । मैं तीन महीने का अवकाश चाहती हूँ ।

महाराज मेरी विवशता के लिए क्षमा करें ।

दासी
कामकन्दला

कामसेन : (**सोचते हुए**) वही बात है, जो मैंने सोची थी ।

महामंत्री : महाराज ! बड़े आश्चर्य की बात है, संगीत का ऐसा प्रभाव तो कभी नहीं सुना गया ।

कामसेन : महामन्त्री ! राजवैद्य को सूचना दो कि वे कामकन्दला को जाकर देखें और मूर्च्छा दूर होने की औषधि दें ।

महामंत्री : जो आज्ञा ।

[राजा कामसेन के मुख पर चिन्ता की गहरी मुद्रा है ।]

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का कक्ष । कामकन्दला शैया पर लेटी हुई है । परिचारिकाएँ पास हैं । राजवैद्य कामकन्दला की परीक्षा कर रहे हैं । सबके मुख पर उदासी और चिन्ता है ।

कामकन्दला को औषधि दी जाती है ।]

दृश्यान्तर

[राजा कामसेन की सभा]

कामसेन : महामन्त्री ! कामकन्दला की मूर्च्छा दूर हुई ?

महामन्त्री : नहीं, महाराज !

कामसेन : राजवैद्य ने परीक्षा की ?

महामन्त्री : हाँ, महाराज ! परीक्षा की।

कामसेन : उन्होंने क्या निदान किया ?

महामन्त्री : अभी उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया।

कामसेन : राजवैद्य से कहिए कि वे सावधानी से औषधि दें।

महामन्त्री : जैसी आज्ञा।

दृश्यान्तर

[माधव का घोड़ा बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है। आगे एक बड़ा नाला पड़ता है। माधव अपने घोड़े से उतरता है। एक आदमी किनारे बैठा हुआ मछलियाँ मार रहा है। उसकी बंसी पानी में तैर रही है।]

मछलीमार : **(अपने आप)** अय, हय ! क्या नाचती हुई आती है। लेकिन साफ निकल जाती है ! आओ ! आओ ! लो, वह गई ! जैसे मेरी बंसी को पहचानती है। कब तक नहीं आएगी। मैं दिन भर यहाँ बैठा रहूँगा।

[और पसर कर बैठ जाता है।]

माधव : **(पुकार कर समीप आता हुआ)** ए बंसी वाले !

मछलीमार : **(जैसे सुना ही नहीं)** तू नाचना जानती है तो मैं भी बंसी डालना जानता हूँ। **(सर हिलाकर)** हाँ ! मैं भी गहरा खिलाड़ी हूँ ! **(डाँट कर)** चल ! चल ! **(बंसी पानी में डूबती है)** हाँ, **(खुशी से उछल कर)** आ गई ! आ गई !! आखिर जाएगी कहाँ। मेरी बंसी ऐसी-वैसी थोड़ी है। आ गई न ? मैं भी विक्रमाजीत हूँ। आ गई न ?

माधव : **(समीप आकर)** क्या आ गई, भाई ?

मछलीमार : मेरी प्यारी। मेरी प्यारी आ गई न। **(माधव को देखकर चौंकते हुए)** ऐं ? ऐं ? तुम कौन ?

माधव : यह कौन प्यारी है, तुम्हारी ?

मछलीमार : **(इशारा करते हुए)** मछली। मैं···मैं···मैं मछली को कह रहा था और किसी को नहीं···मछली को···मछली को···

माधव : **(मुस्कराते हुए)** आ गई हाथ ?

मछलीमार : **(शरमाने का भाव दिखलाते हुए)** हाँ महाराज !आ गई। बड़ी देर से बैठा हूँ। **(बंसी खींचता है)**

माधव : यह नाला बहुत गहरा है ?

मछलीमार : महाराज, बहुत गहरा। इसमें बड़ी-बड़ी मछलियाँ हैं। **(बंसी खींचते हुए)** बस, महाराज धीरज की बात है।

माधव : हाँ, धीरज तो हर बात में चाहिए।

मछलीमार : **(चापलूसी के स्वर में)** वाह, क्या बात कही है, महाराज ने।

माधव : मैं यह नाला पार करना चाहता हूँ।

मछलीमार : कहाँ जाएँगे महाराज ? विक्रमाजीत के दरबार में ?

माधव : क्या इस नाले के उस पार महाराज विक्रमादित्य का राज्य है ?

मछलीमार : हाँ महाराज, विक्रमाजीत महाराज बड़े अच्छे राजा हैं। किसी का दु:ख नहीं देख सकते।

माधव : मैं उन्हीं के पास जाना चाहता हूँ। उनका नाम सुनकर बहुत दूर से आ रहा हूँ।

मछलीमार : तो आप जरूर उनके दर्शन कीजिए। **(हाथ फैलाकर)** वो भी राजा, आप भी राजा। **(इस अभिनय में उसके हाथ से बंसी की रस्सी छूट जाती है। वह घबरा कर चिल्लाते हुए कहता है)** वह गई, महाराज ! वह गई, महाराज ! हाय, वो गई।

[माधव अपना त्रिशूल इस अंदाज से फेंकता है कि रस्सी को छेदता हुआ जमीन में चुभ जाता है।]

मछलीमार : **(प्रसन्नता से उछल कर)** वाह महाराज, वाह महाराज ! आपका निशाना बड़ा सच्चा है। महाराज विक्रमाजीत आपको अपना सरदार जरूर बनाएँगे। बड़े अच्छे महाराज हैं। आप भी अच्छे, वो भी अच्छे।

[जमीन से त्रिशूल निकालते हुए रस्सी हाथ में लेता है।]

माधव : तो मैं यह नाला कैसे पार करूँ ?

मछलीमार : महाराज ! उस पश्चिम की तरह नाला बहुत सँकरा हो गया है। आप बड़ी आसानी से पार कर सकते हैं। और आपका घोड़ा, क्या नाम से, बड़ा अच्छा घोड़ा है।

माधव : अच्छा तो मैं जाता हूँ। तुम बहुत अच्छे आदमी हो।

[घोड़े पर सवार होता है।]

मछलीमार : क्या अच्छा हूँ, महाराज। मछली हाथ में आकर निकल जाती है। **(मुँह बनाता है।)**

माधव : (घोड़े की बाग छोड़ते हुए) हाथ ही में रहेगी।

मछलीमार : मैं साथ चलता, महाराज ! पर क्या नाम से, महाराज ! ये हाथ में हैं।

[मछलीमार माधव की ओर देखकर वंसी की रस्सी खींचता है। माधव घोड़ा दौड़ाते हुए दृष्टि से ओझल हो जाता है।]

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का कक्ष। वह शैया पर सोई है। मुख से 'मा···ध···व' 'मा···ध···व' नाम उच्चारण करती है।

परिचारिकाओं के साथ राजवैद्य फिर आते हैं। कामकन्दला मौन हो जाती है। राजवैद्य कामकन्दला की नाड़ी की परीक्षा करते हैं।

वे कुछ निश्चय नहीं कर पाते।

कामकन्दला को फिर औषधि दी जाती है।]

दृश्यान्तर

[राजा कामसेन का कक्ष। राजा कामसेन अपने आसन पर बैठे हैं। महामंत्री उनके सामने हैं।]

कामसेन : (चिन्ता के स्वरों में) महामन्त्री ! कामकन्दला की मूर्च्छा अभी तक दूर नहीं हुई ?

महामन्त्री : नहीं महाराज।

कामसेन : राजवैद्य औषधि दे रहे हैं ?

महामन्त्री : हाँ महाराज।

कामसेन : उन्होंने मूर्च्छा के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं ?

महामन्त्री : महाराज, वे कहते हैं कि उन्होंने कामकन्दला की मूर्च्छा के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ देख डाले पर ऐसी मूर्च्छा के लक्षण उन्हें कहीं नहीं मिले।

कामसेन : तो क्या उसकी मूर्च्छा अच्छी नहीं होगी ? महामन्त्री, राजवैद्य से कहिए कि कामकन्दला को अच्छा करने पर उन्हें पुरस्कार दिया जाएगा।

महामन्त्री : जो आज्ञा।

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का कक्ष। वह शैया पर मूर्च्छित है।

परिचारिकाओं के साथ राजवैद्य फिर आते हैं। परीक्षा करके चले जाते हैं।]

दृश्यान्तर

[उज्जयिनी का राज्य-उपवन। अनेक प्रकार के पुष्प खिले हैं। दूर-दूर के रास्ते से माधव घोड़ा दौड़ाते हुए आता है। सामने एक साफ-सुथरा मकान है। उसके द्वार पर चूड़ामणि माली अनेक प्रकार के फूलों के गजरे बना रहा है। संध्या का समय है। माधव के घोड़े की आहट सुन कर वह उस ओर देखता है।

माधव घोड़े से उतर कर उसके पास आता है।]

चूड़ामणि : कौन हो महाराज ?

माधव : भाई, महाराज विक्रमादित्य की नगरी अभी कितनी दूर है ?

चूड़ामणि : यही तो उज्जैन नगरी है, महाराज, यह राजा का उपवन नहीं देखते ?

माधव : यह राजा का उपवन है ? बड़ा सुन्दर है ?

चूड़ामणि : तुम कौन हो महाराज ? परदेसी मालूम होते हो ?

माधव : हाँ, भाई परदेसी हूँ। सुनता हूँ, महाराज बड़े दयावान् हैं। उनके राज्य में कोई दुखी नहीं है। महाराज अपनी प्रजा का दुख अपने ऊपर ले लेते हैं।

चूड़ामणि : हाँ महाराज, बात तो ऐसी ही है। जिस तरह पूर्णिमा की शीतल चाँदनी से जगत सुखी होता है उसी तरह महाराज के राज्य में सभी सुखी हैं।

माधव : तुम तो पढ़े-लिखे जान पड़ते हो।

चूड़ामणि : महाराज, विक्रमादित्य महाराज के राज्य में कौन पढ़ा-लिखा नहीं है ? एक-एक आदमी पढ़ा-लिखा है, यह मैं रेखा खींच कर कह सकता हूँ।

माधव : मेरे भाग्य में सुख की रेखा खींच दे तो बात है।

चूड़ामणि : क्या तुम दुखी हो, महाराज ? तुम तो संगीत विद्या जानते हो। यह वीणा जो तुम्हारे हाथ में है।

माधव : यही वीणा तो मेरे दुर्भाग्य की रेखा है। इसे मैं छोड़ भी नहीं सकता और इसके रहते मुझे कभी सुख भी नहीं मिल सकता।

चूड़ामणि : आज यह पहेली तो महाराज ही सुलझाएँगे।

माधव : मैं उनके दर्शन कर सकता हूँ ?

चूड़ामणि : क्यों नहीं ? वे प्रातःकाल इसी उपवन में श्री महाकालेश्वर का पूजन करने आते हैं। तुम यहीं पर उनके दर्शन कर सकते हो।

माधव : उनके पूजन में बाधा तो न होगी ?

चूड़ामणि : प्रजा की रक्षा करना ही वे पूजन समझते हैं।

माधव : वे सचमुच ही महाराज हैं। तुम्हारा घर कहाँ है भाई ?

चूड़ामणि : इसी उपवन से लगा हुआ है। यह क्या है। मैं महाराज के उपवन का माली हूँ।

माधव : मेरा बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हारे दर्शन हो गए।

चूड़ामणि : यह तो हमारा सौभाग्य है महाराज, कि आपकी कुछ सेवा बन जाए।

माधव : (**सोचते हुए**) तुम अपने घर में मुझे कुछ दिनों के लिए जगह दे सकते हो ?

चूड़ामणि : आप हमको बहुत मान देते हैं महाराज।

माधव : नहीं, महाराज विक्रमादित्य का माली कोई साधारण आदमी नहीं है।

चूड़ामणि : यह आपकी कृपा है महाराज, जो ऐसा सोचते हैं। पर महाराज, आपको खाने के लिए कन्द-मूल ही मिलेंगे।

माधव : क्या कहा ? कन्द-मूल ?

चूड़ामणि : हाँ, महाराज, यही रूखा-सूखा भोजन।

माधव : (**मन ही मन धीरे-धीरे दुहराता हुआ**) कन्द-मूल···कन्द-मूल···काम-कन्द···ला।

चूड़ामणि : (**जिज्ञासा**) कामकन्दला ?···क्या सोच रहे हो, महाराज ?

माधव : कुछ नहीं···कुछ नहीं, भाई मैं तुम्हारे यहाँ रहूँगा। मैं रहूँगा। मैं तुम्हारा नाम जान सकता हूँ, भाई !

चूड़ामणि : मेरा नाम ? मेरा नाम चूड़ामणि है, महाराज ! और महाराज, आपका ?

माधव : मेरा नाम माधव।

चूड़ामणि : माधव ? नाम तो बड़ा अच्छा है, महाराज। नाम अच्छा है तो आप भी अच्छे होंगे, महाराज। चलिए, चलिए, घर चलिए। घोड़ा यहीं बँध जाएगा। (**पुकार कर**) ओ सदाशिव ! पाहुन आए हैं। उनका घोड़ा बाँधो। (**माधव से**) छोड़ दो, महाराज, घोड़े को। अन्दर चले आओ।

[चूड़ामणि माधव को अन्दर ले जाता है।]

दृश्यान्तर

[प्रातःकाल राज्य के उपवन में तरह-तरह के पक्षी चहक रहे हैं। फूलों पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। लताएँ झूम रही हैं। चारों ओर उल्लास का वातावरण है। श्री महाकालेश्वर का मन्दिर दृष्टिगोचर होता है। चारों ओर बड़ी सुन्दर-सुन्दर क्यारियाँ बनी हुई हैं। फुहारे चल रहे हैं।

सहसा तुरही का नाद होता है। उसके बाद ही आवाज़ आती है :

म-हा-रा-ज···पू-ज-न···के···लि-ए···आ···र-हे हैं।

माधव शीघ्र ही मन्दिर के पार्श्व से निकलता है, महाकालेश्वर को प्रणाम करता है और मन्दिर की बाहरी दीवाल पर पत्तियों का रंग लेकर अपने त्रिशूल से लिखता है :

धन गुण विद्या के धनी, जग में आवत जाहिं।
जो दुखिया को दुख हरै, सो नर जग में नाहिं।

माधव यह लिख कर चारों ओर देखता है फिर धीरे से दूसरी ओर चला जाता है।

कुछ क्षणों के उपरान्त महाराज विक्रमादित्य आते हैं। कौशेय वस्त्र, माथे पर त्रिपुंड, बाल घुँघराले, बड़े-बड़े नेत्र, उठी हुई नासिका, पतले होंठ, हृदय पर मोतियों की माला और यज्ञोपवीत, चरणों में पादुकाएँ, भव्य वेश। आगे-आगे पुरोहित जा रहा है।

वे मन्दिर के भीतर चले जाते हैं। शंखनाद। फिर घंटियों का कलरव होता है। श्री शिव महिम्न स्तोत्र सुन पड़ता है :

महिम्नः पारंते परमविदुषी यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामवधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः
अतीत पन्थानं तव च महिमा वाङ्-मनसयो
रतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतित न मनः कस्य न वचः
... ...

इसके उपरान्त महाराज बाहर निकलते हैं। उनके हाथ में एक स्वर्ण-पात्र है जिसमें चन्दन और पुष्प आदि रखे हुए हैं। आरती लिए हुए पंडित आगे-आगे चलता है। महाराज पीछे चले जा रहे हैं। वे मन्दिर के उस स्थान पर आते हैं जहाँ माधव ने दोहा लिखा है। वे भौंहें सिकोड़ कर ध्यान से उसे देखते हैं। फिर कुछ समीप आकर उसे पढ़ते हैं :

धन गुण विद्या के धनी जग में आवत जाहिं।
जो दुखिया को दुख हरैं सो नर जग में नाहिं॥

वे चारों ओर देखते हैं। एक बार फिर मन्दिर की दीवार पर उनकी दृष्टि जाती है और वे दोहे की अन्तिम पंक्ति फिर दुहराते हुए धीरे-धीरे पढ़ते हैं :

'जो दुखिया को दुख हरैं सो नर जग में नाहिं।'

वे सोचते हुए दोहे के अन्तिम शब्दों को 'नर जग में नाहिं'। फूलों से मिटाते हैं और पात्र में रखे हुए चन्दन में वेलपत्र डुबा कर लिखते हैं—

विक्रम जग माँहि।

पूरा दोहा इस प्रकार दिखलाई देता है—

धन गुण विद्या के धनी, जग में आवत जाहिं।
जो दुखिया को दुख हरैं सो विक्रम जग माँहि॥

दोहे को ध्यान से देख कर महाराज चले जाते हैं।]

दृश्यान्तर

[उसी मन्दिर का पार्श्व स्थान। माधव वह दोहा बड़े ध्यान से पढ़ रहा है—

धन गुण विद्या के धनी जग में आवत जाहिं।
जो दुखिया को दुख हरैं सो विक्रम जग माँहि॥

[बार-बार दुहराता है—

सो विक्रम जग माँहि
सो विक्रम जग माँहि
सो विक्रम जग माँहि

उसकी मुद्रा प्रसन्नता से भर जाती है। वह सोचता हुआ फिर पत्तों के हरे रंग में त्रिशूल से उस दोहे के नीचे लिखता है—

विरह व्यथा जानत हुते, राघव सीतानाथ।
विरह व्यथा सोई सहै, माधव होय अनाथ॥

ध्यान से पढ़ता हुआ उदास मुद्रा में एक-एक अक्षर देखता है। उसके नेत्रों से दो बड़े-बड़े अश्रु गिर पड़ते हैं।]

दृश्यान्तर

[उसी मन्दिर का पार्श्व स्थान। महाराज विक्रमादित्य उस दोहे को ध्यान से पढ़ रहे हैं—

विरह व्यथा जानत हुते, राघव सीतानाथ।
विरह व्यथा सोई सहै, माधव होय अनाथ॥

वे चिन्तित होकर चारों ओर देखते हैं। फिर दोहे की अन्तिम पंक्ति मिटा कर लिखते हैं—

बल विक्रम सों अवधपुर, लौटे सीता साथ।

पूरा दोहा इस प्रकार दिखलाई देता है—

विरह व्यथा जानत हुते, राघव सीतानाथ।
बल विक्रम सों अवधपुर, लौटे सीता साथ।।

वे चिन्तित मुद्रा में उच्छ्वास छोड़ कर चले जाते हैं।]

दृश्यान्तर

[महाराज विक्रमादित्य की सभा। सब सभासद यथास्थान बैठे हैं। महाराज विक्रमादित्य का सिंहासन एक मेहराब के नीचे है जिसके दोनों ओर एक-एक हाथी घुटने टेक कर बैठे हैं। बीच में सूर्य की चक्राकार प्रतिमा है। जिस आसन पर वे बैठे हैं वह दोनों ओर सिंह की मूर्तियों की पीठ पर रखा हुआ है।

महाराज विक्रमादित्य चिन्तित मुद्रा में हैं। वे अपने सभासदों की ओर मुख कर कहते हैं—

सभासदो, उज्जयिनी में एक दुखी व्यक्ति है। वह गुणी है, और मैं गुणी का दुःख सहन नहीं कर सकता।]

मंत्री : वह कौन व्यक्ति है, महाराज ?

विक्रमादित्य : उसने अपना कोई परिचय नहीं दिया। केवल उसका नाम ज्ञात हुआ है, वह है माधव।

मंत्री : वह कहाँ है, महाराज ?

विक्रमादित्य : यह भी मैं नहीं जानता। श्री महाकालेश्वर के पूजन से लौटते समय मैंने मन्दिर की दीवार पर उसके दुःख की गाथा लिखी हुई पाई। वह किसी के वियोग में दुखी है।

मंत्री : महाराज, जीवन में वियोग और संयोग तो हुआ ही करता है। यह कोई विशेष दुख नहीं कहा जा सकता।

विक्रमादित्य : यह विशेष दुख ही ज्ञात होता है। उसने अपने वियोग की तुलना महाराज रामचन्द्र के वियोग से की है। उसने अपने दुःख में यह दोहा लिखा है—

विरह व्यथा जानत हुते, राघव सीतानाथ।
विरह व्यथा सोई सहै, माधव होय अनाथ।।

एक सभासद् : महाराज, वह कवि भी ज्ञात होता है।

विक्रमादित्य : हाँ, कवि है। उसके दोहे का अन्तिम शब्द 'होय अनाथ' इस बात की सूचना देता है कि वह असहाय है और उसे संयोग की आशा कम है।

मंत्री : इस सम्बन्ध में आपने क्या विचार किया, महाराज ?

विक्रमादित्य : मैं जब अपनी प्रजा के साधारण व्यक्ति को दुखी नहीं देख सकता तो एक कवि को कैसे दुखी देख सकता हूँ ? मैंने उसके दोहे के उत्तर में लिख दिया है—

विरह व्यथा जानत हुते, राघव सीतानाथ।
बल विक्रम सो अवधपुर, लौटे सीता साथ ॥

मंत्री : महाराज ने बहुत सुन्दर उत्तर लिखा। 'बल-विक्रम' शब्द से महाराज विक्रमादित्य के बल का भी बोध होता है।

विक्रमादित्य : तुमने बात समझ ली, मंत्री ! इस प्रकार मैंने उसकी सहायता का वचन दे दिया है। अब प्रश्न केवल माधव का पता पाने का है।

मंत्री : महाराज की आज्ञा होगी तो उसका शीघ्र ही पता लग जाएगा।

विक्रमादित्य : तीन दिन के भीतर उसका पता लग जाना चाहिए। नगर में घोषणा कर दो कि जो व्यक्ति माधव का पता लगाएगा उसे राज्य की ओर से पुरस्कार दिया जाएगा।

मंत्री : जो आज्ञा।

दृश्यान्तर

[राजमार्ग में अनेक व्यक्तियों के मुख बारी-बारी से एक-दूसरे से प्रश्नोत्तर कर रहे हैं—]

एक : माधव को देखा है ?

दूसरा : नहीं।

एक : माधव को कहीं देखा है ?

दूसरा : नहीं।

एक : माधव को कहीं देखा है ?

दूसरा : नहीं।

एक स्त्री : माधव को कहीं देखा है ?

दूसरी स्त्री : नहीं।

पहला वृद्ध : माधव को देखा है ?

दूसरा वृद्ध : नहीं।

पहिली बालिका : माधव को मेरी गुड़िया के साथ देखा है ?

दूसरी बालिका : नहीं, मेरी गुड़िया भी वह ले गया होगा।
पहला युवक : माधव कहाँ है ?

दृश्यान्तर

[माधव का घर। माधव की माता सुजाता वेदिका के सामने बैठी है। वेदिका की दो रेखाओं पर पुष्पों की पंक्तियाँ सजी हैं। तीसरी रेखा के ऊपरी सिरे पर एक फूल रखा है जिससे इस बात का संकेत मिलता है कि माधव को गए दो महीने व्यतीत हो चुके हैं और अब तीसरा महीना आरम्भ हो गया है।]

(**वह भगवान शंकर से बार-बार पूछती है—**) माधव कहाँ है ? माधव कहाँ है ? माधव कहाँ है ? बोलो, भगवान् शंकर !

[उसी समय सुलोचन प्रवेश करता है।]

सुजाता : (**सुलोचन से**) माधव कहाँ है ?
सुलोचन : अरे, माँ ! माधव होगा किसी बड़े राजा के राज्य में और तुम यहाँ आँसू बहा रही हो। अब दो महीने तो बीत चुके हैं। बस, लौटने के फेर में होगा लाव-लश्कर के साथ। आते ही महाराज से कहेगा—माफी माँगो। महाराज पहले तो कुछ सोच में पड़ जाएँगे, फिर माधव के बड़े भारी लश्कर को देखेंगे। इधर भी, उधर भी ! फिर कहेंगे, माधव ! मैं तुम्हें क्या माफ करूँ ! तुम्हीं मुझे माफ कर दो। (**विश्वास के साथ**) ये बात !
सुजाता : (**कुछ सान्त्वना पाकर**) तो अब आएगा माधव ?
सुलोचन : आने की कुछ न पूछो माँ ! बिजली का उजाला होता है न, तो वह कभी कहता है कि मैं अब चमकने वाला हूँ ? काले-काले बादलों के बीच में झक् से चमक उठता है, उसी तरह माधव पहले तो कुछ पत्र भेजेगा नहीं, धक् से आ जाएगा।
सुजाता : (**प्रसन्न होकर**) ठीक है, बेटा !
सुलोचन : माँ, मैंने अब मुँह से घुँघरू बजाने का अच्छा अभ्यास कर लिया है। सुनोगी ? (**घुँघरू बजाने के लिए मुँह बनाता है।**)
सुजाता : बेटा, भगवान शंकर की पूजा कर लूँ।

[सुलोचन निराश होकर दूसरी तरह मुँह बना कर रह जाता है।]

दृश्यान्तर

[उज्जयिनी में लोग माधव का पता लगाने के लिए उत्सुक हैं।]

एक पुरुष : माधव कहाँ है ?

दूसरा : पता नहीं।

एक स्त्री : माधव कहाँ है ?

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का कक्ष। कामकन्दला अपनी शैया पर लेटी है। वह एकाएक चौंक उठती है—'माधव कहाँ है ?' उसकी दृष्टि सूखी हुई माला पर पड़ती है।]

दृश्यान्तर

[दूसरा दिन। महाराज विक्रमादित्य की सभा। महाराज चिन्तित मुद्रा में।]

विक्रमादित्य : माधव का पता चला ?

मंत्री : महाराज, मैंने अनेक गुप्तचर भेजे हैं। आशा है, कल तक उसका पता चल जाएगा।

विक्रमादित्य : ऐसा ज्ञात होता है कि उसने अपने गुप्त रहने के सब साधन जोड़ लिए हैं। यह भी सम्भव हो सकता है कि वह मुझसे मिलने का कोई अवसर खोजना चाहता है। वह अपने वियोग की कथा मुझे ही सुनाना चाहता है पर मेरे पास आने का उसे साहस नहीं हो रहा है, या वह अपना काम बहुत सावधानी से करना चाहता है।

मंत्री : आपका अनुमान सही है, महाराज ! किन्तु आपके गुप्तचर उसका पता लगा ही लेंगे।

विक्रमादित्य : मैं समझता हूँ कि यह काम गुप्तचरों से नहीं होगा। जिस स्थान पर माधव ने अपने विरह की कथा लिखी है, उसी स्थान पर श्री महाकालेश्वर के मन्दिर में यदि कोई विरह का गीत गा सके तो माधव विवश होकर वहाँ आ ही जाएगा। वह अपने को रोक नहीं सकेगा।

मंत्री : महाराज ठीक सोच रहे हैं।

विक्रमादित्य : विरह का गीत कौन अच्छे ढंग से गा सकता है ?

मंत्री : महाराज ! चन्द्रकान्ता नामी गायिका के कंठ में बड़ा माधुर्य है।

विक्रमादित्य : उसे कल प्रातःकाल, मेरी पूजा के अनन्तर गीत गाने का आदेश दिया जाए।

मंत्री : जैसी आज्ञा।

विक्रमादित्य : मुझे विश्वास है कि इस उपाय से माधव का पता चल जाएगा। वह गायिका माधव को लेकर दूसरे दिन राज-सभा में उपस्थित हो।

मंत्री : जो आज्ञा।

दृश्यान्तर

[**स्थान :** श्री महाकालेश्वर का मन्दिर। मन्दिर के एक उच्च स्थान पर बैठ कर चन्द्रकान्ता वीणा लेकर विरह का गीत गा रही है।

जब उसका गान उत्तान होता है तो मन्दिर के एक पार्श्व से निकल कर माधव धीरे-धीरे सामने आता है। आकर वह नीचे ही बैठ जाता है और ध्यान से चन्द्रकान्ता की वीणा और उसके साथ गाया हुआ गान सुनने लगता है। चन्द्रकान्ता की दृष्टि जब माधव पर पड़ती है तब वह अपना गान समाप्त कर वीणा को पृथ्वी पर रख देती है और अपना अंचल आँखों में लगा कर सिसक-सिसक कर रोने लगती है। माधव उसके समीप आता है।]

माधव : (**सान्त्वना देते हुए**) तुम दुःखी हो देवी ?

[चन्द्रकान्ता कुछ नहीं बोलती।]

माधव : (**फिर आग्रहपूर्ण शब्दों में**) तुम रो रही हो, देवी ! महाराज विक्रमादित्य के राज्य में ? वियोग का गीत तुम किसलिए गा रही हो ?

[चन्द्रकान्ता फिर कुछ नहीं बोलती।]

माधव : बोलो देवी, तुम वियोगिनी मालूम देती हो।

[चन्द्रकान्ता और अधिक सिसकने लगती है।]

माधव : मैं तुम्हारी सब तरह से सहायता कर सकता हूँ देवी !

चन्द्रकान्ता : (**सिसकते हुए**) मुझे···किसी की···सहायता···नहीं···चाहिए। मैं मैं अभागिनी हूँ···सब तरह से अभागिनी हूँ।

माधव : इस तरह निराश नहीं होना चाहिए। महाराज विक्रमादित्य महान् हैं, वे किसी का दुःख नहीं देख सकते।

चन्द्रकान्ता : मैं महाराज के सामने कुछ निवेदन नहीं करना चाहती।

माधव : तो इस मन्दिर की दीवाल पर कुछ लिख दो। प्रातःकाल वे श्री महाकालेश्वर का पूजन करने के लिए आवेंगे तो तुम्हारी वियोग गाथा पढ़ लेंगे।

चन्द्रकान्ता : उन्हें इतना अवकाश ही कहाँ है ?

माधव : नहीं-नहीं, वे सब कामों के लिए समय निकाल लेते हैं।

चन्द्रकान्ता : (**सिर हिला कर**) तो यह बात है ? नहीं···नहीं···मैं उन्हें इतना भी कष्ट नहीं देना चाहती।

माधव : तो मैं आपका कष्ट दूर करने का साहस कर सकता हूँ ?

चन्द्रकान्ता : नहीं, मेरे दुःख को कोई नहीं समझ सकता।

माधव : मैं समझ सकता हूँ, देवी !

चन्द्रकान्ता : क्या तुम ऐसी नारी का दुःख समझ सकते हो जिसे उसका प्रेमी छोड़ कर चला गया है ?

माधव : अवश्य समझ सकता हूँ, देवी ? अपना दुःख मुझसे कहो। मुझमें जितनी शक्ति होगी उतनी मैं सहायता करूँगा।

चन्द्रकान्ता : मैं आपका नाम जान सकती हूँ ?

माधव : नाम जान कर क्या करेंगी, देवी ? मैं एक परदेशी हूँ, अपने दुख से दुखी हूँ।

चन्द्रकान्ता : जो स्वयं दुख से दुखी है, वह दूसरे का दुख क्या दूर करेगा ?

माधव : **(हतप्रभ होकर)** सचमुच मैं क्या दुख दूर कर सकता हूँ ! किन्तु अपनी सहानुभूति तो तुम्हें दे सकता हूँ ।

चन्द्रकान्ता : जो कुछ नहीं कर सकते, उनकी सहानुभूति का कोई अर्थ नहीं है।

[फिर सिसकने लगती है।]

माधव : **(दृढ़ता से)** मैं इतना निर्बल नहीं हूँ, देवी ! मेरे हाथ में त्रिशूल है।

चन्द्रकान्ता : हाँ, पर जब मैं अपने उपकारी का नाम भी नहीं जानती तो उसका उपकार लेना मैं स्वीकार नहीं कर सकती !

माधव : यदि ऐसी बात है तो सुनो, देवी ! मेरा नाम माधव है !

चन्द्रकान्ता : क्या तुम भी किसी के वियोग में दुखी हो ?

माधव : हाँ देवी ! एक त्रिशूल मेरे हाथ में है, दूसरा त्रिशूल मेरे हृदय में है।

चन्द्रकान्ता : तब हम दोनों एक ही दुख से दुखी हैं।

माधव : समान दुःख वाले एक-दूसरे की सहायता कर सकते हैं।

चन्द्रकान्ता : इसीलिए तुम्हें मुझसे इतनी सहानुभूति हुई। तो चलो मेरे साथ। मैं तुम्हें अपनी कथा सुनाऊँगी।

माधव : क्या चलना आवश्यक है, देवी ? मैं कहीं बाहर नहीं जाना चाहता।

चन्द्रकान्ता : तुम मेरी सहायता का वचन दे चुके हो माधव !

माधव : **(शून्य में देखते हुए)** हाँ, वचन दे चुका हूँ।

चन्द्रकान्ता : तो चलो, मेरे साथ ।

[माधव शून्य में देखते हुए चन्द्रकान्ता के साथ जाता है।]

दृश्यान्तर

[अपने एकान्त कक्ष में श्री विक्रमादित्य टहल रहे हैं। उनके मुख पर चिन्ता की रेखाएँ हैं। वे ठहर-ठहर कर द्वार की ओर देख लेते हैं।

चन्द्रकान्ता और माधव का प्रवेश। दोनों प्रणाम करते हैं।]

विक्रमादित्य : **(उत्सुकता और प्रसन्नता से देखते हुए)** अच्छा, तुम हो ?

चन्द्रकान्ता : हाँ, महाराज, आपकी सेविका चन्द्रकान्ता। और ये हैं ब्राह्मण-कुमार माधव। (**माधव पुनः प्रणाम करता है।**)

विक्रमादित्य : आओ, ब्राह्मण-कुमार! मैं तुम्हारे सम्बन्ध में चिंतित था। (**माधव की वीणा और त्रिशूल देखकर**) अच्छा, तुम कवि के साथ गायक और वीर दोनों ही हो? (**चन्द्रकान्ता से**) चन्द्रकान्ता! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ! राज्य की ओर से तुम्हें पुरस्कार मिलेगा, तुम जाओ।

चन्द्रकान्ता : (**प्रणाम करती हुई**) जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

विक्रमादित्य : (**प्रसन्नता से माधव के कन्धे पर हाथ रखते हुए**) तो तुम हो माधव? मेरे राज्य में आकर मुझसे आँखमिचौली खेलने वाले। कहो, तुम्हें क्या दण्ड दिया जाए?

माधव : देश-निर्वासन।

विक्रमादित्य : देश-निर्वासन?

माधव : हाँ, महाराज! जीवन में यह दण्ड इतनी बार मिला है कि मुझे इससे प्रेम हो गया है, महाराज। आत्मीय बन्धु की भाँति यह मेरे साथ रहता है।

विक्रमादित्य : देश-निर्वासन? यह दण्ड मैं उसी को देता हूँ जो मेरे राज्य में नारी का अपमान करता है। तुमने तो किसी नारी का अपमान नहीं किया।

माधव : किसी वियोगी नारी की सहायता करना अपमान की परिभाषा न हो!

विक्रमादित्य : यह तो तुम्हें खोज निकालने का मेरा एक प्रयोग मात्र था। वियोगी वियोगी को पहचानता है। चन्द्रकान्ता ने वियोगिनी का अभिनय मेरी आज्ञा से ही किया था।

माधव : महाराज की राजनीति प्रसिद्ध है।

विक्रमादित्य : प्रशंसा कार्य-शक्ति को कुण्ठित कर देती है। तो तुम कौन हो, वियोगी? मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूँ।

माधव : जीवन के मरुस्थल में बहने वाली नदी का खो जाना ही मेरा परिचय है।

विक्रमादित्य : तुम कवि भी हो, वियोगी! श्री महाकालेश्वर के मन्दिर में तुम्हारी रचना आँसुओं से लिखी गई ज्ञात होती है, किंतु भाग्य की तरह मुझे प्रभावित कर आँखों से ओझल रहने में तुम्हारा क्या हित हो सकता था?

माधव : आँखों से ओझल रहने वाली वस्तु हृदय को अधिक आकर्षित करती है, महाराज! अपने सम्बन्ध में मैं महाराज की उत्सुकता बढ़ाना चाहता था।

विक्रमादित्य : तुम ठीक कहते हो, वियोगी! तलवार की म्यान तलवार का आकर्षण बढ़ा देती है। शायद इसीलिए तुम मरुस्थल में बहने वाली नदी के सूखते हुए प्रवाह हो। किंतु इतना परिचय मुझे सन्तोष नहीं दे सकता। मैं कुछ अधिक जानना चाहता हूँ।

माधव : मेरी छोटी कहानी से महाराज के राज्य के बड़े-बड़े कार्यों में बाधा पड़ सकती है।

विक्रमादित्य : प्रजा की छोटी से छोटी कहानी मेरे राज्य-शासन का बड़े से बड़ा प्रश्न बन सकती है।

माधव : किन्तु महाराज ! आपकी प्रजा बनने का सौभाग्य तो मुझे नहीं है। मैं एक परदेशी हूँ।

विक्रमादित्य : जब तुम मेरी राज्य-सीमा में हो तो तुम मेरी प्रजा हो। और तुम्हें मैं वही अधिकार देता हूँ जो इस नगर के प्रत्येक नागरिक को है।

माधव : यह महाराज की कृपा और शासन का आदर्श है।

विक्रमादित्य : **(मुस्कराकर)** तुम फिर प्रशंसा की बातें कर रहे हो, वियोगी !

माधव : यह मेरे हृदय की ध्वनि है, महाराज !

विक्रमादित्य : तुम बड़ी चतुरता से बातें करते हो वियोगी ! इस प्रकार तुमने अपनी रक्षा का पूरा वचन मुझसे ले लिया। कहो, मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ ?

माधव : महाराज ! कला की साधना में मुझे बहुत अधिक मूल्य देना पड़ा है।

विक्रमादित्य : कला की साधना में कोई भी मूल्य अधिक नहीं है, वियोगी ! वह मूल्य तुम मुझसे ले सकते हो।

माधव : महाराज ! दो-दो राज्यों से निर्वासित और कुपात्रों के हाथों से कला की रक्षा करने में सहानुभूति रखने के कारण मैं दुखी हो गया हूँ।

विक्रमादित्य : किन्तु सहानुभूति से दुःख नहीं होता, वियोगी !

माधव : उस सहानुभूति में आत्मा की पुकार मिल गई, महाराज ! और वह सहानुभूति कुछ ऐसी बन गई है महाराज ! कि उससे दुःख होता है।

विक्रमादित्य : इस कला की रक्षा तुमने कहाँ की ?

माधव : कामावती नगरी में। महाराज कामसेन की मूर्ख सभा से राजनर्त्तकी कामकन्दला की नृत्य-कला की रक्षा करना चाहता हूँ, महाराज !

विक्रमादित्य : इस रक्षा में वियोग का प्रश्न कैसे उठता है, वियोगी ? **(हल्की मुस्कान)**

माधव : महाराज ! डूबते हुए आदमी को बचाने में कभी-कभी बचाने वाला भी डूब जाता है।

विक्रमादित्य : तो कामकन्दला से तुम्हें प्रेम हो गया ?

माधव : महाराज ! मैं ब्राह्मण-कुमार हूँ। आज तक ये आँखें किसी स्त्री के सौंदर्य की ओर नहीं उठीं। इन आँखों में भगवान् त्रिलोचन की मूर्ति है किन्तु कला ने सौन्दर्य को परखने के लिए जो निर्विकार आँखें दी हैं उनमें कामकन्दला की कला किसी अज्ञात प्रेरणा को लेकर समा गई है और उसके वियोग ने

मुझे वियोगी बना दिया है, महाराज !

विक्रमादित्य : तो यह कला के प्रति वियोग है या कामकन्दला के सौन्दर्य के प्रति ?

माधव : माधव ! भगवान् त्रिलोचन के डमरू से जो ध्वनि निकलती है उसमें कला और सौन्दर्य एक हो जाते हैं। मेरे मन की भूमि पर भी कला और सौन्दर्य एक हैं, महाराज ! कामकन्दला का सौन्दर्य मेरी इन्द्रियों का चित्र नहीं, वह मेरी आत्मा का नाद है और उसका वियोग मेरी आत्मा का चीत्कार है।

विक्रमादित्य : और कामकन्दला ने तुम्हें किस रूप में देखा ?

माधव : महाराज ! मेरी इस वीणा को सुनकर वह भावविभोर हो उठी, मूर्च्छित हो गई। इसी कारण मैं कामावती से निर्वासित हुआ। जब मैं वहाँ से चलने लगा तो उसने अपने प्रेम की पुष्प-माला पहिनानी चाही किन्तु मैंने उसे स्वीकार नहीं किया।

विक्रमादित्य : कारण ?

माधव : मैंने यही कहा, महाराज ! कि यह माला तभी मेरे गले में पड़ेगी जब मैं तुम्हें अपने बाहुबल से जीत सकूँगा। संसार के सामने यह माला मेरे गले में पड़ेगी, मैं उपहार नहीं चाहता, मैं विजय-श्री चाहता हूँ।

विक्रमादित्य : तुम्हारा प्रेम सच्चा प्रेम है, प्रेमी ! और तुम्हारा वियोग सच्चा वियोग है, वियोगी !

माधव : हाँ, महाराज ! मेरे प्राण कामकन्दला की आरती बनकर वियोग की ज्वाला लिए हुए हैं।

विक्रमादित्य : किन्तु वियोगी ! तुम ब्राह्मण हो, वीर हो, विद्वान हो, कवि हो। राज-सभा में नाचने वाली स्त्री से तुम्हारा प्रेम होना शोभा नहीं देता।

माधव : महाराज ! मेरे प्रेम की परीक्षा न लें। प्रेम में वंश और जाति का भेद नहीं होता। घुन के कीड़े को घी से सन्तोष नहीं होता, उसे तो सूखी लकड़ी ही चाहिए। चकोर शीतल चन्द्रमा को देखते हुए भी अंगार खाता है। बधिक को सामने देखकर भी हरिण संगीत के प्रेम में बाण सहन करता है।

विक्रमादित्य : माधव ! एक तो मनुष्य-जन्म कठिनाई से प्राप्त होता है, मनुष्य-जन्म प्राप्त होने पर ब्राह्मण होना और भी कठिन है। ब्राह्मण होने पर भी वेद नहीं आता। वेद जानने पर भी नाद नहीं आता। नाद जानने पर भी इतना रूप नहीं मिलता। तुम्हें तो सभी कुछ प्राप्त है। ऐसा वरदान पाकर भी यह घटना अच्छी नहीं घटी !

माधव : महाराज ! उस चुम्बक को आप क्या कहेंगे जो छोटे-बड़े लोहे को समान रूप से अपनी ओर खींचता है।

विक्रमादित्य : यह उसका स्वाभाविक गुण है। ब्राह्मणों का भी एक स्वाभाविक गुण होना चाहिए। मेरे राज्य में सहस्रों कला का मर्म जाननेवाली सुन्दरियाँ हैं। यदि तुम्हें स्वीकार हो तो तुम्हारी इच्छा के अनुसार मैं अधिक से अधिक रूपवती कन्या दे सकता हूँ, ब्राह्मण-कुमार !

माधव : महाराज, सूर्य एक बार उदय होने पर फिर पूर्व की ओर नहीं लौटता। सती नारी एक बार घर में प्रवेश कर फिर उससे नहीं निकलती, हाथी का दाँत एक बार बाहर निकलने पर फिर पीछे की ओर नहीं जाता। केले का पेड़ एक बार फलने पर दूसरी बार नहीं फलता।

विक्रमादित्य : यह ठीक है, ब्राह्मण-कुमार ! किंतु यह भी सोचो कि राजा कामसेन का भी प्रेम अपनी राजनर्त्तकी कामकन्दला पर हो सकता है। इसी ईर्ष्या से सम्भवतः उन्होंने तुम्हें देश से निकाला हो। वे तुम्हें सरलता से राजनर्त्तकी नहीं दे सकेंगे।

माधव : यदि वे नहीं दे सकेंगे तो मैं समझूँगा कि कल्पवृक्ष के नीचे जाकर भी मैं विफल-मनोरथ रहा। और तब मैं अपने त्रिशूल से अकेला ही युद्ध करूँगा, भले ही मैं रण-क्षेत्र में मारा जाऊँ।

विक्रमादित्य : ऐसा नहीं हो सकता, माधव ! विक्रमादित्य ने वियोगी का वियोग दूर करने का वचन दिया है। वह वचन वज्र की लकीर है जो कभी धूमिल नहीं हो सकती। तुम जाओ, विश्राम करो। मैं तुम्हें सुखी करने का उपाय सोचूँगा।

दृश्यान्तर

[महाराज विक्रमादित्य की सभा। सभी सभासद चिंता की मुद्रा में बैठे हैं। महाराज विक्रमादित्य चिंतित होकर सभा के बीच में इधर-उधर टहल रहे हैं। मन्त्री एक ओर खड़े हैं।]

विक्रमादित्य : आप महामन्त्री के मुख से माधव की कथा सुन चुके। मैंने उसका दुःख दूर करने का वचन दिया है। अब विचार यही करना है कि महाराज कामसेन किस प्रकार अपनी राजनर्त्तकी कामकन्दला हमें दे सकेंगे।

एक सभासद : मेरी सम्मति तो यह है कि महाराज कामसेन को राजनर्त्तकी सहित निमन्त्रण दिया जाए और ऐसा प्रबन्ध किया जाए कि महाराज कामसेन यहाँ से अकेले लौट जाएँ।

विक्रमादित्य : वीरसेन ! उज्जयिनी की राजनीति में छल नहीं है। हम शत्रु के साथ भी विश्वासघात नहीं कर सकेंगे।

दूसरा सभासद : तब महाराज ही राजा कामसेन को यह निमन्त्रण भेजें कि

राजनर्त्तकी का नृत्य देखने की अभिलाषा उज्जयिनी के नागरिकों को है। राजा कामसेन राजनर्त्तकी कामकन्दला को यहाँ भेज दें। बाद में राजनर्त्तकी स्वयं यह लिख दे कि वह उज्जयिनी छोड़ने में असमर्थ है।

विक्रमादित्य : यह भी सम्भव नहीं है, प्रतापसिंह ! महाराज अपनी राजनर्त्तकी को भेजने में असमर्थ हो सकते हैं। राजनर्त्तकी भी सम्भवतः यह ठीक न समझे।

तीसरा सभासद : तब महाराज राजनर्त्तकी कामकन्दला का हरण किया जा सकता है। यह तो प्राचीन प्रथा भी रही है।

विक्रमादित्य : यदि ऐसा उचित होता तो माधव स्वयं राजनर्त्तकी का हरण कर सकते थे पर उन्होंने इसे आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझा। **(मन्त्री से)** तुम्हारी क्या सम्मति है, महामन्त्री ?

महामन्त्री : महाराज ! उज्जयिनी की नीति ने कभी छल और विश्वासघात से काम नहीं लिया। मेरी सम्मति तो यही है कि महाराज कामसेन को स्पष्ट रूप से एक पत्र लिखा जाए कि वे राजनर्त्तकी कामकन्दला को हमें समर्पित कर दें। यदि वे ऐसा न कर सकें तो युद्ध के लिए प्रस्तुत रहें।

चौथा सभासद : क्या एक नारी के लिए—विशेषकर एक राजनर्त्तकी के लिए दो राज्यों में युद्ध होना आवश्यक है जिसमें हमारे हजारों वीरों की बलि हो।

महामन्त्री : यहाँ नारी का प्रश्न नहीं है, विजयसिंह ! यहाँ प्रश्न है शरणागत की रक्षा का और उज्जयिनी के महाराज विक्रमादित्य के वचन का। यदि महाराज की इच्छा जानकर राजा कामसेन राजनर्त्तकी को समर्पित कर देते हैं तो युद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।

विक्रमादित्य : क्या यह निर्णय सभी सभासदों को स्वीकार है ?

सभी सभासद : **(एक स्वर से)** स्वीकार है।

विक्रमादित्य : **(मन्त्री से)** महामन्त्री ! महाराज कामसेन को आदरपूर्वक पत्र लिखा जाए और दूत से कह दिया जाए कि वह पत्र का उत्तर अपने साथ ही लावे—प्रेम या युद्ध।

मन्त्री : जो आज्ञा।

दृश्यान्तर

[महाराज कामसेन के सभा-कक्ष का द्वार। डोंगरपति अपनी मूँछें ऐंठता हुआ टहल रहा है। उज्जयिनी का दूत आता है।]

डोंगरपति : **(प्रश्नमयी मुद्रा में)** तुम कौन हो जी ?

दूत : मैं उज्जयिनी से आया हूँ। दूत हूँ।

डोंगरपति : दूत हो या भूत ! सीधे चले आ रहे हो जैसे हवा में उड़ते हो।

दूत : मुझे महाराज से जल्द मिलना है।

डोंगरपति : महाराज से जल्द मिलना है ! (**गर्दन टेढ़ी करता है**) महाराज न हुए तुम्हारे रिश्तेदार हुए, राजसभा न हुई बनिए की दूकान हो गई।

दूत : अरे भाई, यह कौन कहता है ?

डोंगरपति : मैं तुम्हारा भाई नहीं हूँ ! सम्हल के बात करो। मैं हूँ महाराज कामसेन जी का सिपाही-सरदार। सिरी डोंगरपति जी।

दूत : अच्छा, सिपाही-सरदार जी ! मुझे कृपा करके महाराज जी से मिला दीजिए।

डोंगरपति : आजकल महाराज किसी से नहीं मिलते।

दूत : कोई कारण है ?

डोंगरपति : कारण क्यों नहीं ? आजकल बाई कामकन्दला बीमार हैं। उनका नाच-वाच तो कुछ होता नहीं है। तो महाराज का मन किसी राज-काज में नहीं लगता।

दूत : लेकिन मैं एक आवश्यक कागज लाया हूँ।

डोंगरपति : कागज या कुछ और ? (**आँखें मटकाता है।**)

दूत : उज्जयिनी से महाराज विक्रमादित्य ने आवश्यक कागज भेजा है।

डोंगरपति : (**सहम कर**) तो कोई बड़ी बात होगी ?

दूत : हाँ, बड़ी बात तो है ही।

डोंगरपति : (**आँखें फाड़ कर**) तो बड़ी बात का बड़ा इनाम !

दूत : कैसा इनाम ?

डोंगरपति : अरे, हमारे महाराज से मिलेगा।

दूत : (**गम्भीरता से**) इस बात में इनाम नहीं मिलेगा।

डोंगरपति : अरे, तुम क्या जानो ! हमारे महाराज हरएक बात पर इनाम देते हैं।

दूत : देते होंगे।

डोंगरपति : (**मुँह बनाकर**) बड़ी आसानी से कह दिया, देते होंगे ! अरे उसमें हमारा भी हिस्सा है।

दूत : (**अन्यमनस्कता से**) अच्छी बात है।

डोंगरपति : कितना ? अच्छी बात कहने से काम नहीं चलेगा। (**आँखें फाड़कर जोर देते हुए**) आ-धा···आ-धा !

दूत : बहुत अच्छा।

डोंगरपति : तो मैं अभी महाराज से तुम्हारी सिफारिश करता हूँ। (**शीघ्रता से जाता है।**)

दृश्यान्तर

[महाराज कामसेन की सभा]

कामसेन : तो अभी कामकन्दला अच्छी नहीं हो सकी ?

मंत्री : नहीं, महाराज ! कोई भी औषधि उस पर गुण नहीं कर रही है।

कामसेन : तब यह रोग साधारण ज्ञात नहीं होता ?

मंत्री : हाँ, महाराज ! जब उसे चेत होता है तो वह मन ही मन किसी का नाम उच्चारण करती है।

कामसेन : माधव का तो नहीं ?

मंत्री : कहा नहीं जा सकता, महाराज !

[द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल : महाराज की जय हो ! उज्जयिनी से एक दूत आया है। वह महाराज विक्रमादित्य का पत्र महाराज की सेवा में लाया है।

कामसेन : महाराज विक्रमादित्य का पत्र ? उसे उपस्थित करो।

द्वारपाल : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

कामसेन : महाराज विक्रमादित्य ने क्यों पत्र भेजा है ?

मन्त्री : किसी कला की शिक्षा देना चाहते होंगे।

कामसेन : हाँ, उनके पत्र तो विद्या और बुद्धि से भरे रहते हैं। उनका पत्र पाना सौभाग्य की बात है।

[दूत का प्रवेश]

दूत : (**प्रणाम कर**) महाराज की जय हो !

कामसेन : दूत, तुम उज्जयिनी से आ रहे हो ?

दूत : हाँ, महाराज ! महाराज विक्रमादित्य जी का पत्र लाया हूँ।

कामसेन : महाराज आनन्दपूर्वक हैं ?

दूत : हाँ, महाराज ! वे आनन्द से हैं।

कामसेन : (**मन्त्री से**) महामंत्री, पत्र लेकर पढ़ो।

दूत : (**मन्त्री को पत्र देते हुए**) महाराज ! उन्होंने यह भी कहा है कि इस पत्र का उत्तर महाराज मेरे हाथ ही देने की कृपा करें।

कामसेन : उनकी इच्छा पूरी की जाएगी।

मन्त्री : (**पत्र पढ़ते हुए**)

श्री श्री कामावती नरेश महाराज कामसेन !

शरणागत ब्राह्मण-कुमार माधव की अभिलाषा-पूर्ति के लिए हम उसका विवाह राजनर्त्तकी कामकन्दला से करना चाहते हैं। इसलिए आपसे

निवेदन है कि आप भी इसमें सहयोग दें। यदि आपने यह स्वीकार नहीं किया तो मेरे इस पत्र को आप रण-निमन्त्रण समझें।

विक्रमादित्य
(उज्जयिनी नरेश)

कामसेन : (क्रोध से) यह साहस ! यह अभिमान !! महाराज विक्रमादित्य से हमें ऐसे पत्र की आशा नहीं थी।

दूत : महाराज !

कामसेन : (बीच ही में) चुप रहो, दूत ! महाराज विक्रमादित्य को अपने बल का—अपनी बुद्धि का अभिमान हो गया है। क्या उनके समान कोई दूसरा क्षत्रिय नहीं है ? कामकन्दला मेरी राजनर्त्तकी है, उनकी दासी नहीं। वह मेरे अधिकार में है। ऐसा प्रस्ताव करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ ?

दूत : सावधान महाराज ! महाराज विक्रमादित्य ब्राह्मणों की रक्षा के लिए प्राण-दान भी कर सकते हैं।

कामसेन : प्राण-दान फिर करें, पहले मुझसे युद्ध-दान लें। मैं उन्हें युद्ध का निमन्त्रण देता हूँ। **(महामंत्री से)** महामन्त्री ! सेनाएँ सुसज्जित करो। यह मेरी मर्यादा का प्रश्न है। **(दूत से)** दूत ! जाओ। कह दो कि इस पत्र का उत्तर युद्ध-क्षेत्र में ही दिया जाएगा। **(क्रोध से दूत की ओर देखते हैं।)**

[दूत भी क्रोध की मुद्रा से उन्हें देखता है।]

दृश्यान्तर

[सभा-भवन के द्वार पर डोंगरपति बड़ी उत्सुकता के साथ दूत की प्रतीक्षा कर रहा है। दूत भीतर से तेजी के साथ आता है।]

डोंगरपति : (उसे संबोधित करते हुए) एएएएए ! एएएए !! अरे, रुको तो !

दूत : कौन हो तुम ?

डोंगरपति : अरे, अब मुझे पहिचानते भी नहीं ? देने के वक्त लोग किसी को पहिचानते थोड़े ही हैं। अरे, मैं हूँ डोंगरपति ! सिपाही-सरदार ! सिरी डोंगरपति !

दूत : कहो, क्या कहते हो ?

डोंगर : कहूँगा क्या ? व्यवहार की बात कहता हूँ। जो कुछ मिला है, उसका आधा। सौ का पचास, पचास का पच्चीस। पच्चीस का तेरह। आधे का हिसाब मैं नहीं रखता।

दूत : मैं भी नहीं रखता। जो कुछ मैं लाया हूँ उसका आधा नहीं हो सकता।

डोंगर : स्त्री के सिवाय सबका आधा हो सकता है।

दूत : तो तलवार हाथ में लो। मैं लड़ाई का समाचार लाया हूँ। (**तलवार निकालता है।**)

डोंगर : (**पीछे हट कर**) अरे बाप रे! इससे तो मेरी देह का आधा हिस्सा तुम्हीं ले लोगे। जाओ, बाबा! जाओ, दान कर दिया मैंने अपना हिस्सा। ले जाओ तुम्हीं। (**दूत जाता है। डोंगर उसकी ओर देखता हुआ**) अच्छे लेने वाले आते हैं। कोई देशनिकाला लेता है। कोई लड़ाई। ये लोग मेरी वजह से ही इनाम नहीं लेते। सोचते हैं, आधा देना पड़ेगा। निकम्मे कहीं के!

[घृणा की मुद्रा]

दृश्यान्तर

[सेना के मध्य में महाराज विक्रमादित्य हाथी पर बैठे हैं। माधव घोड़े पर सवार हाथ में त्रिशूल लिए है। महाराज सैनिकों से कहते हैं—

वीरो! राजा कामसेन की उद्दंडता का दंड तुम्हें देना है। उज्जयिनी ने सदैव शरणागत के लिए प्राण दिए हैं। तुम्हें भी अपने प्राण देकर अपने आदर्श की रक्षा करनी है। बढ़ो! शत्रु को दंड दो! चंदेलो, चौहानो, गूजरो, तुम्हें अपनी तलवार के पानी में शत्रुओं को डुबाना है। अपनी ललकार से पहाड़ों को कंपित कर दो। दिशाओं में आग लगा दो। अपने राज्य की ध्वजा दसो दिशाओं में फहरा दो। बढ़ो, आगे बढ़ो। 'जय महा-कालेश्वर!'

सेना में हलचल होती है। तुरही बजाई जाती है। हाथी और घोड़े आगे बढ़ते हैं। सैनिक अपनी तलवारें लेकर दौड़ पड़ते हैं। 'जय महाकाले-श्वर' की ध्वनि होती है। माधव हाथ में त्रिशूल लिए घोड़े पर आगे-आगे बढ़ता है।]

दृश्यान्तर

[सेना के मध्य महाराज कामसेन। वे भी हाथी पर बैठ कर अपने सैनिकों को प्रोत्साहन दे रहे हैं—

'सैनिको! राजा विक्रमादित्य के अहंकार को चूर-चूर कर दो। यह तुम्हारे आत्म-सम्मान की बात है। विक्रमादित्य की राजधानी उज्जैन में आग लगा दो। उज्जैन पर अपना झंडा गाड़ दो। उन्हें दिखला दो कि महाराज कामसेन को छेड़ना सोते हुए सिंह को जगाना है। 'जय काल भैरव!'

नगाड़े बजाए जाते हैं। सेना में हलचल होती है। हाथी और घोड़े बढ़ते हैं। पैदलों की सेना हाथ में भाले और बरछे लेकर बढ़ती है। 'जय कालभैरव' की ध्वनि होती है।]

दृश्यान्तर

[घनघोर युद्ध हो रहा है। हाथियों पर चढ़े हुए वीरों का आपस में बरछे से युद्ध होता है। घोड़ों पर चढ़े हुए वीरों का युद्ध तलवार से होता है। सैनिक लोग तीरों से युद्ध करते हैं। फिर तलवार लेकर टूट पड़ते हैं। वीर गिरते हैं, कहीं ललकार और कहीं कराह की ध्वनि सुनाई देती है।]

दृश्यान्तर

[महाराज विक्रमादित्य का युद्ध-शिविर]

विक्रमादित्य : (टहलते हुए अपने सैनिकों से) कल का युद्ध भयानक था जिसमें दोनों दलों के अनेक वीर खेत रहे हैं। दोनों दल के वीर जान गए हैं कि अभी यह युद्ध बहुत दिनों तक चलेगा। यही सोचकर महाराज कामसेन ने एक संदेश भिजवाया है। वह यह कि प्रतिदिन हजारों वीरों की मृत्यु से यह अच्छा है कि दोनों दलों का एक-एक वीर चुना जाए। दोनों में द्वन्द्व-युद्ध हो। जो वीर जीत जाए उसी दल की जीत समझी जाए।

मंत्री : राजा कामसेन की ओर मेढ़ामल बहुत ही वीर और पराक्रमी है। यही सोचकर उन्होंने ऐसा प्रस्ताव किया है।

एक सैनिक : हमारे यहाँ भी कम पराक्रमी वीर नहीं हैं।

मंत्री : एक महाराज को छोड़ हमारे दल में कोई मेढ़ामल के समान पराक्रमी वीर है, इसमें मुझे सन्देह है।

दूसरा सैनिक : तो यह प्रस्ताव हम लोग स्वीकार नहीं करेंगे। हम महाराज के जीवन को संकट में नहीं डालेंगे।

विक्रमादित्य : मेरे लिए कोई संकट नहीं है सैनिक ! यह तो युद्ध है।

तीसरा सैनिक : पर महाराज ! द्वन्द्व समान व्यक्तियों में होता है।

माधव : यदि महाराज आज्ञा दें तो मेढ़ामल से द्वन्द्व करने के लिए मैं अपने आपको अर्पित करता हूँ।

विक्रमादित्य : (चौंककर) तुम ? तुम माधव ?

माधव : महाराज ! मैंने जीवन में केवल दो कलाएँ ही सीखी हैं। एक वीणा बजाना और दूसरी, तरह-तरह के शस्त्रों को चलाना। मुझे विश्वास है कि मैं मेढ़ामल से द्वन्द्व कर सकूँगा।

विक्रमादित्य : पर हम तुम्हें लड़ने की आज्ञा नहीं दे सकते, माधव ! तुम्हारे लिए ही तो यह युद्ध हो रहा है। यदि तुम्हारे प्राणों पर संकट आया तो हमारा युद्ध करना व्यर्थ होगा ! इतने वीरों का रक्त बहाना किसी काम नहीं आवेगा।

माधव : नहीं महाराज ! मैं द्वन्द्व की आज्ञा चाहता हूँ। यदि मैं जीत सका तो मेरी इच्छा सहज ही पूर्ण होगी और महाराज की चिन्ताएँ दूर हो जाएँगी। यदि मैं मारा गया तो इससे बढ़ कर मेरा सौभाग्य नहीं कि मैं अपने उद्देश्य की पूर्ति में मारा गया।

मंत्री : महाराज, माधव का प्रस्ताव बुरा नहीं है।

एक सैनिक : हमें स्वीकार है।

दूसरा सैनिक : हमें स्वीकार है।

तीसरा सैनिक : हमें स्वीकार है।

चौथा सैनिक : हमें स्वीकार है।

माधव : मैं आप सब लोगों का उपकार मानता हूँ कि आपने मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया है। आप लोगों की मंगल कामनाओं से विजय-श्री हमारी ओर रहेगी ! 'जय महाकालेश्वर' !

सब सैनिक : 'जय महाकालेश्वर' !

विक्रमादित्य : अच्छा माधव ! जाओ, सब सैनिकों की शक्ति लेकर जाओ। तुम्हारे भाले की नोक में महाकालेश्वर का क्रोध हो। तुम्हारी तलवार की धार में प्रलय की अग्नि हो। तुम्हारे शरीर पर महाशक्ति का कवच हो। जाओ ! विक्रमादित्य का सम्मान तुम्हारे पराक्रम में है ! उज्जयिनी की कीर्तिपताका तुम्हारे भुजदण्डों में है ! जाओ, विजय प्राप्त करो।

[माला पहिनाते हैं।]

['जय महाकालेश्वर' का घोष]

दृश्यान्तर

[दोनों ओर दूर पर सेनाएँ खड़ी हैं। बीच में युद्ध के वस्त्र पहिने माधव और मेढ़ामल एक-दूसरे की ओर लक्ष्य किए क्रमशः त्रिशूल और भाला लिए खड़े हैं। दोनों अपने शस्त्रों से एक-दूसरे को नमस्कार करते हैं।]

दृश्यान्तर

[पुष्पावती नगरी में माधव का घर। माधव की माता सुजाता वेदिका के सामने बैठी है। वह भगवान शंकर का पूजन कर रही है। वेदिका की तीन

रेखाओं पर फूलों की पंक्ति सजी है। चौथी रेखा के ऊपरी सिरे पर एक फूल रक्खा हुआ है जो इस बात का संकेत है कि माधव को गए तीन महीने हो गए; चौथा महीना आरम्भ हुआ है। सुजाता उन रेखाओं को ध्यान से देख रही है और भगवान शंकर के सामने हाथ जोड़ कर कह रही है—

भगवान, माधव जहाँ हो, अच्छा रहे! अगर राजा के दरबार में हो तो राजा उसे लौटने को कह दे। अगर लड़ाई में हो तो वह शत्रु को जीत कर जल्दी लौटे।

सुलोचन : (खिड़की में मुँह डालकर माँ को सम्बोधित करते हुए) माँ, मैं भी मुर्गी को मार कर अभी लौट रहा हूँ।

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का शयन-कक्ष। वह अपनी शैया पर लेटी है। मूर्च्छित अवस्था में वह धीरे-धीरे कह रही है—]

मेरे हृदय की रागिनी!

मैं जा रहा हूँ···तुम्हें सोता हुआ छोड़कर जा रहा हूँ···क्षमा करना ···मैं निर्वासित हूँ यहाँ रह कर···यहाँ रह कर···तुम्हें संकट में···नहीं डाल···सकूँगा इस समय···इस समय···विदा लेता हूँ···अपने बाहुबल··· अपने बाहुबल से ही तुम्हारी माला अपने गले में पहिनूँगा···तीन महीने तक तीन महीने तक···प्रतीक्षा करना···विदा···

माधव···माधव···माधव···

[शीशे के कोने पर टँगी हुई फूलों की माला और भी अधिक सूख जाती है।]

दृश्यान्तर

[रण-क्षेत्र। माधव त्रिशूल उठा कर भगवान त्रिलोचन को प्रणाम करता है। उसके नेत्रों के सामने माँ की पूजा करती हुई छवि झलक उठती है, वह उन्हें भी प्रणाम करता है। एक क्षण भर के लिए माधव के नेत्रों के सामने कामकन्दला की वह शोभा दीख पड़ती है जब माधव ने उसे वीणा बजाकर सुलाया था।

माधव चैतन्य होता है और अपने हाथ में त्रिशूल सँभालता है। पहले मेढ़ामल प्रहार करता है। माधव उसे रोक कर त्रिशूल से प्रहार करता है। दोनों दलों में क्रमशः कोलाहल होता है। दोनों वीर अनेक प्रकार से पैंतरे बदलते हैं। दोनों के प्रहार बड़ी तेजी से चलते हैं। कभी मेढ़ामल जीतता

हुआ दृष्टि आता है, कभी माधव । मेढ़ामल गिर पड़ता है, माधव अपना प्रहार रोक लेता है। मेढ़ामल उठ खड़ा होता है। फिर युद्ध आरम्भ होता है। थोड़ी देर बाद माधव का त्रिशूल टूट जाता है। मेढ़ामल रुक जाता है, वह अपना भाला फेंक देता है।

दोनों वीर कटार हाथ में लेते हैं। बड़ी देर तक कटारों से युद्ध होता है। कौतूहल और उत्सुकता की लहरें कभी इस ओर कभी उस ओर बढ़ती हैं। मेढ़ामल के हाथ से कटार छूट जाती है। माधव कटार फेंक देता है।

फिर दोनों तलवारें उठाते हैं। दोनों की तलवारें सर्पिणी की तरह उछल-उछल कर एक-दूसरे पर प्रहार करती हैं। कभी आपस में टकरा जाती हैं। अनेक दाँव-पेच के बाद मेढ़ामल थका-सा जान पड़ता है। जैसे ही वह तलवार का प्रहार कर मुड़ता है, वैसे ही माधव की तलवार उसके बाएँ कक्ष में प्रवेश कर जाती है।

मेढ़ामल गिर कर मर जाता है।

विक्रमादित्य की सेना में हर्ष और उल्लास मनाया जाता है।

'जय महाकालेश्वर' की ध्वनि का घोष।

तुरही और शंखनाद होता है।]

दृश्यान्तर

[जिस क्षण माधव की तलवार मेढ़ामल को लगती है उसी क्षण माधव की माता सुजाता के भगवान् शंकर के सिंहासन की घंटी बज उठती है। सुजाता कौतूहलजनक प्रसन्नता से भगवान शंकर को प्रणाम करती है। दूसरे दृश्य में कामकन्दला चौंक कर उठ बैठती है और माधव को पुकार उठती है—'माधव!']

दृश्यान्तर

[महाराज कामसेन की सभा। महाराज कामसेन और विक्रमादित्य समान रूप से सुसज्जित आसन पर बैठे हैं। महाराज विक्रमादित्य के पार्श्ववर्ती आसन पर माधव वीणा और त्रिशूल लिए हुए बैठा है। महाराज कामसेन के पार्श्ववर्ती आसन पर कामकन्दला शृंगार किए हुई बैठी है। उसके समीप तीन-चार सखियाँ हैं। परिचारिकाएँ दोनों ओर चँवर डुला रही हैं। माधव और कामकन्दला के नेत्र मिलते हैं। माधव मुस्कुराता है और कामकन्दला आनन्द-मिश्रित लज्जा से सिर झुका लेती है।]

कामसेन : महाराज ! सच्चे प्रेम की विजय संसार में सदैव ही होती है। हमने

अपनी राजनीति में आपसे जो युद्ध किया उसके लिए हम आप से क्षमा चाहते हैं।

विक्रमादित्य : महाराज, आपने क्षत्रिय धर्म का पालन किया है और युद्ध के बाद जो मित्रता होती है वह सूर्य और चन्द्र की भाँति प्रकाशित रहती है।

कामसेन : सचमुच सूर्य (**माधव की ओर देखते हैं**) और चन्द्र (**कामकन्दला की ओर देखते हैं**) की भाँति ! और ये दोनों महाराज विक्रमादित्य को समर्पित हैं।

[कामकन्दला का हाथ पकड़ कर बढ़ाते हैं और माधव की ओर बढ़ाते हैं।]

विक्रमादित्य : वीर माधव ! उठो। अपने अधिकार और बाहुबल से प्राप्त अपनी विजय-श्री स्वीकार करो।

माधव : यह महाराज के 'बल-विक्रम' का ही फल है।

[माधव उठता है। कामकन्दला का हाथ अपने हाथों में लेता है। इधर विक्रमादित्य और कामसेन के नेत्र मिलते हैं, उधर माधव और कामकन्दला की दृष्टियों की नोक एक-दूसरे से मिलती है।]

दृश्यान्तर

[कामकन्दला का राज-सदन। उपवन में कामकन्दला और माधव हैं।

कामकन्दला नृत्य कर रही है और माधव वीणा बजा रहा है।

कुछ क्षणों तक कामकन्दला में रति का आभास दीख पड़ता है और माधव में कामदेव का। माधव की वीणा पुष्प-धनुष का आभास दे रही है और कामकन्दला रति की भाँति नृत्य कर रही है।

कामकन्दला के नृत्य के साथ माधव की वीणा बज रही है। वीणा बजते-बजते उसका एक तार टूट जाता है। संगीत और नृत्य रुक जाता है।

कामकन्दला हँसते हुए माधव के समीप बैठ जाती है।]

कामकन्दला : तुमने फिर तार तोड़ दिया ?

माधव : वह तुम्हारे संगीत का माधुर्य नहीं सम्हाल सका !

कामकन्दला : चलो, जान-बूझकर तार तोड़ दिया और कहने लगे कि यह तुम्हारे संगीत का माधुर्य नहीं सम्हाल सका।

माधव : (**हँसते हुए**) यदि तार न टूटता तो तुमसे बातें करने का सुख कैसे मिलता ?

कामकन्दला : वियोग में जलती रही तब तो पूछा नहीं। अब बातें करने चले

हो सुख की—जब मैं दिन-रात मुर्झा रही थी···।

माधव : जल के बिना कमल की पंखुड़ियों की तरह ?

कामकन्दला : नहीं, इस हार की तरह जो तुमने अस्वीकार किया था।

[खड़ी हो जाती है और अपने अंचल से मुरझाए हुए फूलों की माला निकालती है।]

माधव : (**आश्चर्य और हर्ष मिश्रित मुद्रा से**) ओहो, यह अभी तक सुरक्षित है ?

कामकन्दला : हाँ, मेरे प्राणों की तरह !

माधव : यह तो बिलकुल सूख गया।

कामकन्दला : विरह की अग्नि में। अब इसे स्वीकार करोगे ? कहा था—यह माला तभी गले में पड़ेगी, जब मैं तुम्हें अपने बाहुबल से जीत सकूँगा। मैं उपहार नहीं चाहता, विजय-श्री चाहता हूँ।

माधव : कहा था—उस सुगन्धित माला की अपेक्षा यह सूखी माला मुझे अधिक सुख देगी। (**सिर झुका देता है।**)

कामकन्दला : (**माला पहिनाते हुए**) क्योंकि इसमें प्रेम की सुगन्धि है और यह तुम्हारी विजय-श्री है।

माधव : और यह हमारे-तुम्हारे वियोग की स्मृति बनकर रहेगी।

कामकन्दला : हाँ, वियोग की स्मृति ! (**समीप बैठ जाती है।**)

माधव : कैसे काटे ये वियोग के तीन महीने ?

कामकन्दला : नूपुर में नौ और तेरह के बीच तुमने तीन घुँघरू बतलाए थे न, जिनमें दाने नहीं थे ! उन्हीं तीन घुँघरुओं की तरह जिनसे कोई ध्वनि नहीं निकलती थी।

माधव : ध्वनिरहित घुँघरुओं की तरह ?

कामकन्दला : हाँ, जो जीवन-चरणों के नूपुर में व्यर्थ पड़े थे, और तुमने कैसे काटे ?

माधव : कंदला का नाम लेते हुए। कंद-मूल खाकर और त्रिशूल की तीन नोकों को गिनते हुए।

कामकन्दला : बड़े-बड़े पैने थे ये दिन ?

माधव : हाँ, त्रिशूल की नोक की तरह !

कामकन्दला : तुम त्रिशूल भी बहुत अच्छा चलाते हो। कहाँ सीखी यह कला ?

माधव : भगवान् त्रिलोचन के त्रिशूल से और तुम्हारी चितवन से। देखो, इस ओर !

[कामकन्दला लज्जित होकर दबे नेत्रों से देखती है। माधव को वे अधखुले नेत्र बड़े सुन्दर दीख पड़ते हैं।]

दृश्यान्तर

[डा० राजेश का कंठ-स्वर सुन पड़ता है—

···और इस प्रकार कामदेव और रति को दिया गया श्री राधा का अभिशाप समाप्त हुआ और वीरता की छाया में कला और सौंदर्य का मिलाप हुआ।

महाराज विक्रमादित्य ने माधव और कामकन्दला के साथ पुष्पावती नगरी को प्रस्थान किया जहाँ माधव की माता उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

माधव की माता वेदिका के समीप बैठी हुई भगवान शंकर की पूजा कर रही हैं। उसकी दृष्टि में माधव के त्रिशूल से खींची हुई चार रेखाएँ हैं। उन चारों पर पुष्प की पंक्तियाँ सजी हुई हैं। केवल चौथी रेखा के अन्तिम छोर पर एक पुष्प के रखने की जगह शेष है। माधव की माता सुजाता के नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही है, पास ही सुलोचन सिर झुकाए बैठा है। वह कभी-कभी द्वार की ओर देख लेता है

फिर डा० राजेश की ध्वनि—

महाराज विक्रमादित्य का आतंक इतना अधिक था कि पुष्पावती के राजा गोविन्दचन्द्र ने उनके स्वागत का समारोह सजाया और जब उन्होंने माधव की वीरता का संवाद सुना तो उसके देश-निर्वासन की आज्ञा वापस ली और माधव ने कामकन्दला सहित अपने घर में प्रवेश किया।

माधव का घर। माधव की माता सुजाता पुष्प से सजी हुई चौथी रेखा को देख रही है। सामने भगवान शंकर की मूर्ति है। उन्हें देखती हुई वह आँखों से आँसू बहाती हुई जैसे ही चौथी रेखा के छोर पर पुष्प रखने जा रही है, वैसे ही सुलोचन दौड़कर आता है और पुकार कर कहता है—

माँ, माँ, माँ, माँ, माँ, माधव आ गया ! माधव आ गया !! माता (**हाथ में पुष्प लिए वैसे ही उठ खड़ी होती है और चीख उठती है**) कहाँ है? कहाँ है? कहाँ है, मेरा लाल?

वह शीघ्रता से द्वार तक पहुँचती है कि माधव और कामकन्दला मिलते हैं।

माता माधव से लिपट जाती है। दोनों के नेत्रों से अश्रु बहते हैं।]

माधव : अपने वचन के अनुसार माँ ! मैं आ गया।

माता : धन्य मेरे लाल ! (**दोनों अलग होते हैं।**)

सुलोचन : (कामकन्दला की ओर आँखें फाड़ कर देखते हुए इशारे से पूछता है) ये कौन ?

माधव : माँ, यह तुम्हारी दासी है। कामकन्दला।

[कामकन्दला माता के चरणों में प्रणाम करती है।]

सुलोचन : (परिहास की मुद्रा में) माँ; मैंने कहा था न कि अब की माधव लौटेगा तो अपने साथ मेरी भाभी भी लाएगा।

माता : हाँ, सुलोचन, तू सच कहता था। अब तेरी भी कोई कन्दला आ जाएगी।

[सब हँस पड़ते हैं। सुलोचन शरमाते हुए मुँह बनाता है।]

दृश्यान्तर

[डा० राजेश का वही कक्ष। लता ध्यान से सुन रही है। चाय की प्यालियाँ अब भी वैसे ही रखी हुई हैं।]

डा० राजेश : महाराज गोविन्द ने माधव, माता सुजाता और कामकन्दला के लिए सुन्दर महल का निर्माण कराया जिसका यह पत्थर है। उस महल में माधव, माता सुजाता और कामकन्दला का प्रवेश कराने के अनन्तर महाराज विक्रमादित्य माधव और कामकन्दला से विदा लेते हुए बोले—

विक्रमादित्य : नृत्य-कीवी कामकन्दला ! और संगीत और वीरता में कामदेव के अवतार माधव ! तुम दोनों ही सुख के इस महल में ही नहीं, जनता के हृदय में भी निवास करो। मेरी कामना है कि अपने महान गुणों और सच्चे प्रेम की जो कीर्ति तुमने फैलाई है वह आने वाली पीढ़ियों के मन में भी गौरव की ज्योति जगाए और देश की आरती बनकर सदैव प्रज्वलित रहे। विदा ! ! !

डा० राजेश का स्वर : महाराज अपनी सेनासहित चले गए ! दूर—बहुत दूर—उज्जयिनी नगरी की ओर—

[माधव और कामकन्दला टकटकी लगाए उन्हें देखते रहे। वे जब क्रमशः बहुत दूर चले गए तब उन्होंने अपनी दृष्टि लौटाई और अश्रुपूर्ण नेत्रों से एक दूसरे को देखा।]

जय भारती००० जय भारती



महाराणा प्रताप

ऐतिहासिक परिचय

इस देश को अभिमान है कि उसके अन्तर्गत राजस्थान जैसा एक भू-भाग है जिसने इतिहास के आदि काल से राष्ट्रीयता, आत्माभिमान, निर्भीकता और साहस के अद्वितीय उदाहरण उपस्थित किए हैं। स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अनुपम आत्म-विश्वास और अमिट आत्म-बलिदान समस्त मानवता के लिए अनुकरणीय है। राजस्थान की गौरव गाथा हमारे इतिहास की विभूति है जो शताब्दियों तक जन-जन में प्रेरणा भरने की शक्ति रखती है। राजस्थान का प्रत्येक राज्य अभिमान कर सकता है कि इतिहास के किसी न किसी काल में उसने ऐसे पुरुष उत्पन्न किए हैं जिन्होंने अपने पौरुष से युगान्तर उपस्थित कर दिया है और ऐसी नारियों को जन्म दिया है जिन्होंने अपने साहस और आत्म-बलिदान से देश को गौरवान्वित किया है। कर्नल टाड ने राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध में लिखा था—

"राजस्थान में कोई ऐसा छोटा राज्य नहीं है जिसमें अपनी 'थर्मापोली' (रणक्षेत्र) न हो और कठिनाई से कोई नगर हो जिसने अपना 'लियोनिडस' (आत्म-बलिदानी वीर) उत्पन्न न किया हो।[1]

जहाँ स्थान-स्थान पर रणक्षेत्र की रक्त-रंजित भूमि हो और वंश-वंश में साहसी वीर पुत्र हों, उसकी गौरव गाथा तो स्वर्णाक्षरों में लिखनी चाहिए। किन्तु राजस्थान के इतिहास को सुरक्षित रखने का प्रयत्न जिस रूप में होना चाहिए, उस रूप में नहीं हुआ। कवियों और चारणों द्वारा विविध नरेशों की वंशावलियाँ और उनके जीवन-वृत्त अवश्य प्रस्तुत किए गए किन्तु वीर-पूजा की भावना ने उन कृतियों को अतिरंजित कर दिया है। प्रशंसापूर्ण अतिशयोक्तियों ने सत्य का बहुत थोड़ा अंश संचित किया है और काव्य के अनेक वंदनवार नरेशों और सामन्तों के राजदरबारों को सुशोभित करते रहे हैं। आश्रय की आशा में चारणों ने नरेशों को इन्द्र और विष्णु की अनेक उपाधियों से अलंकृत किया है और कल्पना ने उन्हें अतिमानव रूप में कल्पित कर लिया है। इसी प्रकार

---

1. "There is not a petty state in Rajasthan that has not had its Thermopolae and scarcely a city that has not produced its Leonides." (Tod's Rajasthan, Volume I, Introduction.)

से सामान्य से सामान्य युद्ध महाभारत की भीषण अतिरंजना लिए हुए है और सामान्य से आखेट में ऐसे भयानक वन्य पशु इकट्ठे हो गए हैं जिनकी स्थिति महा निर्जन कान्तार में भी नहीं हो सकती। इस भाँति चारणों के विरुद गायकों ने सत्य में कल्पना का अंश इतना अधिक जोड़ दिया है कि उसकी ऐतिहासिकता समाप्त-सी हो गई है।

इतिहास की संरक्षा

यदि कुछ चारणों ने अपने ग्रंथों में वंशवृत्त और ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख भी किया है तो उनकी यथावत् संरक्षा नहीं हो सकी है। कुछ तो आक्रमणकारियों की विध्वंसकारिणी नीति में भस्म हो गए और कुछ जीवन की रक्षा के लिए भागने और घर छोड़ने की शीघ्रता में अरक्षित पड़े रह गये। वंश-धन के रूप में अंध कोठरियों में पड़े रहने के कारण भी अनेक ग्रंथ चूहों और दीमकों की उदर-पूर्ति में समाप्त हो गए। इस प्रकार आज जो हमारे समक्ष प्राचीन इतिहास के ग्रंथ उपलब्ध होते हैं वे इतिहास और साहित्य की विराट् निधि के अवशिष्ट रूप ही हैं जिनसे हम अतीत के सम्बन्ध में थोड़ी-बहुत सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। इस सामग्री में शिलालेख, ताम्रपत्र तथा सिक्कों के संकेतों से हम इतिहास को पुनर्निर्मित करते हैं और यथासंभव सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं।

अन्वेषण

राजस्थान के इतिहास की खोज करने में विदेशी विद्वानों का प्रयत्न सराहनीय है जिन्होंने अनेक चारण-ग्रंथों तथा साहित्यक कृतियों के आधार पर राजस्थान के इतिहास की रूपरेखा निर्मित की है। इन दो विद्वानों के नाम हैं, कर्नल टाड और डाक्टर टैसी टोरी। कर्नल टाड ने चारणों के ग्रन्थों तथा जनश्रुतियों का अधिक आश्रम लिया है और डाक्टर टैसी टोरी ने प्राचीन ख्यातों और साहित्यिक ग्रंथों को अपनी खोज का आधार बनाया है। दोनों विद्वानों ने राजस्थान के इतिहास और साहित्यिक कृतित्व पर जो कुछ भी कार्य किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही पूर्ण प्रामाणिक न समझा जावे किन्तु इस दिशा में एक अद्वितीय साहसिक कार्य अवश्य कहा जा सकता है।

भारतीय विद्वानों में कविराज श्यामल दास, श्री रामनारायण दूगड़, डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० जगदीश सिंह गहलौत और डा० रघुवीर सिंह का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने राजस्थान के इतिहास को अनेक भ्रान्तियों से मुक्त कर सच्चे अर्थों में अनुसन्धान का कार्य किया है और सत्य का निर्धारण किया है।

मेवाड़ का राजवंश

मेवाड़ का राजवंश सूर्यवंशी है। महाराज राम की परंपरा में जो वंश-सूत्र आगे चला उसमें लगभग छठी शताब्दी में गुहिल अथवा गुहदत्त नरेश हुआ जिसके नाम

'श्री गुहिल' का उल्लेख सन् 1869 में प्राप्त चाँदी के सिक्कों पर मिलता है। राजा गुहिल के उपरांत इस वंश में दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम राजा कालभोज (बापा रावल) का मिलता है जो आठवीं शताब्दी के मध्य में हुआ जिसका उल्लेख उसकी एक स्वर्ण मुद्रा में मिलता है। इसमें इनके सूर्यवंशी होने का भी उल्लेख है। आठवीं शताब्दी में ही वीरों का पवित्र तीर्थ चित्तौड़ इसके अधिकार में आया। इस वंश-परंपरा में अनेक वीर राजाओं का नाम आता है जिनमें रावल समरसिंह, रावल रतनसिंह, महाराणा हम्मीर, महाराणा लक्षसिंह (लाखाजी), महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भाजी), महाराणा संग्रामसिंह (राना साँगा) आदि प्रमुख हैं। इन महाराणाओं ने बड़ी से बड़ी आपत्ति आने पर भी अपने धर्म की तथा आत्म-सम्मान की रक्षा की है जिससे राजस्थान का नाम इस देश में ही नहीं, समस्त संसार में विख्यात हो गया। इसी वंश में सन् 1521 में महाराणा संग्रामसिंह के पुत्र महाराणा उदयसिंह का जन्म हुआ। महाराणा संग्रामसिंह के भाई पृथ्वीराज के दासी-पुत्र बनवीर ने राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए कुमार उदयसिंह का वध करना चाहा किन्तु खीची जाति की राजपूतनी पन्ना धाय ने अपने पुत्र की हत्या कराकर कुमार उदयसिंह की रक्षा कर ली। स्वामिभक्ति और राजभक्ति की यह गौरव गाथा इतिहास में स्मरणीय है।

महाराणा उदयसिंह

महाराणा उदयसिंह अत्यन्त सामान्य नरेश हुए। अपने वंश की विख्यात परम्परा तथा पिता राना साँगा जैसी वीरता उनमें नहीं थी। वे बहुत विलासी थे। उन्होंने बीस राजकुमारियों का वरण किया और उनसे उनके पच्चीस पुत्र तथा बीस पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। उनके पच्चीस पुत्रों में महाराणा प्रताप सबसे ज्येष्ठ थे। इन्हीं महाराणा प्रताप ने जीवन भर स्वतंत्रता के लिए युद्ध किया और बादशाह अकबर की कूटनीति के अनेक चक्रव्यूहों से अपनी मर्यादा सुरक्षित की। राजस्थान के राजवंशों में इतना प्रतापी महाराणा, जिसने विषम परिस्थितियों में अपना मस्तक ऊँचा रक्खा, दुर्लभ है। यह प्रकृति का कौतुक ही है कि अत्यन्त विलासी पिता से ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने जीवन भर स्वतंत्रता की साधना की और जिसने अपनी मातृभूमि की गौरव-गरिमा के लिए अपने समस्त सुखों का उत्सर्ग कर दिया।

महाराणा प्रताप

महाराणा प्रतापसिंह का जन्म 9 मई, सन् 1540 में हुआ। जिस बादशाह अकबर से इनका जीवन-भर संघर्ष चलता रहा, वह 14 अक्टूबर सन् 1542 में हुआ और इनसे लगभग दो वर्ष छोटा था। प्रारंभ से ही महाराणा प्रताप को संघर्ष और अशान्ति से लोहा लेना पड़ा। इनके पिता महाराणा उदयसिंह अपनी बीस रानियों में अपनी छोटी रानी भाटी से अधिक प्रेम रखते थे, इसलिए उन्होंने उस भाटी रानी के

पुत्र जगमल को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया। उत्तराधिकार तो ज्येष्ठ पुत्र प्रतापसिंह को ही मिलना चाहिए था किन्तु भाटी रानी के प्रभाव के कारण महाराणा उदयसिंह के नवें पुत्र कुमार जगमल को ही प्राप्त हुआ। यहीं से महाराणा प्रताप के जीवन में गृह-विग्रह से संघ र्ग का आरम्भ हुआ। कुमार जगमल उद्दण्ड और कायर था इसलिए मेवाड़ के सामन्तों ने महाराणा उदयसिंह की घोषणा का तिरस्कार कर कुमार प्रतापसिंह को ही मेवाड़ का महाराणा बनाया। परिणामस्वरूप कुमार जगमल अपने कुछ अन्य भाइयों सहित बादशाह अकबर की शरण में चला गया और मेवाड़ पर अपने ही सम्बन्धियों की सहायता से विदेशी आक्रमण का सूत्रपात हुआ।

सम्राट् अकबर

अकबर बड़ा ही नीतिज्ञ था। उसने राजपूत जैसी तेजस्वी जाति को निर्बल करने के लिए अनेक प्रलोभनों के जाल फैलाये। अनेक राजपूत राजाओं को उच्च पद प्रदान कर उसने अपने राज्य की शक्ति संगठित की। इतना ही नहीं, उसने राजपूत कुमारियों का वरण करने की नीति अपनाई। जो राजपूत नरेश निर्बल अथवा लोभी थे उन्होंने गौरव के साथ बादशाह अकबर की नीति में भाग लिया और मुगल साम्राज्य के अधीन होकर अपने को धन्य समझा। ऐसी परिस्थिति थी कि राजपूत परस्पर संगठित नहीं हो सके और एकाकी नरेश बादशाह अकबर की शाही सेना का सामना करने में असमर्थ थे, अतः उन्होंने बादशाह के समक्ष आत्म-समर्पण करने में भी अपना हित समझा। आमेर (जयपुर) के राजा भगवानदास ने अपनी बहन जोधाबाई का विवाह बादशाह अकबर के साथ कर दिया था। अपने भतीजे मानसिंह के लिए उसने बादशाह अकबर से सात हज़ारी मनसब भी प्राप्त किया था।

महाराणा प्रताप को यह सब सह्य नहीं था। उन्हें अपने पूर्वजों की मर्यादा सुरक्षित रखनी थी और बादशाह अकबर के नृशंस हाथों से मेवाड़ की रक्षा करनी थी। बादशाह अकबर महाराणा प्रताप के आत्म-सम्मान और जाति-गौरव की मान्यता से परिचित था। उसने महाराणा प्रताप को वश में रखने के लिए मानसिंह को भेजा। डूँगरपुर और उदयपुर को अधिकार में करने के उपरान्त मानसिंह अपनी शक्ति और प्रभुता के गर्व में राणा प्रतापसिंह से भेंट करने के लिए कमलमीर नामक स्थान पर आया किन्तु महाराणा प्रताप ने ऐसे आत्म-सम्मान-हीन व्यक्ति को अतिथि-सत्कार में भोजन पर आमंत्रित करके भी उसका मुख देखना उचित नहीं समझा। मानसिंह अपमानित होकर अकबर के पास आया और उसने महाराणा प्रताप पर आक्रमण करने के लिए आग्रह किया।

संघर्ष

यहीं से महाराणा प्रताप और अकबर के संघर्ष का आरंभ हुआ जिसका पर्यवसान हल्दीघाटी के युद्ध में हुआ। हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप ने अपने घोड़े

चेतक पर सवार होकर ऐसा युद्ध किया जिसका उदाहरण अन्यत्र नहीं मिल सकता। दोनों सेनाओं के अनेक वीर सैनिक मारे गए, किन्तु महाराणा प्रताप पराजित नहीं हुए। अकबर ने महाराणा प्रताप को अधिकार में लाने के लिए न जाने कितने यत्न किए। महाराणा प्रताप अरावली पर्वत के विविध दुर्गम प्रान्तों में कष्टपूर्वक निवास करते रहे, किन्तु बादशाह अकबर की शरण में नहीं आए। प्रताप द्वारा संधि-पत्र लिखने की कथा सर्वथा मिथ्या है।

अभी आशा की किरण विलीन नहीं हुई थी। महाराणा के प्रधानमन्त्री भामाशाह ने मेवाड़ की छिपी हुई सम्पत्ति महाराणा को समर्पित की जिससे महाराणा प्रताप ने पुनः सेना का संगठन कर मेवाड़ के अधिकांश भाग बादशाह अकबर से छीन लिये। वे चित्तौड़ वापस नहीं ले सके, इसी कष्ट में 57 वर्ष की अवस्था में, 19 जनवरी सन् 1597 को उन्होंने परलोक की यात्रा की। महाराणा प्रताप का व्यक्तित्व बड़ा तेजस्वी था। बलिष्ठ और ऊँचा कद, विशाल नेत्र, तनी हुई मूँछें, पुष्ट और सुदृढ़ वक्ष-स्थल ! लम्बी भुजाएँ जितनी आकर्षक थीं उतनी ही युद्ध में क्रियाशील भी थीं। उनका साहस अग्नि का ऐसा प्रदीप्त कुण्ड था जिसे विपत्तियों की वर्षा भी नहीं बुझा सकती थी। कर्नल टाड ने महाराणा प्रताप के सम्बन्ध में लिखा है कि अकबर की महान् आकांक्षा, शासन-कौशल और विपुल साधन मनस्वी महाराणा प्रताप के अदम्य शौर्य, यशस्वी साहस और निश्छल अध्यवसाय को शमित करने में नितांत असमर्थ थे। अरावली पर्वत की शायद ही कोई घाटी हो जो महाराणा प्रताप की वीरता, विजय आदि से पवित्र न हुई हो। वास्तव में महाराणा प्रताप समस्त देश के गौरव के ऐसे उज्ज्वल प्रतीक हैं कि शताब्दियों तक उनकी कीर्ति-किरण धूमिल नहीं होगी।

यह नाटक

महाराणा प्रताप पर प्रचुर साहित्य की रचना हुई है। काव्य, उपन्यास और नाटक की शैली में उनके उज्ज्वल चरित्र को अनेक रूपों में उपस्थित किया गया है। प्रस्तुत नाटक का उद्देश्य यही है कि अपने देश के इस वीर शिरोमणि के उज्ज्वल चरित्र को अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप में उपस्थित किया जाए। काव्य और उपन्यास वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक शैलियाँ हैं किंतु नाटक अभिनयात्मक शैली है। नाटक में मंच का संयोजन होने के कारण यह दृश्य-कला है जिसका प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष और स्थायी होता है।

प्रस्तुत नाटक तीन अंकों में लिखा गया है। प्रथम अंक अभिषेक-पर्व है। इसमें उन सभी परिस्थितियों का आकलन किया गया है जो राजस्थान में गृह-विद्रोह के समय उपस्थित हुआ करती थीं। उन विषम परिस्थितियों में जो महान् चरित्र हैं वे उसी प्रकार उभरकर सामने आ जाते हैं जिस प्रकार काले बादलों के क्रोड़ से चन्द्रमा का उदय होता है।

महाराणा उदयसिंह ने जो जगमल के उत्तराधिकार की घोषणा की थी उसकी प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न पात्रों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई है। उस प्रतिक्रिया में महाराणा प्रताप का उद्योग किस प्रकार परिस्थितियों को सन्तुलित करने में लगा है, यही उनके व्यक्तित्व के विकास की दिशा है। उसी में उनके महापुरुषत्व के बीज निहित हैं।

दूसरे अंक में मेवाड़ को व्यवस्थित करने में उनकी जो प्रेरणा और निष्ठा है, उसकी रूपरेखा विविध प्रसंगों में उपस्थित की गई है। राजा मानसिंह की नीति राजस्थान के लिए कितनी भयावह हो सकती है, इसका अनुमान महाराणा प्रताप के आक्रोश से स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः यही वह प्रसंग है जिसमें भविष्य के युद्ध की भूमिका स्पष्ट होती है। वह युद्ध कितना भयानक हुआ इसका प्रमाण हल्दीघाटी का इतिहास है। रंगमंच पर युद्ध की विभीषिका और सैनिकों की मार-काट स्पष्ट नहीं की जा सकती अतः उसका संकेत भर कर दिया गया है, किंतु यह संकेत इतना सशक्त है कि उससे एक ओर जहाँ महाराणा प्रताप की संगठनशीलता का परिचय मिलता है, दूसरी ओर उनकी युद्ध-नीति का कौशल भी स्पष्ट होता है। उनकी वीरता तो उनके प्रत्येक वाक्य से ही स्पष्ट हो जाती है।

तीसरे अंक में दो भावनाओं का मिश्रण है। पूर्वार्द्ध में हल्दीघाटी के युद्ध का परिणाम अवसाद लिए स्पष्ट होता है और उत्तरार्द्ध में मेवाड़ की मुक्ति के लिए पुनः अभियान प्रारम्भ होता है, जब भामाशाह द्वारा चित्तौड़ की सम्पत्ति महाराणा प्रताप को समर्पित की जाती है। महाराणा प्रताप का व्यक्तित्व कभी झुका नहीं किंतु मानव होने के नाते उनकी संवेदनशीलता प्रत्येक स्थल पर प्रकट होती है।

तीनों अंकों में कथावस्तु के अन्तर्गत ऐसे प्रसंग चुने गए हैं जो महाराणा प्रताप के समस्त जीवन को एक वीर पुरुष की परिभाषा में बाँध सकें। मंच से संबंधित होने के कारण नाटक की कथावस्तु को संक्षिप्त करने की आवश्यकता होती है किंतु इस संक्षिप्त रूप में नाटकीय व्यंजना का स्थान अनिवार्य होता है। यदि नाटक में व्यंजना न हो तो घटनाएँ नीरस बादलों की भाँति शून्य में बिखर जाती हैं।

इस भाँति प्रमुख घटनाओं द्वारा महाराणा प्रताप के जीवन की समस्त संवेदनाओं को उभारने की चेष्टा की गई है।

चरित्र-चित्रण

इस नाटक में चरिण-चित्रण मनोवैज्ञानिक सत्य को लेकर चला है। मेवाड़ की प्रशस्त परम्परा को हृदयंगम करने का एक मनोविज्ञान है तथा तत्कालीन राजनीति के आकर्षक प्रयोगों का दूसरा मनोविज्ञान है। इस प्रकार नाटक के पात्र सहज ही दो वर्गों में विभाजित हो जाते हैं जो इन दो विशिष्ट प्रकार के मनोविज्ञान से परिचालित होते हैं। यह स्पष्ट है कि महाराणा प्रताप की आत्मनिष्ठा और परम्परागत गौरव के समर्थन

के लिए जो पात्र आते हैं उनमें सबसे अधिक योग रानी वीरम का है। ऐसा ज्ञात होता है कि जो वृत्तियाँ अन्तराल से उभरकर धरातल पर आ जाती हैं, वे ही जीवन की परिस्थितियों के समानान्तर होकर चलने लगती हैं। विरोधी पात्रों का मनोविज्ञान किसी स्थायी आदर्श पर आधारित न होने के कारण स्थिर नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि दोनों प्रकार के मनोभावों के प्रत्यक्ष संघर्ष से उदात्त पात्र और भी ऊपर उठ जाते हैं और स्वार्थ से पोषित पात्र अधिक नीचे गिर जाते हैं। इस भाँति चरित्रों के सौन्दर्य का एक तुलनात्मक दृष्टिकोण भी उपस्थित हो जाता है। चरित्र-चित्रण का कौशल तभी स्पष्ट होता है जब पात्रों के समस्त गुणों का अभिव्यंजन उनके संस्कार और प्रभाव की सन्धि में हो सके। प्रत्येक पात्र अपने संस्कारों को मन में लिए रहता है। परिस्थितियाँ जब उसके सम्पर्क अथवा संघर्ष में आती हैं तब उनके प्रभाव से संस्कार स्थिर रहते हैं या बदल जाते हैं। यही पात्र के स्वभाव के निर्धारण में सहायक तत्त्व है और इसी तत्त्व के आधार पर चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य है। यदि इस कसौटी पर जगमल और मानसिंह तथा राणा प्रताप और रानी वीरम का चरित्र परखा जाए तो उनके वास्तविक स्वभाव के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी हो सकती है।

संवाद

इस नाटक के सभी पात्र अपने स्वभाव के अनुसार भाषा का प्रयोग करते हैं। इस नाटक में जहाँ एक ओर शुद्ध हिन्दी के संवाद हैं, वहाँ दूसरी ओर उर्दू में लिखे गए संवाद भी हैं। भाषा पात्रों को लेकर चलती है। मैं तो समझता हूँ कि भाषा के प्रयोग से ही पात्रों के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। जो भारतीय आदर्शों में विश्वास रखते हैं वे शुद्ध भाषा का प्रयोग स्वभावत: करेंगे, जो मुसलमानी संस्कारों में पोषित हैं वे उर्दू का प्रयोग करेंगे, इसलिए पात्रों के व्यक्तित्व के निर्धारण में संवादों की भाषा में परिवर्तन हुआ है! इससे जहाँ मनोभावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है वहाँ पात्रों के व्यक्तित्व की सुरक्षा भी हुई है।

संवाद नाटक के मनोभावों की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम है। कथानक और चरित्र दोनों के समीकरण में संवाद की व्यवस्था है। यह जितना मनोरंजक होगा, उतना ही नाटक का अनुरंजनकारी रूप सशक्त होगा, इसीलिए संवाद में हास्य और व्यंग्य का प्रमुख स्थान है।

उद्देश्य

इस नाटक का उद्देश्य प्रात:स्मरणीय महाराणा प्रताप के उज्ज्वल और पराक्रमी व्यक्तित्व का उद्घाटन करना तो है ही, साथ ही भारत के नैतिक आदर्शों की रक्षा तथा मातृभूमि के लिए सर्वस्व उत्सर्ग करने की प्रेरणा भी है। आज के युग में समाज और व्यक्ति में अनेक कुण्ठाएँ उत्पन्न हो गई हैं। स्वार्थ और लिप्सा ने मानव-चरित्र

में अनेक हीन ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर दी हैं। राष्ट्रीयता की दृष्टि धुँधली हो गई है। आत्म-सम्मान सामान्य लाभ के हाथों बिक गया है और मर्यादा एवं अनुशासन परिहास के पर्याय बन गए हैं। इन समस्त विषमताओं में महाराणा प्रताप का चरित्र स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। आज के समाज में जीवनी साहित्य के प्रति किसी के मन में आस्था नहीं रह गई है, क्योंकि अहं की वृद्धि प्रतिदिन मानव-चरित्र को दूषित करती जा रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में जीवन की आकांक्षाओं का मूल्य आँका जाए और उसे अपने कर्त्तव्यों में उतारने की चेष्टा की जाए। मुझे विश्वास है कि महाराणा प्रताप का चरित्र इस दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली और महान् है।

पूर्ण आत्म-विश्वास और श्रद्धा से मैं यह नाटक देश की सेवा में समर्पित करता हूँ।

—लेखक

पात्र-सूची

पुरुष

महाराणा प्रताप	:	मेवाड़ के महाराणा
शक्तिसिह जगमल सगर रायसिंह	:	महाराणा प्रताप के भाई
अमरसिंह चन्द्रसिंह	:	महाराणा प्रताप के पुत्र
सामन्त राव झालौर सामन्त चन्दावत सामन्त रामसिह	:	महाराणा प्रताप के सामन्त
सालुम्बरा नरेश रामसिह तंबर (ग्वालियर नरेश)	:	महाराणा प्रताप के सहायक
भील सरदार	:	महाराणा प्रताप का मित्र
जैतसिंह	:	बिदनौर का राठौर
सुलेमान नक्की	:	सूरत का सौदागर
जुलफ़िक़ार अली खाँ	:	राजा मानसिंह का मुसाहिब
राजा मानसिह	:	सम्राट् अकबर के सप्त-हजारी मनसबदार
भामाशाह	:	मेवाड़ का कोषाध्यक्ष
सुरजनसिंह	:	कुंभलगढ़ का दुर्ग-रक्षक
दूत	:	दो सरदार

स्त्री

वीरमदे	:	महाराणा प्रताप की महारानी
कानन	:	भील-कन्या

प्रथम अंक

अभिषेक-पर्व

समय : सूर्योदय के पूर्व **स्थान** : कुंभलगढ़ **काल** : 1572 ई०

[**स्थिति** : कुंभलगढ़ का दुर्ग सुनसान वनभूमि में किसी उन्मत्त सिंह की भाँति तनकर अपनी शक्ति तोल रहा है। वह उषाकाल की वेला में अलसाया हुआ-सा सुनसान वन-प्रांत को बोझिल बना रहा है। दुर्ग के टिमटिमाते हुए दीपक उसकी आँखों की भाँति झपकते हुए दृष्टिगत हो रहे हैं।

दूर पर घंटे और घड़ियाल की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। कुछ ही क्षण बाद शंखनाद होता है जो निस्तब्ध नीरवता में एक लकीर-सा खींचता हुआ शून्य में विलीन हो जाता है। बीच-बीच में कोई पक्षी चीख उठता है।

एक ओर से गम्भीरता की चाल से एक सामन्त का प्रवेश। प्रातःकाल के धुँधलेपन में उसकी वेश-भूषा अस्पष्ट-सी दीख पड़ती है। फिर भी सिर पर उठी हुई पगड़ी, शरीर पर अँगरखा और पैजामे की रूप-रेखा लक्षित होती है। कमर में तलवार। वह गहराई से दाएँ-बाएँ देखता है। फिर सामने दृढ़तापूर्वक खड़े होकर अधिकारपूर्ण सधे स्वर में पुकारता है—]

सामन्त : दुर्ग पर कौन है ?

[नीरवता में स्वर गूँज उठता है। कुछ क्षणों बाद वह फिर पुकारता है—]

दुर्ग पर कौन है ? (**भीतर से कड़ा स्वर**) सावधान !

सामन्त : मैं सामन्त राव झालौर हूँ। दुर्गरक्षक !

दुर्गरक्षक : (**प्रवेश कर**) घणी खमा, अन्नदाता !

सामन्त : सिंह-द्वार पर कोई नहीं है ?

दुर्गरक्षक : दस सामन्त और एक हजार सैनिक हैं। मैं सुरजनसिंह हूँ। भगवान् एकलिंग की आरती हो रही थी। सब प्रणाम करने गए हैं। मैं सिंह-द्वार से ही प्रणाम कर रहा था। कुछ देर हुई। पधारिए।

सामन्त : सालुम्बरा-नरेश और सामन्त चन्दावत कृष्ण पधारे ?

दुर्गरक्षक : दूत ने सूचना दी थी कि सूर्योदय होने पर महाराज और सामन्त पधारेंगे।

अभी तो सूर्योदय नहीं हुआ, आते ही होंगे ।

सामन्त : बहुत आवश्यक कार्य है। ग्वालियर-नरेश महाराज रामचन्द्र तंवर की ओर से कुछ सूचना मिली ?

दुर्गरक्षक : वे भी आ रहे हैं, राव राजा !

सामन्त : वे अनेक सामन्तों से मिल रहे हैं। उन्हें आने में शायद कुछ विलम्ब हो।

दुर्गरक्षक : तो आप भीतर पधारिए, राव राजा !

सामन्त : नहीं, मैं बाहर ही सालुम्बरा-नरेश और सामन्त चन्दावत कृष्ण की प्रतीक्षा करूँगा। तुम भीतर के गुप्त मार्ग से भील सरदार को सूचना दो कि वे भी आकर हम लोगों से मिलें ।

दुर्गरक्षक : जैसी आज्ञा, अन्नदाता ! (**प्रस्थान**)

सामन्त : (**टहलते हुए**) परिस्थिति···बड़ी ही···भयानक है। भगवान् एकलिंग ही रक्षा करें !···एकलिंग ! तुम्हीं मेवाड़ के रक्षक हो !···तुम्हारी जय हो ?

[बाहर से एक भारी शिला के लुढ़कने का शब्द तलवार लिए हुए जगमल का प्रवेश]

जगमल : (**आते ही**) भगवान् एकलिंग की नहीं, मेरी जय बोलो।

सामन्त : (**शीघ्रता से मुड़ कर**) कौन ? (**घूरकर देखता हुआ**) कुमार जगमल···

जगमल : कुमार जगमल नहीं, महाराणा जगमल···

(**अट्टहास करता है। एक-एक शब्द पर जोर देकर बोलता है**) म···हा···रा···णा ज···ग···म···ल।

सामन्त : महाराणा उदयसिंह के रहते तुम कैसे महाराणा बन सकते हो ?

जगमल : क्यों ? क्यों नहीं बन सकता ? मैं महाराणा का पुत्र हूँ। उनका उत्तराधिकारी हूँ ।

सामन्त : उत्तराधिकारी तो प्रताप को होना चाहिए।

जगमल : प्रतापसिंह को ? (**हँसकर**) ओ···तुम प्रतापसिंह के मामा हो। इसलिए प्रतापसिंह को होना चाहिए ।

सामन्त : नहीं । इसलिए कि प्रतापसिंह महाराणा उदयसिंह के सबसे ज्येष्ठ पुत्र हैं। और मेवाड़ राज्य में उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलता है। तुम तो महाराणा के छोटे पुत्र हो ।

जगमल : बड़े-छोटे का प्रश्न नहीं है, सामन्त ! यह महाराणा की इच्छा का प्रश्न है। महाराणा की इच्छा है कि मैं उनका उत्तराधिकारी बनूँ, मैं मेवाड़ का महाराणा भी बनूँ। तो मैं समस्त मेवाड़ का महाराणा हूँ। (**तनकर खड़े होते हुए**) 'मेवाड़ के महाराणा श्री जगमल सिंह !' यही बात सुनाने के लिए तुम्हें खोजता हुआ आया हूँ।

सामन्त : कुमार जगमल ! तुम महाराणा प्रताप की इच्छा से भले ही आत्म-प्रशंसा करो किन्तु महाराणा की इच्छा मेवाड़ को मान्य नहीं होगी। कुमार जगमल ! मेवाड़ महाराणा के ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी मानता आया है, और इस दृष्टि से मेवाड़ के उत्तराधिकारी होंगे कुमार प्रतापसिंह !

जगमल : तुम विद्रोही हो, सामन्त ! तुम महाराणा की इच्छा के विरुद्ध बोल रहे हो।

सामन्त : मैं मेवाड़ की परम्परा की बात कर रहा हूँ।

जगमल : परम्परा से महाराणा महान् है।

सामन्त : नहीं परम्परा से ही महाराणा को पद प्राप्त होता है।

जगमल : नहीं, सामन्त ! परम्परा का मोह बदला जा सकता है, महाराणा नहीं बदला जा सकता। और तुम्हारा यह व्यवहार महाराणा के प्रति विद्रोह है। तुम्हें इसका दण्ड दिया जायेगा। तुम्हारी जीभ काट दी जाएगी।

सामन्त : कुमार जगमल ! जीभ काटने वाले के हाथ पहले काट दिए जाएँगे। विद्रोह के क्षणों में जीभें भी तलवारें बन जाती हैं और उनके सामने फ़ौलाद की तलवार भी कुंठित हो जाती है।

जगमल : तो तुम्हारी जीभ विद्रोही की तलवार है ?

सामन्त : विद्रोह की तलवार तो तुम लिए हो, जगमल ! महाराणा उदयसिंह के जीवित रहते तुम अपने को महाराणा कहते फिरते हो ?

जगमल : महाराणा का जीवन तो समाप्तप्राय है। वे अपनी मृत्यु की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं।

सामन्त : अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं ? ऐसे समय तो तुम्हें उनकी शैया के समीप रहना चाहिए, कुमार जगमल !

जगमल : उसके लिए मेरी माँ पर्याप्त हैं। उसकी आँखों में यथेष्ट आँसुओं के सागर हैं। पिता को मेरे आँसुओं की आवश्यकता नहीं है। फिर मुझे साहस का संचय भी करना है।

सामन्त : साहस का संचय ?

जगमल : हाँ, साहस का संचय। राज्याधिकार करुणा के आँसुओं से नहीं लिखे जाते। वे लिखे जाते हैं—आग की चिनगारियों से ! पिता की मृत्यु तो राज्याधिकार का स्वर्ण-सोपान है जिसका निर्माण कुछ ही क्षणों में हो जाएगा।

सामन्त : तुम्हें लज्जा आनी चाहिए, कुमार जगमल ! कि तुम अपने पिता की मृत्यु में राज्याधिकार का सुख देखते हो !

जगमल : प्रत्येक उत्तराधिकारी को देखना चाहिए। राज्याधिकार गर्व और गौरव की वस्तु है, विशेषकर जब मेरे पिता ने इस बात की घोषणा कर दी है। तुमने वह घोषणा नहीं सुनी ?

सामन्त : उस घोषणा में केवल कंठ है, वह भी किसी दूसरे का कंठ है। हृदय नहीं है।

जगमल : तात्पर्य ? (**कठोर दृष्टि**)

सामन्त : तात्पर्य यह कि वह घोषणा महाराणा ने नहीं की, उनसे कराई गई है।

जगमल : किसने कराई है ?

सामन्त : तुम्हारी माँ ने जिन्होंने महाराणा पर अधिकार कर रखा है।

जगमल : (**चीख कर**) सामन्त ! तुम अपनी सीमा से बाहर जा रहे हो।

सामन्त : कठोर सत्य को क्रोध से नहीं छिपाया जा सकता। फिर से सुन लो, कुमार जगमल ! महाराणा की घोषणा में तुम्हारी माँ का कंठ-स्वर है।

जगमल : (**तलवार निकाल कर**) सावधान !

सामन्त : तलवार तौलने की शक्ति है तुममें ?

[तलवार निकाल लेता है]

जगमल : विद्रोही ! दुस्साहसी ! सम्हल···

[जगमल तलवार से प्रहार करता है। सामन्त झालौर उसे तलवार पर झेल कर भरपूर हाथ से वार करता है। दो क्षण द्वन्द्व होता है। सामन्त के कठोर प्रहार से कुमार जगमल के हाथ की तलवार छूटकर दूर जा गिरती है।]

जगमल : (**भय से चीखकर**) रुको, सामन्त !

सामन्त : (**रुककर**) मैं स्वयं शस्त्र-हीन पर प्रहार नहीं करूँगा। तलवार उठाओ, कुमार जगमल !

[कुमार जगमल नीचा सिर किए हुए तलवार उठाता है।]

सामन्त : प्रहार करो !

जगमल : नहीं। युद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। (**तलवार म्यान में रखते हुए**) प्रहार कर मैं तुम्हें मारना नहीं चाहता था। मैं तो तुम्हारी शक्ति की परीक्षा लेना चाहता था।

सामन्त : (**मुस्कुरा कर**) परीक्षा ? ले ली परीक्षा ?

जगमल : हाँ, अच्छी तलवार चलाते हो। तलवार चलाने की ऐसी कला, कम वीरों में पाई जाती है। यह कला तो बड़े भाग्य से आती है। तुम्हें मेरा अंग-रक्षक होना चाहिए। इसलिए एक बात कहना चाहता हूँ। समझ लो कि तुम पर प्रसन्न होकर एक उपहार देना चाहता हूँ, और···और वह उपहार यह है कि···तुम नये महाराणा (**अपनी ओर संकेत करते हुए**) जगमलसिंह के···प्रमुख हाँ, प्रमुख···प्रमुख नहीं, सर्वप्रमुख सामन्त बनोगे ? मैं तुम्हें अभी से प्रमुख सामन्त घोषित करता हूँ। तुम देवगढ़ जागीर के अधिकारी होगे। उसमें 125 ग्राम हैं और उसकी वार्षिक आय है अस्सी हजार !

सामन्त : कुमार जगमल ! उपहार देने के व्यर्थ अभिमान में मत भूलो ! जाकर अपने

पिता के अन्तिम समय में उन्हें शान्ति दो और उनकी सेवा करो।

जगमल : मैं तुम्हारा उपदेश सुनने नहीं आया, झालौर ! अपने अभिमान में तुम इतने बड़े उपहार का मूल्य नहीं समझे। तुम्हारे इस अभिमान का उत्तर संग्राम-भूमि में ही दूँगा। यहाँ एकांत में तुमसे युद्ध कर अपनी शक्ति का अनुचित प्रयोग करूँ ! अभी तुम्हें छोड़ता हूँ। अपने साथी सामन्तों को एकत्र कर संग्राम-भूमि में मिलना, इस समय जाता हूँ।

[वेग से प्रस्थान]

सामन्त : (**कुछ देर तक कुमार जगमल के जाने की दिशा देखता है**) कायर कुमार ! अपने···झूठे अभिमान में अपने को महाराणा घोषित करते फिरते हैं···उधर महाराणा उदयसिंह अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं···कुमार प्रतापसिंह तुम्हारा भाग्य···तुम्हारा भाग्य अहंकारियों का क्रीड़ा-कंदुक बना है ! प्रताप··· कुमार प्रतापसिंह···

[बाहर दौड़ते हुए घोड़े के टापों की ध्वनि आती है। शीघ्रता से सामन्त चन्दावत का प्रवेश]

चन्दावत : सामन्त झालौर ! तुम यहाँ आ गये ?

झालौर : सूर्योदय के पहले से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। सालुम्बरा-नरेश नहीं पधारे ?

चन्दावत : वे सामन्तों से बातें करते हैं। वे यहाँ कुछ विलम्ब से पहुँचेंगे; तुम्हें सूचना देने के लिए उन्होंने मुझे पहले भेज दिया। कुमार जगमल यहाँ आए थे ?

झालौर : महाराणा बनकर आये थे। सामन्त चन्दावत !

चन्दावत : महाराणा बनकर ?

झालौर : मेवाड़ के महान महाराणा।

चन्दावत : जब मैं इस ओर आ रहा था तब वे अपने घोड़े को तेज़ दौड़ाते हुए भागे जा रहे थे। मुझे देखकर उन्होंने अपने घोड़े को और तेज़ दौड़ा दिया।

झालौर : आपके सामने अपने को महाराणा घोषित नहीं किया ?

चन्दावत : देखने से बहुत भयभीत मालूम देते थे।

झालौर : यहाँ उन्होंने साहसी बनने का प्रयत्न किया था।

चन्दावत : नहीं बन सके ?

झालौर : मैंने जब उन्हें 'कुमार जगमल' नाम से पुकारा तो तनकर खड़े हो गए और बोले—'कुमार जगमल' नहीं, 'महाराणा जगमल' कहो (**एक-एक शब्द पर जोर देते हुए**) 'म···हा···रा···णा···ज···ग···म··ल !' महाराणा उदय के पुत्र···उनके उत्तराधिकारी···

चन्दावत : मैं यह जानता हूँ कि महाराणा ने कुमार जगमल को उत्तराधिकारी घोषित

किया, कुमार प्रताप को नहीं। किन्तु महाराणा उदयसिंह तो अभी जीवित हैं।

सामन्त : वे भयानक रूप से अस्वस्थ हैं। सामन्त चन्दावत !

चन्दावत : भयानक रूप से ?

सामन्त : हाँ, यह बात राजमहल से छिपाई जा रही है, किन्तु कुमार जगमल अपने उत्तराधिकार के अभिमान में सब लोगों से उनकी भयानक अस्वस्थता की बात करते फिरते हैं। और सामन्त चन्दावत ! महाराणा स्वस्थ ही कब रहे ? बयालीस वर्ष की अवस्था तक बीस विवाह, पच्चीस पुत्र और बीस पुत्रियाँ !

चन्दावत : कितना अच्छा होता कि बयालीस वर्ष की अवस्था तक वे बीस युद्ध करते, पच्चीस दुर्ग जीतते और बीस राज्यों से मेवाड़ की सीमा बढ़ाते !

झालौर : आज तक इतने विलासी महाराणा मेवाड़ के सिंहासन पर नहीं बैठे। बेचारी पन्ना धाय क्या जानती थी कि अपने पुत्र को बनवीर की तलवार से कटवा कर वह जिस मेवाड़ के उत्तराधिकारी की रक्षा कर रही है, वह मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए युद्ध नहीं करेगा, बीस रानियों को लेकर रंगमहल में हास-परिहास करेगा।

चन्दावत : और सामन्त झालौर ! उसके पास इतना विवेक भी नहीं रहेगा कि वह अपने ज्येष्ठ पुत्र कुमार प्रतापसिंह का उत्तराधिकार छीनकर अपने छोटे निर्बल पुत्र कुमार जगमल को सौंप देगा।

झालौर : और वह जगमल, जो अपने पिता की अस्वस्थता में उनकी सेवा न कर अपने को महाराणा घोषित करता फिरेगा और अट्टहास करते हुए अपने पिता के अन्तिम क्षणों की बात कहेगा।

चन्दावत : अन्तिम क्षणों की ?

झालौर : हाँ-हाँ, अन्तिम क्षणों की। अभी कुमार जगमल कह रहे थे कि महाराणा अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। कुमार जगमल तो चाहते हैं कि महाराणा का देहान्त शीघ्र ही हो जाए जिससे वे मेवाड़ के महाराणा बन सकें।

चन्दावत : मेवाड़ का महाराणा-पद प्राप्त करना उनके लिए ऐसा सरल नहीं है।

झालौर : किन्तु वे तो अपने अभिमान में इसे सरल समझते हैं। कहते थे कि यही सुनाने के लिए तुम्हें खोजता हुआ आया हूँ क्योंकि तुम कुमार प्रतापसिंह के मामा हो ! प्रतापसिंह नहीं···मैं मेवाड़ का महाराणा हूँ। मैंने उनकी बात का विरोध किया तो उन्होंने मुझ पर तलवार चलाई।

चन्दावत : अच्छा, बात यहाँ तक बढ़ी ?

झालौर : हाँ, और जब द्वन्द्व-युद्ध में उनकी तलवार हाथ से छूट गई तो मुझे अपने पक्ष में करने के लिए उन्होंने मुझे देवगढ़ की जागीर देने का प्रलोभन दिया। जब इसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली तो वे मुझे रण-क्षेत्र का निमन्त्रण देकर चले गए।

चन्दावत : यह मेवाड़ का दुर्भाग्य है, सामन्त ! मैं नहीं जानता था कि वह उच्छृखल

कुमार अपने अभियान का डंका अपने पिता की मृत्यु के पूर्व ही पीटना आरम्भ कर देगा ! महाराणा के उत्तराधिकार की घोषणा ने जैसे उसके अभिमान के पंख लगा दिये हैं। वह सब दिशाओं में उड़ रहा है और अपने पंखों की दूषित वायु से सारे मेवाड़ को अपमानित कर रहा है ! तुम उसके पंख नहीं काट सकते ?

झालौर : अभी ही काट देता, सामन्त चन्दावत ! किन्तु वे अपनी तलवार उठा कर भाग गए !

चन्दावत : **(सोचते हुए)** महाराणा की घोषणा में परिवर्तन नहीं हो सकता ?

झालौर : संभव नहीं है, सामन्त ! महाराणा उदयसिंह अपनी भाटी रानी से बड़ा प्रेम रखते हैं। यह भाटी रानी कुमार जगमल की माँ हैं, उन्होंने महाराणा को विवश कर दिया है, वे राज्य का उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र कुमार प्रतापसिंह को न देकर कुमार जगमल को दें। महाराणा की घोषणा में पुरुष-कंठ नहीं है, नारी-कंठ है।

चन्दावत : भाटी रानी ने कैकेयी का आदर्श अपने सामने रखा है कि ज्येष्ठ पुत्र राम को उत्तराधिकार न देकर भरत को दिया जाए !

झालौर : सत्य है, सामन्त ! किन्तु अन्तर यह है कि भरत भ्रातृ-भक्त थे, कुमार जगमल भ्रातृ-दोही हैं। अपने बड़े भाई कुमार प्रतापसिंह से वे घृणा करते हैं।

चन्दावत : घृणा करते हैं, यह तो मैं जानता हूँ, किन्तु मेरा विश्वास है कि मेवाड़ का गौरव कुमार प्रतापसिंह के हाथों ही रक्षित रहेगा, कुमार जगमल के हाथों नहीं।

झालौर : इसके लिए हमें प्रयत्न करना होगा।

चन्दावत : हम सब इसके लिए प्रयत्न करेंगे। महाराज सालुम्बरा तो पिछली रात भर सामन्तों से मिलते रहे। सभी सामन्त महाराणा उदयसिंह की घोषणा से अप्रसन्न हैं। वे कुमार प्रतापसिंह का पक्ष लेकर विद्रोह करने के लिए तैयार हैं।

झालौर : यह समय विद्रोह का नहीं है, सामन्त चन्दावत ! दिल्ली का बादशाह अकबर यही तो चाहता है कि मेवाड़ में विद्रोह हो और वह शाही फौज भेज कर मेवाड़ पर शाही झंडा फहरा दे। वह समझता है कि मेवाड़ की स्वतन्त्रता भी राजा भगवान-दास की बहिन है जिसके साथ वह विवाह कर सकता है। वह यह नहीं समझ सकता कि मेवाड़ की राज्य-लक्ष्मी बिजली की भयानक अग्नि-रेखा है जो तड़पेगी तो बादशाह के साथ दिल्ली का सिंहासन भी ध्वस्त कर देगी···सम्पूर्ण रूप से ध्वस्त कर देगी।

[दूत का प्रवेश]

दूत : **(हाथ जोड़ कर)** घणी खमा, अन्नदाता ! एक घुड़सवार यह सूचना दे गया कि महाराणा उदयसिंह जी इस संसार में नहीं रहे।

झालौर, चन्दावत : **(एकसाथ चौंककर)** नहीं रहे ?

दूत : यह भी कहा है, अन्नदाता ! कि कुछ सरदारों ने महाराणा जी की मृत्यु-शैया पर ही कुमार जगमल को महाराणा बना दिया है !

चन्दावत : भयानक दुर्घटना ! अच्छा··· **(सोचते हुए)** तुम जाओ।

दूत : जो आज्ञा ! **(प्रस्थान)**

चन्दावत : (गहरी साँस लेकर) तो महाराणा उदयसिंह की मृत्यु और कुमार जगमल का राज्याभिषेक—दोनों ही कार्य एकसाथ हो गए !

झालौर : मेवाड़ के इतिहास में ये दोनों ही पृष्ठ कलंकित रहेंगे।

चन्दावत : बप्पा रावल, महाराणा साँगा और महाराणा कुंभा ने जिस मेवाड़ के मस्तक पर मुकुट रक्खा, उसी पर कलंक का टीका लगाने का कार्य महाराणा उदयसिंह ने किया। अब महाराणा जगमल उस कलंक के टीके को कलंक-रेखा बनाने का कार्य करेंगे।

झालौर : इस कलंक-रेखा को केवल महाराणा प्रतापसिंह ही मिटा सकते हैं।

चन्दावत : ठीक कहते हो। चलो भीतर चलकर अन्य सामन्तों के साथ मिलकर भविष्य के कार्यक्रम पर गंभीरता से विचार किया जाए।

झालौर : चलो। मैं गुप्त मार्ग से अन्य सामन्तों को भी बुला लूँगा।

[दोनों भीतर चले जाते हैं। कुछ क्षणों तक शान्ति रहती है। फिर शान के साथ महाराणा जगमल और उनके छोटे भाई कुमार सगरसिंह आते हैं। कुमार सगरसिंह चारों ओर सावधानी से देखकर आगे बढ़ते हैं।]

जगमल : दोनों सामन्त भाग गए, कुमार सगरसिंह ! मैं जानता हूँ कि दोनों कितने कायर हैं। हम लोगों को तो पिता की मृत्यु होने भर की प्रतीक्षा थी। अब पिता की घोषणा के अनुसार मैं महाराणा हूँ। **(गर्व से चारों ओर देखते हैं)** एँ··· और जब मैं महाराणा हूँ तो अब ये साधारण सामन्त **(दुर्ग के भीतर संकेत करते हुए)** किस बल पर मेरा सामना कर सकते हैं ? तलवार बाँधते हैं, किन्तु धार तलवार पर नहीं है, उनकी जीभ पर ही है ! कायर ! कलंकी ! ! अब तो मैं हूँ और मेरा आतंक है जो मेवाड़ के कण-कण पर छाया हुआ है···महाराणा का आतंक !

सगर : यह तो होगा ही, महाराणा जगमल ! यह तो होगा ही, जब मैं तुम्हारे साथ हूँ। अब कौन सामन्त हमारे और तुम्हारे सामने खड़ा हो सकता है ?

जगमल : हमारे पिताजी थे। वे सामन्तों पर शासन करना नहीं जानते थे। बात करते थे और हँस देते थे। कहीं हँस देने से शासन चलता है ? देखो, इस तरह चलना चाहिए। **(शान से चलते हैं)** इस तरह भौंहों पर बल आना चाहिए। **(भौंहें सिकोड़ते हैं)** इस तरह मुख कुछ तिरछा रखना चाहिए। **(मुख टेढ़ा करते हैं)** इस तरह बोलना चाहिए—**(शान से बोलते हैं)** सामन्त ! आज मेरी महारानी की दाहिनी आँख क्यों फड़क···क्यों फड़क रही है ?

सगर : धन्य हो, महाराणा ! आपकी प्रत्येक बात में महाराणापन टपक रहा है। मैंने

अपनी पत्नी से पूछा था कि कुमार जगमल के महाराणा होने पर उनकी क्या सम्मति है। उन्होंने कहा···उन्होंने कहा··· (**सोचते हुए**) क्या कहा था ? ···कहा था कि···कुछ स्मरण नहीं आता।

जगमल : कोई बात नहीं। कही हुई बात तो बीत जाती है। जैसे···जैसे···लड़ा हुआ युद्ध भी समाप्त हो जाता है। आगे सन्धि की बात चलती है। शक्ति को संगठित करने के लिए महाराणा को सन्धि की बात चलानी पड़ती है।

सगर : क्यों नहीं, सन्धि की बात चलानी पड़ेगी। अगर युद्ध न हो तो सन्धि कैसी ? और अगर सन्धि न हो तो···तो युद्ध कैसा ? दोनों साथ चलते हैं जैसे···जैसे···पुरुष और स्त्री···पुरुष युद्ध और स्त्री संधि ! ठीक है न ?

जगमल : बिलकुल ठीक ! लेकिन कभी उलटा भी हो जाता है, स्त्री युद्ध बन जाती है और पुरुष सन्धि। हमारे पिताजी ने सन्धि का अच्छा उदाहरण रक्खा है।

सगर : इस सम्बन्ध में भी मैंने अपनी स्त्री से पूछा था, उसने कहा था कि पुरुष को सदैव ही सन्धि करनी चाहिए।

जगमल : तुम्हारी पत्नी बहुत समझदार है। मैं भी सन्धि को उतना ही महत्त्व देता हूँ जितना सन्धि को ! ···नहीं, नहीं···जितना युद्ध को और युद्ध में भी मैं आगे बढ़ने का साहस रखता हूँ।

सगर : अवश्य रखना चाहिए। देखिए, मैं भी साहस के साथ आगे बढ़ता हूँ। (**गर्व से चलता है**) पूछिए क्यों ? तो मैंने अपनी पत्नी से पूछा। उसने कहा—साहस के साथ आगे बढ़ना चाहिए। उसने मुझे अपनी कटार भी दी थी। देखो, यह कटार! (**कमर से कटार निकाल कर दिखलाता है।**)

जगमल : अरे, कटार निकालने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। मेरी यह तलवार ही काफ़ी है। अभी कुछ देर पहले मैंने इसी तलवार से सामन्त झालौर से द्वन्द्व-युद्ध किया था। ऐसे-ऐसे वार किए कि सामन्त झालौर की तलवार उसके हाथ से छूटकर दूर जा गिरी और उसने भूमि पर गिरकर अपना मुँह फाड़ दिया। मैंने कहा—डर मत। मैं शस्त्र-हीन पर प्रहार नहीं करता। तलवार उठा और मुझ पर प्रहार कर। उसमें इतना साहस कहाँ ! ···एँ···साहस कहाँ ! (**अट्टहास करता है**) वह अपनी तलवार उठा कर भाग गया !

सगर : मेवाड़ के महाराणा की तलवार में ऐसी ही शक्ति होनी चाहिए कि उसके सामने तलवार क्या, ढाल भी झुक जाए, धनुष तो झुका ही रहता है। मैं भी तो तुम जैसे महाराणा का भाई हूँ, प्रमुख सामन्त सगरसिंह। एक बार एक विद्रोही से मेरा भी द्वन्द्व-युद्ध हुआ था। मैंने अपनी पत्नी से पूछा। उसने स्वीकृति देकर कहा—हाँ, द्वन्द्व करो। उसमें मैंने ऐसे-ऐसे हाथ दिखलाए कि अगर मेरी तलवार न टूट जाती तो मैं उसकी हड्डी-हड्डी तोड़ देता। किन्तु कोई बात नहीं, बाद में मैंने अपनी पत्नी से पूछ कर उसे क्षमा कर दिया।

जगमल : हाँ, क्षमा कर देना हम लोगों का भूषण है। महाराणा होने पर चाहता था कि इस गढ़ के भीतर जो एकलिंग का मन्दिर है, वहाँ जाकर प्रणाम कर लेता, किन्तु यहाँ कोई भी नहीं है।

सगर : तो क्या हानि है ! चलो, हम लोग भीतर चलें।

जगमल : नहीं, महाराणा का स्वागत करने के लिए यहाँ गढ़ के सामन्तों को रहना चाहिए। महाराणा की मर्यादा के साथ हमें भगवान् एकलिंग के मन्दिर में प्रवेश करना चाहिए।

सगर : कोई बात नहीं। सामन्त नहीं हैं तो भीतर होंगे। वहाँ वे आपका स्वागत कर लेंगे। फूलों की माला तो मैं अपने साथ ही लाया हूँ। यह मत समझना कि ये फूलों की मालाएँ साधारण हैं। ये मालाएँ मेरी पत्नी ने अपने हाथों से गूँथी हैं। ये मालाएँ छिपाकर मैंने अपने गले में पहन रक्खी हैं। अवसर आते ही तुम्हें पहना दूँगा ? देखोगे ? (**अपने अँगरखे की तनी खोलता है।**)

जगमल : नहीं, नहीं, रहने दो। मालाएँ तो मैं भगवान् एकलिंग को चढ़ाना चाहता था।

सगर : तो ये मालाएँ भगवान् एकलिंग को चढ़ा देना, लेकिन···लेकिन···

जगमल : लेकिन क्या ?

सगर : भगवान् एकलिंग तो सर्पों की माला पहनते हैं। सचमुच इन फूलों की मालाओं का क्या होगा, महाराणा ? (**सोचता है**) अच्छा···यदि कुछ देर तुम यहीं ठहरो तो मैं किसी सँपेरे···हाँ, सँपेरे को खोज कर ले आऊँ। उससे साँप लेकर···लेकिन इस सम्बन्ध में मैंने अपनी पत्नी से कुछ नहीं पूछा।

जगमल : प्रत्येक कार्य में तुम्हारी पत्नी का स्थान है, तो जाओ, पूछकर आओ।

सगर : अब पिताजी···महाराणा भी तो पत्नी से ही पूछकर सब कार्य करते थे, तो मैं भी करता हूँ। लेकिन पहले उसकी कही हुई बात को मानना है। उसने कहा था कि महाराणा जगमल का साथ कभी मत छोड़ना। लेकिन अगर तुम कहते हो, क्योंकि तुम नये महाराणा हो,···तो···तो जाता हूँ।···जाऊँ ?

[नेपथ्य में सहसा देखने लगता है।]

ओः महाराणा···महाराणाजी, सावधान हो···जाओ···सावधान हो जाओ··· तलवार लेकर···प्रताप आ रहा है। प्रताप आ रहा है। कहीं हमसे युद्ध न करे ! मेरी पत्नी की कटार···यह···यह भी तुम ले लो। मैं···तो···पिता की मृत्यु से इतना दुखी हूँ कि बार-बार मेरी आँखों में आँसू आ रहे हैं···(**आँख में उँगली लगाकर**) देखो, ये आँसू !

जगमल : सगरसिंह ! मेरी इच्छा है कि प्रतापसिंह के आने पर तुम मेरे साथ रहोगे।

सगर : मैं रहता तो अवश्य, महाराणा जी ! किन्तु मुझे पिता की याद आ रही है।

जगमल : पिता की याद तो मुझे भी आ सकती है।

सगर : किन्तु तुम अपने को सम्हाल सकते हो, क्योंकि तुम महाराणा हो ! प्रतापसिंह

बहिनों में से किन-किन को तुम शाही हरम की बेगमें बनाना चाहते हो ?

जगमल : कुमार प्रतापसिंह ! चुप रहो। मेरी नीति की आलोचना करने का अधिकार किसी को नहीं है। महाराणा महाराणा ही है !

प्रताप : (**दाँत पीसकर**) बार-बार महाराणा ! महाराणा बनने का अभिमान करने वाले जगमल ! मेवाड़ के सिंहासन पर बैठने वाले तुम्हीं एक महाराणा नहीं हो। बप्पा रावल की कीर्ति सुनी है, जिन्होंने ग़ज़नी के बादशाह सलीम को युद्ध-क्षेत्र में हराकर उसका राज्य मेवाड़ में मिला लिया था ? तुमने रावल जैतसिंह का नाम सुना है जिन्होंने दिल्ली के सुलतान इल्तुतमश से युद्ध कर उन्हें रणभूमि से पीछे हटा दिया था ? तुम रावल रतनसिंह का नाम भी जानते होगे जिन्होंने चित्तौड़ की रक्षा करते हुए वीर-गति प्राप्त की। तुमने महाराणा हमीर का नाम भी सुना होगा जिन्होंने मुहम्मद तुग़लक की शाही सेना को पराजित किया था। इतिहास में 'हमीर-हठ' अमर है, महाराणा !

जगमल : मैं अधिक कुछ नहीं सुनना चाहता।

प्रताप : तुम कुल-कलंक हो, जगमल ! जिसे अपने पूर्वजों की कीर्तिगाथा अच्छी नहीं लगती। जिस दुर्ग के नीचे तुम खड़े हो, जगमल ! वह हमारे पूर्वज महाराणा कुंभा का बनवाया हुआ है। मांडू के महमूद खिलजी को युद्ध में हरा कर महाराणा कुंभा ने छः महीने तक उसे चित्तौड़ में बन्दी बनाकर रखा, बाद में बिना शर्त के छोड़ दिया। इस विजय की स्मृति में महाराणा कुंभा ने चित्तौड़ में एक विशाल कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण किया, वह तुमने देखा ?

जैतसिंह : अनेक वर्षों तक उस कीर्ति-स्तम्भ की रक्षा का भार मुझ पर था।

रायसिंह : और मैंने भी अनेक बार कीर्ति-स्तम्भ के शिखर पर बैठ कर सूर्योदय का दृश्य देखा है।

प्रताप : अब महाराणा जगमल कुंभलगढ़ के शिखर पर बैठकर मेवाड़ के सूर्यास्त का दृश्य देखना चाहते हैं। महाराणा जगमल ! हम लोग सूर्यवंशी हैं। इस सूर्यास्त के दृश्य में कहीं हमारे वंश का सूर्य ही न डूब जाए !

जगमल : इस सूर्यास्त के बाद चन्द्रमा की शीतल चाँदनी आएगी।

प्रताप : चन्द्रमा की शीतल चाँदनी नहीं, मूर्ख महाराणा ! इस सूर्यास्त के बाद घोर अमावस्या का अंधकार है। बादशाह अकबर की कूटनीति समस्त राजपूताने के लिए कितनी भयानक है, यह तुम नहीं जानते। राजपूतों की बहादुरी को वह अच्छी तरह जानता है। उसे मालूम है कि लड़ाई में जीत कर राजपूताने को अधिकार में लाना कठिन है। इसलिए उसने राजपूतों को प्रलोभन देकर अपना सेवक बना लिया है। अम्बर के राजा मानसिंह को उसने सातहज़ारी मनसब दिया है। बूंदी के राव रतन हाड़ा और बीकानेर के राव रामसिंह पंचहज़ारी मनसबदार बनकर उसके ग़ुलाम बन गए हैं। अब शायद मेवाड़ का राणा जगमल भी अकबर का पंचहज़ारी मनसब--

दार बनकर उसके दरबार में हाथ बाँधकर खड़ा होगा।

जैतसिंह : ऐसा नहीं होगा, राणा प्रताप ! हम सब मेवाड़ के सेवक रहेंगे।

रायसिंह : राणा प्रताप ! मैं भी कुमार जगमल की बात न मानकर तुम्हारी आज्ञानुसार चलूँगा।

प्रताप : तब मैं तुम दोनों को मुक्त कर दूँगा। एकमात्र महाराणा जगमल ही अकबर की सेवा में पहुँचेंगे।

जगमल : जैतसिंह और रायसिंह भले ही तुम्हारे प्रभाव में आ जावें, प्रताप ! मुझ पर तुम्हारी बातों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सकता।

प्रताप : जो अपने स्वार्थ में अन्धा हो चुका है, उस पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? किन्तु महाराणा जगमल ! यह सोचो कि मेवाड़ की स्वतंत्रता विदेशियों द्वारा आज तक कलंकित नहीं हुई। चित्तौड़गढ़ को अनेक बार विध्वंस किया गया, किन्तु वीरों ने संख्या कम होने पर भी युद्ध किया और वीर-गति प्राप्त की। नारियों ने जौहर व्रत में अपने शरीर को अग्नि-कुंड में होम कर दिया और अपने सम्मान को सुरक्षित रखा। जयमल और फत्ता की कीर्ति क्या युद्धभैरवी बनकर तुम्हें युद्ध का निमंत्रण नहीं देती ? जयमल लँगड़े हो गए थे किन्तु कल्ला राठौर के कंधे पर चढ़कर उन्होंने दोनों हाथों में तलवारें लेकर हज़ारों शत्रुओं को मृत्यु के घाट उतार दिया और स्वयं मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए धराशायी हो गए। सोलह वर्षीय फत्ता चूड़ावत ने जैसी वीरता दिखलाई वैसी वीरता शताब्दियों तक मेवाड़ को अमर कर सकती है। बादशाह अकबर उनकी वीरता पर मुग्ध हो गया था। क्या तुम भी वीर जगमल और वीर फत्ता की भाँति बादशाह अकबर को अपनी वीरता से मुग्ध नहीं कर सकते ?

जगमल : समय पर वैसी वीरता दिखलाई जा सकती है।

प्रताप : तो इसी समय वैसी वीरता क्यों नहीं दिखलाते ? तुम महाराणा बनो, मैं तुम्हारा सामन्त बनकर तुम्हारी सहायता करूँगा। यद्यपि मैं तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता हूँ, किन्तु मैं महाराणा नहीं बनूँगा। तुम्हारा सहायक बनूँगा। लो, यह संधि-पत्र इसे फाड़ दो। **(संधि-पत्र आगे बढ़ाते हैं।)**

जगमल : संधि-पत्र तो मैं नहीं फाड़ सकता। तुम किसी भी समय मुझे पराजित कर राणा बन सकते हो। मेवाड़ के सामन्त तुम्हारा ही साथ देंगे। मुझे भी तो सहायता के लिए कोई शक्ति चाहिए।

प्रताप : और यह शक्ति अकबर की ही होगी ? मेवाड़ के पड़ौसी राज्यों की नहीं हो सकती ?

जगमल : पड़ौसी राज्य सब अकबर के मित्र हैं।

प्रताप : मित्र हैं या दास ? वह उन्हें कठपुतलियों की तरह नचाता है। क्या मेवाड़ का महाराणा भी नाचना चाहता है ?

द्वितीय अंक

युद्ध-पर्व

समय : प्रात:काल **स्थान :** कमलमीर के समीप उदय सागर
काल : 1573 ई०

[**स्थिति** : लता-वृक्षों से आवेष्टित एक मण्डप। मण्डप में तख्त की भाँति ऊँचा बैठने का स्थान, उसके दोनों ओर बाँस के बने हुए आसन हैं। एक कोने में दूर भगवान् एकलिंग की सुन्दर मूर्ति है। स्थान-स्थान पर ढाल-तलवार के समुच्चय टँगे हुए हैं।

परदा उठने पर दीख पड़ता है कि महाराणा प्रताप भगवान् एकलिंग की पूजा कर रहे हैं। आरती कर घंटी बजाने के उपरान्त वे प्रणाम करते हैं। फिर खड़े हो हाथ जोड़ कर भगवान् एकलिंग से कहते हैं।]

प्रताप : भगवान् एकलिंग ! क्षमा करना। मैं तुम्हें किसी राजमन्दिर में प्रतिष्ठित न कर अरावली के जंगलों-जंगलों में भटकाता फिर रहा हूँ।···अरावली के पर्वत तो तुम्हें अच्छे लगते होंगे ? हिम-मण्डित कैलास पर निवास करने के कारण वन-प्रान्त तुम्हें प्रिय होंगे। भक्त भी भगवान् के साथ है। यदि वन-प्रान्त में रहते हुए मैं मेवाड़ का मस्तक न झुकने दूँ तो जीवन-भर मैं पर्वतों के बीच रह सकता हूँ। प्रभु ! आशीर्वाद दो, बल दो कि तुम्हारी भक्ति का प्रताप ही इस भक्त प्रताप के रोम-रोम में जाग्रत रहे और मेवाड़ भूमि पहाड़ की कन्दराओं में भी स्वतंत्र रहे। तुम्हारी जय हो !

[नेपथ्य की ओर देखते हैं।]

प्रताप : (**पुकार कर**) कुमार चन्द्रसिंह !

[कुमार चन्द्रसिंह का प्रवेश]

चन्द्र : (**सिर झुका कर**) आज्ञा, पिताजी।

प्रताप : भगवान् एकलिंग को प्रणाम करो।

[कुमार चन्द्रसिंह प्रणाम करता है।]

प्रताप : भगवान् एकलिंग की प्रेरणा है कि मातृभूमि चित्तौड़ का उद्धार करने के लिए हमें अपने सम्पूर्ण जीवन को बदलना है।

चन्द्र : आपकी जैसी आज्ञा होगी, पिताजी ! वैसा ही होगा।

प्रताप : जीवन की समस्त विलासिता का अन्त करना होगा।

चन्द्र : जो आज्ञा।

प्रताप : सोने-चाँदी के पात्रों में भोजन करने का जो तुम्हारा अभ्यास हो गया है, उसका परित्याग करना होगा। उन पात्रों के स्थान पर वृक्षों के पत्तों का उपयोग होगा। मिष्टान्न के स्थान पर कन्द-मूल भी हो सकते हैं।

चन्द्र : जैसी आज्ञा।

प्रताप : सोने के लिए रेशम और मखमल की शैया नहीं होगी। कठोर भूमि पर सामान्य वस्त्र बिछाकर ही शयन करना होगा।

चन्द्र : ऐसा ही होगा।

प्रताप : परिवार और वंशवालों से कह दो कि इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाएगा। भगवान् एकलिंग की आज्ञा है कि जब तक चित्तौड़ भूमि स्वाधीन नहीं होगी तब तक सीसोदिया वंश का कोई भी व्यक्ति—स्त्री अथवा पुरुष—सुख और विलासिता के जीवन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रक्खेगा।

चन्द्र : जैसी आज्ञा पिताजी! भगवान् एकलिंग के आदेश में और आपके आदेश में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। इन आदेशों का अक्षरशः पालन किया जाएगा। परिवार के सभी सदस्यों को आपकी आज्ञा मान्य होगी।

प्रताप : ठीक है। मैं भील सरदार से मिलना चाहता हूँ।

चन्द्र : वे सूर्योदय के पूर्व से ही आपकी सेवा में उपस्थित हैं।

प्रताप : उन्हें भेजो।

चन्द्र : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

प्रताप : (**टहलते हुए सोचते हैं**) विलासिता का अन्त! साधना···तपस्या···

(भील सरदार का प्रवेश)

प्रताप : आओ, भील सरदार!

भील सरदार : महाराणा की जय!

प्रताप : हमने भी तुम्हारे साथ तपस्या का व्रत स्वीकार किया है। इस अरावली पर्वत की कन्दराओं में रह कर शत्रुओं से युद्ध करना और मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए सुख के दिनों को फूलों की भाँति बलि-वेदी पर समर्पित करना। और राजसी जीवन इतना सुखकर नहीं है, भील सरदार! जितना सुखकर तुम्हारे वनवासियों के साथ रह कर कन्दमूल खाना है। स्वतन्त्रता का एक क्षण परतंत्रता की शताब्दियों से भी महान् है।

भील सरदार : आप मेवाड़ के गौरव हैं, महाराणा!

प्रताप : हमारे ही भाई जगमल, शक्तिसिंह और सगर बादशाह अकबर की शरण में चले गए हैं। हमारे अनेक सामन्त और सरदार शाही सेना से युद्ध करने में मारे जा चुके हैं। किन्तु हमें इसकी चिन्ता नहीं है। हम अपनी बिखरी हुई शक्तियों की एक बार फिर संगठन करेंगे। और बादशाह अकबर की सेना से युद्ध करेंगे। तुम्हारी स्वामिभक्ति हमारा साहस बढ़ाती है।

भील सरदार : महाराणा ! आप चिन्ता न करें। हमारे दस हज़ार भील सैनिक धनुष-बाण लेकर आपके साथ हैं। तुरहियों और सिंगों के बजते ही पल भर में एक जगह इकट्ठे हो सकते हैं।

प्रताप : मुझे तुम सब पर पूरा विश्वास है, साथ ही अपनी प्रजा पर भी। अपने सामन्तों के साथ विचार कर मैंने मेवाड़ के राज्य में घोषणा की कि जिन्हें हमारा साथ देना स्वीकार है, वे सभी अपने परिवारों के साथ अपने घर-द्वार छोड़ कर इस पर्वत पर आ जाएँ, तो समस्त मेवाड़ की प्रजा इस अरावली पर्वत पर सिमिट आई है।

भील सरदार : महाराणा ! आपके प्रति प्रजा की इतनी भक्ति है कि आपकी घोषणा होते ही दूसरे क्षण उसकी पूर्ति हो जाती है। आपकी घोषणा के अनुसार मेवाड़ के सभी नगर सूने हो गए हैं। बूनस और बेरिस नदियों द्वारा सींची जाने वाली उपजाऊ भूमि बिलकुल सूनी पड़ी हुई है। जो खेत सदा हरे-भरे रहते थे, वे अब सूखे पड़े हुए हैं। उनमें जंगली घास ही उग रही है। जो नगर प्रजा के कोलाहल से भरे रहते थे, वे अब सुनसान पड़े हुए हैं। बड़े-बड़े बाजारों में एक भी व्यापारी नहीं है।

प्रताप : भील सरदार ! मेवाड़ राज्य के जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन लाने से मुझे कष्ट तो हुआ किन्तु हमारी नीति की बहुत बड़ी विजय हुई। मेवाड़ राज्य के उजड़ जाने से एक तो आक्रमण करने वाली शाही फ़ौज भूख से मरेगी और दूसरे यह कि इस राज्य से होने वाली मुग़ल साम्राज्य की सारी आमदनी मारी जाएगी। मुग़ल बादशाह का सुनहला स्वप्न अधूरा रह गया !

भील सरदार : सचमुच, महाराणा ! इस बात की खबर आ चुकी है कि आपकी नीति से शाही खज़ाने का बहुत बड़ा नुकसान हुआ है। आगे चल कर···

[नेपथ्य में भारी हलचल होती है। 'मुझे छोड़ दो', 'मुझे रिहा कर दो' की आवाज़ होती है। दूसरा स्वर डाँटते हुए कहता है—'चुप रहो, चुप रहो, महाराणा जी के सामने चलो !']

प्रताप : यह कैसी गड़बड़ है ?

भील सरदार : मैं अभी देखता हूँ।

[भील सरदार के जाने के पूर्व ही दो सरदार एक मुसलमान सौदागर को पकड़ कर लाते हैं।]

सरदार : महाराणा जी ! आपकी घोषणा न मान कर यह मुसलमान सौदागर मेवाड़ राज्य के मार्ग से जा रहा था। इसने प्राण-दण्ड पाने का कार्य किया है।

प्रताप : तुम मुसलमान सौदागर हो ?

सौदागर : हुज़ूर का इक़बाल बुलन्द रहे। ग़ुलाम ज़रूर सौदागर है लेकिन हुज़ूर यहाँ

का नहीं, सूरत शहर का सौदागर है। हुजूर की सल्तनत से मेरा कोई वास्ता नहीं है। ग़ुलाम एक महज़ मामूली सौदागर है जो 'इस हाथ दे-उस हाथ से ले, को मामूली तरतीब देता है। हुजूर के साये को नहीं छू सकता तो हुजूर की सल्तनत का साया छू कर निकल जाता हूँ। और तिजारत के सिवाय हुजूर! किसी दूसरे हुनर में न दखल है, न खलल! हुजूर इंसाफ़ के हारूँ-उल-रशीद हैं। आपके रूबरू क्या गुज़ारिश करूँ!

प्रताप : तुम्हारा नाम क्या है?

सौदागर : ग़ुलाम को सुलेमान नक़्वी कहते हैं।

प्रताप : तो तुम तिजारत किसके साथ करते हो?

सौदागर : हुज़ूर! बादशाह सलामत फ़तह बहादुर जलालुद्दीन अकबर ग़ाज़ी के हुक्म से हिन्दुस्तान का माल लेकर फ़िरंगियों के साथ तिजारत करता हूँ।

प्रताप : बादशाह अकबर के हुक्म से?

सौदागर : हुज़ूर! बादशाह सलामत फ़तह बहादुर जलालुद्दीन अकबर ग़ाज़ी और सल्तनते मेवाड़ के आला हज़रत आफ़ताबे मरातिब के रौनक़बख्श महाराना परताप के जल्लो जलाल में मैं कोई फ़र्क़ मान सकता हूँ? दोनों ही परवरदिगार के दो हसीन पैग़म्बर हैं। बन्दा तो दोनों ही जल्वागरों के रहमो-करम का मोहताज है। महज़ छोटी-सी तिजारत करता हूँ। आपके ये सरदार साहबान (**सरदारों की ओर संकेत करते हुए**) खामखाँ मेरी जान को ही तिजारत का माल समझ कर ज़ब्त करना चाहते हैं। हुज़ूर! इन्हें हुक्म दे दीजिए कि ये अपने भाले शरीफ़ को इस नाचीज़ के जिस्म से ज़रा हटाकर रक्खें। ज़रा हटाकर! (**सरदारों से**) ए··· ज़रा हटा कर। हुज़ूर की दुहाई है!

पहला सरदार : महाराणा जी! आपकी आज्ञा है कि मेवाड़ राज्य के भीतर से किसी विदेशी व्यापारी···

सौदागर : तो हुज़ूर! मैं कोई बदेसी ब्यौपारी···

दूसरा सरदार : ज़रा चुप रहिए।

पहला सरदार : आपकी आज्ञा है कि मेवाड़ राज्य के भीतर से किसी विदेशी व्यापारी को आने-जाने से रोक दिया जाए। यह व्यापारी मुग़ल बादशाहत की तरफ से फ़िरंगियों के साथ व्यापार करता और बादशाह की आज्ञा के अनुसार सारा रुपया बादशाही खज़ाने में जमा करता है।

प्रताप : तो तुम मुग़ल बादशाहत की तरफ से व्यापार करते हो, सुलेमान नक्वी?

सौदागर : हुज़ूर! बादशाह सलामत ने मेरी इज़्ज़त अफ़ज़ाई की है। किस तरह हुज़ूर!, आप भी ज़र्रे को आफ़ताब बना देते हैं। बड़ों की बात तो हुज़ूर, बड़े ही जान सकते हैं, ग़ुलाम तो टके भर का आदमी है।

प्रताप : तो सूरत शहर से कितने रुपयों की तिजारत करके लौट रहे हो?

सौदागर : हुज़ूर ! तिजारत ही क्या ! हुज़ूर के साये में दिल्ली से सूरत और सूरत से दिल्ली तक दस-पाँच आदमियों के साथ चहलक़दमी कर लेता हूँ।

दूसरा सौदागर : महाराणा जी ! इसके साथ चार सौ बीस आदमी हैं।

सौदागर : अब हुज़ूर की वसीअ नज़र में क्या दस-पाँच और क्या चार सौ बीस। इन सब आदमियों के साथ बन्दा हुज़ूर की ख़िदमत में ख़िराजे अदब पेश करता लेकिन हम सबके मनहूस साये से कहीं हुज़ूर की नज़र न मैली हो, इस वजह से ख़िदमत में आने की जुरअत नहीं करता।

प्रताप : ठीक है, लेकिन मैं जानना चाहता हूँ कि तुम कितना रुपया दिल्ली ले जा रहे हो ?

सौदागर : अब हुज़ूर ! रुपया क्या है ! कहने भर का रुपया है। उतना तो हुज़ूर, आप रोज़ ख़ैरातो-ज़कात में हम जैसे मोहताजों को तक़सीम कर दिया करते हैं।

पहला सरदार : महाराणा जी ! यह सूरत से दस लाख रुपया शाही खज़ाने में ले जा रहा है।

सौदागर : सरदार जी ! क्या दस लाख रुपया हुज़ूर की नज़र में कोई दौलत है ! वल्लाह ! आप भी क्या बात करते हैं। दस लाख तो हुज़ूर के क़दमों की खाक के बराबर भी नहीं है।

प्रताप : सरदार ! इस सौदागर को प्राण-दण्ड न दिया जाए किन्तु बिना आज्ञा मेवाड़ से होकर जाने के अपराध में इसका रुपया मेवाड़ के कोष में जमा कर दिया जाए। इसे ले जाओ।

सरदार : जैसी आज्ञा !

सौदागर : हुज़ूर दरियादिल हैं। जाँ बख़्शी के लिए हुज़ूर ! हज़ार जान से शुक्रिया··· लेकिन रुपया···रुपया···हुज़ूर के ज़हूर में रुपया क्या चीज़ है ?

सरदार : महाराणा का निर्णय हो गया। तुम्हारी जान बच गई, ख़ैर समझो ! अब यहाँ से बाहर चलो।

[दोनों सरदार **सौदागर** को बाहर ले जाते हैं। सौदागर 'हुज़ूर, ग़रीब परवर··· हुज़ूर ग़रीब परवर···रहम···' कहता जाता है।]

प्रताप : (भील सरदार से) भील सरदार ! ऐसे ही व्यापार के रुपयों से अकबर बादशाह का खज़ाना भरता है और उसी खज़ाने के रुपयों से वे राजपूताने में बड़ी सेना भेजते हैं। यह व्यापार बन्द करना होगा। मेवाड़ के सभी रास्तों पर भीलों का कड़ा पहरा डाल दो। जितने भी व्यापारी मेवाड़ के रास्ते से होकर जावें, उनका रुपया छीन लिया जाए और उस रुपये से राजपूतों की बड़ी से बड़ी सेना का संगठन किया जाए।

भील सरदार : जैसी आज्ञा, महाराणा !

प्रताप : तुम राजपूत सरदारों को शीघ्र ही यह आज्ञा सुनाओ .

भील सरदार : जैसी आज्ञा, महाराणा ! (**जाता है।**)

प्रताप : (**पुकार कर**) और सुनो ! सामन्त झालौर को मेरे पास भेज दो।

भील सरदार : जो आज्ञा । (**प्रस्थान**)

प्रताप : (**टहलते हुए**) व्यापार ! अकबर बादशाह का व्यापार ! मारवाड़, आमेर, बीकानेर और बूँदी—ये सब भी व्यापारी बन गए हैं। बादशाह अकबर के साथ तिजारत करने में इन्होंने अपनी बहिन और बेटियों का भी सौदा किया है···और अब ये बादशाह अकबर के साथ एकमात्र मेवाड़ के साथ युद्ध करने में सहायक होंगे।

झालौर : महाराणा की जय !

प्रताप : सामन्त झालौर ! बादशाह अकबर का खज़ाना फिरंगियों के साथ तिजारत करने से भर रहा है और युद्ध की संभावना निकट भविष्य में ही दीख रही है। हमारे दुर्गों की क्या व्यवस्था है ? कमलमीर, गोगुण्डा और दूसरे पहाड़ी दुर्गों की मरम्मत हो गई ?

झालौर : हाँ, महाराण, प्रत्येक दुर्ग अब इतना सुदृढ़ हो गया है कि हम किसी भी दुर्ग को केन्द्र बनाकर शाही फ़ौज से युद्ध कर सकते हैं।

प्रताप : अकबर बादशाह द्वारा अजमेर पर आक्रमण होने से मारवाड़ के राजा मालदेव और आमेर के राजा भगवानदास ने जो आत्म-समर्पण किया और राजा भगवान-दास ने अपनी बहिन जोधाबाई का जो विवाह बादशाह अकबर के साथ किया, उसका अन्य राजपूत राजाओं ने विरोध नहीं किया ?

झालौर : मन ही मन में विरोध तो किया, महाराणा ! किन्तु बादशाह अकबर की प्रचण्ड शक्ति को देखकर किसी राजपूत नरेश का साहस नहीं होता कि वह सिंह के मुख में हाथ डाल सके। यह बल और साहस एकमात्र आप में ही है। इसी साहस को देखकर कूटनीतिज्ञ अकबर ने एक चाल और चली है।

प्रताप : मैं सुनना चाहता हूँ।

झालौर : अकबर बादशाह अपनी शक्ति के सामने आपको भी झुकाना चाहता है। आपके अधिकांश भाइयों को प्रलोभन देकर उसने अपनी ओर मिला लिया है। आमेर के कछवाह राजा मानसिंह को उसने अपना प्रधान सेनापति बनाया है क्योंकि राजा मानसिंह जोधाबाई का भतीजा है । अकबर बादशाह ने राजा मान-सिंह के द्वारा ही अनेक राजपूत नरेशों को अपने सामने नत-मस्तक कराया है। अब उसी राजा मानसिंह का प्रयोग वह आपके ऊपर करना चाहता है।

प्रताप : राजा मानसिंह का प्रयोग वह मुझ पर करना चाहता है ?

झालौर : हाँ, महाराणा ! शोलापुर के युद्ध में विजयी होकर राजा मानसिंह लौट रहे हैं। वे वहाँ की अपार सम्पत्ति अपने साथ लाए हैं। दिल्ली लौटते समय वे आपके

अतिथि होना चाहते हैं। वे आपको शोलापुर का राज्य या वहाँ की अपार सम्पत्ति देंगे और आपके साथ बादशाह अकबर की सेवा में आपको ले जाना चाहेंगे। भील गुप्तचरों से यह सूचना मुझे कुछ देर पहले ही मिली है।

प्रताप : तो राजा मानसिंह इस समय कहाँ हैं ?

झालौर : वे उदयसागर की सीमा पर पहुँच गये हैं। सेना तो उन्होंने पीछे छोड़ दी है। कुछ सेनपतियों के साथ वे यहाँ पहुँच रहे हैं। एक दूत यह संदेश लेकर भी आया है।

प्रताप : किन्तु राजा मानसिंह को इस बात की आशा है कि वे मुझे अपने साथ बादशाह अकबर के पास ले जा सकेंगे ?

झालौर : राजा मानसिंह सभी तरह की राजनीति में चतुर हैं। साम, दाम, दण्ड, भद— जहाँ जैसी नीति की आवश्यकता होती है, वे वहाँ उसका प्रयोग करते हैं।

प्रताप : तो हमें भी देखना है कि वे हम पर किस राजनीति का प्रयोग करते हैं। संसार भी देख ले कि सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म के संघर्ष में किसकी जय होती है।

झालौर : यह इतिहास का बड़ा मनोरंजक अध्याय होगा, महाराणा !

प्रताप : ठीक है, यदि राजा मानसिंह हमारे अतिथि होना चाहते हैं, तो अतिथि-सत्कार की मर्यादा के अनुसार उन्हें भोजन का निमंत्रण दे दो। वे हमारी निर्भीकता का स्वर सुनें और हम उनकी नीति के व्यंजनों को परखें। जाओ, उनके भोजन की व्यवस्था करो और कुमार अमरसिंह को मेरे पास भेज दो।

झालौर : जैसी आज्ञा, महाराणा ! (**प्रस्थान**)

प्रताह : और सुनो ! (**सामन्त झौलोर लौटते हैं**) महारानी देवला से भी कह देना कि आज भोजन के लिए एक नये मेहमान राजा मानसिंह आ रहे हैं। उनके हाथ यदि कोई भेंट बेगम जोधाबाई को भेजना चाहें तो भेज दें।

झालौर : जो आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

प्रताप : (**टहलते हुए सोचते हैं**) साम, दाम, दण्ड, भेद···राजा मानसिंह यह नीति बादशाह अकबर के साथ बरत सकते थे ? ···किन्तु नीति के ये भेद वे अपने ही राजपूत भाइयों के साथ अकबर बादशाह के हित में बरत रहे हैं ? मानसिंह··· मानसिंह···तेरा नाम अपमान सिंह क्यों नहीं रखा गया !

[कुमार अमरसिंह का प्रवेश]

अमरसिंह : पिता जी ! क्या आज्ञा है ?

प्रताप : राजा मानसिंह उदयसागर की सीमा पर पहुँच गए हैं।

अमरसिंह : इसकी सूचना है, पिता जी !

प्रताप : वे भोजन पर हमारे मेहमान होंगे।

अमरसिंह : सामन्त झालौर ने इसकी सूचना दी है। उन्होंने शीघ्र ही भोजन तैयार

करने की आज्ञा दी है।

प्रताप : राजा मानसिंह राजपूताने के अन्य राज्यों को समझते हैं, उसी भाँति मेवाड़ को भी समझते हैं। वे अन्य राज्यों की तरह मेवाड़ का मस्तक भी बादशाह अकबर के चरणों में झुकाना चाहते हैं।

अमरसिंह : यह तो कठिन है, पिता जी !

प्रताप : कठिन ही नहीं, अमर ! प्रताप के रहते हुए यह असंभव है।

अमरसिंह : सत्य है, पिता जी !

प्रताप : अतिथि-सत्कार हमारा धर्म है। राजा मानसिंह को भोजन पर आमंत्रित अवश्य किया जाए, किन्तु मैं उस भोज में सम्मिलित नहीं हो सकूँगा। मेरी ओर से तुम उनका आतिथ्य करोगे।

अमर : जैसी आज्ञा। यदि उन्होंने भोज में आपके न आने का कारण पूछा तो···।

प्रताप : कोई भी कारण दे सकते हो।

अमर : जैसी आज्ञा।

प्रताप : मैं सारी परिस्थिति देखने के लिए समीप ही रहूँगा, अवसर आने पर उत्तर दे सकता हूँ। तब तुम्हारी आवश्यकता न होगी।

अमर : जैसा आपका आदेश हो।

प्रताप : मैं कुछ विश्राम करूँगा। तुम इस बाहरी कक्ष में रहोगे। यदि कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो तो मुझे सूचित करोगे। इसी स्थान पर राजा मानसिंह का स्वागत हो।

अमर : जैसी आज्ञा।

प्रताप : मैं अब चलूँगा। जय एकलिंग ! (**प्रस्थान**)

[कुछ देर तक अमरसिंह सोचते हैं, फिर कक्ष को एक बार परीक्षण की दृष्टि से देखते हैं। कुछ आसनों का स्थान-परिवर्तन करते हैं। इधर-उधर झूमने वाली लता-बेलियों को ठीक करते हैं। ढाल-तलवार की आकृतियों को सीधा करते हैं। एक दूत का प्रवेश]

दूत : कुमार की जय ! राजा मानसिंह के पास से एक सामन्त आए हैं।

अमर : (**लताओं को ठीक करते हुए**) उन्हें भेज दो।

[दूत प्रणाम कर चला जाता है और कुमार लताओं को ठीक करने में लग जाते हैं।]

अमर : (**सोचते हुए**) राजा मानसिंह के पास से एक सामन्त ! तब···राजा मानसिंह कब आवेंगे ?···मानसिंह के···सामन्त।

[एक सामन्त मुस्लिम वेश-भूषा में प्रवेश करता है। सिर पर पगड़ी, आँखों में

सुरमा, बढ़ी हुई दाढ़ी, कमर में तलवार। आते ही तीन बार लम्बा सलाम करता है।]

मु० सामन्त : हुज़ूर आला की ख़िदमत में आदाब पेश करता हूँ। बन्दे का नाम सैयद ज़ुलफ़िक़ार अली ख़ाँ है। बुलन्द इक़बाल राजा मानसिंह हफ़्तहज़ारी का एक अदना-सा सिपहसालार हूँ।

अमर : जय एकलिंग ! आपका स्वागत है। आइए, आपकी क्या सेवा करूँ !

ज़ुलफ़िक़ार : ख़िदमत का हक़ तो इस बन्दे को है, आलीजाह ! हुज़ूर तो आफ़ताबे-हक़ीक़त राना परताप के शहज़ादे ज़हूरे इक़बाल कँवर अमरसिंह साहब हैं।

अमर : आप ठीक कहते हैं।

ज़ुलफ़िक़ार : तो हुज़ूर ! बुलन्द इक़बाल राजा मानसिंह हफ़्तहज़ारी ने मुझे आपके रूबरू हाज़िर होने का फ़ख्र अता फ़रमाया है। आफ़ताबे मेवाड़ बुलन्द इक़बाल राना परताप तो यहीं रौनक़ अफ़रोज़ हैं ?

अमर : जी हाँ, यहीं हैं। विश्राम कर रहे हैं।

ज़ुलफ़िक़ार : क्यों नहीं, क्यों नहीं, हुज़ूर ! सल्तनते मेवाड़ का मुस्तक़बिल उन्हीं की आला तबीयत पर मुनहसिर है। आख़िर उन्होंने सल्तनते मेवाड़ का जो इख़्तियार सम्हाला है, क़सम क़ुराने पाक की, ऐसा इख़्तियार फ़रिश्ते भी नहीं सम्हाल सकते। क्या शान है ! क्या बाँकी अदा है ! वाह ! बादशाह सलामत तक उनकी हक़ीक़त पसन्दी की दाद देते हैं। ख़ुदा उन्हें आबाद रक्खे।

अमर : धन्यवाद ! लेकिन सुना है कि बादशाह सलामत उनसे नाख़ुश हैं।

ज़ुलफ़िक़ार : हरगिज़ नहीं, हरगिज़ नहीं, हुज़ूर ! सूरज की किरन हमेशा एक-सी तो रहती नहीं है ! दोपहर की फ़िज़ा और शाम की फ़िज़ा में कितना फ़र्क़ हो जाता है। दोपहर में जो आफ़ताब आसमान में आग बरसाता है, शाम के वक़्त वही आफ़ताब बादलों में ऐसा रंग भरता है, हुज़ूर ! जैसे बहिश्त की हूरें हज़ारों रंगीन लिबास में फ़लक के फ़र्श पर रक़्स कर रही हैं। बादशाह सलामत की नज़रे-मेहर कुछ इसी तरह की है हुज़ूर ! और जब बुलन्द इक़बाल राना परताप की तारीफ़ बादशाह सलामत अपने नौ रतनों में करते हैं तो हुज़ूर ! ऐसा मालूम होता है कि बादशाह सलामत की शीरीं ज़बान से दसवें रतन की किरन झाँक रही है ! ये जलाल है राना परताप के चरचे का ! **(आदाब करता है।)**

अमर : यह बादशाह अकबर की क़द्रदानी है। राजा मानसिंह शायद यही कहने को आ रहे होंगे।

ज़ुलफ़िक़ार : अब, हुज़ूर ! हफ़्तहज़ारी अमीरों और मनसबदारों का अन्दाज़े गुफ़्तगू क्या और कैसा होगा, यह नाचीज़ क्या बयान कर सकता है ! बुलन्द इक़बाल राजा मानसिंह का तर्ज़े-कलाम तो आफ़ताबे मेवाड़ राना परताप ही समझ सकते हैं।

अमर : राजा मानसिंह तो यहाँ आने वाले थे। इस समय कहाँ हैं ?

जुलफ़िक़ार : बस, हुज़ूर! इक़बाल बुलन्द राना परताप से मुलाक़ात करने के लिए तैयार हैं। सूरज की किरन के साथ उट्ठे, ऊदे सागर में अशनान किए···हाँ, ऊदे सागर में···वाह हुज़ूर! क्या कहने हैं ऊदे सागर के···इसके तामीर कराने वाले महाराना ऊदे सिंघ की रूह को ख़ुदा जन्नत बख़्शे। वो सागर बनवाया है कि उसमें अशनान करने से हुज़ूर! जिस्म की रौनक़ दोबाला हो जाती हैं। सारा जिस्म ख़ुशबू से भर जाता है गोया जिस्म जिस्म नहीं, जिबरील के बाग़ का ग़ुंचा है। तमाम सागर में कँवल के फूल इस अदा से खिले हुए हैं कि हुज़ूर का इशारा मिल जाए तो पानी की सतह पर नाचने लगें। हुज़ूर तो हमेशा उसी में अशनान करते होंगे। तभी तो हुज़ूर के जिस्म से जन्नत की ख़ुशबू निकलती रहती है। (**गहरी साँस लेकर**) वल्लाह! क्या ख़ुशबू है! दिल और दिमाग़ दोनों ही फूल के मानिन्द खिल उठते हैं।

अमर : आप बहुत अच्छी बातें करते हैं।

जुलफ़िक़ार : हुज़ूर! जिस तरह शीर में शकर मिल जाने से शकर भी शीर की शकल अख़्तियार कर लेती है उसी क़दर हुज़ूर की इक़बाल-बयानी में मेरी बात भी अच्छी लगती होगी। अच्छा, हुज़ूर! इजाज़त बख़्शें। आला हज़रत हफ़्तहज़ारी राजा साहब का इस्तक़बाल करने के लिए मैं बाहर जाऊँ।

[जुलफ़िक़ार अली बाहर बड़े सधे हुए क़दमों से जाते हैं। अमरसिंह उस दिशा में देखते हैं।]

अमर : बातें करने में ये लोग कंठ में मिसरी घोल लेते हैं। कितने काँटे इस मखमली कंचुक में छिपे होंगे!

[नेपथ्य में महाराजा मानसिंह की जय···जय···जय! कुमार अमरसिंह कुछ आगे बढ़ जाते हैं। राजा मानसिंह, दो सामन्त, जुलफ़िक़ार अली और दो चोबदारों का प्रवेश। पीछे राणा प्रताप के दो सामन्त और भील सरदार भी हैं। राजा मानसिंह आसन पर बैठते हैं। चोबदार दरवाज़े पर अपनी जगह पर खड़े हो जाते हैं।]

अमर : आपका स्वागत है, राजा साहब! आप क्षमा करें। आपको हम बैठने के लिए सिंहासन नहीं दे सके। अकबर बादशाह ने जैसा सम्मान आपको दिया है, वैसा तो संसार में आपको कोई नहीं दे सकता। आप हमारे आदर को ही सिंहासन समझ कर उस पर आसीन हों।

मान : कुमार अमरसिंह! जिस आसन पर बैठने में सुख और सन्तोष हो, वही आसन सिंहासन है। सुख की सीमा बढ़ सकती है, इसलिए आसन किसी भी क्षण सिंहासन में बदला जा सकता है। हाँ, महाराणा प्रताप को हमारे आने की सूचना है?

अमर : है, राजा साहब!

मान : फिर भी वे यहाँ नहीं हैं। (**उठ खड़े होते हैं।**)

अमर : आवश्यकता पड़ने पर वे किसी समय भी आ सकते हैं।

मान : आवश्यकता ? कैसी आवश्यकता ? (**उपस्थित व्यक्तियों को संबोधित करते हुए**) आप लोग बाहर जाने का कष्ट करें। कुछ विशेष बातें करूँगा।

[कुमार अमरसिंह को छोड़ कर सभी का प्रस्थान]

मान : ठीक है। मैं जानना चाहता था कि आवश्यकता का क्या अर्थ है।

अमर : कोई विशेष अर्थ नहीं है, राजा साहब ! आप सप्त हज़ारी मनसब के अधिकारी हैं तो आपकी सेवा में उपस्थित होने के लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता होती है।

मान : (हँसकर) ओः, यह बात है किन्तु मैं तो अपने ही भाइयों के बीच कोई तैयारी की आवश्यकता नहीं समझता ! फिर तैयारी की चिन्ता कैसी ? यह तो महाराणा प्रताप की इच्छा है कि वे जिस तरह चाहें, उस तरह व्यवहार करें। मैं तो देखता हूँ कि सारे राजपूताने में मेवाड़ सिंह की भाँति है। अगर आज तक बादशाह सलामत अकबर ने किसी राज्य को अपनी सारी सल्तनत से तोला है, तो मेवाड़ का राज्य ही है और राणा प्रताप ऐसे गौहर हैं जिनकी क़द्र अकबर बादशाह जैसे जौहरी ही कर सकते हैं।

अमर : आपसे अधिक अकबर बादशाह को कौन जान सकता है ?

मान : मैं जानता हूँ। जब एक बादशाह किसी सल्तनत की ज़िम्मेदारी लेता है तो वह चाहता है कि सल्तनत में रहने वाला हरएक इंसान सुख और सुविधा से रहे। चारों तरफ़ अमन और चैन हो। रियाया समझे कि उसे उन्नति करने का भरपूर अवसर मिल रहा है। इसीलिए आज जिस वैभव और सन्तोष से राजपूताने के राजे रह रहे हैं, क्या वह पहले संभव था ? सदैव परस्पर लड़ते थे, आपस में फूट थी, एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। अब अकबर बादशाह ने बीच में पड़कर वह फूट दूर कर दी है, जैसे उत्तर और दक्षिण के बीच में विन्ध्य पर्वत हो, जैसे सुख और दुःख के बीच में सन्तोष की भावना हो !

अमर : आप तो राजनीति को कवच की भाँति धारण करते हैं।

मान : (**हँस कर**) ओः, तुम अच्छी बातें करते हो, कुमार ! लेकिन तुम समझो कि अकबर बादशाह का आतंक ही ऐसा है कि कोई राजा किसी दूसरे राजा पर आक्रमण भी नहीं कर सकता। बस, मैं यही कहना चाहता था कि अकबर बादशाह से मेल न करके केवल मेवाड़ राज्य अपने-आप कष्ट झेल रहा है। मैं चाहता हूँ कि यह कष्ट दूर हो जाए।

अमर : मेवाड़ राज्य कष्ट में ही अपना सुख समझता है, राजा साहब !

मान : तुम अभी बालक हो। राजनीति की बातें कम समझते हो। मेवाड़ राज्य कष्ट में क्यों रहता है ? बादशाह अकबर महाराणा प्रताप की इतनी इज़्ज़त करते हैं कि अगर महाराणा चाहें तो उन्हें दस हज़ार तक का मनसब मिल सकता है जो

सिर्फ़ बादशाह सलामत के शाहज़ादों को ही मिलता है। अब इस दस हज़ार के मनसब का महत्त्व कितना है, यह जानते हो ? 680 घोड़े, 200 हाथी, 520 ऊँट और 7 हज़ार रुपया मासिक। मैं तो सिर्फ़ सात हज़ारी मनसबदार हूँ।

अमर : पिताजी के सामने इन सब मनसबों का कोई मूल्य नहीं है, राजा साहब !

मान : तो ठीक है। अगर कोई मूल्य नहीं है तो जिस कष्ट में वे हैं, उसका ही मूल्य समझें। वे इसका मूल्य और अधिक समझेंगे जब शाहंशाह अकबर अपने युद्ध-दान से उस कष्ट को और भी समृद्ध कर देंगे। दानवीर तो समृद्धि देता ही है। दान पाने वाला चाहे तो सुख की समृद्धि कर ले, चाहे दुःख की।

अमर : राजा साहब ! आप तो जानते होंगे कि राजपूत कभी दान लेने के लिए हाथ नहीं फैलाता।

मान : कष्ट की समृद्धि के लिए हाथ फैलाने की क्या आवश्यकता ! जिस तरह एक गढ़े में पानी अपने आप भर जाता है, उसी प्रकार किसी विवेक-हीन में विपत्ति आकर भर जाती है।···मैं···मैं···तो सामान्य बात कह रहा हूँ। विवेक-हीन···अर्थात् मैं महाराणा को विवेक-हीन नहीं···नहीं कहता···नहीं कह सकता किन्तु शाहंशाह अकबर की शक्ति को समझ लेना विवेक कहा जा सकता है।

अमर : राजा साहब ! आप राजनीति के आवरण में अनुचित को भी उचित मान सकते हैं।

मान : उचित-अनुचित की बात नहीं है, कुमार अमरसिंह ! किन्तु आप सोचें कि अकबर बादशाह के पास इतनी सेना है कि वे सेना की गति से ही तूफ़ान पैदा कर सकते हैं जिसमें बड़े से बड़े राज्य रुई के रेशों की तरह कहीं भी उड़ सकते हैं। चित्तौड़ को उन्होंने जिस वीरता से लिया है, उसके सामने तुम्हारे जयमल और फत्ता भी नहीं टिक सके ?

अमर : जयमल और फत्ता हमारे ही थे, आपके नहीं थे।

मान : हमारे भी थे इसीलिए तो मैंने बादशाह अकबर से कह कर उनकी संगमरमर की मूर्तियाँ बनवा कर आगरे के द्वार पर रखवा दी हैं। द्वार पर एक दोहा खुदवाया गया है।

जयमल बडता जीमणें, फत्तो बाहे पास।
हिन्दू चढ़िया हाथियाँ, अड़ियो जस आकास ॥

इसका अर्थ यह है कि दाहिनी ओर जयमल की मूर्ति है, और बाईं ओर फत्ता की। ये दोनों हिन्दू वीर हाथियों पर चढ़े हैं। इन वीरों का यश आकाश को स्पर्श कर चुका है। यह है बादशाह अकबर की गुण-ग्राहकता !

[गर्व से टहलते हैं।]

अमर : आप ही बादशाह अकबर की गुण-ग्राहकता समझ सकते हैं।

मान : तुम भी समझ सकते हो, कुमार अमरसिंह ! तुम्हारे लगभग सभी काका बादशाह अकबर की गुण-ग्राहकता समझ कर उनके साथ हैं। सभी को बड़ी-बड़ी जागीरें प्राप्त हैं। अगर तुम चाहो तो इस कष्ट से मुक्ति पाकर बादशाह अकबर से एक बड़ी जागीर पा सकते हो और तुम्हारे लिए तो मैं बादशाह सलामत से बड़ा-सा मनसब भी दिलवा सकता हूँ। वैसा ही मनसब जैसा मेरे पास है। क्योंकि तुम महाराणा के सबसे बड़े लड़के हो।

[भीतर से एक सेवक का प्रवेश]

सेवक : कुमार की जय ! भोजन तैयार है।

मान : महाराणा प्रताप अभी नहीं आए ?

अमर : नहीं आए। किन्तु आप भोजन कर लीजिए।

मान : जिस निमन्त्रण में सम्मान नहीं है, वह भोजन भोजन नहीं, विष है।

अमर : राजा साहब ! यदि सम्मान न होता तो आपके द्वारा कही गई अनेक बातें सहन न की जातीं।

मान : किंतु मैंने इतनी देर तक प्रतापसिंह की अनुपस्थिति सहन की···

अमर : सम्भवत: सिर की पीड़ा ने उन्हें रोक रक्खा हो।

मान : सिर की पीड़ा ने ?

अमर : हाँ, राजा साहब !

मान : कुमार अमरसिंह ! क्या तुम समझते हो कि मैं इस सिर की पीड़ा का अर्थ नहीं समझता ? इस सिर की पीड़ा की औषधि बादशाह अकबर के पास है।

कुमार : राजा साहब ! आप हमारे अतिथि हैं, इसलिए हम कुछ नहीं कह सकते किंतु आपके इस वाक्य का उत्तर भी हमारे पास है।

मान : उत्तर क्या होगा ? भोजन का निमन्त्रण देकर राणा प्रताप स्वयं उपस्थित न हों ! जैसे बिना स्वरों की वर्णमाला हो। यह मेरा घोर अपमान है और इस अपमान की सहस्र जिह्वाएँ रक्त-पान के लिए ही खुली रहेंगी।

कुमार : राजा साहब ! आप ओस-बिन्दुओं में विष-बिन्दुओं का अनुमान न करें। महाराणा जी के स्थान पर मैं तो हूँ। क्या उनकी ओर से मेरा उपस्थित रहना पर्याप्त नहीं है ?

मान : एक तारे से आकाशगंगा नहीं बनती, एक फूल से वसन्त का वैभव नहीं उभर सकता। तुम भील कुमारों का स्वागत कर सकते हो, सप्त हज़ारी मनसबदार का नहीं। मेरे स्वागत की जय-ध्वनि किसी महाराणा के कण्ठ से होनी चाहिए। मेरी सेवा में उपस्थित होने में बड़े-बड़े नरेश अपना सौभाग्य समझते हैं। राणा प्रताप भी इसे अपना सौभाग्य समझें कि···

[सहसा राणा प्रताप का प्रवेश। कुमार अमरसिंह का सशंकित भाव से प्रस्थान]

प्रताप : राजा साहब ! राणा प्रताप अपने सौभाग्य की बात समझता है। आप अपना सौभाग्य उन नरेशों को दीजिए जो आपकी और तुरक[1] अकबर की सेवा करने में अपने को धन्य समझते हैं। यह सौभाग्य तो दासत्व का वह किनारा है जिस पर समुद्र की एक भटकी हुई लहर कुछ रत्नों के टुकड़े बिखेरकर चली जाती है। यह सौभाग्य श्मशान में फूला हुआ पौधा है—संध्या का बादल है जो दो क्षण में काला हो जाएगा।

मानसिंह : (**अट्टहास करता है**) कविता ? राजस्थान में कविता भी बहुत ऊँची होती है। किंतु मैं नहीं समझता कि राणाओं को भी चारण बनने की अभिलाषा उत्पन्न होती है और वे अपनी बातें कविता में कहते हैं। किंतु ठीक है, कविता में कही हुई बात ज्यादा असर रखती है। बीरबल भी कविता लिखते हैं जो बादशाह के नव-रत्नों में हैं।

प्रताप : तुरक ने नवरत्नों को अपनी राजनीति के सिंहासन में इसलिए जड़ा है कि उसकी चकाचौंध में राजाओं की दृष्टि धूमिल हो जाए। ये मनसब किसलिए बनाए गए हैं ? केवल इसलिए कि तुरक अपने ही वैभव में सात गुना या दस गुना अधिक दिखलाई दे। नवरत्न का गौरव और मनसबदारी का सम्मान इस देश की स्वतन्त्रता पर लगाए गए धब्बे हैं। और मैं आज आपके सामने यह कह दूँ कि स्वतन्त्र मेवाड़ का एक साधारण सैनिक भी सात हजारी मनसबदार से महान् है।

मानसिंह : सावधान, राणा प्रताप ! अपने वाक्यों पर अंकुश रखो। यह मुझ पर कठोर व्यंग्य है।

प्रताप : इसलिए कि आप सात हज़ारी मनसबदार हैं। किंतु यह व्यंग्य नहीं है, राजा साहब ! यह कठोर सत्य है। मैं अपने वाक्यों पर अंकुश रखूँ जब कि आप अपने कार्यों पर अंकुश नहीं रख सके ? राजस्थान के अधिकांश राज्यों को तुरक के साम्राज्य के भीतर लाने का दूषित कार्य किसका है ? आपका। तुरक के प्रलोभन में आकर राजपूतों में फूट डालने का कार्य किसका है ? आपका। राजपूतों की स्वतन्त्रता के इतिहास को कलंकित करने का पाप किसका है ? आपका। आप अपने कार्यों पर अंकुश रखते ! सच्ची राजपूती का आदर्श रखते !

मानसिंह : सीमा से आगे मत बढ़ो, प्रताप ! हज़ारों राजपूतों की बलि देने की अपेक्षा यह अच्छा था कि बादशाह को हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु बनाया जाए। तुमने मेरी नीति की सराहना नहीं की ? किस चतुराई से मैंने यवनों के विष को अमृत में परिणत किया है, यह प्रकाश तुमने नहीं देखा ? यवनों की राजनीति में ऐसा परिवर्तन क्यों न लाया जाए कि इस्लाम धर्म के देशव्यापी प्रभाव के होते हुए भी हिन्दू धर्म की रक्षा हो। अकबर को हिन्दू वेश धारण कराने का कार्य किसका

---

1. महाराणा प्रताप अकबर को 'तुरक' भी कहते थे।

है ? मेरा। भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति के समक्ष अकबर बादशाह को नत-मस्तक कराने का कार्य किसका है ? मेरा। मन्दिरों को तोड़े जाने से बचाने का कार्य किसका है ? मेरा। जज़िया और गो-वध बन्द कराने का कार्य किसका है ? मेरा। मेरे कार्यों की वन्दना होनी चाहिए ! इसके विपरीत तुम व्यंग्य करते हो कि मैंने अपने कार्यों पर अंकुश नहीं लगाया ! राणा प्रताप ! मेरे कार्यों को राजनीति की आँखों से देखो। मेरे कार्यों की आलोचना करने का अधिकार किसी को नहीं है, स्वयं सम्राट् अकबर को भी नहीं। जंगल-जंगल भटकने वाले राणा प्रताप को क्या हो सकता है ? **(अभिमान की दृष्टि)**

प्रताप : राजा साहब ! यह व्यर्थ का अभिमान हिन्दू राजपूत को शोभा नहीं देता। अपने ये सारे अधिकार, आपने क्या खोकर प्राप्त किए हैं, कभी इस पर भी विचार किया है ? आपके इस वैभव के भीतर कितने दुर्ग नष्ट हुए हैं, कितने राज्यों की सीमाएँ संकुचित हुई हैं, कितने सहस्र सैनिकों का बलिदान हुआ है, यह भी कभी सोचा है ? देश की कितनी वीरता रक्त की धाराओं में बह गई है ! और देश कितना निर्बल हो गया है, कभी इस पर भी विचार किया है ? आपके मुकुट के मणियों में कितने हज़ार राजपूतों का रक्त खौल रहा है, कभी इसे भी देखा है ? आपके राजसी भोजन की अग्नि में कितनी राजपूत ललनाओं के जौहर की अग्नि धधक रही है, कभी इस पर भी विचार किया है ? स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और देश-भक्ति खोकर जीवन में वैभव का क्या मूल्य है ! राजनीति के आडम्बर में सत्य को कलंकित नहीं किया जा सकता। तुरक अकबर के खजाने के सारे रत्न स्वतंत्र मेवाड़ की धूल के एक कण की भी बराबरी नहीं कर सकते।

मान : स्वतन्त्रता और हठधर्मी में अन्तर है, प्रताप ! अपने झूठे अभिमान में यदि देश की स्थिति तुम न समझो तो इसमें देश की स्थिति का दोष है, या तुम्हारे अभियान का ? अगर तुम्हारी कविता की भाषा में कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि संध्या की लाली में उषा की किरण लाने की चेष्टा मत करो ! परिस्थितियों को समझ-कर ही कार्य की रूप-रेखा बनानी चाहिए। मकड़ी के जाले से हाथी को नहीं बाँधा जा सकता, बादल के बन्धनों से बिजली की तड़प नहीं रोकी जा सकती। शक्ति को समझो। बिजली गिरेगी तो पहाड़ तक पृथ्वी में धँस जाएगा। शक्ति का सामना तो कौशल से करना होगा, नहीं तो शक्ति तुम्हें तोड़ती हुई निकल जाएगी। अपने झूठे अभिमान में यदि राजपूत तलवार से कट जाए तो तलवार का क्या दोष ? अग्नि की ज्वाला में अगर राजपूत नारियाँ डर से भयभीत होकर जल जाएँ तो इसमें अग्नि का क्या दोष ?

प्रताप : राजा साहब ! राजपूत नारियाँ यदि अग्नि में जलने के बदले तुरक के अन्त:पुर में चली जाएँ तो इसमें किसका दोष है ?

मान : **(चीखकर)** प्रतापसिंह !

प्रताप : रुष्ट न हों, राजा साहब ! सत्य स्थिति राजनीति के आवरण को तोड़कर अपने सही लक्ष्य पर जा रही है। आपको कष्ट हुआ, यही आपका कष्ट मेरा कष्ट है। असि-धारा पर चलने वाली हमारी राजपूत बहू-बेटियाँ तुरकी हरम में मोतियों की झालरों पर चलें और शताब्दियों के आत्म-सम्मान में पली नारियों की शोभा ऐसे हाथों में जाने दें जिन्होंने देश का रक्त उनकी माँग में भरकर सौभाग्य की रेखा खींचने का···

मान : (**चीखकर**) प्रताप ! इस अपमान पर मैं रक्त बहाना जानता हूँ।

प्रताप : अपमान नहीं, यह सत्य है, राजा साहब ! मैं भी रक्त का उत्तर रक्त से दे सकता हूँ किन्तु आप हमारे मेहमान हैं, इसलिए भोजन करने वाले मेहमान के साथ द्वंद्व-युद्ध नहीं करूँगा। भेंट ही दूँगा। द्वंद्व-युद्ध तुरक अकबर के साथ ही कर सकता हूँ। लीजिए, यह कटार ! (**कमर से कटार निकालकर सामने रखते हैं**) यह कटार तुरक अकबर को दे दीजिए और कह दीजिए कि अगली बार वे आपको न भेजकर स्वयं आवें और राजनीति का नहीं, इस कटार से अपनी शक्ति का परिचय दें। एक भेंट और भी दूँगा। यह भेंट मेवाड़ की महारानी की ओर से है। (**अँगरखे से एक थैली निकालकर देते हैं**) इस थैली में जौहर की भस्म है। यह बेगम जोधाबाई को दीजिए। जब वे अपने हाथों के लिए मेहँदी पीसने की आज्ञा दें तो उसमें यह भस्म भी मिला दें। उससे रक्त की लालिमा लेकर लाल रंग हाथों में और भी उभर आएगा।

राजा : (**तड़पकर**) यह अशिष्टता की सीमा है, प्रताप ! इसका भयानक दण्ड भोगना होगा, भोजन का निमन्त्रण देकर···

प्रताप : (**बीच में ही**) भोजन का निमन्त्रण मैंने इसलिए दिया कि आप मुझसे भेंट करना चाहते थे। हमारे अतिथि-सत्कार की मर्यादा शायद आप भी जानते हैं। किन्तु इस निमन्त्रण का लाभ उठाकर आपने क्या नहीं किया ? कुमार अमरसिंह और मुझमें फूट डालने के लिए आपने क्या-क्या नहीं कहा ? मैंने पास ही के कक्ष से सुना कि आपने सारी राजनीति का प्रयोग थोड़ी ही देर में कर लिया। राजा मानसिंह ! आप बादशाह अकबर के सात हज़ारी मनसबदार भले ही हों किंतु इस शिविर में आप एक राजपूत के साधारण गौरव को भी प्राप्त नहीं कर सकते।

राजा : ऐसे गौरव पर मैं पदाघात करता हूँ।

[पृथ्वी पर पैर से आघात करते हैं।]

प्रताप : सावधान ! राजा मानसिंह ! हमारी मेवाड़ भूमि पर पदाघात ! यह हमारी मातृभूमि है, इस पर पदाघात करने वाले पैर शरीर से अलग कर दिए जाएँगे।

मान : अपने मस्तक की रक्षा करना जिसकी पीड़ा से यह भोज अधूरा रह गया !

प्रताप : इस मस्तक में पीड़ा नहीं थी—पीड़ा थी इस भाग्य में जिसने विधर्मियों के साथ विवाह-सम्बन्ध करने वाले के साथ भोजन करने की परिस्थिति ला दी थी,

जो इस जीवन में असम्भव है !

मान : अभिमानी प्रताप ! इस भाग्य के साथ यह मस्तक भी सँभालकर रखना जो अब अधिक दिनों तक नहीं रहेगा। **(दाँत पीसकर)** इतिहास कहेगा कि अब यह मेवाड़ तुम्हारा नहीं रहेगा—यह मेवाड़ बादशाह अकबर का होगा,···बादशाह अकबर का होगा···बादशाह अकबर का होगा। **(तेजी से प्रस्थान)**

[बाहर हलचल होती है। राजा मानसिंह के साथ उनके सामन्तों का प्रस्थान। थोड़ी देर तक राणा प्रताप उद्विग्नता से टहलते हैं।]

प्रताप : तो···अब···यह मेवाड़···तुरक अकबर का···होगा ! जब तक एक भी स्वाभिमानी राजपूत जीवित है तब तक मेवाड़ का बाल भी बाँका नहीं होगा···नहीं होगा···स्वाधीन मेवाड़ ! तेरी रण-चण्डी की मुण्ड-माला में प्रताप का भी मस्तक रहे···प्रताप का भी···मस्तक रहे। **(पुकारकर)** सामन्त झालौर ! ···भील सरदार ! ···कुमार अमरसिंह !

[सबका प्रवेश। वे अभिवादन करते हैं।]

प्रताप : सामन्त झालौर ! तुमने राजा मानसिंह की बातें सुनीं ? कहते हैं—यह मेवाड़ तुम्हारा नहीं, तुरक अकबर का होगा।

झालौर : महाराणा ! मेवाड़ का मस्तक कैलास शिखर की भाँति ऊँचा है। उसे बड़े से बड़े तूफान नहीं झुका सकते। अकबर बादशाह तो हवा का हलका-सा झोंका है। उठेगा और निकल जाएगा।

प्रताप : और राजा मानसिंह !

झालौर : वे उस हवा के झोंके में उड़ते हुए परमाणु-पुंज हैं, जो अपनी गति में वातावरण को दूषित करते हैं।

प्रताप : और इसलिए मेरा आदेश है कि जिस स्थान पर राजा मानसिंह खड़े हुए थे वह इतना अपवित्र हो गया है कि उसे खोद डाला जाए और उस पर गंगा-जल छिड़का जाए। जिन पात्रों में राजा मानसिंह के लिए भोजन परोसा गया था, वे नष्ट कर दिए जाएँ, जिन लोगों ने राजा मानसिंह को देखा है, वे स्नान करें और अपने वस्त्रों को धोकर पहनें। मेरे स्नान का भी प्रबन्ध किया जाए।

झालौर : जैसी आज्ञा।

भील सरदार : महाराणा ! राजा मानसिंह हमारे मेहमान थे, यही समझकर उन्हें चले जाने दिया, नहीं तो भील-सैनिकों के तीर उनके वाक्यों से अधिक तीखे थे।

प्रताप : भील सरदार ! अब हमें इन तीरों का प्रयोग युद्ध में करना होगा। झालौर सामन्त ! राजा मानसिंह के क्रोध की चिनगारियाँ जब यहीं पर फूट निकली हैं तो युद्ध की ज्वाला भड़कने में देर नहीं लगेगी। इसकी तैयारी हमें इसी क्षण से आरम्भ करनी होगी।

अमर : पिताजी ! इस समय हमारे बाईस हज़ार राजपूत सैनिक युद्ध के लिए बिलकुल तैयार हैं। साथ ही हमारे भील सैनिकों के तीखे तीर भी विष में बुझा लिए गए हैं। भीलों का एक-एक तीर युद्ध-क्षेत्र में एक-एक वीर है जिसके एक ही प्रहार से शत्रु मृत्यु-क्षेत्र में पहुँच सकता है।

प्रताप : हमें अपने राजपूत वीरों की वीरता पर विश्वास है। साथ ही भील सरदार के सैनिकों के अचूक लक्ष्य अकबर बादशाह की कूटनीति को छिन्न-भिन्न कर देंगे। सालुम्बरा नरेश, ग्वालियर नरेश, सामन्त चन्दावत आदि को सूचना भेज दो कि वे किसी भी समय पर युद्ध के लिए तैयार रहें और एक बार फिर मेवाड़ की रण-चण्डी शत्रुओं का भीषण संहार करे।

अमर : जैसी आज्ञा, पिता जी !

प्रताप : सामन्त झालौर ! आप दस हज़ार राजपूतों की सेना को नवानगर और उदयपुर की पश्चिमी सीमा पर एकत्र करें और राजा मानसिंह की सेना के आने की प्रतीक्षा करें। वह पहाड़ी स्थान घने जंगलों से घिरा हुआ है, इसलिए आप शत्रु की आँखों से ओझल होकर उस पर समयानुसार आक्रमण कर सकते हैं।

झालौर : ऐसा ही होगा, महाराणा जी !

प्रताप : (**भील सरदार से**) भील सरदार ! आप अरावली के ऊँचे शिखरों पर अपने भील सैनिकों को तैयार रखें। वे अपने तीरों की बौछार उसी समय करें जब उदयपुर से आने वाले सँकरे मार्ग पर तुरकी सेना उतरने लगे। मार्ग की चौड़ाई कम होने से उस मार्ग से बहुत से आदमी एक साथ नहीं निकल सकेंगे। उसी समय शत्रु-सैनिकों को तीरों का लक्ष्य बनाया जाए।

भील सरदार : जैसी आज्ञा महाराणा की।

प्रताप : (**कुमार अमरसिंह से**) और कुमार अमरसिंह ! तुम दो हज़ार सैनिकों के साथ उन छोटे-छोटे नालों और नदियों के पास रहोगे जिन्हें तुरक सैनिक पार करने की चेष्टा करेंगे। पानी में उतरते ही उन पर भालों की बौछार होनी चाहिए।

अमर : मैं वहाँ दो हज़ार सैनिकों के साथ उपस्थित रहूँगा, पिता जी !

प्रताप : और मैं ! मैं सालुम्बरा नरेश और ग्वालियर नरेश की सेना में अपने दस हज़ार सैनिकों के साथ हल्दीघाटी के मैदान में अपने चंचल घोड़े चेतक के साथ रहूँगा। घोड़े पर सवार होकर मैं सारी तुरक सेना की थाह एक छोर से दूसरे छोर तक सरलता से ले सकूँगा। झाला शूरवीर सामन्त मन्नाजी मेरे साथ रहेंगे।

झालौर : यह व्यवस्था शीघ्र ही होगी, महाराणा जी !

प्रताप : (**भील सरदार से**) भील सरदार ! मेरे और मेरे साथ के सामन्तों के परिवार की रक्षा का भार कुछ भील सरदारों और भील बालाओं को सौंप दो। और··· और उनसे कह दो कि हमारे युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा करें।

भील सरदार : जैसी आज्ञा !

प्रताप : तो फिर एक बार फिर रणचण्डी का आह्वान हो। हमारे हाथ में जो तलवारें हों, उनमें हमारे स्वर्गवासी वीरों की आत्मा की उन्मत्त प्रचण्डता हो जिससे उनकी धार सौ गुनी अधिक पैनी बन जाए। हमारे हाथों में उन दुर्गों की सुदृढ़ता हो जो खँडहर होकर आज भी अपने आत्माभिमान में खड़े हुए हैं और हमसे अपने पुनर्निर्माण की आशा रखते हैं। हमारे मस्तक का तिलक रक्त-वर्ण होकर युद्ध में इस बात की घोषणा कर दे कि हमारे एक-एक तिलक में राजपूत नारियों के जौहर की चिनगारियाँ हैं जो आग की लपटों में परिणत होकर शत्रुओं को जला-जला कर भरपूर बदला लेंगी; और एक-एक राजपूत नारी के बदले सौ-सौ शत्रुओं का एक बार ही संहार करेंगी।

सब : **(समवेत स्वर से)** महाराणा प्रताप की जय !

प्रताप : आओ ! भगवान् एकलिंग को प्रणाम कर हम मेवाड़ की विजय को इतिहास में अमर कर दें।

सब : **(समवेत स्वर से)** मातृभूमि मेवाड़ की जय !
महाराज प्रताप की जय !

[धीरे-धीरे परदा गिरता है।]

तृतीय अंक

अभियान-पर्व

समय : **प्रातः** 6 बजे — **काल :** सन् 1578

[**स्थिति :** जावरा के पहाड़ी जंगलों में महाराणा प्रताप का शिविर, झरने की कलकल ध्वनि, पक्षियों का कलरव।

समीप ही वृक्षों से फल तोड़ती हुई रानी वीरमदे एक गीत गुनगुना रही है। राणा प्रताप गम्भीर मुद्रा में बैठे हैं।]

छह गज काली कांगरा छाजा,
पड़ियाँ ढगल हुवे पारवांण।
भारवे कमध सुणो भूपतियाँ
कीरत महल अमर कमठांण॥
अेहा क्यण दाखवैं ईसर
माँझी वंस तणा कुलमौठ।

झड़सी महलाँ तणा झरोखा
रहसी गीत कहै राठौड़ ॥
झड़सी महलाँ तणा झरोखा
रहसी गीत कहै राठौड़ ॥

[धीरे-धीरे गीत दूर होता जाता है ।]

राणा प्रताप : **(दुहराते हुए अपने-आप)** झड़सी महलाँ तणा झरोखा, रहसी गीत कहै राठौड़ । ये महल के झरोखे झड़ जाएँगे···केवल गीत ही अमर रहेगा । गीत ! किसका गीत ? मेरा···प्रताप का ! उस प्रताप का जो अकबर के आक्रमण से अपने को बचाता हुआ जंगल-जंगल में भटक रहा है ! जो अपने परिवार के लिए भोजन की व्यवस्था भी नहीं कर सकता ? उसका गीत ?

[नेपथ्य में गीत फिर उभरता है—]

झड़सी महलाँ तणा झरोखा
रहसी गीत कहै राठौड़ ॥

गीत कैसे रहेगा, वीरम ? तुम्हारी आत्मा का संगीत इस भयानक विपत्ति में भी कम क्यों नहीं होता ! तीन दिनों से तुमने भोजन भी नहीं किया, किन्तु तुम्हारे कण्ठ का माधुर्य नहीं सूखा । तुम कैसी दीप-शिखा हो तो तेल चुक जाने पर भी नहीं बुझना चाहतीं ! वीरम ! मैं नहीं, तुम अकबर से युद्ध कर रही हो । क्या हल्दी-घाटी के युद्ध में मेरे रक्त के साथ चित्तौड़ का भविष्य भी बह गया ?···भविष्य भी ? नहीं । चित्तौड़ का भविष्य महाकाल की भाँति अनन्त है और उसका अभिषेक हल्दीघाटी में रक्त से हुआ है । अनेक वीरों के रक्त से !···चाहता था कि राजा मानसिंह के काले रक्त का दिठौना भी चित्तौड़ को लगा देता जिससे तुरक की नजर न लगे, किन्तु मानसिंह सेना के बीच में छिपा रहा । मेरे प्यारे घोड़े चेतक का रक्त तो हल्दीघाटी का सुहाग है । उस पर बैठ कर प्रचंड गति से मैं शत्रु-सेना की गहराई में पहुँच गया किन्तु मानसिंह नहीं मिला । जोधाबाई का पुत्र सलीम मिला । वह भी कायर निकला ! किन्तु वीर मन्नाजी ! तुमने उस भयानक युद्ध में मेरा मुकुट अपने मस्तक पर रखकर मुझे सुरक्षित किया और अपनी बलि दे दी ! तुम धन्य हो ! तुम धन्य हो ! मन्नाजी ! और मैं ? मैं मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए जंगलों में भटक रहा हूँ और अपने साथ अपने परिवार को भी संत्रस्त कर रहा हूँ ।

(पुकार कर) वीरम ! वीरम !

वीरम : **(नेपथ्य से)** आई, राना जी !

प्रताप : वर्षों पूर्व वीरम ने सोचा होगा कि राणा प्रताप से ब्याही जा रही हूँ । क्या नहीं

मिलेगा ? मेवाड़ के बड़े-बड़े महल, दास-दासियों की सेवा, नाना प्रकार के व्यंजन, स्वादिष्ट व्यंजन, लेकिन ब्याह के बाद मिला क्या ? महलों के स्थान पर पहाड़ियों की पथरीली गुफाएँ, दास-दासियों के स्थान पर जंगलों के भयानक जन्तु और व्यंजनों के स्थान पर ? व्यंजनों के स्थान पर घास की रोटी और वृक्षों के फल ! भाग्य का कितना कठोर व्यंग्य ! भाग्य का ? नहीं, मेरा व्यंग्य !···मेरा स्वाभिमान। मेरा दर्प···जो अकबर की कठोरता से भी कठोर है। (**ग्लानिपूर्ण कर्कशता से**) कठोर···!

[वीरमदे का प्रवेश]

वीरम : रानाजी ! आपने पुकारा ?

प्रताप : (अपने ही भाव से) राजपूत क्षत्रिय का स्वाभिमान···जो अरावली पर्वत की भाँति अपना मस्तक उठाए है, शिलाओं का कवच पहिने है। बिजलियाँ इसके सिर पर टूट रही हैं, वह खण्ड-खण्ड होता है। किन्तु नष्ट नहीं होता···नहीं होता।

वीरम : रानाजी ! आपने मुझे पुकारा ?

प्रताप : वीरम ! तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ। मेरे स्वाभिमान के महासागर ने तो इतना उग्र रूप नहीं बना लिया कि उसके किनारे ही डूब जाएँ ? क्या मेरे दर्प की शिला इतनी भारी नहीं हो गई कि वह अपने ही बोझ से अतल की गहराई में गिर जाए ? क्या मेरी स्वतंत्रता की बलि-वेदी इतनी प्यासी नहीं बन गई है कि वह मेरे रक्त के साथ मेरे परिवार का रक्त भी माँगने लगे।

वीरम : विपत्ति चाहे जितनी बड़ी हो जाए, राना जी ! वह आपके साहस से बड़ी नहीं हो सकती। यज्ञ की अग्नि चाहे जितनी प्रबल हो जाए, वह अपनी प्रबलता में यज्ञ-कुण्ड को भी जला दे किन्तु वह यज्ञ के देवताओं को नहीं जला सकती। हल्दीघाटी का युद्ध तो इतना भयानक था कि ललकार ही तलवार का काम करती थी। यदि आपकी वीरता विस्मय उत्पन्न न करती तो क्या आपके भाई शक्तिसिंह आपकी शरण में आते ?

प्रताप : हाँ, वीरम ! शक्तिसिंह के स्नेह से मुझे बल मिला है। यह उतनी मेरी वीरता नहीं है जितना मेवाड़ का सौभाग्य है कि दो भाइयों की शत्रुता स्नेह में बदल गई। मैं जब नदी पार कर रहा था तब दो मुल्तानी और खुरासानी सैनिक मेरा पीछा कर रहे थे। भाई शक्तिसिंह ने पीछे से आकर दोनों को मार डाला और मुझे पुकारा —ओ नील घोड़ा रा असवार ! और वे मेरे गले से लग गए। वीरम। मैंने अपना नीला घोड़ा चेतक तो खो दिया किन्तु अपना भाई शक्तिसिंह पा लिया। हल्दीघाटी के युद्ध के साथ यह भाई के मिलन का गीत अमर रहेगा।

वीरम : वह गीत समस्त राजस्थान की नारियों के कंठ की शोभा बनेगा।

प्रताप : ऐसा ही हो, वीरम ! किन्तु तुरक अकबर की नीति छद्मवेशी है। वह ऐसी दावाग्नि है जिसने राजस्थान के बड़े-बड़े वट-वृक्षों को भी जड़-मूल से जला दिया है।

अग्नि की लपटें सर्पिणी की भाँति कण-कण को दंशित करना चाहती हैं, जिससे प्रकृति का अमृत-कुण्ड सूख जाए और समस्त मेवाड़ एक मरु-भूमि हो जाए। तुम अपने संगीत से अमृत सींचती हो ! तुम गाती हो···झड़सी महलां तणा झरोखा, रहसी गीत कहै राठौड़। सचमुच मेवाड़ के प्रत्येक महल से झरोखा झड़ गया है। किन्तु रहने वाला यही अमर गीत है। विनाश का गीत नहीं, सृजन का गीत।

वीरम : हाँ, सृजन का गीत राना ! यदि सृजन का गीत न रहता तो···तो इस परिवर्तनशील सृष्टि का एक कण भी जीवित न रहता। प्रलय की अग्नि अपने पीछे एक ऐसी भस्म छोड़ जाती है, जिसमें नये-नये अंकुर उत्पन्न होते हैं और प्रकृति अपनी हरियाली में ये वसन्त के नये गीत; फूलों के नये छन्दों में गाती रहती है। प्रत्येक नया वसन्त पुराने वसन्त से अधिक शोभाशाली होता है, राना ! विपत्ति सदैव पीछे मुड़कर देखती है कि कुचली हुई वस्तु अपने रूप की प्रदर्शनी कितने नये ढंग से सजाती है। उसमें चेतना का कितना सम्भार है।

प्रताप : इसी चेतना से प्रेरित होकर तुमने सम्भवतः बेगम जोधाबाई को जौहर की भस्म भेंट में भेजी थी ! (**सोचते हुए**) राजा मानसिंह जल उठे जब मैंने उनसे कहा, महारानी की भेजी हुई उस थैली में जौहर की भस्म है। यह बेगम जोधाबाई को दे दीजिए और कह दीजिए कि वे इसे भी अपनी मेंहदी में पीस लें। हाथों में लगाने पर रक्त की लालिमा और भी उभर आएगी।

वीरम : यदि वे पानीदार होते तो यह सुनकर आपके पक्ष में आ गए होते।

प्रताप : हाँ, यदि पानीदार होते तो तुरक अकबर के सप्त हज़ारी मनसबदार न बने रहते ? वे हल्दीघाटी में मेरे साथ ही होते ! आज मेवाड़ का प्रत्येक राव और सामन्त अकबर के भ्रू-विलास में अपनी भाग्य-लिपि पढ़ रहा है, उसके पैरों की छाया को कल्पवृक्ष की छाया समझने लगा है। किन्तु वह नहीं समझता कि यह छाया राहु और केतु की छाया है, वीरम ! जिसमें चन्द्र की कलाएँ तक डूब जाती हैं।

वीरम : आप सत्य कहते हैं किन्तु राना जी ! प्रत्येक नक्षत्र जो पूर्व में उदय होता है, वह पश्चिम में अस्त भी हो जाता है। फिर भी ध्रुव नक्षत्र उत्तर में स्थिर होकर नक्षत्रों से उत्तर माँगता है कि एक ओर से दूसरी ओर चले जाने में क्या सुख है ? यह मेवाड़ ही वह ध्रुव नक्षत्र है जो किसी की शरण में नहीं जा सकेगा। उसी तरह यह आपका स्वाभिमान ही होगा जो कंधे पर समस्त मेवाड़ को उठा कर पर्वत के शृंगों पर विजयकेतु लहरा देगा।

प्रताप : तुम्हारे ये शक्तिशाली वाक्य ही हैं वीरम, जो युद्ध में मेरी तलवार की धार पर बैठ जाते हैं और मैं राजपूती मर्यादा की रक्षा कर सकता हूँ, पर आज···आज न जाने क्यों एक स्मृति उभर कर मुझे कष्ट दे रही है। मैं उसी चिन्ता में जल रहा हूँ।

वीरम : एक स्मृति ?

प्रताप : हाँ, वीरम ! तुम्हें स्मरण होगा कि अरावली में अकबर के बिखरे हुए सैनिकों से अपनी रक्षा करते हुए हम लोगों ने लहुरा नामक स्थान में पाँचवीं बार घास की रोटियाँ बनाई थीं। हमारी छोटी बेटी देवला जब घास की रोटी खा कर अपनी दो दिनों की भूख शान्त कर रही थी तभी एक वन-बिलार ने वह रोटी छीन ली थी। हाय ! मेवाड़ की राजकुमारी के भाग्य में दारुण भूख शान्त करने के लिए घास की रोटियाँ भी नहीं हैं।

वीरम : उस दृश्य का स्मरण न दिलाइए, राना जी !

प्रताप : देवला चीख पड़ी थी, किन्तु वीरम ! देवला की चीख से अधिक भयानक चीत्कार इस राणा प्रताप के हृदय से निकला था। राणा चाहे तो स्वतंत्रता के युद्ध में सब कुछ होम कर दे किन्तु वह राणा पिता भी तो है। उसे क्या अधिकार है कि अपनी स्वाधीनता की हठ में वह अपनी पुत्री को सामान्य भोजन भी न दे सके ? पुत्री को जो रूखी-सूखी रोटी मिले उसे भी जंगली बिलार छीन ले और वह देखता रहे ?

वीरम : बड़ी भयानक स्थिति थी, राना जी !

प्रताप : उस समय खंड-खंड होते हुए पिता के हृदय से क्या-क्या शब्द नहीं निकले ! किन्तु यह समझ लेना कि उनका कहने वाला पिता प्रताप था, राणा प्रताप नहीं···।

वीरम : राना जी···!

प्रताप : वीरम ! मुझे मत रोको। मेरे मुख से यही निकला था, यही निकला था कि निरपराध बच्चों की यंत्रणा देखने से तो अच्छा है कि मैं अकबर से संधि कर लूँ।

वीरम : (**हतप्रभ होकर**) महाराणा !···जीवन की परिस्थितियाँ कभी-कभी बड़ा छल करती हैं।

प्रताप : जब ये वाक्य मेरे मुख से निकले थे उस समय सामन्त ऊदावत पास ही खड़े थे, उन्हें भी मेरे दुःख से मर्मान्तिक कष्ट हुआ था। मुझे भय है कि सामन्त ऊदावत ने इन कष्टों का अन्त करने के लिए कहीं अकबर को मेरी ओर से सन्धि का पत्र न लिख दिया हो।

वीरम : क्या सामन्त ऊदावत ऐसा कर सकते हैं ?

प्रताप : मेरे और तुम्हारे कष्टों से आज कौन राजपूत दुखी नहीं है। साथ के अधिकांश राजपूत तो यही चाहते हैं कि इन कष्टों का अन्त हो। स्वाधीनता का युद्ध तो बाद में भी लड़ा जा सकता है।

वीरम : यदि सामन्त ऊदावत ऐसा लिख भी दें तो क्या अकबर को विश्वास हो सकता है ?

प्रताप : क्यों नहीं ? अकबर तो प्रत्येक रणभूमि के कराहते हुए मुख से एक बार ही यह सुनना चाहता है कि राणा प्रताप ने आत्म-समर्पण कर दिया। किन्तु वीरम ! क्या एक बार ही झुका हुआ मस्तक अपने पहिले के अडिग गौरव और सम्मान की रक्षा

करने में कभी समर्थ हो सकता है ? क्या टूटी हुई तलवार पर फिर से पानी चढ़ाया जा सकता है ?

वीरम : आप सत्य कहते हैं, राना जी !

प्रताप : जिस राणा प्रताप ने अकबर से पच्चीस वर्षों तक लोहा लिया, क्या वही राणा प्रताप पिता प्रताप से लोहा नहीं ले सकता ? ऐसे प्रताप को वह सदैव के लिए अरावली पर्वत से निर्वासित··· (**सहसा चौंक कर तीक्ष्ण स्वरों में**) कौन है ?

वीरम : कोई जासूस होगा जो उस झाड़ी में छुपना चाहता है।

प्रताप : (**ललकार कर**) झाड़ी से बाहर निकल आ। नहीं तो यह भाला तेरे शरीर को बेध डालेगा।

आगन्तुक : (**दूर से आता हुआ स्वर**)···म, म,···माफ़ी चाहता हूँ, हुज़ूर !

प्रताप : बादशाह अकबर का गुप्तचर ? ···जासूस ?

आगन्तुक : क़तई नहीं, हुज़ूर। मुतलक़ नहीं हुज़ूर। ग़ुलाम तो हुज़ूर की क़दमबोसी का फ़ख्र हासिल करने की फ़िराक़ में ही था। सुभान अल्लाह ! क्या पाक फ़िज़ा है हुज़ूर के इक़बाल की, वह गोया एक हुस्न का समन्दर है जिसमें हर सिम्त से सरफ़रोशी की तमन्नाओं के दरिये अपनी मौजों में मचल-मचल कर मिल रहे हैं।

प्रताप : वीरम ! तुम भीतर जाओ। भीलों के सरदार को भेजना।

वीरम : जैसी आज्ञा। भीलों के सरदार अभी ही आएँगे। (**प्रस्थान**)

आगन्तुक : हुज़ूर ! जो सज़ा आप देना चाहें, खुद ही अपनी ज़ुबाने मुबारक से फ़रमाएँ। भीलों के सरदार को तकलीफ़ देने की क्या ज़रूरत ? ज़हरों में डूबे हुए उनके तीर तो रूह तक को तड़पा देते हैं। हुज़ूर के हाथों से सज़ा पाकर मैं अपनी ख़ुशक़िस्मती की दाद चाहता हूँ। यों हुज़ूर के रूबरू···मैंने कोई ग़ुस्ताख़ी नहीं की।

प्रताप : तुमने ग़ुस्ताख़ी नहीं की ? मेरी बेबसी और लाचारी देखने का हक़ इस दुनिया में किसी को नहीं है। जब मैं अपनी हसरतों की तस्वीर दिल के भीतर से निकालता हूँ तब उसे चोरी से देखने वाली आँखों को कौन-सी सज़ा नहीं दी जा सकती ? दिन की रौशनी न देख सकें, यह सज़ा तो बहुत छोटी है।

आगन्तुक : हुज़ूर सही फ़रमाते हैं। तो हुज़ूर, आप अपनी तलवार उठाएँ। ग़ुलाम सर झुकाकर अपनी आँखों की रौशनी हुज़ूर के सदक़े क़ुर्बान कर दे।

[आगन्तुक सिर झुकाते हुए अपनी दाढ़ी-मूँछ निकालने लगता है। बाल पीछे करता है जिससे उसके माथे का त्रिपुंड झलकने लगता है।]

प्रताप : तुम ? तुम अपनी दाढ़ी-मूँछ निकाल रहे हो ? यह नकली दाढ़ी-मूँछ ? अरे··· तुम सामंत रामसिंह ! राठौर पृथ्वीराज के मित्र ! तुम इस वेश में कैसे ? मैंने तुम्हें मार दिया होता। बीकानेर से तुम कब आए ? क्यों आए ? तुमने भी कदाचित् अकबर की स्वाधीनता स्वीकार की ?

रामसिंह : नहीं की, महाराणा। मुझे क्षमा करें कि मैंने यह छद्मवेशी रूप रखा, किन्तु यह आवश्यक था। अरावली पर्वत के चारों ओर मुग़ल सिपाही घूम रहे हैं। आपके पास तक पहुँचने के लिए यह वेश आवश्यक था। क्षमा करें। मैं आपसे एकान्त में मिलना चाहता था, इसीलिए इस स्थान पर—आने की धृष्टता की। राठौर पृथ्वीराज ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है।

प्रताप : महाकवि राठौड़ पृथ्वीराज ने !

रामसिंह : हाँ, महाराणा ! आप तो जानते ही हैं कि बीकानेर के महाराणा रायसिंह ने सम्राट् अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली है किन्तु उनके भाई राठौड़ पृथ्वीराज तो सम्राट् अकबर के बड़े विरोधी रहे हैं। परिणामस्वरूप वे वन्दी के रूप में सम्राट् के यहाँ निवास कर रहे हैं।

प्रताप : वन्दी के रूप में ?

रामसिंह : हाँ, महाराणा ! राठौड़ पृथ्वीराज आपकी भाँति ही स्वाभिमानी और स्वतंत्रता-प्रिय हैं। वे राजपूती मर्यादा को भगवान् एकलिंग का वरदान मानते हैं। जब से आपने सम्राट् अकबर की राजनीति को पहिचान कर उसके वैभवपूर्ण प्रलोभनों को ठुकरा कर राजपूतों के गौरव की रक्षा की है, तब से राठौड़ पृथ्वीराज आपके अनन्य भक्त हो गए हैं। आपने सम्राट् के साथ संघर्ष करते हुए बन्धु-बान्धवों तथा परिवार के साथ जिन दारुण परिस्थितियों को सहन किया है उन्हें लेकर राठौड़ पृथ्वीराज ने अनेक कविताएँ लिखी हैं।

प्रताप : हाँ, मैं जानता हूँ। मैं उनका कृतज्ञ हूँ, रामसिंह।

रामसिंह : किन्तु महाराणा ! आजकल राठौड़ पृथ्वीराज एक भयानक यन्त्रणा में तिल-तिल कर जल रहे हैं।

प्रताप : तिल-तिल कर जल रहे हैं ? अकबर किसी को भी भारी से भारी यंत्रणा दे सकता है।

रामसिंह : किन्तु महाराणा ! यह यंत्रणा सम्राट् अकबर ने नहीं दी।

प्रताप : अकबर ने नहीं दी ! तो किसने दी है ?

रामसिंह : महाराणा क्षमा करें। यह यंत्रणा आपने दी है।

प्रताप : मैंने ! रामसिंह जैसा छद्मवेश बनाकर तुम आए, वैसे ही छद्मवेशी शब्द भी कहना चाहते हो ? सावधान होकर बात करो।

रामसिंह : सावधान होकर ही बात कर रहा हूँ, महाराणा ! यह यंत्रणा आपने ही उन्हें दी है। आपके जिस त्याग और तपस्या के बल पर राठौड़ पृथ्वीराज अकबर के सामने अपना मस्तक ऊँचा रखते थे, राजपूती मर्यादा पर गर्व करते थे, वही त्याग और तपस्या आपने समाप्त कर दी। आपने भी सम्राट् अकबर को पत्र भेजकर सन्धि कर ली !

प्रताप : सन्धि कर ली ? मैंने तो कोई पत्र नहीं भेजा।

रामसिंह : (**उल्लास से**) क्या सच ? महाराणा प्रताप की जय ! जय हो ! ! भगवान् एकलिंग की कृपा ! स्वयं राठौड़ पृथ्वीराज का भी यही अनुमान था कि आपने पत्र नहीं भेजा, महाराणा ! राजपूताने में आपके बहुत से शत्रु हैं। अवश्य ही उन्हीं शत्रुओं में से किसी ने आपकी ओर से पत्र भेज दिया।

प्रताप : किसने पत्र भेजा ?··· (**सोचते हुए**) ···सामन्त ऊदावत···ने···।

रामसिंह : (**सहसा**) हाँ ! सामन्त ऊदावत ही ने महाराणा ! वे ही वह पत्र लेकर गए थे। कहते हैं, उन्होंने आपकी दारुण यंत्रणाएँ अपनी आँखों से देखी हैं। उन्होंने ही तो आपके निवास का गुप्त स्थान राठौड़ पृथ्वीराज को एकान्त में बतलाया था—नहीं तो मुझे इस स्थान का पता ही कैसे लगता ?

प्रताप : (**हतप्रभ होकर**) तो यह सामन्त ऊदावत का ही कार्य है। मेरा अनुमान सत्य निकला।

रामसिंह : महाराणा ! सामन्त ऊदावत ने यह बहुत भयानक कार्य किया। उन्होंने ही वह पत्र सम्राट् अकबर को दिया। पत्र पाते ही सम्राट् अकबर खुशी से पागल हो गया। वह अपने महल के हरएक कमरे में जाकर झूम-झूमकर चिल्लाने लगा—'मैंने प्रताप को पस्त कर दिया। सारा मेवाड़ मेरे क़दमों पर झुक गया।' राजधानी में तरह-तरह की खुशियाँ मनाई गईं। जब सम्राट् अकबर ने वह पत्र राठौर पृथ्वीराज को दिखलाया तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ।

प्रताप : उन्हें···उन्हें···विश्वास नहीं हुआ होगा।

रामसिंह : नहीं हुआ, महाराणा ! उन्होंने कहा—जिस राणा प्रताप ने अपने प्राणों की चिन्ता न करते हुए राजस्थान के गौरव की रक्षा की है, उसी गौरव का सर्वनाश राणा प्रताप स्वयं अपने हाथों कैसे कर सकता है ?

प्रताप : (**सोचते हुए**) उन्होंने सत्य ही कहा।

रामसिंह : उन्होंने सम्राट् अकबर को विश्वास दिला दिया कि मैं महाराणा की लिखावट भली भाँति पहिचानता हूँ। यह पत्र उनका लिखा हुआ नहीं है। सम्राट् अकबर ने राठौड़ पृथ्वीराज को ही वास्तविकता का पता लगाने का कार्य सौंपा। उन्होंने एक पत्र आपकी सेवा में भेजा है। आज्ञा हो तो मैं उसे सुनाऊँ।

प्रताप : मैं सुनना चाहता हूँ !

रामसिंह : सुनिए। (**स्वर से सुनाते हैं—**)

अकबर समद अथाह, सूरामण भरियो सुजन।
मेवाड़ो तिंण माह, पोयण फूल प्रताप सी॥
माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राणा प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणै साँप॥
धर बाँकीदिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घरांग नरिंदा घेरियो, रहे गिरंदा राण॥

पातल जो पतसाह, बोलै मुख हूतां बयण।
मिहर पछमदस मांह, ऊगै कासपराव उत॥
पटकूँ मूँछा पाण, के पटकूँ निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली वात इक॥

प्रताप : (तीव्र स्वर से) भगवान् एकलिंग की जय! यही होगा। यही होगा। रामसिंह! तुम जाओ और राठौड़ पृथ्वीराज से कहो कि प्रताप जाग रहा है। अकबर अपनी राजनीति के अन्धकार में भले ही सब राजपूतों को सुला ले, किन्तु राणा प्रताप अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक जागता रहेगा। इसके लिए उसे चाहे अपने परिवार के एक-एक बच्चे की बलि देनी पड़े। देवला के हाथ से घास की रोटी भले ही छिन जाए···किन्तु राजपूत की स्वाधीनता उसके रक्त की प्रत्येक बूँद में लिखी होगी। जाओ···!

रामसिंह : महाराणा प्रताप की जय! राठौड़ पृथ्वीराज की जय! बस, राठौड़ का कार्य पूरा हो गया।···भले ही सारा संसार सो जाए। आज्ञा दीजिए—मैं अभी राठौड़ पृथ्वीराज को सूचना दूँ।

[शीघ्रता से प्रस्थान]

प्रताप : (स्वगत) जननी जन्मभूमि! अब प्रताप एक साथ दो युद्ध लड़ेगा। एक अकबर से और दूसरा अपने हृदय से—ममता-भरे हृदय से···

[नेपथ्य में स्त्री-कण्ठ—महाराणा की जय!]

प्रताप : कौन? कानन?

[कानन का प्रवेश]

कानन : महाराणी ने कहा था कि आपने मेरे पिता को बुलाया है।

प्रताप : हाँ, कानन! क्या भील सरदार नहीं हैं?

कानन : महाराणा! वे विठू के जंगलों में फ़रीद ख़ाँ के सिपाहियों को मारने गए हैं।

प्रताप : धन्य हो, भील सरदार! तुमने अपने प्राणों को हथेली पर रखकर हम लोगों की रक्षा की है। मेवाड़ सदैव तुम्हारा ऋणी रहेगा।

कानन : इसमें ऋण की क्या बात है, महाराणा? इस जंगल की धरती के धन्य भाग्य हैं कि आपके चरणों ने इसे पवित्र किया और हम लोगों को सेवा का अवसर दिया।

प्रताप : भील सरदार कब तक आ जाएँगे, कानन?

कानन : बस, अब आते ही होंगे। वे तो अपना धनुष और तीर लेते हैं और बात की बात में हज़ारों शत्रुओं को ज़मीन पर सुला देते हैं।

प्रताप : अब हम भी शत्रुओं को सुलाने की तैयारी करेंगे।

कानन : अवश्य सुला दीजिए, राणा जी! युद्ध में लड़ते-लड़ते वे कई दिनों से सोये न होंगे। आपके भाले से वे हमेशा के लिए सो जाएँगे।

प्रताप : लेकिन शत्रुओं की संख्या कई हज़ार है, कानन ! और हमारे पास सौ राजपूतों से अधिक न होंगे।

कानन : तो हमारे भील सिपाही तो बहुत हैं। जैसे ऊपर आकाश में तारे बिखरे रहते हैं, उसी तरह सारी अरावली की पहाड़ियों में हमारे भील सिपाही हैं। अब मैं गिनती करना तो नहीं जानती कि कितने हैं, पर पिता जी कहते हैं कि पानी की लहरों को गिनना सहज है पर भील सिपाहियों को नहीं। और फिर भील स्त्रियाँ भी तो तीर चलाना जानती हैं।

प्रताप : तुम तीर चलाना जानती हो ?

कानन : हाँ, महाराणा ! मैं अच्छा तीर चला लेती हूँ। दस दिन पहिले रानी बहन देवल के हाथ से एक बन-बिलार रोटी छीनकर ले गया था। मैं उसी दिन से उसकी ताक में थी। कल वह फिर घात लगाए पेड़ की डाल पर बैठा था। मैंने निशाना लेकर ऐसा तीर चलाया कि वह भरे हुए घड़े की तरह ज़मीन पर गिर पड़ा।

प्रताप : तब तो तुम बहुत अच्छा तीर चलाना जानती हो ! देवल तो इससे बहुत प्रसन्न हुई होगी !

कानन : हाँ, मेरे साथ वह गाने भी लगी है। (**स्वर से**—)

सिपाहियों नो कलो बनती आवे रे महराजा।
आवी लागी दरवा पेले काठे रे महराजा॥
फौजां में तो बारी बाजा बाजे रे महराजा।
बाजा रे बाजे भावा आं नाचे रे महराजा॥

प्रताप : तुम गीत भी बहुत अच्छा गाती हो ! तो अब तुम भीलों की सेना में क्यों नहीं भरती हो जातीं ?

कानन : आप कहेंगे तो अवश्य भरती हो जाऊँगी, महाराणा जी !

प्रताप : महाराणी जी क्या कर रही हैं ?

कानन : वे भवानी की पूजा कर रही हैं, राणा जी !

[नेपथ्य में 'भड़भड़' आवाज़ होती है। साथ ही एक कराह। 'आह लिल्लाह' चिल्लाहट। 'ख़ुदा के लिए मेरी जान बख़्श दीजिए। मेरा कुसूर माफ़ कीजिए। आयन्दा कभी ऐसी ग़ुस्ताख़ी नहीं होगी। आह ! आह !'

शक्तिसिंह—भील सरदार ! इसे छोड़ दीजिए। बस, इसके हाथ से बीजक के कागज़ छीन लीजिए।]

प्रताप : यह कैसी घटना है ?

[भील सरदार, शक्तिसिंह और भामाशाह का प्रवेश]

सब : (**एक साथ**) महाराणा की जय !

प्रताप : कौन ? शक्तिसिंह, भील सरदार और भामाशाह !

शक्तिसिंह : भाई ! आज मेवाड़ के लिए अभिषेक-पर्व का आयोजन होगा। जब हल्दीघाटी के युद्ध में असंख्य मुग़ल सेना के समक्ष तुमने केवल बीस हज़ार राजपूतों को लेकर युद्ध किया तो ज्ञात हो गया कि मातृभूमि के लिए आत्म-समर्पण का अनुष्ठान कैसा होता है ! एक ओर तोपें और बन्दूकें और दूसरी ओर केवल तीर और तलवार ! किन्तु महाराणा ! तुम्हारा अदम्य साहस तलवारों की झंकारें अपनी गति में कह सकती हैं। आज तुम्हारा नीला घोड़ा चेतक नहीं है, किन्तु नीले घोड़े के सवार ने अपनी स्वतन्त्रता और मर्यादा की जो शक्ति दिखलाई है, उसके सामने हाथियों की चिंघाड़, तोपों की गड़गड़ाहट, रणक्षेत्र का तुमुल और शत्रुओं की ललकार व्यर्थ हो गयी। राणा प्रताप ! आज हम लोग तुम्हारे द्वितीय अभिषेक का पर्व मनाने आये हैं।

प्रताप : भाई शक्तिसिंह ! मैं तुम्हारे स्नेह और उत्साह की प्रशंसा करता हूँ, किन्तु तुम्हारी इस वाणी का अर्थ समझना चाहता हूँ ! भील सरदार ! बाहर जो चीत्कार हुआ वह कैसी घटना थी ? मंत्री भामाशाह ! तुम अकस्मात् यहाँ कैसे ? आज घटनाएँ विचित्र प्रकार से घटित हो रही हैं।

भील सरदार : महाराणा ! आज सचमुच ही स्वतंत्रता-देवी फिर से हमारी मातृभूमि-अरावली पहाड़ से निकल कर हम लोगों के सामने आई हैं। मुझे रात में ही सूचना मिली कि विठू के जंगल में फ़रीद ख़ाँ की जो पाँच हज़ार मुग़ल सेना हमें घेरे हुए थी—उसमें से चार हज़ार सिपाही रायगढ़ चले गए।

प्रताप : चले गए ? किस कारण से ?

भील सरदार : फ़रीद ख़ाँ ने एक ऐलान किया था। बड़ा ही विचित्र ऐलान था वह !

प्रताप : कौन सा ऐलान ?

भामाशाह : बड़ा आश्चर्यजनक ऐलान था, महाराणा ! उसने सिपाहियों से कहा कि महाराणा ने बादशाह की ख़िदमत करना मंज़ूर कर लिया है। नाचो, गाओ, ख़ुशियाँ मनाओ ! सुनते ही ज़मीन जैसे मेरे पैरों से खिसक गई। मेवाड़ का जो एक प्रतापी सूर्य था, क्या वह भी अस्त हो गया ? मैं उस समय रायगढ़ ही में था। ख़बर पाते ही मैं फ़िनसारा चला आया। वहीं शक्तिसिंह जी से भेंट हो गई। मैंने उनसे कहा कि ऐसा नहीं हो सकता, महाराणा प्रताप ऐसा कभी नहीं कर सकते। मैं उनकी पूरी सहायता करूँगा।

शक्तिसिंह : महाराणा ! भामाशाह ने अपनी सम्पत्ति से उसी समय मेरी सहायता की। मैंने थोड़ी-सी सेना इकट्ठी कर ली और घोषणा की कि मैं महाराणा प्रताप का भाई हूँ। महाराणा प्रताप के सम्बन्ध में झूठी बात उड़ाई गई है। मैं महाराणा प्रताप की सहायता करने जा रहा हूँ। कौन चलेगा मेरे साथ ?

भील सरदार : और मैंने देखा, महाराणा ! कि आपके नाम से जैसे लोगों में जादू-सा फैल गया। मार्ग के मज़दूरों ने अपने-अपने बोझे फेंक कर तलवारें उठा लीं।

पिता अपना परिवार छोड़कर आ गया, भाई ने भाई से विदा ली, बेटे ने अपने पिता के चरण छूकर भाला उठा लिया और शक्तिसिंह जी के साथ हो गए।

शक्तिसिंह : महाराणा ! मैंने उस छोटी-सी सेना से फ़िनसारा का दुर्ग फ़तेह कर लिया !

भील सरदार : और मैंने अपने कुछ साथियों की सहायता से बिठू के जंगल में—छिपे हुए एक हज़ार सिपाहियों को तीरों की मार से तितर-बितर कर दिया।

भामाशाह : इस बीच में एक दुर्घटना हो गई, महाराणा ! कि मेरी और मेवाड़ की सम्पत्ति का जो बीजक था, वह मुग़ल सिपाही ने चुरा लिया। अकबर के बहुत से जासूस मेरे पीछे घूम रहे थे।

भील सरदार : महाराणा ! जैसे ही मेरे तीरों से एक हज़ार सिपाही तितर-बितर हो रहे थे, एक सिपाही बिना तीर लगे ही गिर पड़ा और औंधा होकर झाड़ी में छुपने लगा। महाराणा ! मुझे सन्देह हो गया। मैंने उसे झपट कर पकड़ लिया। उसके पास बीजक का कागज़ था। मैं उसे पकड़ कर आपके पास ला रहा था कि शक्तिसिंह जी ने उससे कागज़ छीनकर उसका एक हाथ काटकर छोड़ दिया।

प्रताप : यह सम्पत्ति का बीजक कैसा ?

भामाशाह : महाराणा ! यह एक बहुत बड़ा रहस्य है। आपके पिता महाराणा उदयसिंह के समय जब बादशाह अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था, उसके पहले ही महाराणा उदयसिंह चित्तौड़ छोड़कर मेवाड़ के सुरक्षित पहाड़ों पर चले गए थे। और राज्य की सारी सम्पत्ति चित्तौड़ से हटा ली गई थी। उसे मैंने अरावली पहाड़ के सुरक्षित स्थानों में गुप्त रूप से रखवा दिया था। उसका बीजक यह है जो भील सरदार की सहायता से मैं फिर से पा सका हूँ।

प्रताप : भील सरदार ! तुमने मेवाड़ को अपने तीरों की नोक पर उठा कर वैभव के शिखर पर रख दिया।

भील सरदार : यह तो आपका प्रताप है, महाराणा जी !

प्रताप : और भामाशाह ! तुमने मेवाड़ की सम्पत्ति की सुरक्षा कर सच्चे कोषाध्यक्ष का आदर्श संसार में उपस्थित किया है।

भामाशाह : महाराणा ! यह तो मेरी सेवा है। यदि इतना भी न कर सकता तो मेरे जीवन का क्या मूल्य होगा ? महाराणा ! यह मेवाड़ की सम्पत्ति है। मैं इसको मेवाड़ की सेवा में ही समर्पित करता हूँ। यह सम्पत्ति इतनी है कि इससे पच्चीस हज़ार सैनिकों का निर्वाह बारह वर्षों तक हो सकता है।

शक्तिसिंह : महाराणा ! यह धन स्वीकार कीजिए और इससे सैनिकों का संगठन कर फिर से बारह वर्षों तक स्वतन्त्रता के पर्व का अनुष्ठान कीजिए।

प्रताप : शक्तिसिंह, भील सरदार और भामाशाह ! तुम लोग मेवाड़ के रत्न हो ! भामाशाह द्वारा सुरक्षित सम्पत्ति तो निर्जीव सम्पत्ति है, तुम लोग मेवाड़ के सजीव वैभव और शक्तिशाली नक्षत्र हो, जिनका यश कभी धूमिल न होगा ! इस

सम्पत्ति से मेवाड़ की ध्वजा फिर एक बार आकाश में फहरायेगी। अकबर बादशाह का आक्रमण उतना दुःखदायी नहीं है—बादशाह तो आक्रमण किया ही करते हैं—दुःखदायी तो वे विश्वासघाती हमारे भाई हैं जो अपना कर्त्तव्य भूल कर अपनी ही मातृभूमि की परतंत्रता के बीज बोते हैं। किन्तु कुछ चिन्ता की बात नहीं है। **(पुकार कर)** वीरम···।

[नेपथ्य से—मैं आई महाराणा जी !—वीरम का प्रवेश]

प्रताप : मातृभूमि की आरती सजाओ ! शंख-घोष करो ! हल्दीघाटी के युद्ध का फिर आवाहन हो ! अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता का पुनः अभिषेक-पर्व हो !

सब : (सम्मिलित स्वर) हमारी मातृभूमि मेवाड़ की जय ! जय !! महाराणा प्रताप की जय···!!!

[नेपथ्य में शंख-घोष और भीलों की तुरही का नाद]

नाना फड़नवीस

भूमिका

नाना फड़नवीस भारतीय इतिहास में एक स्मरणीय नाम है। राजनीति के क्षेत्र में नाना फड़नवीस ने जिस अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है, वह बड़े से बड़े प्रभावशाली नरेशों में नहीं थी। अठारहवीं शताब्दी का भारतीय इतिहास नाना फड़नवीस की विचक्षण बुद्धि से ही अनुशासित हुआ है। यह दुर्भाग्य की बात थी कि नाना को अधिक आयु नहीं मिली। यदि वे दीर्घजीवी होते तो ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों की कूटनीति पनपने न पाती और जिस प्रकार इस देश में व्यापार करने की इच्छा से आए हुए फ्रांसीसी और पुर्तगाली इस भूमि पर अपने पैर नहीं जमा सके, उसी भाँति अंग्रेज भी इस देश से हट गए होते और भारत को विदेशी शासन से मुक्ति मिल गई होती। आज देश का इतिहास ही दूसरा होता।

भट और भानु उपनाम के दो ब्राह्मण गृहस्थ सज्जन कोंकण से सतारा के महाराज शाहू के दरबार में आए। अपनी योग्यता से भट को पेशवाई प्राप्त हुई और भानु को आय-व्यय-लेखन अथवा फड़नवीसी। पहले पेशवा थे बालाजी विश्वनाथ और पहले फड़नवीस थे हरि महादेव। दोनों में बड़ी ही आत्मीयता के सम्बन्ध थे और परिणाम-स्वरूप पेशवाई और फड़नवीसी उत्तराधिकार के रूप में दोनों के वंशों में रही। बालाजी विश्वनाथ के बाद बाजीराव पेशवा हुए। हरि महादेव के अनन्तर क्रम से रामाजी महादेव और बालाजी महादेव ने फड़नवीसी की। बाजीराव के कार्य-काल में अन्तिम फड़नवीस रामाजी महादेव थे। ये भी कुछ काल में कैलासवासी हुए। हरि महादेव पुत्रहीन थे। रामाजी महादेव और बालाजी महादेव के एक-एक पुत्र थे। रामाजी के पुत्र का नाम बाबूराव और बालाजी के पुत्र का नाम जनार्दन था। बड़े होने पर ये दोनों ही फड़नवीस हुए। जनार्दन पन्त के पुत्र बालाजी हुए और यही बालाजी जनार्दन भानु नाना फड़नवीस के नाम से विख्यात हुए। यही महाराष्ट्र के अप्रतिम राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने हिन्दू-पद-पादशाही की दुंदुभी बजाकर अंग्रेज, फ्रांसीसी, मुग़ल, हैदर, टीपू सुलतान और निजाम की समस्त कूटनीति और षड्यंत्रों को नष्ट कर राष्ट्रीयता की नींव मजबूत की। ऐसे महापुरुष से महाराष्ट्र ही नहीं, समस्त भारत गौरवान्वित हुआ।

नाना फड़नवीस का जन्म सतारा में 24 फरवरी सन् 1742 को जनार्दन

बल्लाल भानु की पत्नी सौभाग्यवती रखमाबाई से दस बजे रात में हुआ। नाना के सभी अग्रज छोटी आयु में ही चल बसे थे, अतः नाना की शिक्षा-दीक्षा का समस्त भार पेशवा ने ही बड़े स्नेह और वात्सल्य से वहन किया। उस समय की शिक्षा भी विशेष नहीं थी। सामान्य-सा पठन-पाठन और सांसारिक व्यवहार और समाज-शिक्षा ही पर्याप्त थी। किन्तु कुशाग्र-बुद्धि नाना ने इतनी शिक्षा से ही आश्चर्यजनक प्रतिभा का विकास किया।

बाल्यकाल

शैशव से ही नाना बड़े सरल स्वभाव के थे। उच्छृंखलता अथवा छल-कपट की ओर उनकी किञ्चित् भी प्रवृत्ति नहीं थी। वे एकांत में चुपचाप बैठे रहते थे। वे न किसी के लेने में, न देने में—सबसे अलग, उनके शैशव का समय व्यतीत हो रहा था। देवता की मूर्ति की ओर एकटक देखना अथवा देव-मन्दिर में जाकर पूजा-अर्चा की विधियों में रुचि लेना उनके स्वभाव का अंग बन गया था। दूसरे का उपकार करने की भावना सदैव उनके हृदय में उत्पन्न होती। युद्ध के नाम से उन्हें घृणा होती, शस्त्र-शिक्षा को वे क्रूरता का अभ्यास करना समझते थे, सेना का शब्द सुनकर उनके मन में अवसाद छा जाता था।

जब पानीपत के तीसरे युद्ध में सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में मराठों की सेना चली तो उनके साथ नाना भी चले, किन्तु वे पानीपत के युद्ध में भाग लेने के लिए नहीं, वरन् मार्ग में तीर्थ-यात्रा करने की सुविधा से साथ हो गए थे। उनके हृदय में बड़ी अभिलाषा थी कि वे काशी और प्रयाग में पवित्र भागीरथी में स्नान करें और शंकर या बिन्दुमाधव के दर्शन करें। वे वृन्दावन जाना चाहते थे जिससे वे कृष्ण की लीला-भूमि अपनी आँखों से देख सकें। यमुना की उस बालुका-राशि में वे लेट सकें जहाँ श्रीकृष्ण ने शरद्-पूर्णिमा में रास किया था। वे उस कदम्ब की छाया में बैठ सकें जिस पर चढ़कर श्रीकृष्ण ने बाँसुरी में स्वर भरा था। नाना ने अपने आत्म-चरित में इसका संकेत किया है। इस भाँति युद्ध में कौशल दिखलाने के लिए नहीं अथवा विपक्षियों को मौत के घाट उतारने के लिए नहीं, वरन् देवताओं के दर्शन करने के लिए, किसी तीर्थ-स्थान में स्नान करने के लिए और इस विचार से कि सेना के साथ रहने से उन्हें मार्ग में किसी डाकू या लुटेरे का भय नहीं रहेगा, वे उत्साह से पानीपत की ओर जाने वाली सेना के साथ चल पड़े थे। यही नहीं, वे अपने साथ अपनी माता और पत्नी को भी ले गए थे।

विवाह और उसके बाद

दस वर्ष की अवस्था में ही नाना का विवाह सदाशिव रघुनाथ गदरे की कन्या यशोदाबाई से पूना में हुआ। 14 वर्ष की अवस्था में वे संयोग से एक घोड़े पर से गिर

पड़े और उन्हें भारी चोट लगी। बड़ी कठिनाई से वे बच सके। जब नाना पन्द्रह वर्ष के हुए, उस समय उनके पिता कैलासवासी हुए और उन्होंने उत्तराधिकार में फड़नवीसी प्राप्त की।

पेशवा बालाजी बाजीराव के हृदय में नाना के प्रति बड़ा स्नेह था। जब नाना के पिता की मृत्यु हुई तो पेशवा का हृदय नाना के प्रति और भी द्रवित होकर स्नेहशील हो गया। नाना का मन बहलाने के लिए पेशवा बालाजी बाजीराव उन्हें अपने साथ श्रीरंगपट्टम ले गए।

श्रीरंगपट्टम से आने के उपरान्त नाना को एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई किन्तु कुछ महीनों के बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। नाना का स्वास्थ्य भी इस बीच में खराब हो गया था, अतः वे गोदावरी नदी के किनारे चले गए और वहाँ वे अनेक प्रकार के अनुष्ठान करते रहे। गोदावरी के तट पर उनके हृदय को इतनी शान्ति मिली और उनके हृदय में पवित्रता की प्रेरणा इस सीमा तक बढ़ी कि वे भागीरथी की पुण्य धारा के संस्पर्श की कामना नहीं रोक सके और काशी जाने का अवसर खोजने लगे। उसी समय पेशवा के भाई सदाशिवराव भाऊ ने अफ़गानियों को दंड देने के लिए पानीपत की ओर ससैन्य जाने की आज्ञा पेशवा बालाजी बाजीराव से प्राप्त की और वे भारी सेना लेकर पानीपत की ओर चल पड़े। नाना फड़नवीस के लिए काशी जाने का यह अवसर अनायास ही हाथ आ गया और वे सदाशिवराव भाऊ के साथ पानीपत की ओर जाने का प्रबंध करने लगे। उन्होंने सोचा कि सेना के मार्ग में पड़ते हुए अन्य तीर्थों के देखने का अवसर भी मिल जाएगा और मार्ग में किसी प्रकार की असुविधा या आशंका भी नहीं रहेगी। उन्होंने पेशवा की आज्ञा ली और वे अपनी पत्नी और माता को लेकर सेना के साथ चल पड़े।

अपनी यात्रा में वे यमुना के किनारे आए और उन्होंने 'कालियदह' के दर्शन किए, कदम्ब वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम किया। उन्होंने अपनी तीर्थयात्रा का विवरण अपनी आत्म-कथा में विस्तार से दिया है।

सन् 1761 में पानीपत का युद्ध हुआ और उसमें सदाशिवराव भाऊ की अदूर-दर्शिता, हठवादिता और अस्थिरता के कारण बहुत बड़ी सेना के होते हुए भी मराठों की हार हुई और महाराष्ट्र का मध्याह्न-सूर्य अस्तोन्मुख हुआ। युद्धक्षेत्र की ओर प्रयाण करते समय इन्दौर-नरेश होलकर और भरतपुर-नरेश सूर्यमल्ल का अपमान कर देने से सदाशिवराव भाऊ का दो शक्तिशाली सहायकों से वंचित हो जाना उनकी रण-नीति की अनभिज्ञता ही सूचित करता है। केवल अपनी ही अहंमन्यता के बल पर युद्ध में विजय पाना कदाचित् ही संभव होता है। इस पानीपत के युद्ध में न जाने कितने महाराष्ट्र-वीर रणभूमि की बलि हुए। शेष जो बच गए थे, वे अनजान रास्तों से भाग कर अपने-अपने स्थान पर पहुँचे। इस पराजय का सबसे विषम परिणाम यह हुआ कि पेशवा बालाजी बाजीराव—जिनका स्वास्थ्य गिर रहा था—और भी मलीन और अस्वस्थ हो गए और

उनकी मृत्यु शीघ्र ही हो गई। उस समय नाना फड़नवीस छोटे थे और राजनीति में उनका कोई स्थान नहीं था।

पेशवा बालाजी बाजीराव की मृत्यु के बाद उनके द्वितीय पुत्र माधवराव पेशवा हुए और उन्होंने अत्यन्त योग्यता से महाराष्ट्र की बागडोर सम्हाली। उन्होंने नाना फड़नवीस को मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित किया और नाना ने अपने दायित्व को अभूतपूर्व राजनीतिक दृष्टि से सम्हाला। बालाजी बाजीराव के भाई रघुनाथराव (राघोबा) में राज्य-तृष्णा चरम सीमा की थी। जब तक बालाजी बाजीराव जीवित रहे तब तक रघुनाथराव अपनी दूषित मनोवृत्ति में कृतकार्य नहीं हो सके, किन्तु बालाजी बाजीराव की मृत्यु होने पर रघुनाथराव अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के सुनहले स्वप्न देखने लगे। वे अब महाराष्ट्र से विद्रोह करने के लिए भी उद्यत हो गए और जिन साधनों से उनकी इच्छा-पूर्ति हो सकती थी, उन साधनों को स्वीकार करने में उन्हें किञ्चित्-मात्र भी संकोच न हुआ, भले ही वे साधन विपक्षियों के द्वारा प्रस्तुत किए गए हों।

महाराष्ट्र के विपक्षियों में इस समय ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज़ प्रमुख थे। तो इस बात का सतत प्रयत्न करते रहे कि महाराष्ट्र में गृह-विद्रोह कराने के लिए रघुनाथराव (राघोबा) को अपनी ओर मिला लिया जाए और दक्षिण की अन्य दो शक्तियों—निज़ाम और हैदर अली—को मराठों से सन्धि न करने दी जाए। इन्होंने अपने युद्ध और सन्धि में सदैव ही इस बात का ध्यान रक्खा कि मराठों, हैदर और निज़ाम में सदैव के लिए फूट के बीज बो दिए जावें। इतिहासकार ग्राण्ट ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है :

"बम्बई की गवर्नमेण्ट ने मि० मास्टिन को इस उद्देश्य से पूना भेजा कि इस बात के लिए प्रत्येक प्रयत्न किया जाए कि मराठों में गृह-विद्रोह की अग्नि भड़काई जावे अथवा हैदर और निज़ाम अली से मिलने में मराठों को रोका जाए।[1]

किन्तु नाना फड़नवीस ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की इस कूटनीति को केवल पहिचाना ही नहीं, वरन् उनकी किसी भी राजनीतिक चाल को पनपने नहीं दिया। वे अंग्रेजों के प्रति आदर तो प्रकट करते थे किन्तु उनके किसी भी राजनीतिक कौशल को पूर्ण नहीं होने देते थे। वे भले ही भयानक से भयानक संकट में क्यों न पड़े हों; अंग्रेजों से कभी स्थायी सैनिक सहायता लेने के पक्ष में वे नहीं रहे और सदैव ही अपने महाराष्ट्र का गौरव अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करते रहे।

संयोग से पेशवा माधवराव भी अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। उन्हें भी अंग्रेजों की

---

1. Mr. Mastyn wa› sent to Poona by the Bombay Government, for the purpose of......using every endeavour by fomenting domestic dissensions or outherwise, to prevent the Marathas form joining Hyder or Nizam Ali—*Grant Duff* : *Histary of the Marathas*, *Page* 340.

नीति से आन्तरिक घृणा थी। वे क्षुब्ध थे कि उनके ही परिवार के—उनके चाचा रघुनाथराव (राघोबा) अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के वशीभूत होकर—सम्पूर्ण महाराष्ट्र की उज्ज्वल परम्पराओं की अवहेलना करते हुए ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों के हाथ के खिलौने बन गए हैं। उन्होंने पेशवा होकर विद्रोही रघुनाथराव को न जाने कितनी बार क्षमा किया किन्तु रघुनाथराव ऊपर से राजभक्त बने रहे—भीतर ही भीतर राजद्रोह की नींवें मजबूत करते रहे। पेशवा माधवराव अधिक वर्षों तक जीवित नहीं रहे, 28 वर्ष की अवस्था में सन् 1772 में उनकी मृत्यु हो गयी; किन्तु केवल ग्यारह वर्ष के शासन में उन्होंने महाराष्ट्र के अतीत गौरव को फिर से दक्षिण में स्थापित कर दिया और पानीपत की हार का पूरा बदला विपक्षियों से चुका लिया। इस सम्बन्ध में श्री वी० डी० सावरकर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू-पद-पादशाही' में लिखा है : "पारिवारिक कलह और ध्वंसात्मक जन-संग्राम के होते हुए (जो उनके मूर्ख चाचा की महत्त्वाकांक्षाओं के फलस्वरूप थे) उन्होंने पानीपत-युद्ध के दस वर्ष के भीतर ही अपने राष्ट्र द्वारा पानीपत का नाम ही भुलवा दिया अथवा यदि वह नाम स्मरण भी रहा तो इस नाते कि हमारी हार वीरता से परिपूर्ण हार थी। उन्होंने अपने सशक्त हाथों से हिन्दू-स्वतंत्रता या हिन्दू-पद-पादशाही के विरोधियों को कुचल कर रख दिया।"[1]

माधवराव पेशवा का शासन-काल नाना फड़नवीस के राजनीतिक उदय का उषाकाल था। इस उषाकाल में ही नाना की राजनीतिक अन्तर्दृष्टि और कार्य-कुशलता ने उन्हें महाराष्ट्र का ही नहीं, प्रत्युत समस्त देश का राजनीतिज्ञ घोषित कर दिया। नाना के कार्य-कौशल ने पेशवा माधवराव के साहस को और भी सुदृढ़ कर दिया। ऐसा ज्ञात होता है मानो माधवराव के साहस की फ़ौलादी तलवार पर नाना ने अपनी नीति का पानी चढ़ा दिया और यह तलवार कठिन से कठिन लक्ष्य पर अचूक और कठोर प्रहार करने में समर्थ हुई।

माधवराव की मृत्यु के अनन्तर तो गृह-विद्रोह ने और भी भयानक रूप धारण किया। रघुनाथराव और उनकी स्त्री आनन्दीबाई ने माधवराव के भाई नवीन पेशवा नारायणराव की हत्या कराई और स्वयं ही पेशवाई प्राप्त करने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी का आश्रय लिया किन्तु नाना फड़नवीस ने इस अवसर पर ऐसी शक्ति, साहस और नीति का परिचय दिया कि रघुनाथराव तो अपनी दुष्प्रवृत्तियों में असफल रहे ही,

---

1. In spite of domestic troubles and ruinous civil wars caused by the ambitions of his silly uncle, he within the ten years of Panipat, made his nation forget it or rather remember it as a battle that was nobly lost, and yet won and struck down with his mighty hand all those who raised their hand against the cause of Hindu Independence and Hindu Pad-Padshahi—*Sri V. D. Savarkar : Hindu Pad-Padshahi, page* 148.

ईस्ट इंडिया कम्पनी भी नाना की इस नीति-कुशलता के समक्ष पराजित हुई। कम्पनी के गहरे हथकंडे साबुन के बुलबुलों की भाँति फूट गए और कम्पनी के बड़े से बड़े कर्मचारी क्षुब्ध होकर काठ के खिलौने की भाँति निश्चेष्ट हो गए। नाना की योग्यता को स्वीकार करते हुए जे० सलीवन ने कर्नल ब्रिग्स को एक पत्र में लिखा था—

"हमें नाना फड़नवीस या उससे मिलते-जुलते आदमी दीजिए। जब हम भारत के शासकों से अपनी तुलना करते हैं तो हम दयनीय बौने ज्ञात होते हैं।"[1] दुर्भाग्य से नाना फड़नवीस को भी लम्बी आयु नहीं मिली। मार्च सन् 1800 में, 58 वर्ष 1 महीने की आयु में नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गयी। ए० मैकडोनाल्ड ने लिखा है : "मरने के अनन्तर नाना का यश इस रूप में रहा कि वे अपने समय के और देश के महानतम व्यक्तियों में थे।"[1]

प्रस्तुत नाटक

नाना फड़नवीस के इस महान् व्यक्तित्व को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत नाटक की रचना की गयी है। सम्पूर्ण अठारहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत की राजनीति तथा तत्कालीन पेशवा वंश के गौरव की अमर गाथा ही इस नाटक की कथा का मेरुदण्ड है। सामग्री का संकलन अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर करते हुए वे अंश अधिक प्रकाश में लाए गए हैं जिनसे व्यक्ति और परिस्थितियों का वास्तविक निरूपण किया जा सके। एक शताब्दी के इतिहास को राजनीति के परिवेश में निरूपित करते हुए महान् व्यक्तियों की चरित्र-रेखा उभारना दुःसाध्य है और नाटक में जहाँ केवल संक्षिप्त वार्तालाप में कथावस्तु को निरूपित करने की आवश्यकता होती है, वहाँ कार्याभिव्यंजन और घटना-चयन अत्यन्त सतर्कता की अपेक्षा रखता है। नाटक में तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण तथा स्वाभाविक क्रिया-कलाप ही इतिहास को सजीवता प्रदान कर सकता है। अतीत के चित्रों को पुनः दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष निरूपित करने के लिए तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक व्यवहार और मान्यताओं की सुचारुता नाटक में आवश्यक होती है।

कथानक

नाटक का कथानक पानीपत के युद्ध की प्रतिक्रिया से ही होता है। इसमें

---

1. Give us Nana Farnavis and such like. What poor pigmies we are as Indian Administrators when compared with natives of the stamp !!!—*J. Sullivan's letter to Colonel Briggs,* 1850.

2. In March 1800, Nana Farnavis died, after having retired from public; business, leaving behind him the reputation of being one of the greatest men of his time and country.—*A. Macdonald: Memoir of the Life of the late Nana Farnavis, page* 162.

बालाजी बाजीराव की मनःस्थिति किन-किन परिस्थितियों में होकर चलती है यह वातावरण की सूचिका है। पानीपत के परिणाम को जानने की उत्सुकता में ही नाटक का कुतूहल शक्ति-संग्रह करता है। धीरे-धीरे पाण्डुरंग की मृत्यु और युद्ध की भयानकता पेशवा के हृदय को आन्दोलित करती है किन्तु पेशवा में धैर्य और आशावादिता है। वह पाण्डुरंग की माता को ऐसे उत्साह और साहस का संदेश देता है जैसे प्रभातकालीन सूर्य संसार के अंधकार को एक क्षण में समाप्त कर देता है। दूसरे ही क्षण जब क़ासिद द्वारा स्वयं पेशवा के पुत्र विश्वासराव की मृत्यु का समाचार मिलता है तो कुछ क्षण पूर्व पेशवा के द्वारा दिया गया धैर्य और आशावादिता का संदेश स्वयं पेशवा की मनःस्थिति का परिहास-सा करने लगता है, किन्तु पेशवा फिर भी अपना धैर्य नहीं खोता। उस समय नाना फड़नवीस का वार्तालाप पेशवा के हृदय में पुनः साहस का संचार करता है और पानीपत की हार जैसे जीत में परिणत होने का आभास देती है। इसी आशावादी दृष्टि-कोण से प्रथम अंक समाप्त होता है। इस अंक में नाना फड़नवीस की स्वस्थ मनोवृत्ति और उनकी विजय की कामना राजनीति के क्षेत्र में एक नवीन नक्षत्र के उदय की सूचना देती है।

पानीपत की हार का कष्ट पेशवा बालाजी बाजीराव को अधिक दिनों तक नहीं जीने देता और उनकी मृत्यु होने पर उनके द्वितीय पुत्र माधवराव पेशवा-पद पर अभिषिक्त होते हैं। उन्होंने जिस गौरव और प्रताप से महाराष्ट्र की राजनीति की बागडोर सम्हाली इसकी सूचना दूसरे अंक के प्रारम्भ में मिल जाती है। अपने ग्यारह वर्षों के शासन-काल में उन्होंने समस्त विपक्षियों को पराजित किया है और समस्त महाराष्ट्र को उन्होंने एक सबल राष्ट्र की भाँति संगठित कर दिया है, किन्तु अब वे शिथिल हो गए हैं, अस्वस्थ भी रहने लगे हैं। इसका पूर्ण विवरण नाना फड़नवीस और रामशास्त्री के वार्तालाप में मिल जाता है। विद्रोह की झलक दिखलाने के लिए काकी आनन्दीबाई और काका रघुनाथराव के विद्रोह के चित्र उपस्थित किए गए और उनको किस प्रकार माधवराव पेशवा ने अपनी आत्मीयता और सहज स्नेह से रंजित किया है, यह नाटक की इंद्रधनुषी झाँकी देने में समर्थ हुआ है। इसमें नाना फड़नवीस की नीतिज्ञता और राजनीतिक अन्तर्दृष्टि पूरे उभार पर चित्रित की गयी है। पेशवा माधवराव की उदात्त व्यवहार-बुद्धि और नाना फड़नवीस की मर्यादित नीति वास्तव में नाटक के विद्रोही तत्त्वों को शान्ति की शीतलता से पवित्र करती है। इसीलिए दूसरे अंक का नाम विद्रोह की शान्ति बहुत ही उपयुक्त है। मंगलमय कीर्तन से इस अंक की समाप्ति हुई है।

इस नाटक के तीसरे अंक में कथा-सूत्रों की संधि है। पेशवा माधवराव की मृत्यु हो चुकी है। विद्रोही रघुनाथराव और आनन्दीबाई ने नए-नए षड्यंत्रों की रचना की है। फलस्वरूप नवीन पेशवा नारायणराव की हत्या की गयी और रघुनाथराव द्वारा पेशवाई पर अधिकार करने के प्रयत्न हुए किन्तु नाना फड़नवीस ने पेशवा-वंश की

पवित्रता की सुरक्षा में नारायणराव की विधवा पत्नी गंगाबाई के गर्भस्थ शिशु को ही पेशवा बनाने की घोषणा की। इसी कारण तीसरा अंक गंगाबाई के करुणा-पूरित मनोविज्ञान से ही प्रारम्भ होता है। इस बीच रघुनाथराव ने गंगाबाई की हत्या के भी अनेक षड्यन्त्र किए किन्तु नाना फड़नवीस की सूक्ष्म दृष्टि से उनका विघटन हुआ और स्वयं रघुनाथराव बंदी हुए। बन्दी रघुनाथराव और नाना फड़नवीस का वाद-विवाद दोनों के चरित्रों का वास्तविक उद्‌घाटन करता है। षड्यंत्रकारियों को दंड देकर नाना ने गंगाबाई के पुत्र को ही पेशवा-पद पर घोषित किया। यही उनकी राजनीति की सफलता है और इसी सफलता के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाट्य-शिल्प

यह नाटक तीन अंकों में समाप्त हुआ है। इस नाटक में सबसे अधिक ध्यान घटना-संचयन पर रक्खा गया है जिसमें महाराष्ट्र के इतिहास के उज्ज्वल अतीत की वे समस्त घटनाएँ प्रकाश में आ जावें जिनसे हमारे सांस्कृतिक जीवन के चित्र अपने यथार्थ रूप में खिंच सकें। इन घटनाओं का आधार सत्य पर ही है, कल्पना उस सत्य को निखारने में सहायक मात्र होती है। इस भाँति संवेदनात्मक स्थलों की एकावली में ही नाट्य-शिल्प का प्रयोग हुआ है।

कथा-वस्तु

इस नाटक का कथानक व्यञ्जना-शक्ति द्वारा सूत्रबद्ध किया गया है। प्रथम अंक का प्रारंभ ही पृष्ठभूमि की अनेक परिस्थितियों की व्यंजना को लेकर हुआ है। प्रथम अंक और द्वितीय अंक के बीच में अनेक घटनाएँ काल के अंतराल में पड़ी हुई हैं जिनकी व्यञ्जना से ही दूसरा अंक आरम्भ होता है। दूसरे और तीसरे अंक के बीच में घटनाएँ किसी नदी के भीषण प्रवाह की भाँति बह चुकी हैं और उनकी लहरों की ध्वनियों में ही तीसरा अंक प्रारम्भ हुआ है। इस भाँति बोलती हुई घटनाओं के संचयन में ही कथानक का कौशल है और उसमें नाटकीय संग्रह-त्याग की प्रवृत्ति कार्य करती है। इसीलिए प्रत्येक अंक अपनी संवेदना पर पूर्ण बन गया है और वह एकांकी की भाँति रंगमंच पर उपस्थित भी किया जा सकता है। कुछ वर्षों पूर्व प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् के सांस्कृतिक समारोह में इस नाटक का प्रथम अंक 'पानीपत की हार' नाम से रंगमंच पर अपनी कथावस्तु की पूर्णता के साथ उपस्थित किया गया था। इस भाँति व्यञ्जना-कौशल से प्रत्येक अंक कथावस्तु के विभाजन की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण हो गया है और उसके द्वारा नाटक की संवेदना अपनी इकाई में स्वयं-सिद्ध हो गयी है।

चरित्र-निरूपण

इस नाटक में चरित्रों की रूप-रेखा अत्यन्त प्रखर है। ऐतिहासिक व्यक्तित्वों में जो सत्य है, उसे उद्घाटित करने से ही पात्र सजीव होता है। पात्रों के संस्कार और वातावरण के प्रभाव से जिस मनोविज्ञान का निर्माण होता है उसकी क्रिया और प्रति-क्रिया में पात्रगत सत्य उभरता है। जब उस सत्य में वस्तुगत कल्पना का योग होता है तो पात्र में जीवन की वास्तविकता प्रकट होती है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत नाटक में चरित्रों का क्रिया-कलाप निर्मित हुआ है। प्रमुख पात्रों में बालाजी बाजीराव, माधवराव, रघुनाथराव (राघोबा), आनन्दीबाई, गंगाबाई, राजगुरु, रामशास्त्री और नाना फड़नवीस हैं। प्रत्येक पात्र की रूपरेखा उसके आन्तरिक संस्कार में है। इनमें बालाजी बाजीराव, माधवराव, गंगाबाई, राजगुरु रामशास्त्री और फड़नवीस तो सात्त्विक भावनाओं से प्रेरित होकर राष्ट्रीयता के निर्माण में अग्रसर हुए हैं और रघुनाथराव और आनन्दीबाई स्वार्थ से प्रेरित होकर कूटनीति में प्रवृत्त हुए हैं। फलत: बाह्य संघर्ष से अधिक आंतरिक संघर्ष हुआ है और इस संघर्ष में सत्य, न्याय और आदर्श की रूपरेखा अत्यधिक स्पष्ट हो गयी है। महाराष्ट्र की गौरव-गरिमा से सम्पन्न जिस मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा सात्त्विक पात्रों में होनी चाहिए उनमें नाना फड़नवीस प्रमुख हैं। जिस प्रकार छोटी-छोटी सहायक नदियाँ किसी बड़ी नदी से मिलकर जल-प्रवाह को अधिक वेगमय बना देती हैं, उसी प्रकार अन्य पात्रों के मनोविज्ञान ने नाना फड़नवीस के मनोविज्ञान को अधिक प्रखर बना दिया है। नाना का जीवन वास्तव में अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष का प्रतीक है और इसी परिस्थिति में उनके चरित्र का आलोक समस्त महाराष्ट्र की राजनीति पर पड़ा है। इतने बिखरे हुए मोतियों को ग्रथित करने वाला एक ही धागा है और उस धागे का नाम है नाना फड़नवीस। इस भाँति चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिक गहराइयों में इसके पात्रों का अन्तर्सम्बन्ध और स्वतंत्र व्यक्ति का महत्त्व निरूपित हुआ है।

चरम सीमा

घटनाओं के प्रवाह में जब कुतूहल घनीभूत होता है तो उसका पर्यवसान चरम सीमा में ही होना चाहिए। कथावस्तु में चरम सीमा का अत्यधिक महत्त्व है। जिस भाँति समस्त ऋतुएँ अपनी गति से चलकर ऋतुराज बसंत तक पहुँचती हैं, उसी प्रकार कथावस्तु के समस्त घटना-सूत्र चरम सीमा में अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। नाना फड़नवीस की शक्तिशालिनी जीवन-वृत्ति का इतिहास इतना घटना-संकुल है कि उसमें पद-पद पर चरम सीमा की स्थिति आ सकती है। इसी दृष्टिकोण से मैंने प्रत्येक अंक में चरम सीमा रखने का प्रयत्न किया है।

प्रथम अंक की चरम सीमा—विश्वासराव की मृत्यु का समाचार।

द्वितीय अक की चरम सीमा—दृश्य के अंत का कीर्तन।

तृतीय अंक की चरम सीमा—सवाई माधवराव के पेशवा-पद की घोषणा।

इस चरम सीमा की प्राप्ति में संकलन-त्रय ने भी योग दिया है। कार्य-संकलन, स्थान-संकलन और काल-संकलन अपनी प्रभावान्विति से घटना और मनोविज्ञान को परस्पर जोड़ देते हैं। एक ही कार्य एक ही समय में एक ही स्थान पर घटित हो जाता है और संवेदना को विश्राम-स्थल मिल जाता है।

संवाद

पात्रों के संवाद उनके मनोविज्ञान से ही परिचालित होते हैं। पात्र के हृदय में गूँजने वाला एक-एक शब्द अपनी भाव-राशि में सजा हुआ एक-एक मोती है। उसकी आब तभी चमक सकेगी जब वह संवाद में अपना वास्तविक स्थान प्राप्त करेगा। यही कारण है कि संवाद के माध्यम से ही चरित्र-चित्रण की महत्ता दृष्टिगोचर होती है। पात्रों के उपयुक्त मनोविज्ञान को स्पष्ट करने वाला साधन संवाद ही है। परिस्थिति और मनोवैज्ञानिक दशा के आधार पर संवाद का रूप निर्धारित होना चाहिए। सामान्य रूप से उसे परिस्थिति का अनिवार्य अंग होना चाहिए। वह पात्रानुकूल होकर संक्षिप्त और हृदय-स्पर्शी हो। आवेश में यह संवाद अधिक विस्तार प्राप्त कर लेता है। इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत नाटक में मिलेंगे।

भाषा

इस नाटक की भाषा सरल और सुबोध है तथापि वह विभिन्न पात्रों के मुख में विभिन्न शैलियाँ ग्रहण करती हैं। किसी काल-विशेष में जिस भाषा का प्रयोग जिस रीति से होता था, उसकी समीपतम स्थिति भाषा को प्राप्त होनी चाहिए। यह सही है कि इस नाटक के पात्रों ने अपने जीवन-काल में मराठी भाषा का ही प्रयोग किया होगा। यह नाटक हिन्दी का है अतः इस नाटक की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो हिन्दी पाठकों को तत्कालीन मराठी का वातावरण दे सके। यही कारण है कि नाटक में अनेक स्थानों पर संवाद के शब्द मराठी भाषा-शब्दों के विशिष्ट संदर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। कीर्तन द्वारा मराठी भाषा-भावना का ही वातावरण उपस्थित किया गया है। नाटक में भाषा को परिस्थिति और पात्रों के अनुकूल रखने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। पात्रों के मनोविज्ञान की दृष्टि से जहाँ मराठी पद्य की आवश्यकता थी वहाँ उसे रखने में मैंने यथार्थ-चित्रण की उपयोगिता ही समझी है। ऐसे मराठी पद्यों का हिन्दी अनुवाद मैंने दे दिया है।

उपसंहार

इस नाटक के लिखने में मुझे बहुत बड़ा संतोष मिला है। मुझे नाना फड़नवीस के चरित्र ने अनेक कार्यों की प्रेरणाएँ प्रदान की हैं। मैं अपने देश के एक यशस्वी

महापुरुष का चरित्र-चित्रण पूर्ण विश्वस्त रूप से कर सका, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। इस नाटक का अभिनय रंगमंच पर और इसका प्रसारण आकाशवाणी के विविध केन्द्रों से हुआ है। दर्शकों और श्रोताओं के संतोष से मुझे प्रोत्साहन और बल मिला है और उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।

अपने मित्र श्री भक्तिप्रसाद त्रिवेदी (सहायक लायब्रेरियन, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी) के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर आवश्यक पुस्तकें भेज कर मेरी सहायता की है।

—रामकुमार वर्मा

पात्र-सूची

(प्रवेशानुसार)

पुरुष

बालाजी बाजीराव	:	महाराष्ट्र के पेशवा
जनकोजी	:	महाराष्ट्र के एक सेनापति
भास्करराव	:	पेशवा के सामन्त
राजगुरु	:	पेशवा के आध्यात्मिक गुरु
नाना फड़नवीस	:	नाटक के नायक और पेशवा के आय-व्यय-लेखक
रामशास्त्री	:	महाराष्ट्र के प्रसिद्ध न्यायाधीश
नारायणराव	:	सबसे छोटे पेशवा, माधवराव के भाई
माधवराव	:	महाराष्ट्र के पेशवा
हरिपंत	:	महाराष्ट्र के सेनापति
रघुनाथराव (राघोबा)	:	पेशवा के विद्रोही चाचा
महादेव **मामा**	:	रघुनाथराव के गुप्तचर

स्त्री

गंगाबाई	:	पेशवा नारायणराव की पत्नी
आनन्दीबाई	:	रघुनाथराव (राघोबा) की पत्नी
पार्वतीबाई	:	सदाशिवराव भाऊ की पत्नी
सौदामिनी	:	गंगाबाई की परिचारिका

स्त्री, द्वारपाल, कासिद,
सैनिक, कीर्तनकार आदि ।

प्रथम अंक

पानीपत की हार

स्थान : ताप्ती नदी के समीप बुरहानपुर
समय : संध्याकाल—20 जनवरी, सन् 1761

[बुरहानपुर में बालाजी बाजीराव का शिविर। पानीपत के भीषण युद्ध की आशंका में वे पूना से चलकर ताप्ती के किनारे बुरहानपुर तक आ गए हैं। एक ऊँचा और विस्तृत तम्बू है जिसमें रेशम और सोने के तारों की झालरें लगी हैं। रंग-बिरंगे परदे। फ़र्श पर रेशमी बिछावन, जिन पर सोने का काम किया गया है।

मध्य में एक ऊँचा सिंहासन है। उससे हटकर छोटे-छोटे आसन हैं किन्तु इस समय जनकोजी भोंसले और भास्करराव अपने आसनों के समीप खड़े हुए हैं। बालाजी बाजीराव अशान्त होकर टहल रहे हैं।

चारों ओर एक निस्तब्धता छाई है। पश्चिम के सूर्य की हल्की सुनहली किरणें बाईं ओर से शिविर में प्रवेश कर रही हैं। बालाजी बाजीराव एक क्षण ठहरकर जनकोजी भोंसले को सम्बोधित करते हैं—]

बालाजी : (**अशान्ति से टहलते हुए एक क्षण रुककर**) राज्यश्री का अपमान ! क्या यह सत्य नहीं है कि सदाशिवराव भाऊ ने दिल्ली में राज्यश्री का अपमान किया ?

जनकोजी : समाचार तो यही है, श्रीमन्त !

बालाजी : जैसे कोई पागल दर्पण में अपना मुख देखकर उस दर्पण को ही चूर-चूर कर दे ! कोई मतवाला हाथी अपने महावत को पैरों से कुचल दे ! कोई मूर्ख सुगन्धि फैलाने के लिए फूलों की माला हाथों में मसल दे ! यह किस बुद्धि का वैभव है ? कल के समाचार का एक-एक शब्द एक भटकी हुई चिनगारी है जिससे महाराष्ट्र के वैभव में आग लग सकती है।

भास्कर : शान्त हों, श्रीमन्त ! आपकी राजनीति का सागर किसी भी अग्नि को बुझा सकता है।

बालाजी : भास्कर ! वास्तविकता समझो—यह बलि-पशु का संतोष है जिसके भविष्य में एक नंगी तलवार है। सदाशिवराव भाऊ ने दिल्ली पर विजय प्राप्त की।

राजधानी में प्रवेश करते ही उनकी धन की तृष्णा इतनी बढ़ गयी कि उन्होंने राजसिंहासन के स्वर्ण-श्रृंगार को गलवा डाला ! चाँदी की छत को उखाड़कर उसके सिक्के ढलवा डाले ! मेरे राजकोष से वे दो करोड़ के सिक्के ले गए थे ! वे सब क्या हुए ?

जनकोजी : यह भी समाचार है, श्रीमन्त ! कि उन्होंने राजस्थान के नरेशों से तीन करोड़ के सिक्के और प्राप्त कर लिए थे ।

बालाजी : इतनी धन-राशि के होते हुए फिर राज-सिंहासन की मर्यादा नष्ट करने की क्या आवश्यकता थी ? जनकोजी ! क्या तुम नहीं देखते कि दिल्ली की राजलक्ष्मी नेत्रों में आँसू भरकर हमारे सामने खड़ी है ? वह सिसकते हुए शब्दों से कह रही है कि मैं महाराष्ट्र के हाथों में नहीं, उन लुटेरों के हाथों में पड़ गई हूँ जो राज-मर्यादा नहीं जानते । जिस सिंहासन पर महाराष्ट्र का साहसी सैनिक हमारा बेटा विश्वासराव बैठता, उसका सोना उखाड़ लिया जाए ! राजभवन की रूपहली छत तोड़ दी जाए ! यह कौन-सी राज-मर्यादा है स राजधानी की राजलक्ष्मी की यह वाणी क्या सत्य नहीं है ?

जनकोजी : सत्य है, श्रीमन्त !

बालाजी : तो फिर महाराष्ट्र को इसका क्या प्रायश्चित्त भोगना होगा ? भगवान गजानन से पूछो। उदगेर के युद्ध में सदाशिवराव भाऊ ने निज़ाम अली को पराजित कर दौलताबाद, असीरगढ़ और बीजापुर के दुर्ग और बासठ लाख की वार्षिक आय प्राप्त की। इसी विजय का यह अहंकार है जिससे भाऊ उत्तर भारत की राजनीति को खिलौने की भाँति तोड़ रहा है और महाराष्ट्र की मर्यादा कलंकित हो रही है !

जनकोजी : श्रीमन्त ! मुझे आज्ञा दें, मैं अपनी सेना लेकर उत्तर भारत की ओर बढ़ूँ । श्रीमन्त भाऊ के अमर्यादित कार्य से भरतपुर के महाराज सूरजमल अपनी तीस हज़ार सेना लेकर भरतपुर लौट गए और इन्दौर के होल्कर तटस्थ हो गए ।

बालाजी : और भाऊ ने उन्हें रोकने का प्रयत्न नहीं किया ?

भास्कर : श्रीमन्त ! भाऊ ने ही तो दोनों का अपमान किया । जब हमारी सेना राजसी वैभव के साथ—बड़े-बड़े तोपख़ानों, ख़ेमों और सैनिकों की स्त्रियों और बच्चों के साथ—धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी तो सूरजमल और महाराज होल्कर ने श्रीमन्त भाऊ को सलाह दी थी कि सैनिकों के परिवारों और भारी ख़ेमों को ग्वालियर या झाँसी में छोड़ दिया जाए और हल्के सामान के साथ सेना फ़ुर्ती से आगे बढ़े, तब श्रीमन्त भाऊ ने दोनों नरेशों का अपमान कर दिया ।

बालाजी : अपमान कर दिया ? किस भाँति ?

भास्कर : श्रीमन्त भाऊ ने होल्कर-नरेश से कहा कि तुम्हारे पूर्वज बकरी-भेड़ चराते रहे हैं तो यह सेना गड़रियों की नहीं है जो बनजारों की भाँति चले ! भरतपुर-नरेश

से कहा कि तुम जाट हो। जाटों में इतनी बुद्धि कहाँ कि वे राजनीति और वैभव की बात समझ सकें। यह बात सुनकर दोनों हो रुष्ट हो गए। भरतपुर-नरेश तो रणक्षेत्र से अपनी सेनाएँ भी हटा ले गए।

बालाजी : घोर अदूरदर्शिता ! यह सब ऐसे अवसर पर हुआ जब हम पानीपत की युद्धभूमि पर अहमदशाह अब्दाली की शक्ति को सदैव के लिए कुचलने को आगे बढ़ रहे हैं। सदाशिवराव भाऊ से मुझे पहिले से ही आशंका थी किन्तु उनका अहंकार इस सीमा तक बढ़ जाएगा, इसकी कल्पना नहीं थी। नाना फड़नवीस को भी साथ ले गए हैं। कहीं उस वेचारे ब्राह्मण-पुत्र पर भी संकट न आ जाए !

भास्कर : एक बात पर और भी विचार करें, श्रीमन्त ! दिल्ली जीतने पर श्रीमन्त भाऊ ने दिल्ली के शाह आलमगीर को हटाकर महाराष्ट्र के चिरंजीव विश्वासराव को दिल्ली का सम्राट् घोषित कर दिया। चिरंजीव तो सम्राट् होते ही किन्तु इतनी शीघ्र घोषणा करना ठीक नहीं हुआ। इस घोषणा से अवध के नवाब शुजाउद्दौला और दूसरे मुसलमान सरदार जो हमारे सहायक रहे हैं, वे सब मन ही मन असंतुष्ट हो गए हैं। इस समय तो हमें मुसलमानों की सहानुभूति भी चाहिए।

जनकोजी : किन्तु भास्करराव ! अधिक चिन्ता की बात नहीं है। श्रीमन्त भाऊ के साथ बीस हज़ार सवार, दस हज़ार पैदल और इब्राहीम गारदी का तोपख़ाना भी है। सिंधिया की फ़ौजें भी हैं।

बालाजी : किन्तु साथ में अहंकार और अदूरदर्शिता भी तो है। यह महाराष्ट्र का स्वभाव नहीं है, जनकोजी ! छत्रपति शिवाजी ने भी आलमगीर औरंगज़ेब से लोहा लिया। बड़ी-बड़ी फ़ौज़ों के मुक़ाबले में उन्होंने जैसी दूरदर्शिता दिखलायी, वैसी इतिहास में कहाँ है ? अफ़जल ख़ाँ जैसे चालाक और कूटनीतिज्ञ सरदार को एक क्षण में समाप्त कर देना, छत्रपति का ही काम था। औरंगज़ेब के चक्रव्यूह से निकल आना इतिहास की अद्वितीय घटना है। लेकिन भाऊ सदाशिवराव छत्रपति शिवाजी का उदाहरण नहीं समझ सके।

जनकोजी : अधिक चिन्ता न करें, श्रीमन्त ! पानीपत के युद्ध में हमारी ही विजय होगी। त्र्यम्बक सदाशिव पुरन्दरे, हमारी सेना के बड़े कुशल सेनापति हैं। साथ ही विट्ठल शिविदेव, नरूशंकर, शमशेर बहादुर, बलवन्त गजानन मेहन्दले एक से एक चुने हुए वीर सेना के साथ हैं। महाराष्ट्र की शक्ति बड़े से बड़े अहंकार से नष्ट नहीं हो सकती। फिर साथ में श्रीमन्त के चिरंजीव विश्वासराव भी तो हैं। यद्यपि वे केवल उन्नीस वर्ष के हैं किन्तु उनके सामने बड़े से बड़े वीर के भी पैर उखड़ जाते हैं।

भास्कर : वे तो मेरे बचपन के साथी रहे हैं, श्रीमन्त ! उनकी वीरता ऐसी है कि वे एक साथ दस सैनिकों से लड़ सकते हैं।

बालाजी : (**गहरी साँस लेकर**) विश्वासराव—महाराष्ट्र के आदर्शों की रक्षा करने में

समर्थ ! इसी विश्वास से उसका नाम राजगुरु ने विश्वासराव रक्खा। भाऊ सदाशिवराव चाहते थे कि पानीपत के युद्ध में उसे न भेजा जाए। वह बालक है। किन्तु मैंने ही उसे जाने का आदेश दिया। मैंने कहा कि महाराष्ट्र के बालक युद्ध-भूमि में ही बड़े होते हैं। उनकी तलवार रणक्षेत्र में ही भवानी के कृपाण से शक्ति प्राप्त करती है। उनका रक्त तभी सार्थक होता है जब वह अपने रंग से रणभूमि का अभिषेक करे।

जनकोजी : वे तो श्रीमन्त ! शत्रुओं के रक्त से रणभूमि का अभिषेक करेंगे। फिर आपके आदेश से राजस्थान के सभी नरेश श्रीमन्त भाऊ की सहायता कर रहे हैं। जैसे ही श्रीमन्त भाऊ चम्बल पार कर आगे बढ़े कि जनकोजी सिन्धिया, दामाजी गायकवाड़, जसवन्तराव पोवार, अप्पाजी आठावले, अन्ताजी कनकेश्वर और गोविन्दराव बुन्देल अपनी-अपनी सेना लेकर उनसे मिले हैं। हमारी सैन्य-शक्ति अपार है, श्रीमन्त !

बालाजी : यह पानीपत का युद्ध है, जनकोजी ! इसी में महाराष्ट्र के भाग्य का निर्णय है। अफ़गानिस्तान का अहमदशाह अब्दाली महाराष्ट्र का उत्कर्ष सहन नहीं कर कर सकता। इसलिए वह अवसर देखकर आता है और मैं कहता हूँ कि शत्रु को अवसर देना ही राजनीति की सबसे बड़ी भूल है। तुम जानते हो, जनकोजी ! शत्रु के आने का अवसर क्या है ? अवसर है हमारी परस्पर की फूट ! जब हम छोटी-छोटी बातों पर राष्ट्र की कोई इकाई भूल जाते हैं तब हम जंगली जानवरों की तरह अपनी-अपनी माँद अलग बनाते हैं और व्याघ्र हमें एक-एक कर समाप्त कर देता है।

जनकोजी : सत्य है, श्रीमन्त !

बालाजी : सदाशिव भाऊ यही भूल करते हैं। उन्होंने अपनी ही पंक्ति में फूट कर दी और आदमशाह अब्दाली व्याघ्र की तरह महाराष्ट्र पर टूटना चाहता है।

भास्कर : मुझे विश्वास है, वह घेर कर मारा जाएगा, श्रीमन्त !

बालाजी : युद्ध और वर्षा के बादलों पर विश्वास कैसा ? आग और पानी कब और किस ओर बरस जाए, कौन जानता है, भास्कर ! यद्यपि हमारी सैन्य-शक्ति महान् है किन्तु हृदय में अनेक प्रकार की शंकाएँ सर्प की भाँति चल रही हैं। पानीपत का नाम एक फूत्कार की भाँति हृदय में गूँज रहा है। आज भगवान् गजानन की आरती दो बार बुझी ! कहीं महाराष्ट्र की आरती के दो दीप न बुझ गए हों !

जनकोजी : शत्रुओं के दो वीर मारे गए होंगे, श्रीमन्त ! आप आज्ञा दें तो दस हज़ार सैनिक लेकर मैं भी पानीपत की ओर प्रस्थान कर दूँ।

बालाजी : तुम नहीं, मैं जाऊँगा, जनकोजी ! समाचार जानने की उत्सुकता में पूना से यहाँ बुरहानपुर तक आ ही गया हूँ। नर्मदा पार कर शीघ्र ही दिल्ली पहुँचना चाहता

हूँ। नाना फड़नवीस में भी मेरा मन लगा हुआ है। उसका न जाने क्या हाल होगा! उसके प्राणों का दायित्व भी हम पर है।

भास्कर : आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, श्रीमन्त! जनकोजी को ही जाने की अनुमति प्रदान करें। वे वहाँ से शीघ्र ही विजय का समाचार लावेंगे।

बालाजी : (सोचते हुए) विजय···विजय···राज्यश्री के अपमान पर विजय!··· पंक्ति में फूट होने पर भी विजय!···

[बाहर किसी के क्रन्दन की ध्वनि। सिसकियाँ क्रमशः अधिक जोर से सुनाई पड़ती हैं।]

बालाजी : (चौंककर) यह कैसा क्रन्दन? **(भास्करराव से)** भास्करराव। बाहर जाकर देखो।

भास्कर : (सिर झुकाकर) जैसी आज्ञा, श्रीमन्त! **(शीघ्रता से प्रस्थान)**

बालाजी : आज प्रातःकाल जब भगवान गजानन की आरती हवा के तीव्र झोंके से बुझ गई तभी शंका का विष मेरे हृदय में फैलने लगा था कि पानीपत से आया हुआ समाचार भी कहीं मेरी आशा की आरती न बुझा दे! **(सिसकियाँ तीव्रता से सुनाई देती हैं)** यह कौन स्त्री है?

[शिविर के बाहरी दरवाजे से एक स्त्री शीघ्रता से भास्करराव के साथ आती है। वह विह्वलता में बालाजी बाजीराव के चरण पकड़ लेती है।]

स्त्री : (सिसकियाँ लेते हुए) पांडुरंग···पांडुरंग चला गया। श्रीमन्त युद्ध में···युद्ध में मारा गया···मेरा पांडुरंग··· **(सिसकियाँ लेकर)** मेरा अकेला लाल···पांडुरंग··· मुझे छोड़कर···चला गया। **(सिसकियाँ ज़ोर-ज़ोर से लेती है।)**

बालाजी : (सन्तोष के स्वरों में) पांडुरंग चला गया? मातृभूमि पर रक्त की बूँदें चढ़ती हैं, देवि! आँसू की बूँदें नहीं। उठो। **(भास्कर से)** भास्कर यह कौन स्त्री है?

भास्कर : सेनानायनक पांडुरंग सदाशिव नेने की माँ है। श्रीमन्त! यह अभी पानीपत के गाँव से आयी है।

बालाजी : तो पांडुरंग की मृत्यु हुई! कोई बात नहीं, देवि! महाराष्ट्र में हजारों माताओं ने अपने पुत्रों की बलि दी है। यदि उनके नेत्रों से अश्रु-धारा बहती तो महाराष्ट्र में प्रलय की बाढ़ आ जाती। नहीं···नहीं···उनके अश्रु पानी बनकर नहीं बहे, उनके अश्रु प्रतिशोध के स्फुलिंग बन गए। तभी तो महाराष्ट्र में इतना प्रकाश है। इतनी उष्णता है। तुम भी अपने आँसुओं को संचित रक्खो। दुर्दिन में महाराष्ट्र के काम आवेंगे **(स्त्री बालाजी बाजीराव के पैर छोड़कर उठती है। उसकी सिसकियाँ बन्द होती हैं)** आज महाराष्ट्र धैर्य की कसौटी पर कसा जा रहा है। सही सूचना जान-बूझकर छिपायी जा रही है; और महाराष्ट्र की तीखी

तलवार म्यान मे निकली है। बोलो देवि ! पानीपत के युद्ध में हमारे सैनिकों की विजय कब तक निश्चित हो जाएगी ? तुम तो पानीपत से ही आ रही हो ?

स्त्री : (सम्हलकर) समाचार अच्छे नहीं हैं, श्रीमन्त ! हमारी सेना का कार्यक्रम निश्चित ढंग से नहीं चलता।

बालाजी : (आश्चर्य से) क्यों ?

स्त्री : जब आक्रमण का अवसर नहीं था, तभी श्रीमन्त भाऊ ने आक्रमण करने की आज्ञा दी और उसी में हमारी सेना के चार हज़ार व्यक्ति कट गए।

बालाजी : (आश्चर्य से) चार हज़ार !

स्त्री : (सिसकियाँ लेकर) चार हज़ार···उन्हीं में आपका पांडुरंग भी था। सेना में सबसे आगे। उसकी तलवार की गति जैसे भवानी की तलवार की गति थी। 'हर हर महादेव' कहकर शत्रु पर बाज की तरह टूटा। जब शत्रु उसकी तलवार के सामने आते थे तो गाजर-मूली की तरह कट जाते थे। कितनों का उसने रक्त बहाया। लेकिन उसका भी रक्त बहा।

बालाजी : (दुःख से) बहुत शोक है मुझे, देवि !

स्त्री : वीर सैनिक शत्रुओं का रक्त बहाकर जीवित भी तो लौटते हैं। मेरा पांडुरंग जीवित नहीं लौट सका ! मुझसे कहता था, श्रीमन्त ! कि मैं तुम्हें लेकर···तुम्हें लेकर ··श्रीमन्त को विजय की सूचना दूँगा। आज मैं ही उसकी मृत्यु की सूचना लेकर आई हूँ। (**सिसकियाँ**) मैं उसके बिना जीवित नहीं रहूँगी, श्रीमन्त !

बालाजी : धैर्य रखो देवि ! तुम मेरे दुःख का अनुमान क्यों नहीं करती ? तुम्हारा तो केवल एक ही पुत्र रणभूमि को बलि हुआ है, मेरे चार हज़ार पुत्र मारे गए। विश्वासराव कहाँ है ? वह भी तो सेना के सामने युद्ध करता है।

स्त्री : श्रीमन्त ! विश्वासरावजी के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानती। मैं तो पहले ही युद्ध में अपने पुत्र को खोकर चली आई हूँ। (**हल्की सिसकी**)

बालाजी : विश्वासराव भी रणकुशल है। उसने हज़ारों शत्रुओं को मारा होगा। वह हाथी पर सवार होकर युद्ध करना अच्छी तरह जानता है। उसने तो हाथी पर से ही युद्ध किया होगा !

स्त्री : मैं नहीं जानती, श्रीमन्त !

बालाजी : तुम नहीं जानती किन्तु सेना का प्रत्येक वीर उसे जानता है। जब दोनों हाथों से वह तलवार चलाता है तो ज्ञात होता है जैसे एक ही तलवार दस तलवारें बन गई हैं। अच्छा होता, यदि पांडुरंग उसके साथ ही रहता। वह कवच की भाँति पांडुरंग की रक्षा करता।

स्त्री : मेरे पांडुरंग का ऐसा भाग्य कहाँ था, श्रीमन्त ! वह वीरता से लड़ा और रण-भूमि में सो गया।

बालाजी : वह रणभूमि में नहीं, युद्ध की शय्या पर सोया है। पुत्र की कीर्ति ही माता

के हृदय को संतोष दे सकती है। विपत्ति से विवाद नहीं किया जा सकता, देवि ! यदि शोक को उत्तर देना है तो साहस का कवच धारण करो। तूफान और काली घटाओं में इन्द्रधनुष बनो। तुम्हारे पुत्र का बलिदान तो ऐसा है कि मृत्यु की भी आँखों में आँसू आ जाएँ ! किन्तु तुम हँसो इसलिए कि तुम माता हो ! तुमने ऐसे पुत्र को जन्म देकर अपना मातृत्व अमर कर दिया है।

स्त्री : श्रीमन्त के वचनों से मुझे जीवन-दान मिला है, नहीं तो पुत्र के बिना मैं जीवित नहीं रह सकती थी।

बालाजी : तुम्हारा पुत्र तो जीवित है, देवि ! महाराष्ट्र के कण-कण में जीवित है। पहले वह सीमित था, अब असीम हो गया। प्रभु ने सबसे सुन्दर देह फूल की बनायी। किन्तु उन देहों में प्राण की प्रतिष्ठा करना भूल गया ! तुम्हारे पुत्र ने उन देहों में प्राण की प्रतिष्ठा की है। और आज प्रत्येक फूल रक्त की मुस्कान में बदल कर आशा और उल्लास का संदेश दे रहा है।

स्त्री : मैं धन्य हुई, श्रीमन्त !

बालाजी : कोई भी विपत्ति लम्बी नहीं है, देवि ! यदि तुम उसे देश-प्रेम और राष्ट्रीयता से नापो। सूर्य की भाँति परिस्थितियों के उज्ज्वल पक्ष को ही देखो। (**भास्करराव**) भास्करराव ! वीर जननी के विश्राम की व्यवस्था राजकीय शिविर में हो।

भास्कर : जो आज्ञा, श्रीमन्त !

बालाजी : (**स्त्री से**) जाओ, देवि, विश्राम करो।

स्त्री : श्रीमन्त ! इसी प्रकार दीन-दुखिया की चिन्ता करें। (**प्रणाम करती है।**)

[भास्कर के साथ स्त्री का प्रस्थान]

बालाजी : जनकोजी ! जननी का हृदय देखा ! सृष्टि की किसी भी वस्तु से महान् ! पांडुरंग ने मातृभूमि पर जीवन निछावर किया और माता ऐसे पुत्र पर ही जीवन निछावर करना चाहती है।

जनकोजी : श्रीमन्त ! मुझे तो कुछ बोलने का साहस ही नहीं हुआ। जितना उसके करुण क्रन्दन से हृदय द्रवित हो रहा था, उतना ही आपके उत्साहमय वाक्यों के प्रवाह से उमंग और उत्साह की किरणें फूट रही थीं। श्रीमन्त ही उसे धैर्य दे सकते थे अन्यथा वह अपना जीवन तो समाप्त ही करने जा रही थी। मैं अवाक् होकर निराशा और आशा के द्वन्द्व को देखता रहा। अन्त में आपकी आशा का सन्देश ही विजयी हुआ।

बालाजी : जनकोजी ! माता अपने पांडुरंग की ममता में इतनी अधिक लीन हो गई कि वह यह नहीं सोच सकी कि महाराष्ट्र के जो चार हज़ार वीर कट गये हैं उसकी माताएँ भी तो उसी की भाँति दुःखी होंगी। फिर हमारा विश्वासराव भी तो युद्ध

में गया है और पांडुरंग की भाँति वह भी सेना के आगे युद्ध करता है। वह महाराष्ट्र की नींव में शत्रुओं का रक्त भर रहा है जिससे नींव और भी सुदृढ़ हो जाय।

जनकोजी : सचमुच, श्रीमन्त ! महाराष्ट्र की नींव की सुदृढ़ता श्रीमन्त विश्वासराव की वीरता की तलवार के सहारे है। फिर यह तो भवानी की इच्छा है कि वे किसे रणभूमि में अमरत्व का वरदान देती हैं। राज्य तो बनते-बिगड़ते रहते हैं।

[द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल : श्रीमन्त की जय !

बालाजी : आज्ञा है।

द्वारपाल : श्रीमन्त ! पानीपत के साहूकार ने जो क़ासिद भेजा है, वह द्वार पर उपस्थित है।

बालाजी : शीघ्र ही उसे भेजो। बहुत दिनों से उसकी प्रतीक्षा थी।

द्वारपाल : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

बालाजी : पानीपत के साहूकार से सच्ची सूचनाएँ मिल सकेंगी। हम आज भी पानीपत के युद्ध का परिणाम नहीं जान सके हैं।

जनकोजी : श्रीमन्त ! पानीपत का साहूकार आपका सेवक है। उसने प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना के समाचार भेजने का वचन दिया था। अवश्य महाराष्ट्र की विजय की सूचना होगी।

[क़ासिद का प्रवेश]

क़ासिद : (**हाथ जोड़कर**) श्रीमन्त की जय !

बालाजी : स्वस्ति। तुम पानीपत से आए हो, क़ासिद ?

क़ासिद : हाँ, श्रीमन्त !

बालाजी : साहूकार जी सानन्द हैं ?

क़ासिद : सानन्द नहीं हैं, श्रीमन्त ! बहुत चिन्तित हैं।

बालाजी : हम भी चिन्तित हैं ! पानीपत के युद्ध में महाराष्ट्र के भाग्य का क्या निर्णय हुआ ? भाऊ, विश्वासराव और नाना फड़नवीस तो कुशल से हैं ?

क़ासिद : यह पत्र भेजा है उन्होंने, श्रीमन्त ! (**पत्र आगे बढ़ाता है**)

बालाजी : जनकोजी ! पत्र पढ़ो।

जनकोजी : जो आज्ञा। (**क़ासिद के हाथ से पत्र लेकर पढ़ते हुए**) राजमान राजश्री पन्त प्रधान पेशवा बालाजी बाजीराव की सेवा में साहूकार केशव का दण्ड-प्रणाम स्वीकार हो। आगे समाचार यह है कि पानीत के युद्ध की ज्वाला में हमारे दो मोती घुल गए !

बालाजी : (**चीखकर बीच ही में**) जनकोजी !

जनकोजी : श्रीमन्त ! संभवत, पत्र के अन्त में कोई संतोषप्रद समाचार हो। पूरा सुनने

की कृपा करें। (**पुनः पढ़ते हुए**) हमारे दो मोती घुल गए, सत्ताईस मोहरें खो गयीं और चाँदी और ताँबे के खोए हुए सिक्कों की गणना भी नहीं की जा सकती। सामन्तों द्वारा साथ न देने के कारण पानीपत की लड़ाई में हार···!

बालाजी : (**बीच ही में**) पानीपत की लड़ाई में हार ! (**करुण स्वर**) पानीपत की लड़ाई में···हार···!

जनकोजी : श्रीमन्त ! अपने को सम्हालें···!

बालाजी : जनकोजी ! यह क्या हो गया ! पानीपत के युद्ध में इतनी अधिक सेना के होते हुए हार ? यह असम्भव है, यह समाचार झूठ है।

क़ासिद : श्रीमन्त ! क्षमा करें। पानीपत की हार मैंने इन्हीं आँखों से देखी है। भगवान की कृपा होती अगर मेरी आँखों की ज्योति उसी समय नष्ट हो जाती ! हज़ारों महाराष्ट्र वीर अफ़गानियों और पठानों की तलवारों से कट गए ! उनके रक्त की धारा से सारा पानीपत लाल हो गया !

बालाजी : पानीपत लाल हो गया ! क़ासिद ! क्या अहमदशाह अब्दाली की तलवार इतनी तेज़ थी ? ओह ! (**सिर पकड़कर**) यह क्या हो गया।

क़ासिद : श्रीमन्त ! अहमदशाह अब्दाली के पैर तो उखड़ चुके थे। उसकी सेना भाग रही थी। उसी समय श्रीमन्त होल्कर की फ़ौज ने मैदान छोड़ दिया। उनके सिपाही जान-बूझकर पीछे हटते हुए रणक्षेत्र से भाग उठे। तभी अहमदशाह अब्दाली की फ़ौज आगे बढ़ी और उसकी हार जीत में बदल गयी।

बालाजी : (**विह्वलता में**) तो···तो होल्कर ही इस हार का उत्तरदायी है ? भाऊ ने उसकी बात नहीं मानी इसीलिए उसने मौके पर धोखा दिया ? भाऊ और विश्वास-राव ने कुछ नहीं किया ?

क़ासिद : श्रीमन्त ! जैसे ही श्रीमन्त होल्कर की सेना भागी कि श्रीमन्त विश्वासराव ने अपना हाथी शत्रुओं की मारकाट के बीच में बढ़ा दिया। सैकड़ों शत्रुओं को हाथी के पैरों के नीचे दबाते हुए उन्होंने अपने बायें हाथ के भाले से घुड़सवारों की छाती छेद दी और दाहिने हाथ की तलवार से शत्रुओं के सिर उड़ा दिए।

बालाजी : विश्वासराव !···मैं जानता था कि तुम शत्रुओं से महाराष्ट्र के मरे हुए वीरों का बदला लोगे। हाँ, फिर क्या हुआ ?

क़ासिद : जब श्रीमन्त विश्वासराव इस तरह शत्रुओं के सिर उड़ा रहे दे उसी समय उनके पेट में गोली लगी।

बालाजी : (**करुणा से**) गोली !···क्या···क्या···वे घायल हो गए ?

क़ासिद : वे हाथी पर निढाल होकर बैठ गए, श्रीमन्त! यह ख़बर फैलते ही श्री श्रीमन्त भाऊ घोड़ा दौड़ाकर उनके पास पहुँचे। श्रीमन्त विश्वासराव को आहत देखकर उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे। तभी श्रीमन्त विश्वासराव ने कहा—(**उत्साही स्वर में**) काका ! आँसू बहाने का समय नहीं है। हारते हुए युद्ध को जीत में

बदलिए। एक-एक क्षण रक्त की बूँद बनकर बह रहा है। शत्रु को मारिए···

बालाजी : (**गहरी साँस लेकर**) धन्य हो। विश्वास ! तुम महाराष्ट्र के सच्चे सपूत हो ! (**उत्सुकता से**) फिर ?

क़ासिद : श्रीमन्त विश्वासराव की ललकार सुनकर भाऊ शत्रुओं के बीच में घुस गए। और फिर उनका पता नहीं चला कि वे कहाँ गए ! दोनों ही वीर पानीपत की भेंट हो गए !

बालाजी : (**करुणा से**) भेंट हो गए! आह! (**सिर पकड़ लेते हैं**) दो मोती घुल गये··· तभी साहूकार ने ऐसा लिखा ! भगवान् गजानन ! यह तुमने क्या किया ? ये दोनों रत्न···अपनी ऋद्धि-सिद्धि का कोष इन्हीं से भरना था तुम्हें ? हाय भाऊ ! हाय विश्वास !

जनकोजी : श्रीमन्त ! चलिए ! शयन-कक्ष में चलिए ! आपका स्वास्थ्य पहले से ही खराब है।

बालाजी : (**तीव्रता से**) मेरे सम्बन्ध में क्यों बात कर रहे हो ! भाऊ और विश्वास के विषय में बातें करो। दोनों वीर मेरे सिंहासन को अपने रक्त से अभिषिक्त कर चले गये और मैं अस्वस्थ होकर उसी सिंहासन पर बैठा हूँ। क्या मैं धिक्कार के योग्य नहीं हूँ ?

जनकोजी : श्रीमन्त ! आप तो युद्ध में जाने के लिए प्रस्तुत ही थे। आपकी दुर्बलता देख कर ही श्रीमन्त भाऊ ने आपसे रुक जाने की प्रार्थना की थी।

बालाजी : और मैं रुक गया। जनकोजी ! मैं समर-भूमि में जाने से रुक गया और वे दोनों चले गए। युद्ध-यात्रा पर जाने से पहिले भाऊ और विश्वासराव मेरे पास आए थे। दोनों वीर वेश में सजे हुए थे। दोनों ने मेरे चरण स्पर्श किए और जाने की आज्ञा माँगी। मैंने भगवान् गजानन के चरणों के फूल उन दोनों के मस्तक पर रक्खे। उस वीर वेश में मेरा विश्वासराव कितना सुन्दर लग रहा था, जैसे स्वामी कार्त्तिकेय युद्ध के लिए सजे हों ! बड़ी-बड़ी आँखों में युद्ध का अनुराग ! हँसकर उसने मुझे 'पिता' नहीं कहा—'पंत प्रधान', 'श्रीमन्त पेशवा' कहा और एक सैनिक की भाँति सिर उठाया। मैंने देखा उसके माथे पर टीका नहीं, त्रिपुंड है। मैंने भी हँसी में पूछा—सैनिक ! तुम्हारे मस्तक पर त्रिपुंड ! उसने कहा—सेवक को रणक्षेत्र में रौद्र रूप धारण करना है, इसीलिए मस्तक पर त्रिपुंड अंकित किया है। मैंने कहा—भगवान् शंकर तुम्हारी रक्षा करें··· (**शिथिल स्वर से**) किन्तु रक्षा नहीं हो सकी !

जनकोजी : यह एकमात्र संयोग की बात है, श्रीमन्त ! किन्तु उन्हें गोली लग गयी।

बालाजी : वह गोली मुझे लगनी चाहिए थी। यदि मैं वहाँ होता तो विश्वास को पीछे कर मैं अपने वक्षस्थल पर गोली खाता। लेकिन मैं वहाँ नहीं पहुँच सका। लेकिन इस गोली का पूरा बदला लिया जाएगा। (**क़ासिद से**) क़ासिद ! चलो पानीपत

मेरे साथ। मैं अहमदशाह से युद्ध करूँगा। कहूँगा तुमने मेरे बच्चे के साथ युद्ध कर क्या वीरता दिखलायी ! मुझसे युद्ध करो। मुझसे (युद्ध'''**शब्द गले में उलझ जाते हैं**)

क़ासिद : धैर्य रक्खें, श्रीमन्त ! आपका प्रताप देश में चारों ओर फैला है। अहमदशाह पानीपत का युद्ध जीतकर भी पानीपत में नहीं है। वह अफ़गानिस्तान की तरफ चला गया। जीतकर भी जैसे वह हार गया है, श्रीमन्त ! उसकी इतनी हार हुई है कि वह उसे जीतकर भी पूरा नहीं कर सकता।

बालाजी : लेकिन मेरी कितनी हानि हुई है, क़ासिद ! यह कौन जान सकेगा। मैं दुखी हूँ। तुमसे फिर बात करूँगा। तुम जाओ।

क़ासिद : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

बालाजी : पांडुरंग नेने की माँ से कहना, जनकोजी ! कि मैंने भी अपना प्यारा पुत्र खो दिया है। और मेरी आँखों से आँसू नहीं हैं। कहना कि पांडुरंग अकेला नहीं गया है। उसके साथ विश्वासराव भी है और साथ में लक्षाधिक महाराष्ट्र के सैनिक। मेरा सूर्य प्रकाश की अनन्त किरणों के साथ डूबा है। अब अँधेरी रात है और मैं हूँ।

[अपना सिर हथेली से टेक लेते हैं। निस्तब्धता। एक क्षण बाद घंटे की ध्वनि सुनाई पड़ती है।]

जनकोजी : श्रीमन्त ! राजगुरु का आगमन हो रहा है।

बालाजी : नदी की बाढ़ ने जब किनारों को तोड़ दिया तब शरद ऋतु की निर्मलता आ रही है ! जब नेत्रों की ज्योति समाप्त हो गयी तब अंजन की रेखा का क्या उपयोग होगा ?

[राजगुरु का प्रवेश]

राजगुरु : (आते ही—)

धर्मासाठीं मारावें। मरोनि अवध्यासी मारावें।
मारितां मारितां ध्यावें। राज्य आपलें।

बालाजी : राजगुरु के चरणों में बाजीराव का प्रणाम ! (**सिर झुकाते हैं।**)

जनकोजी : चरणों में जनकोजी का प्रणाम। (**सिर झुकाता है।**)

राजगुरु : स्वस्ति ! पंत प्रधान ! शोक से अपने जीवन को कुरूप मत बनाओ। पानीपत की हार केवल परिस्थितियों की हार है, वीरों की हार नहीं और जब वीरों की हार नहीं तब तुम्हारा निरुत्साह और शोक अनुचित है। यदि तुम्हारे हृदय में निरुत्साह और शोक आ गए तो मैं समझूँगा कि ये दोनों अहमदशाह अब्दाली के गुप्तचर हैं जो तुम्हारे हृदय से आरम्भ कर सारे महाराष्ट्र को क़त्ल करने आए हैं। इन गुप्तचरों को दूर करो, नहीं तो ये तुम्हारे हृदय को ही दूसरा पानीपत बना देंगे जिससे जीत का कोई अंकुर नहीं उग सकेगा।

बालाजी : राजगुरु ! मेरे हृदय में जिज्ञासा है कि महाराष्ट्र ने ऐसा कौन-सा पाप किया जिसका परिणाम इतना भयावह हुआ ! पानीपत ने हमारा पानी उतार लिया, हमारी पत नष्ट कर दी। भाऊ और विश्वासराव भी चले गए, राजगुरु ! यह किस महापाप का दण्ड है ?

राजगुरु : पंत प्रधान ! न यह पाप है, न महादण्ड ! राज्य में महापाप तो तब होता है जब राजा निरंकुश और अत्याचारी हो, जनता की सुख-सुविधा छीन ली जाए, उस पर अनेकानेक कर लगाए जाएँ, जब दीन प्रजा को खाने-पीने और रहने की सुविधा न हो। ऐसा तो तुम्हारे राज्य में नहीं है ! तुम तो प्रजा को अपनी संतान समझते हो। पानीपत की हार महादण्ड भी नहीं है। महादण्ड तो तब होता जब राज्य आततायियों के हाथ में चला जाता। जनता की सभ्यता और संस्कृति समाप्त हो जाती। जनता का नैतिक बल और धर्म नष्ट कर दिया जाता। यह तो कुछ भी नहीं हुआ। केवल सुदूर रणक्षेत्र में हमारी थोड़ी-सी सेना वीरगति को प्राप्त हुई। मैं देखता हूँ कि इस थोड़ी-सी पराजय की प्रतिक्रिया होगी। समस्त महाराष्ट्र फिर से ऐक्य के सूत्र में बँधेगा और पानीपत का बदला शत्रुओं के प्रचण्ड ऐश्वर्य और वैभव से लिया जाएगा। समर्थ स्वामी रामदास ने कहा है—

आहे तितुके जतन करावें। पुट आणिक मेलवावें।
महाराष्ट्र राज्यचि करावें। जिकड़े तिकड़े।

बालाजी : आपके कथन से शान्ति मिली, राजगुरु !

राजगुरु : आज रात में भगवान् गजानन की आरती होगी। उसमें पंत प्रधान आने का कष्ट करें।

बालाजी : अवश्य उपस्थित होऊँगा। एक बात और बतलाएँ, राजगुरु ! पानीपत से कोई सूचना मिली कि नाना फड़नवीस कहाँ है ? वह युद्ध में तो नहीं मारा गया। दुबला-पतला बीमार लड़का, विश्वासराव की भाँति प्रिय ! वह कैसे बचा होगा !

राजगुरु : नाना फड़नवीस सुरक्षित है।

बालाजी : (**उल्लास से**) सुरक्षित है। धन्य गजानन ! धन्य राजगुरु ! वह कहाँ है ?

राजगुरु : वह पानीपत से दो घंटे पूर्व लौटा। मेरे ही साथ यहाँ आया है। द्वार पर है।

बालाजी : (**विह्वलता से**) द्वार पर है ? जनकोजी ! तुम जाकर देखो और उसे शीघ्र ही मेरे पास लाओ।

जनकोजी : जो आज्ञा, श्रीमन्त ! (**प्रस्थान**)

बालाजी : राजगुरु ! नाना फड़नवीस बच गया ! भगवान गजानन ! तुमने मेरे नाना को बचा लिया। मुझे तो ऐसा लगता है, राजगुरु ! जैसे मेरा विश्वासराव ही आ गया ! भाऊ के साथ गया था। काशी और वृन्दावन की तीर्थ-यात्रा करने। रण-यात्रा भी कर ली उसने।

राजगुरु : अच्छा ! अब आप नाना फड़नवीस से मिलें किन्तु किसी कारण से आप दुःखित न हों। मैं चलूँगा, मुझे पूजा के लिए देर हो रही है।

बालाजी : प्रणाम करता हूँ। भगवान् गजानन से प्रार्थना करें कि महाराष्ट्र के भविष्य पर आँच न आने पावे !

राजगुरु : (**हाथ उठाकर**) स्वस्ति !

[प्रस्थान। उनके प्रस्थान पर फिर घंटा बजता है।]

बालाजी : (**सोचते हुए**) ओह नाना ! तुम बच गए ! नहीं तो मेरे दुर्भाग्य ने मेरे सभी रत्न मुझसे छीन लिए थे। तुम्हारा बचकर आ जाना तो वैसा ही है जैसे किसी को उसकी खोयी हुई दृष्टि फिर से प्राप्त हो जाए !

[जनकोजी के साथ नाना फड़नवीस का प्रवेश]

बालाजी : ओह ! नाना तुम आ गए। (**उठकर**) देखूँ, कहीं तुम्हें तो कोई घाव नहीं लगे ? नहीं···नहीं···तुम स्वस्थ और सकुशल हो।

नाना : श्रीमन्त की जय !

बालाजी : नाना ! मेरी जय बोलते हो ! जय···जय···(**व्यंग्य की हँसी हँसते हैं**) मेरा परिहास न करो, नाना ! अहमदशाह अब्दाली की जय बोलो। पानीपत में उसने मेरी दोनों भुजाएँ काट लीं। भाऊ और विश्वास ! उनका रक्त देखा था तुमने ! कितना लाल था ? (**जनकोजी से**) जनकोजी ! तुम अब मुझे अकेला रहने दो, नाना के साथ। इस समय मुझे किसी सेनापति की आवश्यकता नहीं है। तुम जाओ।

जनकोजी : जो आज्ञा ! श्रीमन्त (**प्रस्थान**)

बालाजी : अभी राजगुरु आए थे, नाना ! उन्होंने समर्थ गुरु रामदास की वाणी सुनाई। मैंने उनसे बड़ी शक्ति पाई। बड़ी कठिनाई से मैंने अपने आँसू तो रोक लिए किन्तु भाऊ और विश्वासराव के रक्त की बूँदें मेरी आँखों के भीतर ही भीतर बह रही हैं नाना ! जो किसी के हाथों से नहीं पोंछी जा सकतीं।

नाना : श्रीमन्त ! दोनों वीरों का रक्त इतिहास भी नहीं पोंछ सकता। बहने दीजिए उसे। महाराष्ट्र की फूट की संधियाँ शायद उसी रक्त से भरेंगी। मैं लज्जित हूँ कि अपना रक्त बहाने का अवसर न पा सका। श्रीमन्त भाऊ ने शपथ देकर मुझे रण-भूमि से लौटा दिया।

बालाजी : वे तीर्थ-यात्री को रण-यात्री कैसे बना सकते थे ? भाऊ ने ठीक किया कि मेरे सहारे के लिए उन्होंने तुम्हें वापस लौटा दिया। लेकिन तुम बतलाओ, नाना ! जो तुम्हें भाई के समान प्रिय था उस विश्वासराव को खोकर मैंने क्या नहीं खो दिया !

नाना : श्रीमन्त ने ऐसे वीर पुत्र के पिता होने का गौरव प्राप्त किया है। इस पानीपत के

युद्ध में हारकर भी महाराष्ट्र ने युद्ध-वीरों को उत्पन्न करने का गौरव घोषित कर दिया है। वह पराजय पाने पर भी विजयी है।

बालाजी : तुम सत्य कहते हो, नाना ! हमारे महाराष्ट्र के वीर यदि विजयी नहीं हो सके तो शत्रु को मारकर मरने का साहस तो दिखला सके !

नाना : यदि यही साहस भविष्य में परस्पर की फूट की जड़ उखाड़ सका तो सत्य ही हिन्दू पद-पादशाही की राजनीति अखण्ड राजनीति होगी, श्रीमन्त !

बालाजी : किन्तु पानीपत की हार···

नाना : **(बीच ही में)** श्रीमन्त ! क्षमा करें। मैं बीच ही में बोल रहा हूँ। पानीपत की हार की बात जल्दी से जल्दी भूलने की बात है। हम विपत्तियों के पक्षियों को सिर पर उड़ने से नहीं रोक सकते किन्तु उन्हें हृदय में घोंसले बनाने से रोक सकते हैं।

बालाजी : लेकिन यह कैसे भूला जा सकता है कि आज महाराष्ट्र के दो परम वीर सदाशिवराव भाऊ और विश्वासराव नहीं हैं।

नाना : श्रीमन्त ! यदि हमारी पूर्व दिशा की खिड़कियाँ बन्द कर दी जाएँ तो क्या सूर्योदय का प्रकाश हमें नहीं मिलेगा ? प्रकाश तो सब तरफ से आने का रास्ता खोजता है। श्रीमन्त ! हम कपड़ों को उलट कर नहीं पहनते लेकिन हम बादलों को उलट कर देखें तो हमें प्रकाश ही प्रकाश दिखलाई देगा। इस समय तो धैर्य ही हमारा राज्य है और साहस ही हमारा मुकुट है। हमारा दुःख हमारी वीरता की ही छाया है क्योंकि हम प्रकाश में खड़े हैं। छाया का महत्त्व नहीं है, श्रीमन्त ! प्रकाश का महत्त्व है।

बालाजी : तुम्हारी वाणी से प्रकाश मिलता है, नाना ! यद्यपि तुम मेरे बच्चे के समान हो किन्तु समस्त जीवन की गतिविधि में तुम्हारी दृष्टि है। भगवान् गजानन तुम्हें शक्ति दें कि भविष्य में भी तुम प्रकाश दे सको !

नाना : श्रीमन्त ! आपका आशीर्वाद अमर रहे। जिस प्रकाश आकाश को अपनी नीलिमा पर और धरती को अपनी हरीतिमा पर विश्वास है, उसी प्रकार मानव को अपने साहस पर विश्वास होना चाहिए। हमारे श्रीमन्त विश्वासराव ने इसी सत्य की घोषणा की है। जब मुझे अपने इस भाई पर इतना गर्व है तो आपको अपने पुत्र पर कितना गर्व न होगा !

बालाजी : विश्वासराव के विश्वासी नाना ! आज मैंने तुम्हें अपने पुत्र का महत्त्व दिया।

नाना : मैं कृतार्थ हुआ, श्रीमन्त ! आपके पुत्र को बहुत कड़ी परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं। महाराष्ट्र में मैं अपनी वही परीक्षा दूँगा। महाराष्ट्र में उसका भगवा झंडा फिर से लहराएगा। भगवान् गजानन की कृपा हो ! आप महाराष्ट्र के बिखरे वीरों को फिर से एकत्र करें। लोग कहते हैं कि गुलाब चाहे जहाँ उगे, अपने साथ काँटे भी उत्पन्न करता है। मैं कहता हूँ, ठीक है, किन्तु जहाँ काँटा है, वहाँ कुछ समय बाद

गुलाब भी होगा।

बालाजी : मुझे भी विश्वास है, नाना ! कि हमारी हार ही विजय की दुंदुभी बनेगी।

नाना : मैं धन्य हूँ, श्रीमन्त ! कि आपके शोक ने साहस का रूप ले लिया। साहस तो आप में है ही, कुछ क्षणों के लिए शोक-समाचार से दब गया था। यह निश्चय मानें, श्रीमन्त ! कि उत्साह की गति पृथ्वी की सबसे सुन्दर लकीर है और प्रसन्नता की ध्वनि पृथ्वी की सबसे मधुर ध्वनि है।

बालाजी : तुम महाराष्ट्र में ही नहीं, सारे भारतवर्ष में अमर रहोगे, नाना ! चलो मेरे साथ विश्राम-कक्ष में चलो।

नाना : चलिए, श्रीमन्त ! आप स्वस्थ हों। मैं प्रण करता हूँ कि पानीपत की हार को जीत में बदल दूँगा। महाराष्ट्र का 'मंगलाचरण' विजय से आरम्भ हुआ था, उसका 'भरतवाक्य' भी मेरे जीते-जी विजय से समाप्त होगा।

बालाजी : तथास्तु ! अब से महाराष्ट्र का समस्त उत्तरदायित्व मेरे दूसरे पुत्र चिरंजीव माधवराव और तुम पर होगा। चलो मेरे साथ। (**प्रस्थान**)

द्वितीय अंक

काल : सन् 1771

[श्रीमन्त पेशवा माधवराव के महल का बाहरी कक्ष। कक्ष में राजसी सजावट। रेशमी परदे और मखमल के गद्दे तथा क़ालीन। कक्ष में स्वर्गीय पेशवा बालाजी बाजीराव का तैलचित्र। श्रीमन्त माधवराज का मखमली आसन। उसके दाहिनी ओर रामशास्त्री का तथा बाईं ओर नाना फड़नवीस का आसन।

इस समय कक्ष में नाना फड़नवीस और रामशास्त्री वार्तालाप कर रहे हैं। रामशास्त्री बैठे हुए एक पत्र देख रहे हैं और नाना फड़नवीस कक्ष में टहल रहे हैं।]

राम : नाना फड़नवीस ! आज श्रीमन्त पेशवा माधवराव जी ने एक बड़ा गंभीर प्रश्न पूछा है। क्या अनुमान कर सकते हो ?

नाना : (**टहलते-टहलते रुककर**) प्रश्न पूछा गया महाराष्ट्र के परम न्यायमूर्ति रामशास्त्री से और अनुमान लगाए नाना फड़नवीस (**गंभीर हँसी हँसकर**) पंत प्रधान और न्यायमूर्ति अभिन्न हैं। उनमें वही संबंध है जो फल और उसकी मिठास में होता है। पंत प्रधान फल हैं और न्यायमूर्ति रामशास्त्री उस फल की मिठास।

राम : फल और उसकी मिठास ! यह तो काव्य की उपमा है। न्याय का उससे क्या सम्बन्ध ? लेकिन यदि थोड़ी देर के लिए मैं कवि बन जाऊँ तो कहूँगा कि फल और मिठास अपूर्ण हैं जब तक उसमें सुगंधि न हो ! और इस सुगंधि की पूर्ति जानते हो किससे होती है ? तुमसे—नाना फड़नवीस से।

नाना : (**मुस्कुराकर**) आज तो न्यायमूर्ति कवि भी बन गए।

राम : कवि होना तो बड़े भाग्य की बात है। मैं न्याय-शास्त्र के पत्थरों से ठोकर खाने वाला पथिक ! मेरे लिए कविता तो मृग-जल की भाँति है ! न्याय-बुद्धि तो वास्तविकता का कूप-जल है जो पृथ्वी के हृदय को छूता है। श्रीमंत पंत प्रधान आज उसी न्याय-बुद्धि की परीक्षा लेने बैठ गए ! यह पत्र उसका साक्षी है।

नाना : श्रीमंत पंत प्रधान का पत्र है ?

राम : पत्र नहीं, प्रश्न-पत्र है। तभी तो परीक्षा है।

नाना : (**मुस्कुराकर**) और आपका उत्तर परीक्षक की भी परीक्षा ले लेता है। कैसा प्रश्न-पत्र है ?

राम : अनुमान कर सकते हो ?

नाना : कर सकता हूँ। श्रीमन्त ने पूछा होगा कि पानीपत के युद्ध का प्रतिशोध मैं शत्रुओं से ले सका, अथवा नहीं।

राम : तुमने उनके प्रश्न को अधिक स्पष्ट कर दिया। उन्होंने पूछा है कि स्वर्गीय पेशवा बालाजी बाजीराव जो दायित्व मुझे देकर गए थे, उसकी पूर्ति मैं कर सका हूँ या नहीं ?

नाना : आपने क्या उत्तर सोचा है ?

राम : मैंने यह सोचा है, नाना ! कि मैं श्रीमन्त को लिखूँ कि आप अपने दायित्व की कोई एक संख्या निर्धारित कर लीजिए। उसमें आप उतने दिनों की संख्या से भाग दीजिए जितने दिनों आपकी तलवार म्यान से बाहर रही है। यदि कुछ शेष बचे तो समझ लीजिए कि उतना दायित्व शेष है जिसकी पूर्ति होना है।

नाना : मैंने कहा था न कि आपका उत्तर परीक्षक की भी परीक्षा लेता है।

राम : बात यह है, नाना ! कि पानीपत के युद्ध से महाराष्ट्र का हृदय इतना टूट गया है कि उसे जोड़ने के लिए निरन्तर उत्साह और गतिशीलता की आवश्यकता है। महाराष्ट्र में चिनगारियाँ तो हैं। उन्हें फूँक मार कर लपट बनाने की आवश्यकता है। और श्रीमन्त के हृदय में आँधी है जिससे वे विदेशियों के वैभव में आग लगा सकते हैं।

नाना : आपका कथन यथार्थ है, न्यायमूर्ति ! पानीपत की पराजय से स्वर्गीय पेशवा बालाजी बाजीराव को इतनी यंत्रणा हुई कि वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सके। उनकी समस्त आशाएँ अपने द्वितीय पुत्र श्रीमन्त माधवराव पर ही केन्द्रित थीं और यह महाराष्ट्र का सौभाग्य है कि श्रीमन्त माधवराव ने केवल दस वर्षों ही में महाराष्ट्र का खोया हुआ मुकुट फिर महाराष्ट्र के मस्तक पर रख दिया। जिस

दिशा में श्रीमन्त की तलवार उठी, उसी दिशा में शत्रुओं ने पानीपत की हानि ब्याज सहित चुकाई।

राम : (**मुस्कुराकर**) तुम फड़नवीस का कार्य कर चुके हो, इसलिए ब्याज का स्मरण तुम्हें सदैव ही रहता है।

नाना : अवश्य ही रहेगा, न्यायमूर्ति ! क्योंकि यह ब्याज मूल से भी अधिक बढ़ गया है। राज के अन्तरग संघर्षों को समाप्त कर श्रीमन्त ने बुंदेलखंड और राजस्थान के विद्रोहियों को दंड दिया। जाटों से आगरा छीन कर उन्हें युद्ध-भूमि में ही नष्ट किया। विश्वासघाती नजीब ख़ाँ से दिल्ली लेकर पानीपत में लूटी गई सारी संपत्ति वापस ली। अहमदशाह अब्दाली ने घुटने टेक कर क्षमा माँगी। रोहिलखंड में रुहेलों और पठानों के रक्त से तलवार की प्यास बुझाई। दक्षिण में तुंगभद्रा पार कर श्रीमन्त की सेना ने हैदर के अहंकार को इतना चूर किया कि उसे महाराष्ट्र का एक-एक क़िला वापस करना पड़ा। लोग पानीपत का नाम भूल गए।

राम : और यदि नहीं भूले तो इसलिए नहीं भूले कि उन्हें पानीपत के युद्ध-क्षेत्र में केवल एक बार हारना पड़ा जबकि दस वर्ष के भीतर ही उनके शत्रुओं को दर्जनों रण-भूमियों में दर्जनों बार हारना पड़ा।

नाना : इसीलिए तो मैंने कहा कि ब्याज मूल से भी अधिक बढ़ गया ! लेकिन श्रीमन्त के प्रश्न में एक महान् रहस्य है।

राम : तुम राजनीतिज्ञ हो। तुम इसे अच्छी तरह समझ सकते हो।

नाना : न्यायमूर्ति ! पिछले दस वर्षों में श्रीमन्त ने एक क्षण विश्राम नहीं लिया। पानीपत की हार जैसे एक कृत्या राक्षसी थी जिसके लिए श्रीमन्त का साहस एक सुदर्शन चक्र की भाँति गतिशील हुआ और श्रीमन्त की तलवार चारों दिशाओं में चमकी। शत्रुओं का समूह शक्ति के चक्रव्यूह में घेर कर मारा गया। श्रीमन्त का शौर्य एक प्रलय के मेघ की भाँति बरसा। किन्तु अब वह मेघ क्षीणकाय होकर जर्जर हो गया है। शत्रुओं को होमकुंड में भस्म करने के बाद कुछ शेष न रहने पर अग्नि की लपट अब दुर्बल हो रही है।

राम : हाँ, श्रीमन्त अब अस्वस्थ रहने लगे हैं।

नाना : उन्हें भय है कि यह ज्योति अब कहीं शान्ति में लीन न हो जाए ! उनकी बढ़ती हुई अस्वस्थता किसी आशंका से उन्हें बार-बार अशांत कर रही है। वे बार-बार स्वयं अपने से प्रश्न करते हैं कि उनके कंधों पर पर जो दायित्व था वह पूर्ण हुआ अथवा नहीं ? जब वे स्वयं उत्तर नहीं दे पाते तो आप से प्रश्न पूछते हैं कि वे युद्ध का प्रतिशोध शत्रुओं से ले सके अथवा नहीं।

राम : तुम तो बहुत बड़े राजनीतिज्ञ हो, नाना ! यह सारी विजय की विभूति तुम्हारी ही अन्तर्दृष्टि से प्राप्त हुई है। तुम श्रीमन्त के परामर्शदाता हो। उनसे कह दो न, कि वे पार्वती के मन्दिर में कुछ मास विश्राम करें।

नाना : वे विश्राम तो करना चाहते हैं, किन्तु एक कारण है जिससे विश्राम में भी उन्हें शान्ति नहीं मिलेगी।

राम : हाँ, वह कारण मैं भी जानता हूँ किन्तु रक्षा का कोई उपाय नहीं है, नाना ! इस संबंध में श्रीमन्त ने अनेक बार समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। मुझसे अनेक बार सहायता भी चाही।

नाना : किन्तु समस्या सुलझ नहीं सकी। काका रघुनाथराव ने पेशवा बनने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन नहीं किया ! उन्होंने विद्रोह किए—विदेशियों के साथ संधि-पत्र लिखे—विश्वासघात किया। यह ऐसी अग्नि है, न्यायमूर्ति ! जो यज्ञ-कुंड को भी जला देगी।

राम : मैं तो समझता हूँ कि यदि काका रघुनाथराव विद्रोह में विश्वास रखते हैं तो एक ही परिस्थिति से उनको रास्ते पर लाया जा सकता है। वह यह है कि जिस-जिस स्थान पर वे रहें उसी स्थान पर समस्त जनता उनसे विद्रोह करे। जनता की शक्ति किसी भी विश्वासघाती के विष का शोषण कर सकती है। इसके लिए जनमत तैयार करने की आवश्यकता है।

नाना : आपकी युक्ति अत्यन्त उपयोगी है किन्तु जनमत तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता है और श्रीमन्त के पास न इतना समय है, न इतना धैर्य।

[द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल : श्रीमन्त की जय !

नाना : क्या समाचार है ?

द्वारपाल : श्रीमती गंगाबाई और श्रीमन्त नारायणराव इसी ओर आ रहे हैं।

नाना : यह समय पूजा का है ! कोई बात नहीं।

राम : अच्छा नाना ! तो अब मैं चलूँगा। आवश्यक कार्य मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

नाना : जैसी आपकी इच्छा ! मैं प्रणाम करता हूँ।

[रामशास्त्री का प्रस्थान]

नाना : (**सोचते हुए**) श्रीमन्त के मन में यह प्रश्न बार-बार क्यों उठता है कि उनका दायित्व पूरा हुआ या नहीं ! ···उनका स्वास्थ्य···

[श्रीमन्त नारायणराव और गंगाबाई का प्रवेश]

नारायण : (**आते ही**) नाना ! हम दोनों तुमसे एक प्रश्न पूछने आए हैं। उत्तर दोगे ?

गंगा : यह प्रश्न मेरा है, नाना ! जो ये आपसे पूछने आए हैं।

नाना : अभी कुछ ही समय पहले आप दोनों का विवाह हुआ और दोनों के बीच में प्रश्न उठने लगे ?

नारायण : प्रश्न यह है कि विवाह के बाद पति-पत्नी को एक हो जाना चाहिए या दो

बने रहना चाहिए।

गंगा : मैं कहती हूँ कि एक हो जाना चाहिए—ये कहते हैं कि दो बने रहना चाहिए।

नारायण : एक कैसे हो सकते हैं, नाना ? मेरा शरीर यह है—इनका शरीर वह है ! मैं जब सोता हूँ, तो ये जागती हैं। जब मैं जागता हूँ, तो ये सोती हैं।

गंगा : जागने-सोने से क्या हुआ, नाना ! विवाह तो जीवन की इकाई है। भले ही शरीर अलग है, मन तो एक है।

नारायण : मन कैसे एक है, गंगा ? मुझे वसंन्त ऋतु अच्छी लगती है, कोकिल की कूक से तन-मन सिहर उठता है। तुम्हें वर्षा ऋतु अच्छी लगती है, पपीहे की 'पिउ कहाँ' में तुम्हारा मन रमता है। दो ऋतुएँ, दो पक्षी, दो शरीर, दो मन।

गंगा : दो ऋतुओं से दो मन नहीं हो जाते, नाना ! पपीहा पूछता है, कोकिल उत्तर देती है। प्रश्नोत्तर में तो एक ही बात होती है, दो का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? इसी तरह ये विवाह और प्रेम को अलग-अलग मानते हैं। मैं कहती हूँ, हिन्दू धर्म में विवाह इसलिए किया जाता है कि प्रेम हो और प्रेम इसलिए किया जाता है कि विवाह हो, कारण कार्य बनता है और कार्य कारण बनता है।

नारायण : ऐसा कहकर नाना गंगा मेरी स्वतंत्रता का अपहरण करना चाहती है। प्रेम प्रेम है और विवाह विवाह ! एक आत्मा का मिलन है, दूसरा शरीर का मिलन। दोनों की कोटि बिलकुल अलग।

गंगा : देखिए, नाना ! ये प्रेम में अंकगणित का जोड़-बाक़ी जमाते हैं। तर्क की बात अलग है, व्यवहार की बात बिलकुल अलग। अगर शरीर इनके सामने न हो तो ये शून्य से प्रेम करेंगे ? ये क्यों मुझे बार-बार अपने पास बुलाते हैं—आकाश में मुँह उठाकर 'गंगा-गंगा' कहकर प्रेम करें ! शरीर के मिलन से ही आकांक्षा पवित्र होकर आत्मा तक उठती है। अतृप्तियों के हाहाकार से कभी आत्मा का संगीत नहीं बनता नाना !

नारायण : आप कुछ बोलते ही नहीं, नाना ! यह गंगा बातें करने में बहुत तेज़ है। मैं इसे प्रेम तो करता हूँ किन्तु चाहता हूँ कि प्रेम के अतिरिक्त भी तो कुछ हो। क्यों नाना ! प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ?

गंगा : है क्यों नहीं ? लेकिन प्रेम की ज्योति सब वस्तुओं को उदात्त बना देती है। सूर्य है, किन्तु सूर्य की किरणें ही सारे संसार को जीवन का संदेश देती हैं।

नारायण : गंगा ! तुम चुप रहो, नाना को कुछ कहने दो। नाना ! प्रश्न का उत्तर दो—हम एक हैं या दो हैं ?

नाना : श्रीमन्त ! आपके नेत्र कितने हैं ?

नारायण : दो।

नाना : और उन दो नेत्रों की दृष्टि ?

नारायण : एक।

नाना : इसी तरह आप दो हैं किन्तु दृष्टि एक है।

गंगा : धन्य हो, नाना ! आपने मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया।

नारायण : तो मैं गंगा की ही आज्ञा में चलूँ !

नाना : नहीं, गंगा आपकी आज्ञा में चले।

नारायण : तो यह कैसे संभव होगा ? दोनों की आज्ञाएँ अलग-अलग हैं।

नाना : अलग-अलग क्यों हों ? दोनों की आज्ञाएँ जब सामने हों तो दोनों ही विवेक-बुद्धि से निर्णय करें—(**जोर देकर**) विवेक-बुद्धि से निर्णय करें कि इस समय कौन आज्ञा उचित है। जो आज्ञा उचित समझी जाए उसी पर दोनों चलें, चाहे वह आज्ञा आपकी हो या गंगा की।

नारायण : (**शिथिल होकर**) मैं अभी से कह सकता हूँ कि आज्ञा गंगा की ही चलेगी !

नाना : (**हँसकर**) यदि आपका विवेक समझे तो श्रीमती गंगा की ही आज्ञा चलने दीजिए।

गंगा : (**बुरा मानकर**) मैं आज से आपको कोई आज्ञा नहीं दूँगी। मेरा अधिकार ही क्या है ! मैं कौन होती हूँ अपनी आज्ञा मनवाने वाली ! (**सिसकी**)

नाना : अरे, अरे, श्रीमती गंगाबाई ! श्रीमन्त नारायणराव का यह तात्पर्य नहीं था। वे तो सोचते थे कि प्रेम के अतिरिक्त वे अन्य कार्य भी करें; जैसे मुझे देखिए, मैं अपनी पत्नी से प्रेम भी करता हूँ और राजनीति की गुत्थियाँ भी सुलझाता हूँ।

गंगा : (**करुण स्वर में**) तो मैं इन्हें अन्य कार्यों से कहाँ रोकती हूँ ! जी भरकर करें। मैंने तो इनसे एक ही बात कही थी कि ये काका रघुनाथराव जी के यहाँ न जाया करें ! वहाँ का वातावरण दूषित है।

नारायण : नाना ! अब आप ही सोचें, मैं वहाँ क्यों न जाऊँ ? वे मेरे काका हैं—काकी आनन्दी बाई मुझे प्रेम से खिलाती हैं। अनेक प्रकार के पकवान बनाती हैं। तरह-तरह के मेवे डालती हैं—कभी-कभी तो अपने हाथ से मुझे खिलाती हैं !

नाना : (**आतंकित होकर**) अपने हाथ से आपको खिलाती हैं ?

नारायण : हाँ, बिना भूख के ही मुझे खिलाती हैं। गंगा को यह सब खाने के लिए नहीं मिलता तो मुझे जाने से रोकती है। बड़ी शान से कहती है—(**चिढ़ाते हुए**) 'मैंने तो इनसे एक ही बात कही थी कि ये काका रघुनाथराव जी के यहाँ न जाया करें !'

नाना : (**गंभीरता से**) श्रीमन्त नारायणराव ! यदि मैं राज्य की ओर से आज्ञा दे सकूँ, तो आज्ञा देता हूँ कि आप काका रघुनाथराव जी के यहाँ नहीं जावेंगे।

नारायण : अच्छा, आप भी गंगा का पक्ष समर्थन करते हैं ? आप भी मुझे जाने से रोकते हैं ?

नाना : हाँ, रोकता हूँ। इसलिए कि श्रीमती गंगाबाई आपकी पत्नी होकर आपका हित चाहती हैं और मैं श्रीमन्त का सलाहकार होकर आपका हित चाहता हूँ। आपका

जीवन संकट में है।

नारायण : संकट में ? कैसे संकट में ?

नाना : काका रघुनाथराव जानते हैं कि श्रीमन्त पंत प्रधान का स्वास्थ्य गिर रहा है। उनके कोई संतान नहीं है। भावी पशवा-पद का छत्र आपके मस्तक पर सुशोभित होगा क्योंकि आप श्रीमन्त पेशवा के छोटे भाई हैं। यदि आपको भोजन के साथ विष दे दिया जाए तो काका रघुनाथराव को पेशवा बनने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

नारायण : (**आतंकित होकर**) विष ?

नाना : हाँ, विष ! काकी आनन्दी बाई इसीलिए आपको भाँति-भाँति के पकवान खिलाने का अभ्यास करा रही हैं। वे समय की प्रतीक्षा में हैं। जिस समय परिस्थिति अनुकूल होगी आपके पकवानों में विष मिला दिया जाएगा।

नारायण : विष···विष मिला दिया जाएगा ? तब तो मैं तुरन्त मर जाऊँगा ! तब मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। भूल कर भी नहीं जाऊँगा ! (**गंगा से**) गंगा ! तुम्हारी आज्ञा कितनी विवेक-बुद्धि पर सोची गयी है ! मैं नहीं जानता था कि तुम राजनीति भी जानती हो !

नाना : सती स्त्रियों को भविष्य का आभास सरलता से हो सकता है।

नारायण : हो सकता है। तब तो नाना ! अब मैं काका के यहाँ नहीं जाऊँगा। गंगा ! वास्तव में तुम महान् हो। अब तुम्हारी आज्ञा के बिना मैं एक पग भी बाहर नहीं रखूंगा ! चलो, कहाँ ले चलती हो ?

गंगा : चलिए, मेरे कक्ष में चलिए, अभी !

नारायण : चलो। (**नाना से**) नाना ! हम लोग जाते हैं। प्रणाम !

गंगा : आप राजनीति के ही आचार्य नहीं, गृहनीति के भी आचार्य हैं। प्रणाम।

नाना : (**हाथ उठाकर**) स्वस्ति।

[दोनों का प्रस्थान]

नाना : दोनों कितने सरल और भोले हैं ! नये पति-पत्नी की तकरार में कितनी मिठास होती है ! कामदेव कितना बड़ा कलाकार है कि एक आँसू से आँधी उठा देता है और एक मुस्कान से महल बना देता है। महल··· (**सोचता है । पुकारकर**) द्वारपाल !

द्वारपाल : (**नेपथ्य से**) श्रीमन्त की जय !

नाना : श्रीमन्त पंत प्रधान अभी अपने अंतरंग कक्ष में ही हैं ?

द्वारपाल : हाँ, श्रीमन्त !

नाना : जब वे वहाँ से उठें तो मुझे सूचना देना !

द्वारपाल : जो आज्ञा, श्रीमन्त ! (**प्रस्थान**)

[द्वारपाल के प्रस्थान करते ही आनन्दी बाई का प्रवेश]

आनन्दी : (**बड़े मीठे स्वर से**) मैं आ सकती हूँ, नाना !

नाना : ओह चाची ! मेरा प्रणाम स्वीकार करें।

आनन्दी : राजनीति के आचार्य बनो, नाना ! मैं भीतर आ सकती हूँ ?

नाना : श्रीमन्त पेशवा की काकी को किस आज्ञा की आवश्यकता है ? सेवक स्वामिनी को आज्ञा दे ! मेरा परिहास न करो, काकी !

आनन्दी : नाना ! तुम इतने महान् हो कि पेशवा वंश तुम्हारे संकेत से ही आगे बढ़ सकता है।

नाना : काकी ! आपकी वाणी मधुर है ! बड़े से बड़ा विपक्षी भी आपकी वाणी के सामने अपना शस्त्र डाल देगा !

आनन्दी : तुम भी चतुराई से बातें करते हो, नाना ! नारायणराव यहाँ आया था ?

नाना : आए थे, काकी !

आनन्दी : कहाँ गया ?

नाना : मैं नहीं जानता।

आनन्दी : कहीं तुम्हीं ने उसे आने से तो नहीं रोक दिया ? आज बड़ी देर तक मैं उसके भोजन की प्रतीक्षा करती रही। बड़े मधुर पकवान मैंने उसके लिए बनाए थे अपने हाथों से। अपने हाथों से ही उसे आज खिलाती !

नाना : आप कितनी महान् हैं, काकी, कि आपका चिरंजीव बाजीराव भी वह प्रेम नहीं पा सका जो आपने श्रीमन्त नारायणराव को दिया है। श्रीमन्त नारायणराव बड़े भाग्यशाली हैं !

आनन्दी : कभी-कभी दूसरे बच्चे अपने बच्चों से अधिक प्यारे लगते हैं। फिर पेशवा-वंश के बच्चे भगवान गजानन के रूप ही तो हैं। नारायणराव को खिलाती हूँ तो लगता है, भगवान् गजानन को ही खिला रही हूँ !

नाना : आप बहुत भक्त हैं, काकी ! पर श्रीमन्त नारायणराव को आप पकवान न खिलाएँ तो बड़ी कृपा हो !

आनन्दी : नाना ! मैं तुम्हारी बात समझी नहीं। पकवान खिलाने में कृपा होती है अथवा न खिलाने में ?

नाना : न खिलाने में आपकी कृपा होगी।

आनन्दी : पहेली बूझ रहे हो ?

नाना : श्रीमन्त नारायणराव का स्वास्थ्य आजकल ठीक नहीं है। पकवान खिलाने से उनका स्वास्थ्य और खराब हो जाएगा !

आनन्दी : मुझे उसके स्वास्थ्य की चिन्ता तुमसे अधिक है, नाना !

नाना : यह तो स्वाभाविक है, काकी !

आनन्दी : फिर पकवान खाने से तो उसका स्वास्थ्य और अच्छा होगा, नाना ! तुम भी किसी दिन मेरा पकवान खाना।

नाना : सेवक का सौभाग्य ऐसा नहीं है। और श्रीमन्त नारायणराव का भी सौभाग्य ऐसा नहीं होगा।

आनन्दी : नारायणराव का सौभाग्य नहीं होगा ? मैं कुछ समझी नहीं।

नाना : मैं भी पहले नहीं समझा था, काकी ! मैंने तो एक स्वप्न देखा, तब समझा।

आनन्दी : स्वप्न देखा !

नाना : हाँ, कल ही मैंने स्वप्न देखा कि आपने श्रीमंत नारायणराव को अपने हाथ का पकवान खिलाया और···और···

आनन्दी : और···और क्या !

नाना : मैंने बड़ा बुरा स्वप्न देखा है, काकी ! मैं न कहूँ तो अच्छा है।

आनन्दी : नहीं···नहीं···अवश्य कहो ! स्वप्न कह देने से स्वप्न का दोष मिट जाता है।

नाना : मैंते स्वप्न में देखा काकी ! कि (**जैसे दूर क्षितिज में देखते हुए**) श्रीमंत नारायणराव आपके समीप ही आसन पर बैठे हैं···आप उनसे मीठी-मीठी बातें बातें कर रही हैं···सेविका भोजन लेकर आती है···आँखों से कुछ संकेत करती है···सामने भोजन का थाल···रखती है···आप पकवान हाथ से···उठाती हैं··· श्रीमन्त नारायणराव से कहती हैं—मँह खोलो···आप शीघ्रता से···पकवान खिला देती हैं और···दो क्षण बाद···

आनन्दी : (**तीव्रता से**)···दो क्षण बाद ?

नाना : दो क्षण बाद···श्रीमन्त नारायणराव सिर पकड़ लेते हैं। उठने की कोशिश करते ही गिर पड़ते हैं···दासियाँ दौड़ कर आती हैं ! श्रीमन्त नारायणराव बोलने की कोशिश करते हैं···उनके मुँह से शब्द लड़खड़ाकर निकलते हैं···आँखें फिर जाती हैं···और···और दो क्षण बाद ही श्रीमन्त नारायणराव की मृत्यु···

आनन्दी : (**तीव्र स्वर में**) नाना !

नाना : यह तो स्वप्न है, काकी !

आनन्दी : नाना ! तुम मेरा अपमान कर रहे हो !

नाना : आपने ही तो स्वप्न सुनाने का आग्रह किया।

आनन्दी : मैं यह नहीं जानती कि तुम्हारे संकेत इतने पैने होते हैं।

नाना : यदि आप को चुभे हों तो मैं क्षमा चाहता हूँ।

आनन्दी : नाना ! तुम समझते हो कि मैं बातों का अर्थ नहीं समझती ! यह लांछन लगाने के कारण तुम दंड के भागी होगे।

नाना : तो क्या वास्तव में मेरा स्वप्न सत्य है ?

आनन्दी : नाना ! तुम समझते हो कि तुम्हारी बातों की व्यंजना मैं नहीं समझ सकती। तुम अपनी बातों के मखमली म्यान में कपट की छुरी छिपाए हुए हो !

नाना : काकी ! सेवक के सम्मान का भी ध्यान रक्खें !

आनन्दी : सम्मान ! तुम्हें तो अपमानित कर राज्य से निर्वासित किया जाना चाहिए !

नाना : यह उस समय सम्भव होगा जब काका रघुनाथराव अभी तक किए गए अपने असफल विद्रोह में सफल हो जाएँगे !

आनन्दी : नाना ! अपनी जीभ काबू में रक्खो, नहीं तो वह कटवा दी जाएगी। तुम आनन्दी बाई की शक्ति नहीं जानते ?

नाना : जानता हूँ, काकी ! यदि मेरी जीभ काट दी जाएगी तो महाराष्ट्र के प्रत्येक वृक्ष की पत्तियाँ जीभ बनकर आपके षड्यंत्रों की घोषणा करेंगी ! मैं अत्यन्त मधुर-भाषिणी काकी को इस बात की भी सूचना दे दूँ कि काका रघुनाथराव के पेशवा-पद का स्वप्न झूठा हो गया और वे श्रीमन्त पेशवा की शरण में आ चुके हैं।

आनन्दी : क्या यह बात सत्य है ?

नाना : काकी ! मुझे दुःख इसी बात का है कि काका का स्वप्न झूठा हो गया और मेरा स्वप्न सच्चा। मैं नहीं चाहता था कि मेरा स्वप्न सच्चा हो !

आनन्दी : (**आक्रोश से**) तुम अपनी राजनीति में झूठ भी बोल सकते हो। मैं अभी जाकर देखती हूँ।

[शीघ्रता से प्रस्थान]

नाना : काकी को प्रणाम करता हूँ। (**स्वगत**) राज्य में भयानक षड्यंत्र चल रहे हैं। इनसे महाराष्ट्र को मुक्ति कब मिलेगी !

[नेपथ्य में समीप के मंदिर में कीर्तन होता है। नाना उस ओर देखकर प्रणाम करता है और ध्यानमग्न मुद्रा में सुनता है—]

शरण आले याचे न पाहसी अवगुण
कृपे चें लक्षण तुज साजे।
त्रिभुवनी समर्थ उदार मना चा
कृपालू दीना चा ब्राद तुझें।
गजेन्द्र मणिकेची राखिली तुवा लाज
उद्धरिला द्विज अजामिल।

[धीरे-धीरे कीर्तन समाप्त होता है। द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल : श्रीमन्त की जय ! श्रीमन्त, पंत प्रधान इधर ही आ रहे हैं।

नाना : आ रहे हैं ? आगे चलो। मैं भी आता हूँ।

[द्वारपाल का प्रस्थान। नाना अपनी पगड़ी सीधी कर तथा वस्त्रों को ठीक कर द्वार तक आगे बढ़ जाता है तथा दोनों हाथ उठाकर कहता है—'पंत प्रधान की जय !']

[पेशवा माधवराव हरिपन्त फड़के के कंधे का सहारा लेकर प्रवेश करते हैं।]

माधव : (**शिथिल स्वर में**) चारों दिशाओं में विजय प्राप्त कर महाराष्ट्र की सेनाएँ

पूना में लौट आईं। आज हैदर को पराजित कर सेनापति पटवर्द्धन भी अपनी सेना सहित आ गए। यह सब तुम्हारी विलक्षण बुद्धि है, नाना ! आज मैं तुम्हें उसका पुरस्कार देने आया हूँ।

नाना : श्रीमन्त ! यह मेरी विलक्षण बुद्धि नहीं, यह आपका उत्साह, साहस और प्रबल पराक्रम है जिसने महाराष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर तक एक नवीन चेतना का सृजन कर दिया है। आज पानीपत की एक हार, हज़ार जीतों में बदल गयी है। पानीपत का प्रतिशोध लेने के सम्बन्ध में आपका जो प्रण था, वह उसी प्रकार पूर्ण हुआ है जिस प्रकार वसन्त शिशिर से शीत का प्रतिशोध ले।

माधव : (**मुस्कुराकर**) जब तुम राजनीतिक भाषा में कविता मिला देते हो तो मुझे मालूम होता है जैसे तलवार की झनकार हो, जिसे सुनने की प्यास कभी नहीं बुझती। तुमने पानीपत में हज़ारों वीरों की मृत्यु देखी। मालूम होता है उन वीरों ने मरते समय अपनी शक्ति और प्रतिभा तुम्हें सौंप दी। इसीलिए तुम इतने निर्भीक राजनीतिज्ञ हुए। बोलो, नाना ! महाराष्ट्र की इस विजय के फलस्वरूप तुम्हें क्या पुरस्कार चाहिए ? मेरे बाहुओं में इस समय समस्त भारत की सम्पदा है। जो माँगो, वह निस्संकोच तुम्हें दूँगा।

नाना : आप महाराष्ट्र के अभ्युदय और गौरव से सुखी और संतुष्ट हैं, यही मेरा पुरस्कार है। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं चाहता, श्रीमंत !

माधव : तुमने अपनी बात कही, मुझे भी तो अपनी बात कहने का अधिकार है। तुमने आज तक जीवन में मुझसे कभी कुछ नहीं माँगा। आज भगवान् गजानन के अभिषेक के बाद कीर्तन-समारोह के बाद कुछ देना चाहता हूँ। यों तो मैं तुम्हें सभी कुछ दे सकता हूँ, परन्तु नाना ! मैं चाहता हूँ कि तुम अपनी इच्छा से माँगो ! मैं बहुत प्रसन्न होऊँगा यदि तुम्हारी इच्छा के अनुरूप मैं पुरस्कार सुसज्जित कर सकूँ।

हरिपंत : जब श्रीमन्त इतने प्रसन्न हैं, नाना ! तो तुम्हें अवश्य कुछ माँगना चाहिए।

नाना : तब माँगता हूँ, श्रीमन्त !

माधव : जिह्वा के साथ यदि तुम अपने रोम-रोम से माँगो तब भी मैं तुम्हें दूँगा, नाना ! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ।

नाना : तब, श्रीमन्त ! मैं आपसे यह माँगता हूँ कि आप सौ वर्ष तक जीवित रहकर महाराष्ट्र की रक्षा करें !

माधव : (**आहत स्वरों में**) यह तुम क्या माँगते हो, नाना ! मैं जब तक जीवित हूँ तब तक महाराष्ट्र की रक्षा में समर्पित ही हूँ, किन्तु सौ वर्ष तक जीवित रहना असंभव है !

नाना : इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं माँगना चाहता !

माधव : (**शिथिल स्वरों में**) तब मैं यह नहीं दे सकता। भगवान गजानन से माँगो।

नाना ! तुमने मुझे निराश कर दिया ! मैं दिनोदिन डूबता जा रहा हूँ। मेरा स्वास्थ्य सौ वर्ष क्या एक महीने भी साथ नहीं देना चाहता !

नाना : अवश्य साथ देगा, श्रीमंत ! आपने जनता-जनार्दन की सेवा की है। भूपति और भिखारी पर समान रूप से आपने न्याय और दया का वरद हस्त रक्खा है। क्या उनकी मंगल कामनाएँ आपका साथ नहीं देंगी ? दीनों के प्रतिपालक, दुखियों के रक्षक होकर आप कितने पुण्यशील हैं, क्या भगवान् गजानन आपको शक्ति नहीं देंगे ?

माधव : जितनी आवश्यक थी, वह उन्होंने दी। संभवतः अब मेरी आवश्यकता महाराष्ट्र को न हो ! पूर्णिमा के अनन्तर चन्द्रमा की कलाएँ भी तो घटने लगती हैं, नाना !

नाना : आज आपको ज्वर तो नहीं है, श्रीमंत ?

माधव : कल से कुछ अधिक है। इसलिए तुम्हारे पास ही विश्राम लूँगा।

हरिपंत : यद्यपि वैद्य ने बहुत विचार करने के बाद औषधि दी, किन्तु उससे लाभ कुछ नहीं हुआ।

माधव : लाभ की आवश्यकता भी नहीं है, हरिपंत ! मैंने आज वैद्य से कहा कि वैद्यराज ! ज्वर की उपाधियाँ भले ही मुझे सब तरह से घेर लें किन्तु तुम मुझे ऐसी औषधि देते रहना जिससे मेरी वाणी खुली रहे और मैं अंतिम समय में कह सकूँ—भगवान् गजानन ! मेरे महाराष्ट्र को सुरक्षित रखना।

नाना : आपकी वाणी में शक्ति है और वह सदैव ही रहेगी !

माधव : कह नहीं सकता, नाना ! मैं कभी-कभी अपने-आपसे युद्ध करता हूँ। संत तुकाराम का एक अभंग है :

तुका म्हणें मनासी संवाद
आपुलाचि वाद आपणास !

इसका क्या अर्थ है, हरिपंत ?

हरिपंत : श्रीमंत ! इसका अर्थ है—तुका अपने मन से ही बातचीत करता है। उसके अभंगों में स्वयं से किया गया स्वयं के सम्बन्ध में वाद-विवाद है।

माधव : मैं स्वयं अपने सम्बन्ध में वाद-विवाद करता हूँ, नाना ! कि मेरे कंधों पर जो दायित्व था, वह पूर्ण हुआ या नहीं। जब मैंने स्वयं संतोषजनक उत्तर नहीं पाया तो न्यायमूर्ति रामशास्त्री से पूछा।

नाना : रामशास्त्री इस सम्बन्ध में मुझसे कह रहे थे। उन्होंने क्या उत्तर दिया श्रीमंत को ?

माधव : उन्होंने बड़ा विचित्र उत्तर दिया। उन्होंने उत्तर दिया—'श्रीमंत ! आप अपने उत्तरदायित्व की एक संख्या निर्धारित कर लीजिए। उसमें आप उतने दिनों की संख्या से भाग दीजिए, जितने दिनों आपकी तलवार म्यान से बाहर रही है। यदि

कुछ शेष बचे तो समझ लीजिए कि उतना दायित्व शेष है जिसकी पूर्ति होनी है।' यह उत्तर दिया !

नाना : आपने यह गणित किया, श्रीमंत ?

माधव : किया। एक नहीं, अनेक बार किया।

नाना : संग्राम के दिनों की संख्या से भाग देने पर कुछ शेष बचा ?

माधव : शेष बचा। एक का अंक शेष है। और आज मैं उस अकेले दायित्व की पूर्ति भी करना चाहता हूँ।

नाना : वह कौन-सा दायित्व है, श्रीमंत ?

माधव : काका रघुनाथराव का विद्रोह। सब प्रकार की सुविधाओं और समृद्धियों के होते हुए भी उनके मन में साम्राज्य-लिप्सा है। स्वयं पेशवा बनने की तृष्णा में उन्होंने महाराष्ट्र की समस्त मर्यादाओं को धूल की तरह उड़ा दिया। नाना ! तुमने ही कहा था कि श्रीमंत, पेशवा-पद उन्हें सौंप दीजिए और अलग हो जाइए जिससे गृह-विद्रोह की आग में हमारा साम्राज्य नष्ट न हो। और मैंने उन्हें पेशवा-पद सौंप दिया। किन्तु पेशवा होने के बाद उन्होंने जनता पर क्या-क्या अत्याचार और अनाचार नहीं किए ? मैं इसे कैसे सहन कर सकता था। मैंने अपनी सेना से काका को पराजित कर उन्हें बन्दी किया।

हरिपंत : अब तो वे आपकी शरण में हैं, श्रीमंत !

माधव : किन्तु मुझे संकोच होता है कि मेरे काका मेरी शरण में हों। आज मैं उन्हें मुक्ति देना चाहता हूँ। उनका हृदय महाराष्ट्र के प्रति स्वच्छ करना चाहता हूँ।

नाना : यदि उनका हृदय स्वच्छ हो जाए तो आपके दायित्व की पूर्ति होगी और हमारा सौभाग्य होगा, किन्तु श्रीमंत ! काकी आनन्दीबाई के हृदय में रानी बनने की अदम्य आकांक्षा है। वे किसी भी उपाय से राज्य की अधिकारिणी बनना चाहती हैं। श्रीमंत नारायणराव को विष दिया जा सकता है, उनकी हत्या भी की जा सकती है।

माधव : उस भोले नवनीत की भाँति कोमल नारायण की हत्या ! नाना ! हत्या का नाम न लो। यह कलंक पेशवा-वंश को नष्ट कर देगा, यह कलंक गंगा-जल से भी धोया न जा सकेगा !

नाना : तो काका रघुनाथराव के साथ काकी आनन्दीबाई भी महल में होंगी। दोनों को ही बुलवा कर आप बात करें। संभव है, आपके वचनों से उनके मन का पाप कट जाए।

माधव : ठीक है। हरिपंत ! तुम जाओ और अपने साथ शीघ्र ही काका और काकी को साथ लेकर आओ। मैं यहाँ आने की सूचना उन्हें भिजवा चुका था, वे आने के लिए तैयार भी होंगे।

हरिपंत : जो आज्ञा ! **(प्रस्थान के लिए उठते हैं)**

नाना : और सुनो, हरिपंत ! साथ ही न्यायमूर्ति रामशास्त्री और श्रीमंत नारायणराव के समीप भी सूचना भिजवा दो कि वे श्रीमंत पंत प्रधान के महल के बाहरी कक्ष में आने की कृपा करें। श्रीमंत ने उनका स्मरण किया है।

हरिपंत : जो आज्ञा ! **(प्रस्थान)**

माधव : नाना ! यह तुमने अच्छा किया कि नारायणराव और न्यायमूर्ति रामशास्त्री को भी बुलवा लिया। नारायणराव भविष्य का दीपक है और न्यायमूर्ति भविष्य के संरक्षक। दोनों की उपस्थिति से काका राघोबा के मन का कलुष नियंत्रण में रखा जा सकता है। तुम बहुत दूरदर्शी हो, नाना !

नाना : श्रीमंत ! यदि क्षमा करें तो एक बात कहने का साहस करूँ। काका राघोबा उतने भयानक नहीं हैं जितनी काकी आनन्दीबाई। और काकी जैसा चाहती हैं, वैसा ही कार्य काका करते हैं। यदि सत्य का अन्वेषण किया जाए तो काकी ही भयानक षड्यंत्रकारिणी हैं।

माधव : फिर काकी को किस भाँति सही रास्ते पर लाया जा सकता है ?

नाना : यदि दोनों को परस्पर मिलने न दिया जाए।

माधव : यह कैसे संभव है नाना, कि पति और पत्नी एक-दूसरे से अलग कर दिए जावें ? फिर वे मेरे वरिष्ठ हैं। यह अमर्यादित कार्य मुझसे कैसे हो सकता है ?

नाना : हमारे देश का इतिहास इन्हीं छोटे-छोटे संकोचों में संकुचित हुआ है। हमारी छोटी-सी सद्भावना कभी-कभी बड़ी विपत्तियों की सूत्रधारिणी बनी है।

माधव : तुम्हारा कहना सही है, नाना ! हमारी न्याय-बुद्धि अनेक बार शत्रुओं की शक्ति बन गयी है, यह मैं मानता हूँ।

नाना : श्रीमंत ! कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि भगवान् अपनी इस क्रीड़ाभूमि भारत को क्या नष्ट करना करना चाहते हैं ? मात्र परिस्थितियों के योग से कभी-कभी देश की अपार क्षति हुई है। हमारे देश के लोग सहज ही महत्त्वाकांक्षी हो जाते हैं और कोई भी व्यक्ति उनके स्वार्थ में योग देकर पंक्ति में फूट डाल देता है। इस समय कम्पनी के कर्मचारियों का ध्येय भी हमारे बीच में फूट डाल देना है।

माधव : इस फूट से देश को बचाओ, नाना !

[हरिपंत का प्रवेश]

हरिपंत : श्रीमंत ! काका रघुनाथराव और काकी सेवा में उपस्थित हैं।

माधव : दोनों को सादर ले आओ !

हरिपंत : जो आज्ञा। **(प्रस्थान)**

नाना : श्रीमंत ! काकी आनन्दीबाई को ममता से जीतने का प्रयत्न करें और काका रघुनाथराव को राष्ट्रीय मनोभाव से।

माधव : जब तुम मेरे साथ हो, नाना ! तो मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। भगवान् गजानन इस समय हमारी रक्षा करें !

[काका रघुनाथराव और काकी आनन्दीबाई का हरिपंत के साथ प्रवेश]

माधव : काका और काकी मेरा प्रणाम स्वीकार करें।

नाना : सेवक को भी आशीर्वाद दें।

आनन्दी : आशीर्वाद तो भगवान् गजानन का चाहिए। हम लोग किसी भाँति भी योग्य नहीं हैं।

नाना : योग्यता कस्तूरी की भाँति होती है, काकी ! जिसकी सुगंधि अपने सम्पुट को पार कर दूर-दूर तक फैल जाती है, कोयले की भाँति नहीं जो स्वयं तो काला है और जो कोई उसे छूता है, वह भी काला हो जाता है।

काका : यह तो तुमने सिद्ध कर ही दिया, नाना ! कि मैं कोयला हूँ। स्वयं काला हूँ और छूने वाले को भी काला करता हूँ, फिर मुझे यहाँ क्यों लाया गया ?

माधव : काका ! आप स्वयं क्यों अपने प्रति इतनी हीन भावना रखते हैं ? आप तो कस्तूरी की भाँति इसीलिए हैं कि आप पेशवा वंश में उत्पन्न हुए हैं। नाना ने तो केवल योग्यता की परिभाषा कही है।

आनन्दी : तो इस परिभाषा के अनुसार योग्य तो वे हैं, श्रीमंत ! जो आपका साथ देते हैं, हम लोग कैसे योग्य होंगे···

माधव : क्योंकि आप हमारा साथ नहीं देतीं ? यह स्वयं अपने मुख से स्वीकार कर रही हो, काकी ! क्यों साथ नहीं देतीं ? देखो, मैं तुम्हारे पुत्र बाजीराव के समान ही हूँ, तुमने मुझे गोद में खिलाया है। मैंने जीवन का पाठ अपनी माता गोपिका बाई से नहीं, तुम्हीं से सीखा है। काकी ! तुमने अपना नाम मेरे जीवन में सार्थक किया है, मैं आनन्द से भर गया हूँ। फिर जब मेरा स्वास्थ्य दिनोदिन गिर रहा है, तब मुझे अपनी उपेक्षा का दंड क्यों दे रही हो ?

आनन्दी : माधवराव ! तुम श्रीमंत पेशवा ! नाना तुम्हारे मंत्री ! मुझमें इतनी सामर्थ्य है कि मैं तुम लोगों को दंड दूँगी ? जब पेशवाई मज़े में चल रही है तब हम लोगों की उपेक्षा का महत्त्व ही क्या है ?

माधव : है। और बहुत अधिक महत्त्व है, काकी ! जैसे किसी का विवाहोत्सव हो ! गीत और संगीत हो। वस्त्र और आभूषण हों, परिजन और पुरजन हों, प्रकाश और सजावट हो, किन्तु यदि मंडप में मंगल-कलश न हो तो इन सबका कोई महत्त्व नहीं। उत्सव अशुभ है। उसी प्रकार पेशवाई का डंका गूँजता हो किन्तु यदि मंगल कलश की भाँति तुम्हारी दृष्टि अनुकूल न हो तो, काकी ! मेरे लिए सब व्यर्थ है। काकी ! एक बार मुख से कहो कि तुम अनुकूल हो ! तुम्हारा माधव ! तुमसे प्रार्थना करता है कि गृह-कलह से समस्त महाराष्ट्र का नाश न हो। तुम मुझे दंड दो यदि मुझसे कोई भूल हो ! और यदि भूल न हो तो मुझे प्यार करो, काकी ! मैं तुम्हारा माधव हूँ।

आनन्दी : मैं तुम्हारी आत्मीयता से प्रसन्न हूँ, माधव ! किन्तु तुमने हमारी गतिविधि पर नियंत्रण क्यों लगा दिया ?

माधव : वह उत्तर काका ही दे सकते हैं। मैंने इनसे कहा—काका ! यह राज्य तुम्हारा है। तुम पेशवा बन जाओ। सारी सेनाओं का संचालन तुम करो। मैं केवल तुम्हारा सेवक-अनुचर-दास-भृत्य, जो समझो वही बनकर रहूँगा। वे पेशवा बनें। मैंने समझा, महाराष्ट्र का स्वर्ण-युग प्रारंभ हुआ किन्तु इन्होंने पेशवा होते ही राज्य के समस्त हितैषियों को पदच्युत किया। राज्य पर अत्याचार करने प्रारंभ किए। विदेशी कम्पनी के एजेंट मास्टिन से गुप्त संधि की। उन्हें महाराष्ट्र की भूमि दी, किले दिए। अव्यवस्था से जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। मैं क्या करता ? काकी ! मैंने जनता के हित के लिए इन्हें पराजित किया, राज्य हाथ में लिया, फिर भी इन्हें राज्य-द्रोह का दंड नहीं दिया, इन पर प्रतिबन्ध मात्र लगा दिया। बतलाओ, काकी ! इसमें मैंने कुछ अनुचित किया ?

आनन्दी : तुमसे कुछ अनुचित नहीं हुआ, माधवराव !

माधव : तो काकी ! तुम अब काका को समझा दो। अब भी ये राज्य के स्वामी हैं। मुझे अपना शिशु जानकर मेरे अपराधों को क्षमा करें। पेशवा न सही, ये राज्य के संरक्षक बनें। मैं आज इन्हें समस्त प्रतिबन्धों से मुक्ति देता हूँ। ये राज्य में जो चाहें करें···

नाना : मुझे क्षमा करें तो मैं इतना और निवेदन करूँगा कि ये राज्य में जो चाहें करें, विदेशियों से संधियाँ और अभिसंधियाँ न करें।

आनन्दी : तुम्हारे काका ! जो उचित समझें करें, मैं तो गृह-स्वामिनी हूँ, राज्य-स्वामिनी नहीं।

नाना : काकी ! यदि आप अनुकूल रहें तो काका आपसे आप अनुकूल हो जाएँगे। आप वसंत-श्री हैं, ये उपवन हैं। आप तरंग हैं, ये जल हैं। आप अर्थ हैं, ये शब्द हैं।

काका : तुम यह क्या कह रहे हो ?

आनन्दी : ठीक कह रहे हैं। इस सम्बन्ध में अधिक विवाद नहीं हो सकता। चिरंजीव माधव की बातें परिस्थितियों की दृष्टि से ठीक हैं।

माधव : मैं आपसे क्या कहूँ, काका ! अपने हृदय की समस्त बातें काकी से निवेदन कर चुका हूँ और इनका हृदय द्रवित भी हुआ है। यह संभव है कि मेरा कोई कार्य आपको कष्टकर हुआ हो। मैंने आपको युद्ध-क्षेत्र में हराया—आपको बन्दी बनाया—यह आपको अच्छा न लगा हो किन्तु यह कार्य माधवराव पेशवा ने किया—आपके भतीजे माधव ने नहीं। माधव तो सदैव आपका सेवक है। महाराष्ट्र के हित में आप भी वही करते जो मैंने किया है

रघुनाथ : श्रीमंत पेशवा ! यदि मैं यह कहूँ कि महाराष्ट्र के लिए मैंने जितने युद्ध किए—अपने प्राण संकट में डाले—उन सबका प्रतिदान क्या मुझे यही मिलना चाहिए कि

मैं बन्दी बनाया जाऊँ ?

माधव : काका ! आप मुझे क्षमा करें, यदि मैं कहूँ कि ये सब युद्ध आपने अपने अधिकार के लिए किए और यदि महाराष्ट्र के लिए किए तो आप इसका प्रतिदान क्या चाहते हैं ! पुत्र अपने पिता की सेवा करता है तो क्या इसलिए कि पिता उस सेवा का मूल्य धन-संपत्ति में चुकाए ? काका ! अनुचित अधिकार-लिप्सा देश की सेवा नहीं है। यदि सिंह शिकार करता है तो वह अपने लिए करता है, वन के अन्य प्राणियों के लिए नहीं।

रघुनाथ : किन्तु सिंह को बन्दी बनाने का अधिकार किसी को नहीं है।

माधव : यदि सिंह अपने अहंकार में कुएँ के भीतर छलाँग मार दे तो किसका दोष ! वह स्वयं अपने ऊपर विपत्ति को निमंत्रण देता है।

रघुनाथ : किन्तु महाराष्ट्र का दुर्भाग्य है कि यह विपत्ति परिजनों के द्वारा लाई जाती है। राज्य में राजनीतिज्ञ कहे जाने वाले व्यक्ति यह विपत्ति लाते हैं। पूछिए नाना फड़नवीस से। आय-व्यय के लेखक पेशवा के परामर्शदाता बन जाते हैं !

नाना : काका ! क्षमा करें यदि धृष्टता हो, फड़नवीस तो केवल परामर्शदाता बनते हैं किन्तु अनधिकारी व्यक्ति पेशवा-पद प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं !

रघुनाथ : मर्यादा में रहो, नाना ! मैं स्वयं पेशवा-वंश में हूँ। राष्ट्र के हित में पेशवाई योग्य व्यक्ति को मिलनी चाहिए।

नाना : इस योग्यता का निर्णय कौन करेगा ? आप स्वयं ? प्रजा इस योग्यता के निर्णय का अधिकार रखती है और प्रजा ने अपना निर्णय दे दिया कि काका रघुनाथराव पेशवा होने के योग्य नहीं हैं। मैं कह सकता हूँ कि यदि श्रीमती काकी आनन्दीबाई पेशवा होने की इच्छा करतीं तो वे हो सकती थीं। किन्तु वे स्त्री हैं। इसलिए उनके पेशवा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे पेशवा की पूज्या मात्र बनकर रहेंगी। क्यों काकी ! मेरा कहना यथार्थ है ?

आनन्दी : इसका उत्तर न दूँ तो अच्छा है।

रघुनाथ : यदि मैं इतना अयोग्य हूँ तो कंपनी के कर्मचारी मास्टिन के साथ मुझे रहना चाहिए। हैदर और निज़ाम की संगति करनी चाहिए। यह दुर्भाग्य है कि बाहर के शत्रु तक मेरी योग्यता मानते हैं और अपने ही राज्य में मैं अयोग्य हूँ।

नाना : बाहर के शत्रु तो हममें फूट डालने के लिए ऐसा कहेंगे ही। पशु-पक्षियों को डराने के लिए किसान अपने खेत में लकड़ी का मनुष्य खड़ा कर देते हैं। तो क्या वह सच्चा मनुष्य है ? और क्या मनुष्य की उसमें योग्यता है ? पशु-पक्षी उससे भले ही डर जाएँ, मनुष्य उससे नहीं डरते।

रघुनाथ : तो मैं लकड़ी का मनुष्य हूँ ! श्रीमंत पेशवा ! एक साधारण-सा परामर्शदाता श्रीमंत पेशवा के चाचा का अपमान करे ? यह आप सहन कर सकते हैं।

नाना : श्रीमंत प्रधान ! यदि मैंने अनुचित बात कही हो तो मुझे दंड दीजिए। जो पेशवा

से विद्रोह कर समस्त महाराष्ट्र में उनका अपमान कर सकते हैं, वे अपने को 'पेशवा का काका' कहने का कितना अधिकार रखते हैं ?

माधव : नाना ! वे चाहे अनुचित कार्य भी करें, उनसे अपनी और तुम्हारी ओर से क्षमा माँगनी होगी। (**रघुनाथराव से**)काका ! आपको तो क्षमा करना ही होगा क्योंकि आप मेरे स्वर्गीय पिता की भाँति हैं, जो मेरे अपराध सदैव ही क्षमा करते रहे हैं। मैंने उचित किया अथवा अनुचित किया, ईमानदारी से किया। मुझे जीवन में विचारों के प्रयोग का अवसर दीजिए। कहाँ तक अनुचित करूँगा ? एक दिन तो उचित करने की बुद्धि पाऊँगा ही। मेरी समस्त भूलें आपके सामने हैं, अपनी उदारता के पारस-मणि से मेरे कार्यों के लौह-खंडों को स्वर्ण में बदल दीजिए।

नाना : काका ! पेशवा होने में वह सुख नहीं है जो पेशवा के संरक्षक होने में है। महाराष्ट्र के वीरों को बिजली बन कर शत्रुओं पर गिरने दीजिए। आप उस बिजली को धारण करने वाले आकाश हों। बिजली भूमि पर गिरती है, आकाश कभी भूमि पर नहीं गिरता।

आनन्दी : किन्तु नाना ! आकाश शून्य है। क्या हम लोगों का अधिकार शून्य की सीमा पर होगा ?

नाना : काकी ! जहाँ शून्य है, वहाँ सब कुछ होने की संभावना है। जहाँ पर कुछ है, वहाँ अन्य बातों का निषेध हो जाता है। इसीलिए ब्रह्म भी शून्य कहा जाता है क्योंकि वह शून्य होते हुए भी सब कुछ है।

माधव : काका ! नाना वेदान्ती हैं। काकी ! तो आज महाराष्ट्र के नाम पर गृह-विरोध शान्त हुआ। जय गजानन !

[रामशास्त्री और नारायणराव का प्रवेश]

नारायण : श्रीमंत को प्रणाम !

रामशास्त्री : श्रीमंत का मंगल हो !

माधव : न्यायशास्त्री ! आज मेरा अन्तिम दायित्व पूरा हुआ। आपने जो मेरे प्रश्न का उत्तर भेजा था उसके अनुसार मेरे दायित्व की एक संख्या शेष बची थी। वह आज इस रूप में पूरी हुई कि काका रघुनाथराव आज हम सबके बीच में महाराष्ट्र के मान्य संरक्षक के रूप में यहाँ उपस्थित हैं।

रामशास्त्री : काका रघुनाथराव ने अपने संरक्षक होने का कोई प्रमाण दिया ?

आनन्दी : इसका प्रमाण यही है कि मैं इनके साथ हूँ।

रामशास्त्री : श्रीमती ! आप तो इनकी जीवन-संगिनी ही हैं। किन्तु साथ होने का अर्थ यह होना चाहिए कि जिस प्रकार सागर के साथ उसकी वेला हो ! सहस्रों सरिताओं का जल प्रतिक्षण सागर में भरता है किन्तु वेला सागर को मर्यादा में ही रखती है। नहीं तो सारी भूमि सागर में निमग्न हो जाती।

आनन्दी : मातृत्व की भाँति मेरा पत्नीत्व भी जागृत है, न्यायमूर्ति ।

नारायण : मातृत्व की बात तो मैं जानता हूँ, न्यायमूर्ति ! कि काकी मुझे अपने हाथ से न जाने कितनी भाँति के पकवान खिलाती रही हैं।

आनन्दी : स्नेह का महत्त्व आडम्बर में नहीं है, नारायण ! यह बात मैं अच्छी तरह समझती हूँ ।

माधव : काकी की वाणी विश्वास उत्पन्न करती है। काका ! एक प्रार्थना और करना चाहता हूँ। संभव है, मेरा स्वास्थ्य अब मेरा साथ न दे और मैं शीघ्र ही इस संसार से विदा लूँ। मेरे पश्चात् यही नारायण मेरा उत्तराधिकारी हो और पेशवा-वंश की परंपरा आगे चलाए ।

नाना : श्रीमंत ! आप अपने सम्बन्ध में इतने निराश न हों।

माधव : मैं निराश नहीं हूँ, नाना ! अपने कंधों पर रखे दायित्व को मैंने पूरा किया। इससे अधिक संतोष और मुझे क्या हो सकता है ? जैसे कोई सैनिक युद्ध में विजय प्राप्त कर सुख और संतोष से अपने घर लौटता है, उसी भाँति मैं भी पूरे संतोष के साथ भगवान् गजानन की सेवा में चला जाऊँगा। मेरे पश्चात् नारायण ही पेशवा हो, इतना आश्वासन मैं आप लोगों से पाना चाहता हूँ।

रामशास्त्री : जिस भाँति वर्षा के अनन्तर शरद ऋतु का आगमन होता है, उसी भाँति पेशवा-वंश की परंपरा चलेगी ।

नाना : श्रीमंत ! न्यायमूर्ति के न्याय में समस्त महाराष्ट्र का विश्वास है।

माधव : मैं सुखी हुआ। काका ! इस नारायण का हाथ अपने हाथों में लीजिए। (**नारायण का हाथ काका के हाथों में देते हैं**) मेरे पश्चात् यही नारायण पेशवा के आसन पर बैठे। अभी बालक है। संभव है, इससे अनेक भूलें हों। यह चाहे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ध्यान न रक्खे फिर भी आपके संरक्षण में इसकी विवेक-बुद्धि का अवश्य ही विकास होगा ।

रामशास्त्री : आप आश्वस्त हों, श्रीमंत !

रघुनाथ : ऐसी बातें न कहे, श्रीमंत ! आप अधिक दिनों तक महाराष्ट्र की सेवा करेंगे। जैसे आप हैं, उसी भाँति नारायण भी है। दोनों ही एक वृन्त के दो फूल हैं ।

नाना : और ये तभी सुरक्षित रहेंगे जब विद्रोह और फूट की आँधी न उठे। यदि यह आँधी न उठेगी तो महाराष्ट्र संसार में अमर रहेगा।

माधव : महाराष्ट्र अमर हो ! जब स्वयं काका और काकी नारायण का संरक्षण करेंगे तो उठने वाली आँधी भी वसन्त की मलय समीरण बन जाएगी। न्यायमूर्ति ! अब तो मेरा दायित्व पूर्ण हुआ ?

रामशास्त्री : श्रीमंत ! जिस प्रकार आशा अनन्त है, उसी भाँति दायित्व भी अनन्त है। जिस प्रकार जीवात्मा पूर्ण होकर भी अपूर्ण है, उसी प्रकार दायित्व की भावना पूर्ण होकर भी अपूर्ण है।

माधव : न्यायशास्त्री ! आपका न्याय सर्वोपरि है। प्रयत्न करूँगा कि काका और काकी की और भी अधिक सेवा करूँ।

आनन्दी : कपूर की सुगंधि को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

नाना : कपूर की अपेक्षा मलय की सुगंधि कहें, काकी !

माधव : काकी ने 'कपूर' शब्द उचित ही कहा क्योंकि प्रतिदिन मैं क्षीण होता जा रहा हूँ। किसी दिन वायु में लीन हो जाऊँगा ! आप लोगों के परस्पर प्रेम की सुगंधि मैं वायु के द्वारा दूर-दूर तक ले जा सकूँगा। नारायण ! तुम काका और काकी की सेवा करते हुए अनेक वर्षों तक प्रजा की सेवा करो, यही मेरी अभिलाषा है।

नारायण : आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, श्रीमंत !

रघुनाथ : श्रीमंत ! आप विश्वास रक्खें, मैं अपने कर्त्तव्य का पालन सदैव ही करता रहूँगा। आपकी काकी की सहज बुद्धि मेरी सहायता करती रहेगी।

काकी : सहज बुद्धि के साथ मार्गदर्शन भी।

माधव : यह मैं जानता हूँ। न्यायशास्त्री ! आपने भी पूज्य काका और काकी का आश्वासन सुना ?

रामशास्त्री : यह आश्वासन साध्य हो और अपने ही पक्ष में विलास करे जैसे शीतलता जल में निवास करती है !

माधव : नाना ! काका और काकी की सेवा तुम्हें भी करनी है।

नाना : श्रीमंत ! यदि काका और काकी की मानसिक शान्ति किसी घटना से भंग होगी तो मैं उनकी मानसिक शान्ति को व्यवस्थित कर उनकी सेवा करूँगा।

[नेपथ्य के पुन: कीर्तन होता सुनाई पड़ता है—

शरण आले याचे न पाहसी अवगुण
कृपा चें लक्षण तुज साज।
त्रिभुवनी समर्थ उदार मना चा
कृपालू दीना चा ब्रीद तुझे।
गजेन्द्र गणिके चीराखिली तुवा लाज
उद्धरिला द्विज अजामिला ।]

[कीर्तन धीरे-धीरे मन्द पड़ता है ।]

माधव : मेरे स्वास्थ्य की मंगल कामना के रूप में यह कीर्तन बार-बार किया जाता है। भगवान् गजानन शक्ति दें कि मैं अपनी आयु की अंतिम साँस तक महाराष्ट्र की सेवा कर सकूँ। मेरे साथ तुम सब 'भगवान् गजानन की जय' कहो।

समवेत स्वर : भगवान् गजानन की जय !

[नेपथ्य में फिर कीर्तन का स्वर उभरता है—

गजेन्द्र गणिकेची राखिली तुवा लाज, उद्धरिला द्विज अजामिला ।]

[धीरे-धीरे परदा गिरता है ।]

तृतीय अंक

नाना फड़नवीस

काल : 27 सितम्बर सन् 1773
स्थान : पुरन्दर स्थित नाना फड़नवीस का प्रासाद

[संध्या समय 5 बजे। वर्षाकालीन संध्या का सूर्य अधिक अरुण होकर इस प्रासाद की खिड़की से अपनी स्वर्ण रश्मियों का स्वप्न-जाल कक्ष में बिछा रह है जो समीपवर्ती पेड़ की पत्तियों के हिलने से एक क्षण में सिमिट कर फैल जाता है। खिड़की से दूर-दूर के वन-प्रान्त की शोभा दृष्टिगत होती है। कक्ष में हलके बैंगनी रंग के परदे पड़े हुए हैं। कक्ष में मयूराकृति कुर्सियाँ और तख्त मखमल से सजे हुए हैं, उन पर ज़री का काम भी किया गया है। स्थान-स्थान पर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र लगे हुए हैं। दीवाल के मध्य में पेशवा नारायणराव का चित्र है, जिसमें वे मखमली मसनद पर तकिए के सहारे बैठे हुए हैं। मराठी पगड़ी, माथे पर त्रिपुण्ड, कानों में बड़े कुण्डल, गले में मोतियों की माला। हाथ में एक फ़रमान। चित्र के दोनों ओर ढाल और तलवार सुन्दर आकृति में सजे हुए हैं।

बाहर जाने के लिए जो द्वार है, उस पर रेशमी परदा पड़ा हुआ है। खिड़की के नीचे से अंतरंग कक्ष में जाने का मार्ग है। खिड़की के पीछे बाहरी मार्ग पर दो सैनिक हैं जो पहरा देने के क्रम में बारी-बारी से दीख पड़ते हैं।

कक्ष में तख्त के ऊपर मृत नारायणराव पेशवा की पत्नी श्रीमती गंगाबाई अत्यन्त तन्मयता से चित्र बना रही हैं। वे कभी-कभी कक्ष में लगे हुए पेशवा नारायणराव के चित्र की ओर देख कर फिर चित्र बनाने लगती हैं। उनके मुख पर करुणा और उत्सुकता की विचित्र भाव-मुद्रा है। उनकी अवस्था लगभग 17 वर्ष की है। दूर से किसी भिखारी के कण्ठ से एक नाथ के अभंग का आलाप सुन पड़ता है।

एक क्षण बाद एक दूसरी स्त्री प्रवेश करती है। वह मृत सदाशिवराव की पत्नी है। अवस्था लगभग 26 वर्ष की होगी। उसके मुख पर दुःख का आवेग अपेक्षाकृत कम है। उसका नाम पार्वती बाई है। वह अभंग का आलाप सुनने की मुद्रा में खिड़की तक बढ़ती चली जाती है।]

पार्वती : (**खिड़की के बाहर देखते हुए**) संध्या के इस मनोरम समय में कितना मधुर आलाप है, गंगा ! पुरन्दर के इस दुर्ग में रहते हुए हमें कितने दिन बीत गए ! ऐसा संगीत नहीं सुना ! मालूम होता है जैसे किसी ने करुणा के धागे में आनन्द के फूल गूँथ दिए हैं !

गंगा : (**चित्र बनाते हुए**) ···के···धागे में···आनन्द के फूल !

[उनका गला भर आता है ।]

पार्वती : हाँ, गंगा ! महाराष्ट्र की भूमि ही ऐसी है। चाहे जितने काँटे बो दिए जाएँ, आनन्द के फूल कहीं न कहीं से निकल ही आते हैं ! (**समीप आते हुए**) अरे, तुम भी तो अपने चित्र में बहुत से फूल बना रही हो ! देखूँ, तुम्हारा चित्र ! अरे, तुम्हारी आँखों में आँसू !

गंगा : (**चित्र छिपाते हुए करुण स्वर से**) नहीं, पार्वती बाई ! मेरा चित्र मत देखो !

पार्वती : क्यों, ऐसी क्या बात है ?

गंगा : मुझे लज्जा लगती है।

पार्वती : लज्जा लगती है ? किस बात की लज्जा ! चित्र दिखलाने में लज्जा ? चित्रकार को यदि चित्र दिखलाने में लज्जा आए तो फिर वह चित्र बनाना ही छोड़ दे ! चित्रकार तो चाहता है कि अधिक से अधिक आँखें उसके चित्र की रूप-माधुरी का पान करें। उसकी सराहना करें !

गंगा : पर मैं अपना चित्र किसी को न दिखलाऊँगी।

पार्वती : श्रीमंत नाना फड़नवीस को भी नहीं ?

गंगा : नहीं, उन्हें भी नहीं।

पार्वती : तो फिर चित्र बना ही क्यों रही हो ?

गंगा : करुणा के धागे में कोई आनन्द का फूल गूँथ जाए, इसलिए।

पार्वती : तुमने तो मेरी ही बात दुहरा दी, गंगा !

गंगा : हाँ, ताई ! तुमने मेरे हृदय में उठने वाले क्रन्दन को वाणी दे दी ! रोते-रोते मेरी आँखों में आँसू नहीं रहे, ताई ! (**सिसकियाँ लेते हुए**) दुर्भाग्य ने मुझे कितना रुलाया है, तुम जानती हो ! मेरी सुहाग की रेखा रक्त में डूब गयी ! मेरा रोम-रोम रोता रहा है। फिर भी मैं मर नहीं सकी ! मैं कितनी अभागिनी हूँ ! (**सिसकियाँ**)

पार्वती : तुम्हारी सिसकियों की पुकार से पेशवा नारायणराव लौटकर तो नहीं आ जाएँगे ! आँसू न बहाओ, गंगा ! ये आँसू अब मुझसे देखे नहीं जाते ! काका राघोबा और आनन्दी बाई को मैंने कितना समझाया। क्या नहीं कहा ! लेकिन कुछ नहीं ! दुर्भाग्य की जो ज्वाला जलनी थी, जल कर ही रही !

गंगा : उसी ज्वाला में, मैं भी जलना चाहती थी, ताई ! उनकी हत्या के बाद मैंने आनन्दी बाई से कहा—मेरी हत्या भी कर दो, काकी ! मुझे क्यों आग में जलने के लिए छोड़ रही हो ? मेरे पति की हत्या के लिए आपको हत्यारे खोजने पड़े। मेरी हत्या आपके ही हाथों हो जाएगी ! पर उन्होंने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी !

पार्वती : पिशाचिनी भी कभी प्रार्थना सुनती है ! रक्त-पान करने वाली रक्त ही चाहती है, अमृत नहीं। किन्तु गंगा ! यही रक्त अग्निकुंड बनकर उनका नाश

करेगा। उस अग्नि-कुंड का नाम जानती हो ? (**एक-एक अक्षर पर जोर देकर**) श्रीमंत···नाना···फड़···फड़···नवीस।

गंगा : सचमुच कितने नीतिज्ञ और दूरदर्शी हैं, नाना। यदि वे न होते तो मैंने आत्म-हत्या कर ली होती !

पार्वती : उनके रहते कोई आत्म-हत्या नहीं कर सकता, गंगा ! पानीपत के युद्ध की बात तो पुरानी हो गयी किन्तु उसमें काम आने वाले तुम्हारे भाऊ कैलासवासी होकर भी न जाने कितनी बार मेरी आँखों के सामने आ जाते हैं ! कहते हैं—पार्वती ! पानीपत की हार को कौन जीत में बदल सकता है ? और तब ध्यानावस्थित होकर मैं कह देती हूँ—नाना फड़नवीस।

गंगा : मुझे भी विश्वास है कि वे पानीपत की हार का कलंक अवश्य ही दूर कर देंगे। अब तो वे आते ही होंगे। किसी आवश्यक कार्य से बाहर गए हैं। शीघ्र ही आने को कह गए थे। अपनी सहज बुद्धि से कैसे-कैसे कार्य कर लेते हैं वे !

पार्वती : यह तो मैं भी जानती हूँ। चित्र बनाने में तुम्हारी रुचि देखकर उन्होंने चित्र-निर्माण की सामग्री तुम्हारे लिए क्यों ला दी, इसका कारण तुम जानती हो ?

गंगा : नहीं जानती, ताई ! मैं तो यही समझती हूँ कि वे मुझे बहुत चाहते हैं।

पार्वती : नहीं, चित्र की सामग्री इसलिए ला दी है कि तुम चित्र बनाने में तन्मय रह कर अपना दुःख भूल सको।

गंगा : ओह ! यह बात है ! सचमुच चित्र खींचते समय मेरी कल्पना न जाने कहाँ-कहाँ चली जाती है। इसी चित्र ने न जाने कितनी देर से मुझे उलझा रक्खा है।

पार्वती : और यह चित्र तुमने मुझे दिखलाया भी नहीं।

गंगा : क्या करोगी यह चित्र देखकर ? मेरे हृदय की ज्वाला में कभी-कभी एक फूल झाँक उठता है—उसी का यह चित्र है। कल्पना ही तो है !

पार्वती : वह कौन-सा फूल है ?

गंगा : उसे देखकर तुम मेरी हँसी तो नहीं उड़ाओगी ?

पार्वती : हँसी ! हँसी उड़ाने की क्या बात है ? फूलों का चित्र देखकर कोई हँसी उड़ाता है ?

गंगा : वह जीवित फूल है, मेरी गोद में जल्द ही आएगा।

पार्वती : यह बात है ? (**मुस्कुरा कर**) ओ हो ! तो अब अपने आँसुओं को सुखा डालो, गंगा ! अब तो सुख के दिन आने को हैं। पेशवा नारायणराव की सजीव स्मृति लेकर तुम जीवन से संघर्ष ले सकती हो। नाना फड़नवीस इस बात को जानते हैं ?

गंगा : जानते हैं, इसीलिए तो वे मुझे तुम्हारे साथ पूना से यहाँ पुरन्दर के दुर्ग में ले आए हैं। नहीं तो राघोबा काका न जाने क्या षड्यंत्र करते !

पार्वती : वे तो षड्यंत्र करने में निपुण हैं। और गंगा ! मैं तुम्हें बतलाऊँ ? मैं भी यह बात जानती थी, यद्यपि तुमने इसे छिपाने के बहुत प्रयत्न किए। सच है, आँसुओं

की धारा में बहते हुए फल की ओर किसे ध्यान होता ? अच्छा देखूं, तुम्हारा चित्र !

गंगा : मुझे लज्जा लगती है। ऐसा लगता है जैसे मेरा शोक झूठा है, मेरे आँसुओं की धारा का प्रवाह उलटा बहने लगा है, मेरी विपत्ति विदूषक बन गयी है !

पार्वती : ऐसी बात नहीं है, गंगा ! एक फूल मुरझाता है, उसका स्थान दूसरा फूल ग्रहण कर लेता है। क्या पहले फूल के मुरझाने से दूसरे फूल की सुगंधि कम हो जानी चाहिए ? दूसरे फूल को तो अधिक उमंग के साथ खिलना चाहिए। देखूं, तुम्हारे होने वाले शिशु का चित्र ! (**चित्र हाथ में ले लेती है**) ओहो ! बिलकुल पेशवा नारायणराव की ही आकृति है !···गोरा गुलाबी, फूल-सा मुख···नई खिली हुई कलियों-सी आँखें ! कनेर के फूल की तरह कान ! अब मालूम हुआ कि तुम इस कक्ष में ही आकर क्यों चित्र खींचा करती थीं। इस कक्ष में पेशवा नारायणराव का यह चित्र लगा है न ! (**संकेत करती है।**)

गंगा : इनके दर्शनों से आँसू बहने लगते हैं पर हृदय को एक शान्ति मिलती है। जब मैं एकटक उनके चित्र की ओर देखती हूँ तो उनके ओंठ हिलते हुए ज्ञात होते हैं। वे होने वाले शिशु की बात मुस्कुरा कर कहने लगते हैं।

पार्वती : भगवान् करें, शीघ्र ही तुम माता बनो ! तुम्हारा शिशु फूलों की मुस्कान लेकर आवे।

गंगा : बहुत मत कहो, ताई ! कभी-कभी मुझे अपने आप से भय लगने लगता है। ऐसा दुर्भाग्य लेकर आयी हूँ कि अपने पति को तो खो ही चुकी हूँ, कहीं अपने शिशु··· (**गला भर आता है।**)

पार्वती : (**बीच में ही**) बड़ा प्रतापशाली होगा वह, गंगा ! तुम्हारे दुःख की कालिमा को दूर कर चन्द्र की भाँति उदित होगा !

गंगा : इसीलिए मैं अपनी कल्पना में डूबकर न जाने कैसे-कैसे चित्र बनाती रहती हूँ। यही चित्र कभी रुलाते हैं, कभी हँसाते हैं··· (**एक क्षण रुककर**) तुमसे एक प्रार्थना करूँ, ताई ?

पार्वती : मुझसे ? कौन सी-प्रार्थना ?

गंगा : मानोगी ? मान लोगी ? नहीं, मुझसे कहते नहीं बनेगा !

पार्वती : कहो न। मानूंगी तुम्हारी बात।

गंगा : मैं यही चाहती हूँ कि···कि··· (**रुक जाती है।**)

पार्वती : हाँ, हाँ, कहो न।

गंगा : कहते नहीं बनता···मैं यही चाहती हूँ कि आप भगवा···न् गजानन से प्रार्थना करें···भगवान गजानन से प्रार्थना करें कि···वह खिलने वाला फूल···पुत्र···पुत्र में खिले···पुत्र अर्थात् पुत्र हो ! (**अपने को सम्हालकर**) मैंने अनुचित बात तो नहीं कही ? ताई, मैं बहुत मूर्ख हूँ !

पार्वती : नहीं, गंगा ! इसमें मूर्खता की बात क्या ! यह तो माता की ममता है ! मैं भगवान गजानन से अवश्य प्रार्थना करूँगी कि तुम्हारा मातृत्व वीर पुत्र से ही धन्य बने। वीर छत्रपति शिवाजी की भाँति ही तुम्हारा पुत्र महाराष्ट्र-जननी की सेवा करे !

गंगा : तुम बहुत अच्छी हो, ताई ! तुम्हारी प्रार्थना भगवान् गजानन अवश्य सुनेंगे।

[बाहर तुरही का नाद]

पार्वती : देखो, भगवान् गजानन ने मेरी और तुम्हारी प्रार्थना सुन ली ! चलो, पूजा का समय हो गया। भगवान् गजानन के मन्दिर में जाने की सूचना हो गयी।

[परिचारिका का प्रवेश]

परिचारिका : स्वामिनी की जय हो ! पूजा का समय हो गया।

गंगा : ताई के साथ मैं आ रही हूँ। पूजा की सामग्री प्रस्तुत है, सौदामिनी ?

सौदामिनी : प्रस्तुत है, स्वामिनी ! सतारा से दो श्रीमंत आए हैं। वे अपने को आपका सम्बन्धी बतलाते हैं। आपसे भेंट करना चाहते हैं। मैंने उन्हें अंतरंग कक्ष में बिठला दिया है।

गंगा : श्रीमंत नाना जी आए ?

सौदामिनी : अभी नहीं आए।

गंगा : नहीं आए ?

सौदामिनी : सतारा के श्रीमंतों से क्या कहूँ ?

गंगा : उन लोगों को इस बाहरी कक्ष में आने को कह दो। हम लोग जा रहे हैं। मैं पूजा के बाद ही उनसे भेंट कर सकूँगी। श्रीमंत नाना को इस बात की सूचना होनी चाहिए।

सौदामिनी : जैसी आज्ञा।

गंगा : ताई ! ये सतारा के श्रीमंत कौन होंगे ? किसलिए भेंट करना चाहते हैं ?

पार्वती : सतारा में तो तुम्हारे कुछ सम्बन्धी भी हैं। शायद उन्हीं में से कोई हो।

गंगा : हो सकते हैं। भेंट करने में कोई आपत्ति तो नहीं है ?

पार्वती : आपत्ति क्या हो सकती है, पर पहले पूजा-भवन में चलें।

गंगा : अच्छा। चलो, ताई ! (**दोनों का प्रस्थान**)

[कुछ देर तक शान्ति रहती है। फिर भीतर के द्वार से एक व्यक्ति सशंकित दृष्टि से देखते हुए धीरे-धीरे प्रवेश करता है। उसके हाथ में एक काष्ठ-पेटिका है। दो-तीन कदम चल कर वह फिर चारों ओर देखता है और फिर नेपथ्य से दूसरे व्यक्ति को पुकारता है—]

पहला : आ जाओ, मामा ! कोई नहीं है।

[पहला व्यक्ति बढ़ता है, उसके पीछे दूसरा व्यक्ति भी प्रवेश करता है। वह अपेक्षाकृत वृद्ध है।]

पहला : गजानन की पूजा—सौदामिनी ने कहा कि गंगा बाई पूजा के लिए गयी हैं। (**व्यंग्य की मुस्कान**) गजानन की पूजा के लिए !

दूसरा : महादेव ! सुनते हैं, आजकल गंगा बाई चित्र बहुत बनाती हैं और उसके बाद पार्वती के साथ गजानन की पूजा करती हैं।

पहला : इस पूजा का क्या फल होगा, मामा ! जब मैं महादेव होकर मारा-मारा फिर रहा हूँ। आज से मैं अपना नाम बदल दूँगा, मामा !

मामा : बदलो या न बदलो, यह तुम्हारी इच्छा। पर पहले देख लो, आसपास कोई है तो नहीं ?

महादेव : अभी देख लेता हूँ। (**दोनों ओर दबे पाँव देखता है**) कोई नहीं है, जब नाना यहाँ नहीं होते तो कोई नहीं होता।

मामा : अच्छा, यह बतलाओ, वह तुम्हारी काष्ठ-पेटिका कहाँ है ? सतारा में तो नहीं भूल आए ?

महादेव : अरे, उसे कैसे भूल सकता हूँ, मामा ! उसी में तो मेरा दिमाग़ रखा है। आजकल मेरे दो दिमाग़ हैं। एक कंधे के नीचे, एक कंधे के ऊपर। यह काष्ठ-पेटिका। मेरा असली दिमाग़ तो इसी काष्ठ-पेटिका में है।

मामा : मेरा ख्याल तो है कि तुम्हारे दो दिमाग़ों में से एक भी काम न आएगा। तुम्हारा यह दाँव भी खाली गया, महादेव !

महादेव : दाँव खाली नहीं जा सकता, मामा ! गंगा बाई हमें मिली नहीं कि हमने उन्हें यह पेटिका पकड़ाई और बस, काम तमाम !

मामा : काम तमाम ! इतने ज़हरीले कपड़े हैं ये ?

महादेव : राघोबा काका ने दिए हैं। आनन्दी काकी ने इन कपड़ों को ज़हर में डुबाया है। आनन्दी काकी कच्चा खेल कभी नहीं खेलतीं मामा !

मामा : धीरे बोलो, महादेव ! धीरे बोलो। यह नाना फड़नवीस का मकान है। यहाँ दीवारों के भी कान होंगे।

महादेव : अरे, इस बाहरी कक्ष में कोई नहीं आता। बाहर संतरी पहरा दे रहा है। यहाँ कौन आवेगा ?

[सौदामिनी का प्रवेश]

सौदामिनी : मैं आ सकती हूँ ? श्रीमती गंगा बाई ने कहलाया है कि यदि उन्हें पूजन में कुछ देर लग जाए तो आप क्षमा कीजिएगा। आप यहीं विश्राम करें। वे पूजन के बाद ही आपके कपड़ों की भेंट स्वीकार करेंगी।

महादेव : (**हर्षातिरेक में गद्‌गद कंठ से**) धन्यवाद ! धन्यवाद ! सौदामिनी जी !

हम लोग किस योग्य हैं कि श्रीमती गंगाबाई जी को कुछ भेंट कर सकें ? लेकिन सुना है कि वे जल्दी ही माता बनने वाली हैं, तो सतारा से उनके कुछ सम्बन्धियों ने उन्हें अच्छे-अच्छे रेशमी वस्त्र भिजवाए हैं। वे पूजन के पहले उन्हें धारण करतीं तो अच्छा होता, सौदामिनी जी !

सौदामिनी : इस समय तो वे पूजन-गृह में हैं—आ नहीं सकेंगी।

मामा : कोई बात नहीं, कोई बात नहीं। इन वस्त्रों को धारण कर पूजन तो दुबारा भी हो सकता है।

महादेव : हम लोग भेंट देकर ही जाएँगे। उनसे कह दीजिए कि हम लोग इसी बाहरी कक्ष में उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सौदामिनी : बहुत अच्छा। यही मैं उनसे कह दूँगी (**प्रस्थान**)

महादेव : देखा मामा ! कैसी बातें करता हूँ मैं ! बड़ी-बड़ी राजनीति एक तरफ़ और मेरे छोटे से नाटक का लटका दूसरी तरफ़। जानते हो, नाना फड़नवीस क्या सोचते हैं ?

मामा : क्या सोचते हैं ?

महादेव : मामा ! तुम पूरे सुदामा हो ! अरे, यह बात सारे सतारा और पुरन्दर के लोग जानते हैं और तुम नहीं जानते ? नाना फड़नवीस सोचते हैं कि जैसे ही गंगाबाई के लड़का हुआ कि वह नारायणराव पेशवा के बाद नया पेशवा हुआ।

मामा : और अगर गंगाबाई के लड़की हुई तो ?

महादेव : उसका भी प्रबंध नाना ने किया है। इस समय पुरन्दर के किले में छः गर्भवती ब्राह्मणियाँ हैं। जिस किसी के पुत्र होगा, उसी को गंगाबाई का पुत्र कहकर पेशवा घोषित किया जाएगा।

मामा : यह बात है ! आर्य ! तुम तो पूरे राजकाजी हो। तो बेचारे राघोबा काका की पेशवा होने की सब आशाएँ धूल में मिल जाएँगी ?

महादेव : आनन्दी काकी के रहते कभी आशाएँ धूल में मिल सकती हैं, मामा ? इसी-लिए तो यह कपड़े की पोटली है। न गंगाबाई जीवित रहेंगी, न नया पेशवा होगा। समझे मामा ! और फिर आत्म-रक्षा के लिए यह कटार !

[कटार निकालता है।]

मामा : यह तो राघोबा काका की कटार है।

महादेव : उन्होंने ही मुझे दी। कहा—समय पड़ने पर इसे उपयोग में लाना। देखो, कितनी तेज़ धार है ! बिलकुल आनन्दी काकी की ज़बान है !

[बाहर आहट होती है।]

मामा : देखो ! कोई आ रहा है। अपनी कटार सम्हालो।

महादेव : (**जल्दी में पैर के नीचे डाल कर**) यह रही पैर के नीचे ।

[एक सैनिक का प्रवेश]

सैनिक : जय हो !

महादेव : क्या बात है ?

सैनिक : श्रीमती गंगाबाई की सेवा में निवेदन है ।

महादेव : गंगाबाई यहाँ नहीं हैं । क्या निवेदन है ?

सैनिक : पेशवाई के लिए विद्रोह करने वाले रघुनाथराव जी राघोबा बन्दी हो गए हैं । नाना जी उन्हें साथ ला रहे हैं ।

महादेव : क्या, राघोबा काका बन्दी हो गए ?

मामा : बन्दी हो गए ?

सैनिक : श्रीमती गंगाबाई को यह सूचना देने की मुझे आज्ञा है ।

महादेव : अच्छा, मैं···मैं···श्रीमती गंगाबाई···को यह सूचना···यह सूचना दे दूँगा ।

सैनिक : जय हो ! (**प्रस्थान**)

महादेव : (**क्रन्दन स्वर में**) मामा !

मामा : महादेव !

महादेव : यह क्या हो गया ?

मामा : यह दाँव भी खाली गया !

महादेव : जिन राघोबा काका के बल पर हम लोग राजनीति खेलने आए थे, वे ही बंदी हो गए ! अब क्या होगा ?

मामा : घबराओ मत, महादेव ! आनन्दी काकी तो बन्दी नहीं हुईं ? वे राघोबा काका को छुड़ाने की चाल अँगरेजी टोपी वालों से मिलकर जरूर निकाल लेंगी ।

महादेव : पर नाना तो अँगरेजी टोपी वालों की सब चालें जानते हैं ।

मामा : आनन्दी काकी की चाल तो नहीं जानते ।

महादेव : अरे, जो ब्रह्मा भी नहीं जानते, वह नाना जानता है । हाय ! अब क्या होगा !

[बाहर कोलाहल होता है ।]

मामा : देखो खिड़की से । यह कैसा कोलाहल है ?

महादेव : देखता हूँ । (**खिड़की के समीप जाकर**) आगे बहुत से सैनिक चल रहे हैं । बीच में राघोबा काका मुँह लटकाए जा रहे हैं । लोहे की साँकलों से उनके हाथ बँधे हैं ।

मामा : लोहे की साँकलों से ।

महादेव : हाँ, लोहे की साँकलें चलने से शब्द कर रही हैं । पीछे भी बहुत से सैनिक हैं । उनके पीछे घोड़े पर नाना फड़नवीस हैं । लोग उनका जय-जयकार करते हुए

चलते हैं ।

मामा : नाना फड़नवीस ने सतारा और पुरन्दर के लोगों का संगठन कर लिया है। उन्हीं की सहायता से शायद राघोबा काका को पकड़ा होगा। सखाराम बापू, त्रियम्बकराव और हरिपंत फड़के की गुप्त सभा इसीलिए हुई थी ।

महादेव : (**घबराकर**) तो अब क्या होगा, मामा !

मामा : घबराओ मत, घबराओ मत, महादेव ! राघोबा खुद एक अच्छे योद्धा हैं। वे अपनी रक्षा की युक्ति सोच निकालेंगे ।

महादेव : नहीं, मामा ! अब हम लोग भी बन्दी हुए। अब हम बचने के नहीं।

मामा : महादेव ! तुम तो अपने को राजनीति का आचार्य समझते थे। यह बात मालूम भी कैसे होगी कि हम राघोबा काका के षड्यंत्र में सम्मिलित हैं। हम लोग तो गंगाबाई के संबंधियों की ओर से वस्त्रों की भेंट लाए हैं ।

महादेव : हाँ, यही बात है, यही बात है। मैं झूठ-मूठ घबरा गया था । तुम इसे सच मान गए ? अरे, मैं तो नाटक कर रहा था।

मामा : नाटक ही सही। लेकिन अब सोचो कि नाना फड़नवीस के आने पर हमें क्या करना चाहिए ।

महादेव : तुम मत घबराना, मैं भी नहीं घबराऊँगा जिससे उन्हें सन्देह न हो । खूब हँस-हँसकर बातें करेंगे, मामा !

मामा : हमें तो बस, राघोबा काका के लिए पेशवाई चाहिए । चाहे अभी मिले, चाहे बाद में ।

महादेव : वह तो होगा ही। (**बाहर का कोलाहल भिन्न-भिन्न स्वरों में पास आता सुनाई पड़ता है**—"कहो काका राघोबा, पेशवाई चाहते थे ?" "जल्दी-जल्दी चलो काका।" "अभी बन्दीखाना दूर है।" "नाना फड़नवीस की जय", "अरे भाई कभी-कभी काका की भी जय बोल दो", "नाना फड़नवीस की जय।")

मामा : नाना फड़नवीस की जय पास ही सुन पड़ती है। वे आने वाले ही हैं।

महादेव : हम लोग अंतरंग कक्ष में चले चलें। हम लोग श्रीमंतों की तरह अपने आने की सूचना देंगे । यहाँ बैठे रहेंगे तो हमारी उतनी इज्जत नहीं होगी।

मामा : तुमने अच्छा सोचा। अच्छा, चलो हम लोग जल्दी ही चलें। (**दोनों का भीतरी द्वार से प्रवेश**)

[एक क्षण बाद नाना फड़नवीस बाहरी द्वार से आते हैं। वे दुबले-पतले शरीर के हैं। पर गंभीर—अपने शब्दों को तौल कर बोलते हैं । उनकी चाल ऐसी है जैसे एक सिंह अपनी गिरिगुहा में लौटता है।]

नाना : (**पेशवा नारायणराव के चित्र को देखकर**) कैलासवासी पेशवा नारायणराव ! नाना फड़नवीस तुम्हें प्रणाम करता है। तुम्हारी हत्या की गयी ! आज उस हत्या

का प्रतिशोध महाराष्ट्र की जनता ने लिया। कैलास में तुम सुखी हो ! (**पुकार कर**) सौदामिनी !

[सौदामिनी नेपथ्य से : श्रीमंत !]

नाना : इस समय तो श्रीमती गंगाबाई पूजन-गृह में होंगी ?

सौदामिनी : हाँ, श्रीमंत !

नाना : उनकी पूजा कब तक समाप्त होगी ?

सौदामिनी : आरती हो चुकी है।

नाना : आरती के बाद यहाँ आने का कष्ट करें।

सौदामिनी : जैसी आज्ञा, श्रीमंत ! (**जाना चाहती है।**)

नाना : सुनो।

सौदामिनी : (**लौटकर**) आज्ञा, श्रीमंत !

नाना : जब उनके आने की आवश्यकता होगी, मैं सूचित करूँगा। जाओ।

सौदामिनी : जैसी आज्ञा, श्रीमंत !

नाना : थक गया हूँ। विश्राम करूँगा।

[कुर्सी पर लेटते हुए उनकी दृष्टि फर्श पर पड़ी हुई कटार पर पड़ती है।]

नाना : (**उठाते हुए**) यह कटार !···किसकी कटार है···? यहाँ कैसे···? (**उठा कर देखते हैं**) इस कटार पर किसी का नाम भी खोदा गया है। (**पढ़ते हुए**) पेशवा ···रघुनाथराव···राघोबा···राघोबा ? यह राघोबा की कटार है ?···यहाँ कैसे···राघोबा तो अभी नियंत्रण में लाए गए हैं। फिर उनकी कटार यहाँ कैसे हो सकती है ? कोई षड्यंत्र रचा जा रहा है ! (**पुकार कर**) सौदामिनी !

[**सौदामिनी** नेपथ्य से : श्रीमंत !]

नाना : राघोबा की कटार···

सौदामिनी : (**प्रवेश कर**) आज्ञा श्रीमंत···

नाना : इस कटार को तुम पहिचानती हो ?

सौदामिनी : (**देखकर**) नहीं, श्रीमंत !

नाना : यह इस कक्ष में कैसे आई ?

सौदामिनी : मैं नहीं जानती, श्रीमन्त !

नाना : यह कटार काका राघोबा की है।

सौदामिनी : काका राघोबा की ? रहस्यपूर्ण है।

नाना : यह तुम्हारी सम्पत्ति तो नहीं है ?

सौदामिनी : नहीं श्रीमन्त ! आपके द्वारा दिए गए शस्त्र पर्याप्त हैं। उनके रहते अन्य

शस्त्रों की आवश्यकता नहीं है।

नाना : तुम काँप रही हो ? यह किसी षड्यन्त्र की भूमिका ज्ञात होती है। मेरे आने के पूर्व इस कक्ष में कोई था ?

सौदामिनी : हाँ, श्रीमन्त ! श्रीमती गंगाबाई के दो सम्बन्धी हैं। वे श्रीमती गंगाबाई से भेंट करने सतारा से आए हैं। कुछ भेंट भी लाए हैं। वही इस कक्ष में बैठे थे।

नाना : श्रीमती गंगाबाई से उनकी भेंट हुई ?

सौदामिनी : नहीं, श्रीमन्त ! श्रीमती पूजन के लिए चली गई थीं।

नाना : इस समय वे सम्बन्धी कहाँ हैं ?

सौदामिनी : अन्तरंग कक्ष में श्रीमती की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

नाना : उन्हें इस स्थान पर भेजो।

सौदामिनी : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

नाना : (**सोचते हुए**) श्रीमती गंगाबाई के सम्बन्धी···! सतारा···से···क्या भेंट लाए हैं ? भेंट के लिए···मेरी अनुपस्थिति···का···समय ही···क्यों चुना···गया···?

सौदामिनी : सतारा के श्रीमन्त उपस्थित हैं।

नाना : आने दो।

[महादेव और उसके मामा का प्रवेश]

महादेव : श्रीमन्त नाना की जय ! सतारा से महादेव प्रणाम करता है।

मामा : महादेव का मामा भी प्रणाम करता है।

नाना : भूमि से अपना सिर उठाओ, महादेव ! जिससे मैं तुम्हारा मुख देख सकूँ। और महादेव के मामा ! तुम्हारा नाम क्या है ?

मामा : नाम···मेरा नाम···सब लोग मुझे मामा ही कहते हैं।

नाना : मामा···किसलिए आप लोगों ने कष्ट किया ?

महादेव : श्रीमन्त का यश चारों ओर फैला हुआ है। जैसे···जैसे···खेत में हरियाली फैली होती है···नहीं, ठीक नहीं कह सका···जैसे तलवार की धार फैली रहती है···नहीं श्रीमन्त !···मैं ठीक तरह से नहीं कह सकता। (**मामा से**) मामा ! तुम बोलो।

मामा : श्रीमन्त ! आपके यश को सुनकर हम लोग यहाँ आए, जैसे सूरज को देखकर किरणें आ जाती हैं।

नाना : जैसे सूरज को देखकर किरणें···आप लोग सतारा से आए हैं।

महादेव : हाँ, श्रीमन्त ! सतारा से। वहाँ हम सबने आपके दर्शन किए थे। आपके दर्शन ! आप कितने सुन्दर हैं ! (**मामा से**) मामा ! तुम बोलो।

मामा : श्रीमन्त ! सतारा से हम लोग आपके लिए वस्त्र लाए हैं।

नाना : मेरे लिए ? वस्त्र ? क्यों ? मैंने सुना कि आप लोग श्रीमती गंगाबाई से भेंट

करने आए हैं।

मामा : हाँ श्रीमन्त ! श्रीमती गंगाबाई से भेंट करने आए थे, बिना भेंट किए ही चले जावेंगे। देर हो रही है।

नाना : देर ? भेंट के लिए आए और बिना भेंट के ही चले जाएँगे ?

महादेव : नहीं, श्रीमन्त ! मामा आपके सामने ठीक बातें कह नहीं पाते। हम लोग श्रीमती गंगाबाई के लिए वस्त्र लाए थे।

नाना : वस्त्र, कैसे वस्त्र ?

महादेव : सतारा में उनके बहुत से सम्बन्धी हैं, उन्होंने सुना कि गंगाबाई शीघ्र ही माता होने वाली हैं, इस अवसर पर प्राचीन रीति के अनुसार उनके सम्बन्धियों ने उनके लिए रेशमी वस्त्र भेजे हैं।

नाना : उनके सम्बन्धियों के प्रति हम लोग कृतज्ञ हैं। कहाँ हैं वे वस्त्र ?

महादेव : चन्दन की इस पेटिका में हैं।

नाना : मैं इन वस्त्रों को देखना चाहूँगा।

महादेव : वे इस पेटिका में ही हैं।

नाना : राज्य-शिष्टाचार के अनुसार तो वस्त्र चाँदी के थालों में सजाकर प्रस्तुत किए जाते हैं।

महादेव : हमें चाँदी के थालों में सजाने की आज्ञा नहीं है।

नाना : किसकी आज्ञा नहीं है ? **(पुकार कर)** सौदामिनी !

[सौदामिनी नेपथ्य से : श्रीमन्त !]

महादेव : नहीं, श्रीमन्त ! सौदामिनी देवी को क्यों कष्ट देते हैं ? इस चन्दन की पेटी में ही वस्त्र रहेंगे।

[सौदामिनी का प्रवेश]

सौदामिनी : श्रीमन्त !

नाना : चाँदी का एक थाल शीघ्र लाया जाए।

सौदामिनी : जो आज्ञा। **(प्रस्थान)**

महादेव : तब तो हम बिना वस्त्र दिए ही चले जावेंगे।

नाना : आपके वाक्य संदेह उत्पन्न करते हैं। आप हमारे अतिथि हैं। हमारे यहाँ सम्मान सहित विश्रांम कीजिए। दो-एक दिन हमारे यहाँ रहकर भेंट लेकर जाइए।

मामा : श्रीमंत ! हमें शीघ्र ही जाने की आज्ञा दीजिए।

नाना : ऐसा संभव नहीं हो सकेगा। आप हमारा आतिथ्य ग्रहण किए बिना यहाँ से नहीं जा सकेंगे।

[सौदामिनी का चाँदी का थाल लिए हुए प्रवेश]

सौदामिनी : यह चाँदी का थाल प्रस्तुत है ।

नाना : इस चाँदी के थाल में ये वस्त्र सजाइए।

महादेव : ये राजसी वस्त्र हैं, श्रीमन्त ! हम लोग इनका स्पर्श नहीं कर सकते।

नाना : स्पर्श नहीं कर सकते ? अच्छी बात है। इन्हें इस पेटी में ही रहने दीजिए। एक बात और जानना चाहता हूँ। इन वस्त्रों के साथ कोई कटार भी भेजी गई है ?

मामा : कटार ? नहीं, श्रीमन्त ! कोई कटार नहीं भेजी गई ।

महादेव : (**धीरे से**) मेरी कटार कहाँ है ?

नाना : यह है। यह कटार इसी कक्ष में आप लोग छोड़ गए थे।

महादेव : जी हाँ, यह मेरी कटार है। मैं इसे देख रहा था । उसकी यहाँ आवश्यकता नहीं थी, इसलिए मैंने उसे पैर के नीचे ही दबा दिया था। जल्दी में उठाना भूल गया।

नाना : काका राघोबा आप पर बहुत प्रसन्न हैं।

महादेव : नहीं-नहीं, श्रीमन्त ! हम लोग तो आपके पक्ष के हैं, काका राघोबा से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ।

नाना : आपका कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी वे अपनी कटार आपको रखने के लिए देते हैं ।

महादेव : नहीं, यह तो मेरी अपनी कटार है।

नाना : इस कटार पर लिखा हुआ है—रघुनाथराव राघोबा।

महादेव : हम लोग पढ़ना नहीं जानते, श्रीमन्त !

नाना : इसीलिए आप इसे अपनी कटार कहते हैं। यह कटार काका राघोबा की है। (**ज़ोर से**) बोलिए, यह कटार काका राघोबा की है।

महादेव : (**घबरा कर**) हाँ, श्रीमन्त।

नाना : यह उन्होंने आपको किसलिए दी ?

मामा : हमारे गाँव में गन्ने की खेती बहुत होती है तो···तो···ग···ग···गन्ना छील कर खाने के लिए, श्रीमन्त ! हमें कटार दी गई ।

महादेव : (**मामा से**) मामा ! तुम चुप रहो (**नाना से**) श्रीमंत ! मामा मूर्ख है। उसे उत्तर देना नहीं आता । श्रीमंत ! काका राघोबा एक बार सतारा आए थे। मैं उस समय बहुत दुःखी था । आत्महत्या करना चाहता था। उन्होंने आत्महत्या करने के लिए मुझे यह कटार दी थी।

नाना : फिर आपने आत्महत्या नहीं की ।

महादेव : जी···मैंने आत्महत्या नहीं की।

नाना : आप लोग काका राघोबा के षड्यंत्र में हैं ?

महादेव : नहीं, श्रीमंत ! हम लोग किसी षड्यन्त्र में नहीं।

नाना : (**पुकार कर**) सैनिक !

ामा : मैं तो बिलकुल ही निरपराध हूँ, श्रीमन्त ! मेरे पास कोई कटार नहीं है।

ाना : काका राघोबा के सामने ही इसका निर्णय होगा।

[सैनिक का प्रवेश]

ानिक : श्रीमंत की जय !

ाना : इन दोनों 'वार' भाइयों को नियन्त्रण में ले लो। और काका राघोबा को यहाँ लाओ।

ानिक : जैसी आज्ञा !

हादेव : मामा ! मैं कहता था कि हम लोग गए।

ाना : अच्छा होता कि जब राघोबा काका ने तुम्हें कटार दी थी, तभी आत्महत्या कर लेते।

हादेव : (**करुण स्वर में**) आत्महत्या तो हो ही रही है, मामा ! (**नाना से**) श्रीमन्त, यह कपड़ों की पेटी अपने नियंत्रण में ले जाऊँ ?

ाना : नहीं, यह यहीं रहेगी। सैनिक ! इन्हें ले जाओ। इन्हें बाहर ही रखना। अभी इनकी आवश्यकता होगी।

ैनिक : जो आज्ञा। (**दोनों से**) चलिए, वार भाई !

ामा : (**जाते-जाते**) श्रीमन्त नाना की जय बोलो ! महादेव !

हादेव : मुझसे बोला नहीं जाता। मेरा गला ही बैठ गया है, मामा !

[सैनिक के साथ दोनों का प्रस्थान। पीछे से सौदामिनी का भी प्रस्थान]

ाना : सतारा से कपड़ों की भेंट—चन्दन की पेटी में और वे थाल में सजाए नहीं जा सकते। छुए नहीं जा सकते ! (**चित्र की ओर देखकर**) पेशवा नारायणराव ! यह देखा ? चित्र में से देख सकते हो राघोबा का यह षड्यंत्र ? तुम्हारी हत्या के बाद श्रीमती गंगाबाई की हत्या का षड्यंत्र ! उनके लिए विष में बुझे हुए वस्त्रों की भेंट ! धारण करते ही उनकी मृत्यु हो जाए ! अन्यथा काका राघोबा की कटार का उपयोग। ब्रह्मघाती काका राघोबा ! तुम्हें नर्क में भी स्थान नहीं मिलेगा। अच्छा ही हुआ कि खम्बात भागने के पहले ही तुम बन्दी कर लिए गए ! नहीं तो कम्पनी के वकील मास्टिन और गोविन्दराव गायकवाड़ से संधि कर तुम अपने को पूरा पेशवा समझ लेते। पेशवा···रघुनाथराव ! हत्यारा ! देश-द्रोही···!

ैनिक : नाना की जय ! काका रघुनाथराव द्वार पर हैं।

ाना : उन्हें भीतर लाओ। हरिपन्त फड़के साथ हैं ?

ैनिक : हाँ, श्रीमन्त !

ाना : दोनों ही भीतर आएँ।

ैनिक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

नाना : राजसत्ता का मोह ! पेशवा बनने का स्वप्न ! यह सब क्या इतना भयानक है कि काका अपने भतीजे की हत्या करे ?···विदेशी कम्पनी से संधि कर देश के प्रति विद्रोह किया जाए ! विद्रोह···भयानक विद्रोह···!

[हरिपन्त फड़के के साथ राघोबा का प्रवेश। राघोबा बन्दी वेश में हैं।]

हरिपन्त : श्रीमंत नाना की जय !

नाना : स्वागत, हरिपन्त ! काका राघोबा को कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?

हरिपन्त : नाना ! श्रीमंत भोंसले से युद्ध में पराजित होकर जब राघोबा भागकर जंगलों में भटक रहे थे, तब मैंने उन्हें शीतल जल देकर उनकी प्यास बुझाई थी।

नाना : जिस व्यक्ति की प्यास रक्त से नहीं बुझी, उसकी प्यास शीतल जल से कैसे बुझ सकती है, हरिपन्त !

राघोबा : नाना ! मैं पेशवा का काका हूँ। तुम्हारे व्यंग्य के शब्द मेरे लिए अपमानजनक हैं। पेशवा का काका सम्मान में पेशवा से भी महान् है !

नाना : पेशवा का काका ! ···सचमुच अगर पेशवा का काका अपने सम्मान की मर्यादा समझता ! यदि पेशवा नारायणराव की हत्या के बाद पेशवा का काका स्वयं पेशवा बनना चाहता था तो उसका सम्मान इसी में था कि वह महाराष्ट्र की शक्ति के बल पर ही पेशवा बनता ! राज्य के प्रमुख सरदारों की सहायता और जनता की सहानुभूति से ही पेशवा बनता ! पेशवा बनने का यह मार्ग नहीं था कि विदेशी कम्पनी के वकील मास्टिन के चरणों पर पेशवा का काका अपना मस्तक झुकाता ! आज पेशवा के काका से समस्त महाराष्ट्र और समस्त देश का अपमान हुआ है।

राघोबा : यह स्मरण रक्खो, नाना ! कि तुम केवल फड़नवीस हो, राज्य के आय-व्यय के लेखक हो। राज्यवंश के अधिकारी से इस तरह बात नहीं कर सकते। नारायणराव के बाद मैं ही पेशवा-पद का अधिकारी हूँ।

हरिपन्त : काका ! अधिकारी तो आप उसी समय से अपने को मानने लगे थे जब से मेरे स्वामी माधवराव पेशवा की मृत्यु हुई थी।

राघोबा : चुप रहो, हरिपन्त ! माधवराव का साधारण-सा कारकुन, यदि अच्छा सैनिक होकर छोटी-सी लड़ाई जीत ले, तो वह मुझसे बात करने का अधिकारी नहीं हो सकता। तुम्हें मेरी आलोचना करने का क्या अधिकार है ?

नाना : पूरा अधिकार है, काका ! प्रजा का सामान्य व्यक्ति भी राजा की आलोचना करने का अधिकार रखता है। हिन्दू पद-पादशाही जनता की मंगल-कामना से ही स्थिर है।

हरिपन्त : कैलाशवासी माधवराव ने भी काका से यही कहा था।

नाना : अट्ठाईस वर्ष की छोटी-सी आयु में ही माधवराव की मृत्यु हुई !

हरिपन्त : मृत्यु नहीं हुई, नाना ! उनकी भी हत्या की गई !

राघोबा : हरिपन्त ! नीच ! नारकी ! यदि मैं इस समय स्वतन्त्र होता तो तेरी जीभ काटकर फेंक देता। व्यर्थ का कलंक लगाने वाले हरिपन्त आज संसार में जीवित नहीं रहता !

नाना : तुम्हारे दुर्भाग्य से वह जीवित है, काका ! वास्तव में माधवराज की हत्या की गई है। सत्य का उद्घाटन भले ही सुनने में अच्छा न लगे, पर इतिहास में उसे

अंकित रहना चाहिए।

हरिपन्त : काका ! आप चाहे मुझ पर कितना ही क्रोध करें पर शांत हृदय से आप सोचिए कि हिन्दू पद-पादशाही पर शस्त्र चलाने के लिए जब आप तैयार हुए तो क्या आप समस्त राष्ट्र के शत्रु नहीं हुए ? क्या आपने पेशवा माधवराव के विरोध में सरदारों को अपनी ओर नहीं फोड़ा ? मेरे सामने ही पेशवा माधवराव ने कहा था—'काका ! यदि हम आप ही लड़ेंगे तो शत्रुओं की मस्ती कौन दूर करेगा ? पानीपत के संहार का बदला किस प्रकार लिया जाएगा ? हमारे कैलासवासी पूर्वज हमें क्या कहेंगे ? राज्य आपका है, मैं आपका हूँ। आप ही राज्य सँभालें और शत्रुओं का विनाश करें।' इतने पर ही आपने पेशवा माधवराव का साथ नहीं दिया और विदेशी वकील मास्टिन की सहायता से उनका सर्वनाश किया ?

राघोबा : यह बात झूठ है। नाना फड़नवीस ! तुम राज्य के अधिकारी हो। मेरा अपमान करने के कारण हरिपन्त फड़के को दंड दो।

नाना : मेरे न्याय पर आपने विश्वास किया, काका ! इसके लिए आपको साधुवाद ! इस पर विचार किया जाएगा किन्तु हरिपन्त ! तुम जाओ ! काका इस समय क्रोध में हैं। फिर बात करना।

हरिपन्त : जैसी आज्ञा ! प्रणाम करता हूँ। **(प्रस्थान)**

नाना : हरिपंत गए। अब आपको क्रोध नहीं आएगा। अब आप शांत हृदय से सत्य स्वीकार करने का साहस दिखला सकेंगे। संभव है, पेशवा माधवराव की हत्या न भी की गई हो किन्तु पेशवा नारायण की तो हत्या की गई, यह आप स्वीकार करेंगे।

राघोबा : हाँ, हत्या हुई। किन्तु यह हत्या मैंने नहीं की। मैं यह हत्या करना भी नहीं चाहता था।

नाना : किसने हत्या की ?

राघोबा : बधिकों ने।

नाना : किसकी आज्ञा से ?

राघोबा : मैं नहीं जानता। मैंने तो केवल पेशवा नारायण राव के लिए 'धरावा' यानी 'पकड़ लो' की आज्ञा दी थी, किसी ने 'ध' को 'मा' करके 'मारावा' अर्थात् 'मार डालो' लिखकर मेरी आज्ञा में परिवर्तन कर दिया और नारायणराव की हत्या हुई !

नाना : काकी आनंदीबाई को क्या कहूँ ! किन्तु जिस समय पेशवा नारायणराव को मारने के लिए बधिक झपटे उस समय वे दौड़कर आपसे लिपट गए और उन्होंने क्रंदन स्वर में कहा—'काका, मेरा राज्य ले लो पर मुझे जीवन-दान दो। यदि आप मुझे मरवाना ही चाहते हैं तो किसी वीर के लिए जो मृत्यु उचित है, उसी मृत्यु से मुझे मरने दो।' किंतु आपने नारायणराव पेशवा का वह क्रंदन सुना ही नहीं।

राघोबा : मैं लाचार था, नाना !

नाना : लाचार इसलिए थे कि आप स्वयं पेशवा होना चाहते थे। आपको पेशवा नारायणराव की नव-वधू के निरंतर बहने वाले आँसुओं पर दया नहीं आई ! उसके जीवन-भर होने वाले चीत्कार और क्रंदन से आपका हृदय द्रवित नहीं हुआ !

राघोबा : स्त्रियों के आँसुओं से राजनीति द्रवित नहीं होती, नाना ! और भी उज्ज्वल होती है। युद्ध-भूमि में हज़ारों वीर कट जाते हैं, उनकी स्त्रियों के आँसुओं से न राज्य बनते हैं, न बिगड़ते हैं।

नाना : काका ! आपकी राजनीति की परिभाषा पर मुझे दुःख है। युद्ध-भूमि में वीरों की मृत्यु अभिमान और गौरव की वस्तु है किंतु क्रूरता से, छल से, वीर की हत्या करना राजा और उसके राज्य के लिए कलंक की बात है ! आपका यह कलंक मानव-जाति के इतिहास में काला धब्बा बनकर रहेगा !

राघोबा : नाना ! सावधान हो ! अपने वाक्यों की मर्यादा में रहने दो। कोई समय आएगा जब मैं तुम्हारे स्थान पर होऊँगा और तुम बेड़ियों से जकड़े हुए मेरे सामने खड़े होगे।

नाना : मैंने ब्रह्म-हत्या नहीं की, मैंने गोत्रज-हत्या नहीं की, मैंने पुत्र-वध नहीं किया जो आपने किया है, काका ! मेरी राजनीति स्वार्थ के पैरों नहीं चलती, जनता के पैरों चलती है। यदि मैं पेशवा होना चाहता तो आपसे पहले पेशवा होता किंतु पेशवाई उसे मिलनी चाहिए जो जनता की सेवा से पेशवाई का अधिकारी है। पहले भी फड़नवीस था, आज भी हूँ और कल भी यही रहूँगा। काका ! अनुचित राज्य-लिप्सा के गले में सोने की ज़ंजीर नहीं, लोहे की ज़ंजीर होती है। अनुचित नीति-मत्ता राज-द्रोह है, राष्ट्र-द्रोह है।

राघोबा : **(तीव्रता से)** राष्ट्र-द्रोही तुम हो। तुमने मेरा साथ नहीं दिया। पेशवाओं का रक्त मेरे शरीर में अभी तक प्रवाहित है। पेशवा नारायणराव की मृत्यु के बाद—वह मृत्यु भले ही हत्या से क्यों न हुई हो—उस वंश में मेरे सिवाय कौन पुरुष था जो पेशवाई का अधिकारी होता ? केवल मैं था—शेष स्त्रियाँ थीं किंतु तुमने मेरा साथ—राज्य का साथ नहीं दिया और मृतक पेशवा नारायणराव की पत्नी गंगाबाई का पक्ष लेकर नई पेशवाई खड़ी कर ली। गंगाबाई राज्य की स्वामिनी, सखाराम बापू और तुम मंत्री, और राघोबा विद्रोही हैं, उसका राज्य पर कोई अधिकार नहीं है, ऐसी तुमने शहर-शहर में दुहाई फिरवा दी। नागपुर के भोंसले को अपने पक्ष में कर लिया, मुझे बंदी करने के लिए भोंसले की सेनाएँ चल पड़ीं। हरिपन्त जैसे तुच्छ कारकुन को सेनापति बनाकर मुझे अपमानित कराया। राष्ट्र-द्रोही कौन है ? परिस्थितियों से पूछो—मैं हूँ या तुम हो ? नाना ! मेरी पेशवाई में तुम्हारा स्वार्थ सिद्ध न होता, इसलिए अपने स्वार्थ के लिए तुमने गंगाबाई को स्वामिनी बनाया है ! स्वार्थी नाना ! राष्ट्र-द्रोही तुम हो, तुम।

नाना : काका ! राष्ट्रद्रोही मैं हूँ ? यदि आप किसी ईश्वर को मानते हैं तो उससे पूछिए। आप मनुष्य की हत्या कर सकते हैं, सत्य की हत्या नहीं कर सकते। कैलासवासी पेशवा नारायणराव की पत्नी श्रीमती गंगाबाई मातृत्व के पद पर हैं। उनका पुत्र ही पेशवा-पद का अधिकारी होगा। उस पुत्र के अधिकारों की रक्षा करने में ही मेरी राज्य-सेवा है। और आपकी राज्य-सेवा ? योग्य पेशवा की हत्या कर उसकी पेश-वाई छीनना आपकी राज्य-सेवा है, मैं हत्यारे का साथ नहीं दे सका—इसमें मेरा स्वार्थ है ? नागपुर के भोंसले साथ नहीं दे सके, भोंसले का क्या स्वार्थ है ? जो अपने पाप को पुण्य का रूप दे सकता है, वह संसार में कौन-सा पाप नहीं कर सकता ? काका ! अपने पाप का नग्न रूप देखिए ! आप केवल पुरुष ही की हत्या नहीं कर सकते, स्त्री की भी हत्या कर सकते हैं।

राघोबा : स्त्री की हत्या ? मैंने किस स्त्री की हत्या का प्रयत्न किया है ?

नाना : गंगाबाई की। पेशवा नारायणराव की हत्या करने के बाद उनकी पत्नी गंगाबाई की हत्या के लिए प्रयत्न !

राघोबा : यह झूठ है।

नाना : इस चन्दन की पेटी में जो वस्त्र रखे हुए हैं, वे झूठ नहीं बोलते। ये वस्त्र हाथ से नहीं छुए जा सकते। घोर हलाहल में बसे हुए हैं। ये वस्त्र श्रीमती गंगाबाई को धारण करने के लिए भेजे गए हैं। काका! क्या मैं यह भी कहूँ कि इन्हें किसने भेजा है?

राघोबा : किसने भेजा है?

नाना : जिसकी यह कटार है। (**कटार फेंकता है**) इस पर जो नाम खोदा गया है, वह है—रघुनाथराव राघोबा।

राघोबा : यह तुम कैसे कह सकते हो कि इन्हें मैंने ही भेजा है?

नाना : इसका भी प्रमाण दिया जा सकता है। (**पुकारकर**) सैनिक! (**राघोबा से**) काका!

आपका देश-द्रोह अनेक जिह्वाएँ लेकर बोलता है।

सैनिक : श्रीमंत की जय हो! आज्ञा!

नाना : अतिथि-कक्ष में बैठे हुए महादेव और उसके मामा को उपस्थित करो।

राघोबा : (**सोचता हुआ**) महादेव और उसका मामा?

नाना : यही आदमी थे, काका! जिन्हें आपने अपनी कटार देकर विष के बुझे हुए वस्त्र चंदन की पेटी में भेजे थे। चंदन की पेटी में विष से भरे हुए वस्त्र! ठीक है, काका! चंदन के वृक्ष में विषधर ही लिपटे रहते हैं। आपने इस सत्य को प्रमाणित कर दिया।

राघोबा : (**क्षोभ से धीरे से**) तो ये दोनों व्यक्ति पकड़े गए!

[सैनिक के साथ महादेव और उसके मामा का प्रवेश]

महादेव : श्रीमंत काका और नाना की जय!

मामा : श्रीमंत नाना और काका की जय!

नाना : महादेव! तुम जो विष से भरे हुए वस्त्र श्रीमती गंगाबाई के लिए लाए, वे किसने भेजे थे?

महादेव : वे···वे···सतारा ने भेजे थे।

नाना : सतारा ने भेजे थे? सतारा से किस व्यक्ति ने भेजे थे?

महादेव : सतारा से गंगाबाई के सम्बन्धियों ने भेजे थे।

नाना : उनका क्या नाम है?

मामा : मैं बतलाऊँ, नाना? जिस व्यक्ति ने भेजे थे, उसका नाम हम नहीं ले सकते।

नाना : मैं यह निर्णय देता हूँ कि यदि भेजे जाने वाले का नाम इसी समय नहीं बतलाया गया तो दोनों व्यक्तियों को प्राणदण्ड दिया जाएगा।

महादेव : प्राणदण्ड!

मामा : (**अधिक डरे हुए शब्दों से**) प्राणदण्ड! (**राघोबा से**) काका! अब आप ही हमारी रक्षा कर सकते हैं!

नाना : जो व्यक्ति स्वयं बन्दी है, वह कैसे रक्षा कर सकता है?

महादेव : तो हम लोगों को क्षमा कीजिए, श्रीमंत नाना फड़नवीस!

नाना : क्षमा किसी प्रकार नहीं मिल सकेगी। नाम प्रकट किया जाए नहीं तो तुम दोनों प्राणदण्ड के भागी होगे।

महादेव : (**राघोबा से**) काका ! एक हज़ार स्वर्ण-मुद्राएँ वापस ले लीजिए और हम दोनों के प्राण बचा लीजिए।

नाना : सुना, काका ! —एक हज़ार स्वर्ण-मुद्राएँ वापस ले लीजिए। एक हज़ार स्वर्ण-मुद्राओं से आप गंगाबाई के प्राण लेना चाहते थे। सोचा होगा कि श्रीमती गंगाबाई को मार डालने के बाद नये पेशवा का प्रश्न ही नहीं उठेगा और आप सरलता से पेशवा हो सकेंगे।

राघोबा : मैं लज्जित हूँ, नाना फड़नवीस !

नाना : (**सैनिक से**) इन दोनों को ले जाओ और बन्दीगृह में डाल दो।

मामा : अब हमें प्राणदण्ड तो नहीं मिलेगा ?

महादेव : अब तो आपको काका का नाम भी मालूम हो गया !

नाना : इसका निर्णय बाद में किया जाएगा। (**सैनिक से**) ले जाओ इन्हें !

सैनिस : जो आज्ञा ! (**दोनों के साथ सैनिकों का प्रस्थान**)

नाना : काका राघोबा को बन्दी-गृह में अकेले रहने से कष्ट होगा। ये दोनों व्यक्ति साथ रहेंगे तो आगे के षड्यन्त्र बनाने में सरलता होगी।

राघोब। : नाना फड़नवीस ! अब मुझे अधिक अपमानित न करो।

नाना : मैं आपको अपमानित नहीं कर रहा, राघोबा काका ! आपके कार्य ही आपको अपमानित कर रहे हैं, किंतु अब आपसे मेरी प्रार्थना है कि अपनी जननी जन्मभूमि के प्रति आप विश्वासघाती न बनें। ये टोपीवाले अंग्रेज यहाँ व्यापार की सुविधा के लिए आए थे पर अब ये हमारे देश पर अधिकार करना चाहते हैं। ये चाहते हैं कि हम लोग आपस में हमेशा लड़ते रहें जिससे ये कभी आपके साथ, कभी हमारे साथ, सन्धि कर अपने राज्य की जड़ें जमाते जाएँ।

राघोबा : ऐसी बात नहीं है, नाना ! अंग्रेजों का वकील मास्टिन तो बहुत ही सच्चा और ईमानदार है। वह हमारा मित्र भी है।

नाना : वह मित्र इसीलिए है कि आप उसके हाथ की कठपुतली बने रहें। जानते हैं, बम्बई की कौंसिल ने मास्टिन को पत्र में क्या लिखा है ? यह लिखा है—'मराठों को घर ही घर में एक-दूसरे को लड़ाकर या जिस तरह हो सके इस बात की कोशिश करो कि मराठे हैदर के साथ या निज़ाम के साथ मिलने न पावें।' मास्टिन इस बात के लिए कोशिश कर रहा है और उसे आप मित्र समझते हैं ?

राघोबा : क्या यह सच है ?

नाना : मेरे गुप्तचरों ने मुझे इस पत्र की प्रतिलिपि दी है। एक दूसरे पत्र में फिर मास्टिन को लिखा गया है कि 'इस अवसर पर साष्टी और वसीन प्राप्त करने में जितनी परिस्थितियाँ हमारी सहायता कर सकें उन्हें तुम खूब परिश्रम के साथ बढ़ाना और चाहे कुछ भी क्यों न हो, पूना छोड़कर कहीं न जाना।" इस पत्र की प्रतिलिपि भी मेरे पास है।

राघोबा : आपके गुप्तचर पत्र की झूठी नकल भी दे सकते हैं।

नाना : मेरे गुप्तचर आपके महादेव और उसके मामा की भाँति नहीं हैं जो प्राणदण्ड के भय से स्वामी का नाम ले सकते हैं। पर आपके अविश्वास की कोई दवा मेरे पास नहीं है। आप देशद्रोही हैं और सदैव रहेंगे। अपने घर की आग से आप शत्रुओं के घर में दीपक जलाएँगे। मास्टिन इस समय भी पूना में है और वह हम लोगों में अविश्वास के बीज बो रहा है। आप उसे जल से सींचेंगे।

राघोबा : मेरे अच्छे नाना ! यदि तुम मुझे पेशवा मान लो तो मैं मास्टिन को छोड़ दूँ। जहाँ तुम कहो, वहाँ रहूँ। पूना में, पुरन्दर में, सतारा में। तुम्हें मैं फड़नवीस नहीं, मंत्री बनाऊँगा। तब महाराष्ट्र में कोई अविश्वास के बीज नहीं बो सकेगा—और न उन्हें कोई सींच सकेगा।

नाना : सुनिए, राघोबा काका ! आपकी तरह मैं व्यापार नहीं करता। राष्ट्र-सेवा रुपयों से या मन्त्री-पद से नहीं तौली जाती। आप पेशवा के पद के अधिकारी नहीं हो सकते। पेशवा होंगे श्रीमती गंगाबाई के पुत्र। मैंने अभी से उनका नामकरण कर दिया है, सवाई माधवराव।

राघोबा : और यदि गंगाबाई के पुत्र न होकर पुत्री हुई तो ?

नाना : तो गंगाबाई दत्तक पुत्र स्वीकार करेंगी और उसी पुत्र का नाम होगा सवाई माधवराव ! किंतु कैलासवासी पेशवा नारायणराव के वंश में ही पेशवाई रहेगी।

राघोबा : यह तुम्हारा अन्तिम निर्णय है ?

नाना : मेरा ही नहीं, समस्त महाराष्ट्र का यह निर्णय है। महाराष्ट्र का कोई भी सावधान व्यक्ति आपका साथ नहीं दे सकता। यदि कोई आपको स्वार्थ के जाल में फँसाकर मार सकता है तो वह कम्पनी का वकील मास्टिन है। मैं फिर एक बार कहना चाहता हूँ, काका ! कि मास्टिन से सावधान रहिए। हम सब मिलकर इन कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों को सारे देश से बाहर निकाल देंगे। भोंसले, निज़ाम और हैदर अली हमारे साथ हैं; हम सब मिलकर इन विदेशियों की चालाकी समझें। आप श्रीमती गंगाबाई के होने वाले पुत्र सवाई माधवराव के संरक्षक बनिए और अपने काका के नाम को सार्थक कीजिए।

राघोबा : सोचूँगा, नाना ! इन बातों पर विचार करूँगा।

नाना : भगवान गजानन आपको महाराष्ट्र का महापुरुष बनाए। श्रीमती गंगाबाई को आशीर्वाद देंगे ? वे भगवान गजानन की पूजा समाप्त कर चुकी हैं।

राघोबा : जब तुम मुझे हत्यारा कहते हो तो हत्या करने वाला आशीर्वाद कैसे दे सकता है ?

नाना : दे सकता है, यदि वह हत्या का प्रायश्चित्त करे। और यही राष्ट्रसेवा प्रायश्चित्त है। किंतु आपका कहना भी ठीक है। महाराष्ट्र की पवित्र देवी पर कोई अपवित्र छाया भी नहीं पड़नी चाहिए। काका ! आपने कहा है कि आप मेरी बातों पर विचार करेंगे। बन्दीगृह में आपको विचार करने का पर्याप्त अवकाश मिलेगा। (**पुकारकर**) सैनिक···!

[सैनिक का प्रवेश]

सैनिक : श्रीमन्त की जय !

नाना : सैनिक ! हरिपन्त बाहर होंगे। उनसे कहो कि काका **राघोबा** विश्राम करना चाहते हैं।

सैनिक : जो आज्ञा ! (**प्रस्थान**)

नाना : (**पुकारकर**) सौदामिनी !

[सौदामिनी का प्रवेश]

सौदामिनी : श्रीमन्त की जय !

नाना : सौदामिनी ! श्रीमती गंगाबाई से कहो कि वे इस कक्ष में आने का कष्ट करें ।

सौदामिनी : जो आज्ञा । (**प्रस्थान**)

नाना : काका ! पानीपत के युद्ध में महाराष्ट्र का भयानक पराभव हुआ ! परस्पर की फूट से हमने अपना देश और धन तो खोया ही, न जाने कितने वीरों के रक्त से देश की शस्य श्यामला भूमि लाल कर दी । विदेशी हमें खिलौनों की भाँति खेलाकर हम पर हँसते हैं और एक-दूसरे के ऊपर उछालकर तोड़ रहे हैं । सोचिए, समझिए, काका ! परस्पर की फूट भारत के लिए अभिशाप बनी है । इस अभिशाप को सदैव के लिए समाप्त कर दीजिए ।

[हरिपन्त का प्रवेश]

हरिपन्त : श्रीमंत की जय !

नाना : हरिपन्त ! तुम आ गए ! काका राघोबा ने कहा है कि वे मेरी बातों पर विचार करेंगे । इनके बन्धन खोल दो । इन्हें विश्राम-गृह में ले जाकर इनके विश्राम की व्यवस्था करो जिससे इन्हें सोचने की सुविधा मिले ।

हरिपन्त : काका यों तो भले आदमी हैं, किंतु काकी आनन्दीबाई···

राघोबा : (**चीखकर**) हरिपन्त ! अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण रखो ।

नाना : हरिपन्त ! काका की बात का बुरा मत मानना । नियन्त्रण अवश्य रखना, राघोबा काका के बन्धन तो खुल जाएँगे किंतु इनकी गतिविधि पर नियन्त्रण रखना ।

हरिपन्त : जैसी आज्ञा ।

नाना : और सुनो । चन्दन की इस पेटिका को जिसमें विष-भरे वस्त्र हैं, अग्निदेव को समर्पित कर देना । इसके वस्त्रों को कोई व्यक्ति स्पर्श न करे । काका राघोबा के राजसूय की अग्नि को ही यह समर्पित हो ।

हरिपन्त : जो आज्ञा ।

नाना : (**गहरी साँस लेकर**) अच्छा ! काका राघोबा ! यह भट्ट-वंशी फड़नवीस काका रघुनाथ राव को प्रणाम करता है ! भविष्य में ऐसे काम न कीजिएगा कि महाराष्ट्र आपको काका कहने में लज्जा का अनुभव करे ।

राघोबा : नाना फड़नवीस ! तुम भी मेरे और अपने भविष्य पर एक बार फिर सोचना !

नाना : सत्य का संशोधन नहीं होता, काका ! जाइए ।

हरिपन्त : चलिए, काका !

[दोनों का प्रस्थान]

नाना : महाराष्ट्र के सौभाग्य की चन्द्र-कला कब राहु के मुख से मुक्त होगी ! यह भगवान गजानन जानें !

[सौदामिनी का प्रवेश]

सौदामिनी : श्रीमंत की जय ! श्रीमती गंगाबाई आ गई हैं ।

नाना : आने के लिए उनसे निवेदन हो ।

सौदामिनी : जैसी आज्ञा । (**प्रस्थान**)

नाना : (सोचते हुए) महाराष्ट्र के सौभाग्य की चन्द्रकला···श्रीमती गंगाबाई। बड़े सुन्दर चित्र खींचती हैं ! महाराष्ट्र के स्वर्णिम भविष्य का भी कोई चित्र खींचें।

[गंगाबाई का प्रवेश]

नाना : फड़नवीस का श्रीमती को नमस्कार !

गंगा : नमस्कार, नाना ! आज आपने मुझे बहुत देर के बाद स्मरण किया।

नाना : श्रीमती ! आज बड़े-बड़े कांड घटित हुए। सतारा से वस्त्रों की भेंट लेकर दो भद्र पुरुष आए थे।

गंगा : हाँ, मैंने सुना, वे मेरी प्रतीक्षा भी कर रहे थे। मैं भगवान गजानन की पूजा के लिए चली गई थी। वे चले गए ?

नाना : चले गए, बन्दी-गृह में।

गंगा : बन्दी-गृह में ?

नाना : हाँ, बन्दी-गृह में ! आपके लिए वस्त्रों की भेंट लाए थे। काका राघोबा ने पूना में रहते हुए सतारा से यह भेंट भेजी थी विष में डुबाकर। जिससे उन वस्त्रों को धारण करते ही आप संसार से चली जावें और उनकी पेशवाई का रास्ता साफ़ हो जाए।

गंगा : नाना ! यह तो बहुत अच्छा होता। इन भीषण कष्टों से मैं मुक्ति पा जाती ! जिस रास्ते मेरे स्वामी गए हैं, उसी रास्ते मैं भी चली जाती ! (**एक अश्रु**)

नाना : अरे, आपकी आँखों में आँसू ! आप तो वीर-पत्नी हैं और अब वीर-जननी भी होने वाली हैं। क्या आप चाहती हैं कि चन्द्र की कला डूब जाए जिससे अन्धकार में चोरों को चोरी करने का अवसर मिले !

गंगा : आप सबकी रक्षा कर लेंगे, नाना ! आप बहुत बड़े नीतिज्ञ और दूरदर्शी हैं।

नाना : आज राघोबा काका बन्दी होकर महाराष्ट्र के अधिकार में हैं। हमारे राज्य के भीतर पनपने वाले सभी षड्यन्त्र नष्ट कर दिए गए हैं। आज महाराष्ट्र लक्ष्मी सुखी और प्रसन्न हैं। आप भी प्रसन्न हो जाइए, श्रीमती गंगाबाई ! जब तक यह नाना फड़नवीस संसार में जीवित है, तब तक महाराष्ट्र सुरक्षित रहेगा, पूना का पेशवा-वंश सुरक्षित रहेगा। (**पुकारकर**) सैनिक !

[सैनिक का प्रवेश]

सैनिक : आज्ञा, श्रीमंत !

नाना : काका रघुनाथराव के बन्दी होने और महाराष्ट्र के भावी पेशवा की घोषणा के उपलक्ष्य में जय-दुन्दुभि हो !

सैनिक : जो आज्ञा। (**प्रस्थान**)

नाना : श्रीमती गंगाबाई ! मेरे इस प्रस्ताव का समर्थन समस्त महाराष्ट्र ने किया है कि कैलासवासी नारायणराव पेशवा का उत्तराधिकारी उनकी पत्नी श्रीमती गंगाबाई से उत्पन्न पुत्र ही होगा ! उस पुत्र का नाम होगा सवाई माधवराव !

जय महाराष्ट्र का पेशवा वंश !
जय सवाई माधवराव !

[बाहर दुन्दुभि और तुरही का घोष होता है।]

□□

डॉ. कमल किशोर गोयनका

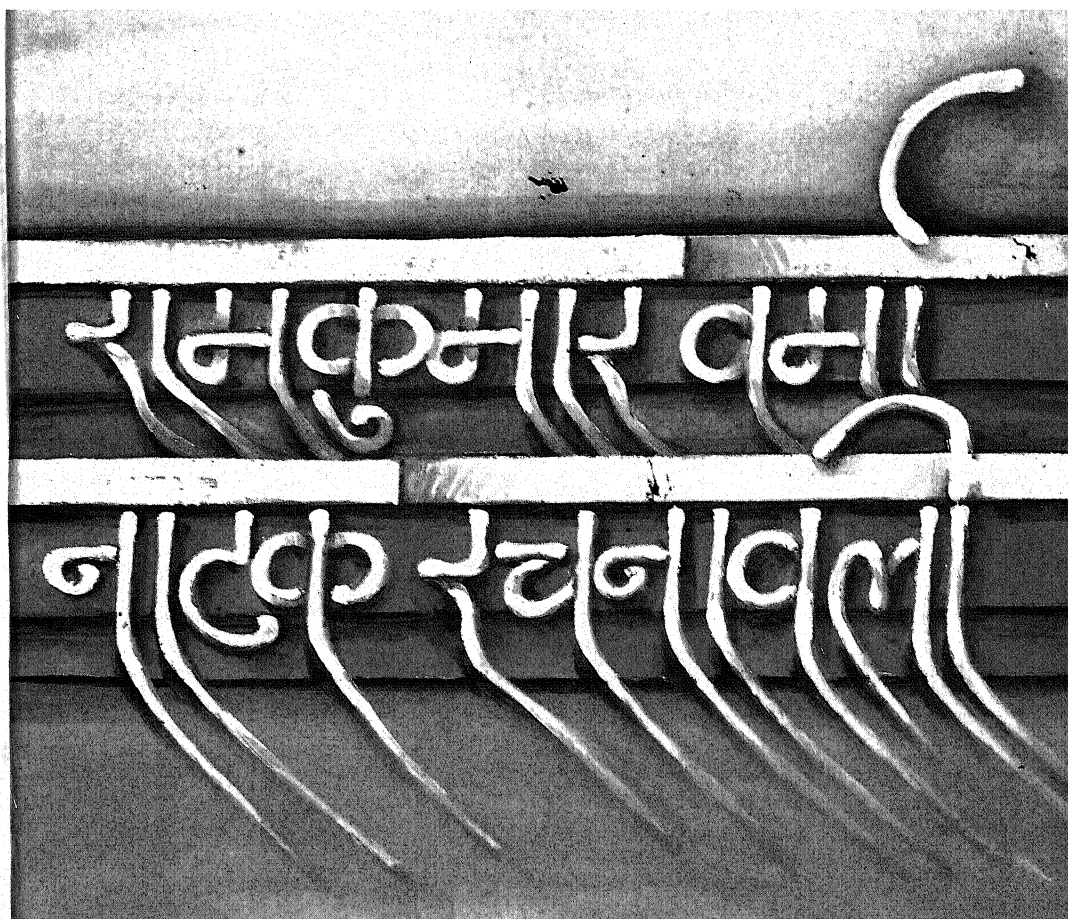
पी-एच. डी., डी. लिट्.

प्रसिद्ध प्रेमचंद विशेषज्ञ एवं समालोचक—अभी तक बीस पुस्तकें प्रकाशित—'प्रेमचंद-विश्वकोश' एवं 'प्रेमचंद—चित्रात्मक जीवनी' पर भारतीय भाषा परिषद् तथा हिन्दी अकादमी, दिल्ली से पुरस्कृत। मॉरिशस की दो बार यात्रा तथा वहां के हिन्दी साहित्य के विकास के लिए कार्यरत। सम्प्रति रीडर, हिन्दी विभाग, जाकिर हुसैन पोस्ट-ग्रेजूएट ईवनिंग कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110006

डॉ. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा

पी-एच. डी.

प्रसिद्ध लेखक एवं समालोचक-लखनऊ विश्वविद्यालय से 'कविवर ब्रजेश महापात्र और उनका काव्य' विषय पर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति वरिष्ठ प्राध्यापक, साकेत पोस्ट ग्रेजूएट कॉलेज,


रामकुमार वर्मा
नाटक रचनावली